

गणधरवाद

राजस्थान
प्राकृत भारती संस्थान
जयपुर

सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

आचार्य जिनभद्र गरिण क्षमाश्रमण-कृत

गणधरवाद

का

गुजराती से हिन्दी अनुवाद

(संवादात्मक अनुवाद, दिग्दर्शन और तुलनात्मक प्रस्तावना)

.

गुजराती लेखक

पं० दलसुरवभाई मालवणिया

.

हिन्दी अनुवादक

प्रो० पृथ्वीराज जैन, एम.ए.

.

संशोधक एवं सम्पादक

महोपाध्याय विनयसागर

.

सह-सम्पादक

औंकारलाल मेनारिया

.

प्रकाशक

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

एवं

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

प्रथमावृत्ति : 1982

•

मूल्य : पचास रुपये

•

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्राप्ति स्थान :

1. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान
यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर-302 003 (राज०)
2. सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल,
यापू बाजार,
जयपुर-300 003 (राज०)

मुद्रक :

अजन्ता प्रिन्टर्स
धौ वालों का रास्ता,
जयपुर-302 003

प्रकाशकीय

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान-के १०वें पुष्प के रूप में गणधरवाद का प्रकाशन प्रस्तुत करते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है ।

जैन दार्शनिक जगत् में आचार्य जिनभद्र गरिण क्षमाश्रमण रचित विशेषावश्यक महाभाष्य एक अद्वितीय अतिगहन दार्शनिक ग्रन्थ है । गणधरवाद, इस ग्रन्थ का एक अध्याय-प्रकरण है जिसमें विश्व के प्रमुख दार्शनिक प्रश्नों—जीव का अस्तित्व, कर्मवाद, जीव-शरीर अभिन्नवाद, पंच भूतवाद, पूर्वजन्म पुनर्जन्म का अस्तित्व, पुण्य-पाप का अस्तित्व, देव-नारक का अस्तित्व और बन्ध-मोक्ष का अस्तित्व आदि का सांगोपांग विश्लेषण किया गया है । इस विश्लेषण की प्रमुख विशेषता यह है कि वैदिक विचारधारा की पृष्ठ भूमि में ही पूर्वोक्त वाद-विषयों का युक्तिसंगत निरूपण करते हुए इनका अस्तित्व सिद्ध किया गया है ।

आचार्य जिनभद्र ने अपने इस गणधरवाद नामक प्रकरण में श्रमण भगवान् महावीर और उनके शासन के प्रमुख संचालक ग्यारह गणधरों—इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति गौतम, वायुभूति गौतम, व्यक्त भारद्वाज, सुधर्म अग्निवैश्यायन, मण्डिक वशिष्ठ, मौर्यपुत्र काश्यप, अकम्पित गौतम, अचलभ्राता हरित, मेलार्य कौण्डिन्य और प्रभास कौण्डिन्य को जो पूर्व में वेद-विद्या के पारंगत एवं कर्मकाण्ड के धुरन्धर विद्वान् थे उनके साथ शंका-समाधान, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ करते हुये उनकी शंकाओं का निरसन कर उन्हें अपने शिष्य बनाये ।

इस ग्रन्थ पर वि० सं० ११७५ में चालुक्यवंशी गुर्जरेन्द्र सिद्धराज जयसिंह द्वारा संपूर्णित एवं सम्मानित मलधारगच्छीय श्री हेमचन्द्राचार्य ने २५००० श्लोक परिमाण में प्राञ्जल भाषा में विशद टीका का निर्माण किया था ।

विशेषावश्यक ग्रन्थ गत गणधरवाद और उसको अभयदेवीय टीका का संवादात्मक शैली में गुजराती अनुवाद जैन दर्शन के अप्रतिम विद्वान् पं० दलसुखभाई मालवणिया ने सन् १९५२ में किया था जो गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद द्वारा सन् १९५२ में गणधरवाद के नाम से प्रकाशित किया गया था ।

श्री मालवणिया जी ने इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका में गणधरवाद में चर्चित तात्त्विक पदार्थों का उद्भव और क्रमिक विकास का वैदिक काल से लेकर समस्त भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं के अभिमत के आलोक में सप्रमाण जो दार्शनिक और शास्त्रीय इतिहास समीक्षात्मक अध्ययन के रूप में प्रस्तुत किया है, वह वस्तुतः अनुपम है और तज्ज्ञ विद्वानों के लिये एक स्वच्छतम निर्मल आदर्श-दर्पण है ।

दा वष पूव राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान की ओर से जैन जगत् के उद्भट दार्शनिक विद्वान् श्री दलसुख भाई मालवणिया से अनुरोध किया गया था कि आपके द्वारा लिखित, अनुदित या सम्पादित कोई ग्रन्थ प्राकृत भारती को प्रकाशनार्थ प्रदान करें तो संस्थान को अतीव हार्दिक प्रसन्नता होगी। तत्क्षण ही श्री मालवणिया जी ने अनुरोध को सहजभाव से सहर्ष स्वीकार करते हुये कहा कि गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद जो मैंने कुछ वर्षों पूर्व प्रो० पृथ्वीराज जैन से करवाया था उसे भेंट स्वरूप ले जाइये और श्री महोपाध्याय विनयसागरजी से संशोधन करवा कर प्रकाशित कर दीजिये।

श्री मालवणिया जी ने नैसर्गिक भाव से गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद प्रकाशनार्थ प्रदान किया अतएव हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम. ए. (जिनका गत वर्ष ही स्वर्गवास हो गया है) ने इस अतिगहन दार्शनिक ग्रन्थ का जिस सूक्ष्म-वृक्ष और परिष्कृत शैली में हिन्दी का अनुवाद कर साहित्य जगत् को कृति प्रदान की है, उसके लिये भी संस्थान की ओर से उनके हम कृतज्ञ हैं।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान के संयुक्त सचिव एवं प्रमुख विद्वान् महोपाध्याय श्री विनयसागर जी ने प्रस्तुत अनुवाद का संशोधन एवं इसका सम्पादन जिस निष्ठा से किया और सह सम्पादक के रूप में श्री औंकारलाल जी मेनारिया ने इत संशोधन आदि में जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये भी ये दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

श्री जितेन्द्र संघी, अजन्ता प्रिन्टर्स जयपुर भी इस पुस्तक के मुद्रण के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में पाठकों से अनुरोध है कि दृष्टिदोष अथवा प्रेस की असावधानी से जो भी अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ रह गई हैं उते क्षन्तव्य समझें।

उमरावसल ढड्डा

अध्यक्ष

टीकमचन्द हीरावत

सचिव

सध्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

राजरूप टाँक

अध्यक्ष

देवेन्द्रराज मेहता

सचिव

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रथमावृत्ति में लेखक का निवेदन

विशेषावश्यक भाष्य महाग्रन्थ जब से पढ़ने में आया तब से उसके अनुवाद और विवेचन की जो भावना मन में संग्रहीत कर रखी थी उसकी प्रांशिक पूर्ति इस गणधरवाद से होती है। इससे एक प्रकार का आनन्द होता है किन्तु कार्य त्वरित गति से करना था अतएव टिप्पणियों में विस्तार की आवश्यकता होने पर भी नहीं कर सका, यह कमी मन को कचोटती भी है। अनुवाद की संवादात्मक शैली मुझे भाई फतेचन्द बेलामी का खरडा बाँचने से रुचिकर प्रतीत हुई। संवादात्मक शैली में प्रो० चिरवात्स्की कृत कितने ही दार्शनिक ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद भी देखने में आये थे और इस शैली में दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद पठनीय बनते हैं ऐसा अनुभव भी किया था; इसलिये इसमें मैंने इसी शैली का आश्रय लिया है। इस ग्रन्थ का कार्य पूज्य पण्डित श्री सुखलालजी की प्रेरणा से मैंने स्वीकार किया था और प्रकाशन से पूर्व उन्होंने एक-एक अक्षर पढ़कर करने योग्य संशोधन भी किये हैं तथा जहाँ पुनर्लेखन आवश्यक था वहाँ उनकी सूचना के अनुसार मैंने बसा भी किया है। ऐसा करके मैं मोटे रूप में उनको प्रांशिक सन्तोष दे सका हूँ। पूज्य पण्डितजी ने इस कार्य में जो स्वाभाविक रस लिया है, उसके लिये धन्यवाद के दो शब्द पर्याप्त नहीं हैं। वस्तुतः यह कार्य उन्हीं का हो और मैं उनके कार्य में हाथ बटा रहा हूँ ऐसा अनुभव मैंने निरन्तर किया है। इसलिये इस कृति को मैं मेरी न मान कर, उनकी ही कृति मान लेता हूँ तब उनको धन्यवाद देने का अधिकारी मैं कैसे हो सकता हूँ? सहजस्नेही भाई रतिलाल दीपचन्द देसाई ने इस कृति के प्रथमादर्श को आद्यन्त पढ़कर पण्डितजी को सुनाया ही नहीं, अपितु सुधारने योग्य सूचनाएँ भी प्रदान कीं, एतदर्थ यहाँ उनको धन्यवाद देना आवश्यक है।

यह कार्य मेरे सिर पर आ पड़ने में निमित्त रूप श्री फतेचन्द बेलामी भी हैं, इसलिए उनका भी यहाँ आभार मानता हूँ। उन्हीं के अनुवाद का कच्चा खरडा मेरे सामने था, अतएव इस अनुवाद को संवादात्मक शैली में करने की तात्कालिक सूझ के लिये भी मैं उनका आभारी हूँ। इस ग्रन्थ के समस्त प्रूफ संशोधन का निरस कार्य मान्यवर श्री के० का० शास्त्री ने संप्रम किया है और ग्रन्थ की बाह्य सज्जा में जो कुछ भी सौष्ठव है वह उन्हीं की बदौलत है, अतएव उनका विशेष आभार मानना भी मेरा कर्तव्य है। अनुवाद का मुद्रण होने के पश्चात् प्रस्तावना आदि ग्रन्थ सामग्री में पाँच-छह मास के विलम्ब को निभाने वाले और ग्रन्थ को गुन्दर बनाने की प्रेरणा देने वाले मान्यवर रसिकलाल भाई परीख, अध्यक्ष भो० जे० संशोधन विद्याभवन ता विशेष रूप से ऋणी हूँ। पूज्यपार मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने स्वयं के लिये करवाई

हुई विशेषावश्यक भाष्य की प्रतिलिपि मुझे पाठान्तर लेने हेतु प्रदान की और प्रस्तावना पढ़कर उन्होंने बृद्धिपत्र की सूचना दी, एतदर्थ मैं उनका भी ऋणी हूँ। अन्त में सेठ श्री भोलाभाई दलाल और श्री प्रेमचन्द भाई कोटा वालों की रूचि ही इस ग्रन्थ को प्रस्तुत रूप में निर्माण करने में निमित्त बनी है, अतः उनका भी आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों और विवेचकों के समक्ष उपस्थित है। अब इसमें जो कोई दोष या त्रुटि हो उसका शोधन करने का कार्य उनका है। ऐसे ग्रन्थों की द्वितीयावृत्ति भाग्य से ही प्रकाशित होती है, तब भी सुयोग मिला तो उचित संशोधन करने का लाभ अवश्य लूंगा।

बनारस
30.8.52

—दत्तसुख मालवगिरिया

गणधरवाद की हिन्दी आवृत्ति के अवसर पर

प्रस्तुत गणधरवाद गुजराती में कई वर्षों से उपलब्ध नहीं है। इसके दूसरे संस्करण के लिये प्रकाशन संस्थाओं से निवेदन एवं प्रयत्न करने पर भी इसकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित नहीं हो सकी। ऐसी स्थिति में यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है, अतः मैं संतोष एवं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम. ए. ने मनोयोग पूर्वक कई वर्षों पूर्व इसका गुजराती से हिन्दी में अनुवाद किया था। वे आज अपने इस अनुवाद को प्रकाशित रूप में देखकर आनन्दित होते, किन्तु खेद है कि उनका गत वर्ष ही स्वर्गवास हो गया। मैं उनका ऋणी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर के सचिव श्री देवेन्द्रराज जी मेहता को धन्यवाद देना मेरा परम कर्तव्य हो जाता है, जिनके उत्साह के बिना यह अनुवाद शायद प्रकाशित ही नहीं होता।

इस हिन्दी संस्करण के संशोधन का समग्र कार्य पण्डित श्री महोपाध्याय विनयसागरजी ने बड़े मनोयोग एवं प्रेम से किया है, अतएव उनका भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी भाषी पाठकों के लिये यह ग्रन्थ सुलभ कर दिया, एतदर्थ मैं इस संस्थान का भी ऋणी रहूँगा।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के समय मैं कुछ भी विशेष नहीं कर सका, इसका मुझे खेद है, क्योंकि मेरा स्वास्थ्य अब ऐसा नहीं रहा कि मैं इसमें अत्र विशेष परिश्रम कर सकूँ।

वाचकों का ध्यान एक भ्रान्ति की ओर आकर्षित करना मेरा कर्तव्य है। जब गणधरवाद पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुई थी तब श्री अग्रचन्दजी नाहटा ने मेरा ध्यान इस ओर खेंचा था किन्तु प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद की छपाई के पूर्व मैं इस बात को भूल गया था, अतएव निम्न भ्रान्ति रह गई। प्रस्तावना पृष्ठ ६० में मुद्रित है कि भवभावना-विवरण सं० ११७७ में पूर्ण हुआ, किन्तु वस्तुतः वह सं० ११७० में होना चाहिए। अतएव सं० ११७७ मानकर भवभावना-विवरण और विशेषावश्यक-वृत्ति के पूर्वापरभाव की जो चर्चा मैंने की है वह निरर्थक है। उसे वहाँ से हटा देना चाहिए।

अहमदाबाद

— दलसुख मालवणिया

भाषान्तरों में विशिष्ट विधा का ग्रन्थ

भाई श्री दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद विषयक जो ग्रन्थ तैयार किया है उसकी प्रस्तावना देखने के पश्चात् उसमें ऐतिहासिक विभाग सम्बन्धी जो स्थल संशोधन करने योग्य लगे उसकी ओर मैंने लेखक का ध्यान आकृष्ट किया था, यह एक सामान्य बात थी। प्रस्तावना को आद्योपान्त पढ़ने के पश्चात् मैंने यह अनुभव किया कि भाई श्री मालवणिया ने गणधरवाद जैसे अतिगहन विषय को कुशलतापूर्वक अत्यधिक सरल बना दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गणधरवाद में चर्चित पदार्थों के उद्गम और विकास के विषय में वैदिक काल से लेकर जो सप्रमाण दार्शनिक और शास्त्रीय इतिहास प्रस्तुत किया है उससे तात्त्विक पदार्थों का क्रमिक विकास किस प्रकार होता गया और एक-दूसरे दर्शनों पर उसका किस-किस रूप में प्रभाव पड़ा यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। इसके साथ ही यह भी लक्ष्य में आ जाता है कि सम्यग् ज्ञान-दर्शन की भूमिका में स्थित महानुभावों को तात्त्विक पदार्थों का अध्ययन, अबलोकन एवं चिन्तन किस विशाल और तटस्थ दृष्टि से करना चाहिये; जिससे उनकी सम्यग् ज्ञान-दर्शन की अवस्था दूषित न हो।

प्राचीन और गहन जैन ग्रन्थों के देश्य भाषाओं में जो विशिष्ट भाषान्तर, ऐतिहासिक निरूपण आवश्यक विवेचन के साथ प्रकाशित हुए हैं उनमें गणधरवाद का प्रस्तुत भाषान्तर-ग्रन्थ एक विशिष्ट मानक-विधा प्रस्तुत करता है; यह एक सत्य है।

अहमदाबाद

भाद्रपद कृष्ण अमावस्या

वि० सं० 2008

—मुनि पुण्यविजय

शुभ समाप्ति

कोई भी योग्य कार्य सुयोग्य हाथों से योग्य रीति से सम्पन्न होता है तो वह शुभ समाप्ति मानी जाती है। प्रस्तुत भाषान्तर ऐसी ही एक शुभ समाप्ति है। श्वेताम्बर परम्परा के संस्कार धारण करने वाले श्रद्धालुओं में भाग्य से ही कोई ऐसे होंगे जिन्होंने कम से कम पर्युषण के दिनों में कल्पसूत्र न सुना हो। कल्पसूत्र के मूल में तो नहीं किन्तु उसकी टीकाओं में टीकाकारों ने भगवान् महावीर और गणधरों के मिलन-प्रसंग में गणधरवाद की चर्चा सम्मिलित की है। मूलतः इसकी चर्चा 'विशेषावश्यक भाष्य' में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विस्तार से की है। 'विशेषावश्यक भाष्य' जैन परम्परा के आचार-विचार से सम्बन्धित छोटे-मोटे लगभग समस्त मुख्य विषयों को स्पर्श करते हुए उन समस्त मुख्य विषयों की आगमिक दृष्टि से तर्क-पुरस्सर चर्चा करने वाला और तत्-तत्स्थानों में सम्भावित दर्शनान्तरों के मन्तव्यों की समालोचना करने वाला एक आकर ग्रन्थ है। इसीलिए आचार्य ने गणधरवाद का प्रकरण अलंकरणपूर्वक इसमें सम्मिलित किया है। इसमें जैन-परम्परा सम्मत जीव-अजीव आदि नवतत्त्वों की प्ररूपणा भगवान् महावीर के मुख से आचार्य ने इस पद्धति से कराई है कि मानों प्रत्येक तत्त्व का निरूपण भगवान् उन-उन गणधरों की शंका के निवारण के लिए ही करते हों। प्रत्येक तत्त्व की स्थापना करते समय उस तत्त्व के किसी भी अंश में विरोध हो, ऐसे अन्य तैथिकों के मन्तव्यों का उल्लेख कर, भगवान् तर्क और प्रमाण द्वारा स्वयं का तात्त्विक मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं। इससे जैन तत्त्वज्ञान को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत गणधरवाद विक्रम की सातवीं शताब्दी तक के चार्वाक, बौद्ध और समस्त वैदिक आदि समग्र भारतीय दर्शन परम्परा की समालोचना करने वाला एक गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ बन गया है। ऐसे ग्रन्थ का पं० श्री दलसुख मालवणिया ने जिस अग्र्यासनिष्ठा और कुशलता से भाषान्तर किया है, वैसे ही उसके साथ में अनेक विध ज्ञान-सामग्री संकलित कर प्रस्तावना परिशिष्ट आदि लिखे हैं, उसका विचार करते हुए कहना पड़ता है कि योग्य ग्रन्थ का योग्य भाषान्तर योग्य हाथों से ही सम्पन्न हुआ है।

श्री पूनमचन्द करमचन्द कोटा वाला ट्रस्ट के दोनों ट्रस्टियों (श्री प्रेमचन्द के० कोटा वाला और श्री भोलाभाई जेसिंगभाई) की लम्बे समय से प्रबल इच्छा थी कि गणधरवाद का गुजराती में उत्तम भाषान्तर हो। इसके लिए दो-तीन प्रयत्न भी हुए, किन्तु वे कार्यसाधक नहीं हुये। अन्त में जुलाई, 1950 में यह कार्य भो० जे० विद्याभवन की ओर से श्रीयुत् मालवणिया को प्रदान किया गया। अत्यधिक वाचन, अग्र्यास, पर्याप्त समय और श्रम की अपेक्षा रखने वाला यह कार्य दो वर्ष जितने समय में पूर्ण हुआ और वह भी जैसा सोचा था उससे अधिक और सुन्दर रीति से पूर्ण हुआ।

गुजराती भाषा में जो कुछ श्रेष्ठतम दार्शनिक साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें प्रस्तुत भाषान्तर की गणना अवश्य होनी, ऐसा इसके विचारशील अधिकारी पाठकों को अवश्य ही

प्रतीत होगा। जैन दार्शनिक साहित्य के विकास में तो यह भाषान्तर अधुना अग्रस्थान प्राप्त करने योग्य है।

इससे पूर्व श्रीयुत् मालवणिया ने 'न्यायावतारवातिक वृत्ति' ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में प्रस्तावना और टिप्पण के साथ सम्पादन कर हिन्दी भाषा के विज्ञ दार्शनिक जगत् में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया ही है; अब इस गुजराती भाषान्तर के द्वारा गुर्जर भाषा के जानकार दार्शनिक मण्डल में भी ये विशिष्ट स्थान प्राप्त करेंगे, ऐसी घोषणा करते हुए मुझे किञ्चित् भी संकोच नहीं हो रहा है।

मैं श्रीयुत् मालवणिया के उत्तरोत्तर विस्तृत और विकसित दार्शनिक अध्ययन, चिन्तन और लेखन का पिछले 20 वर्षों से साक्षी रहा हूँ। प्रस्तुत भाषान्तर के साथ जो अन्य ज्ञान-सामग्री संयोजित की गई है, उसके वैशिष्ट्य को देखने और समझने से कोई भी व्यक्ति मेरी उक्त यथार्थ मान्यता की पुष्टि करेगा ही।

प्रस्तुत पुस्तक में ध्यानाकर्षण योग्य विशेषताओं का यहाँ निर्देश करना अनुपयुक्त न होगा।

(1) मूल, टीका और उनके प्रणेताओं से सम्बन्धित परम्परागत एवं ऐतिहासिक परिचयात्मक तथ्यों का दोहन कर, उसे प्रस्तावना में प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया गया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अबलोकन करने वालों का ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित करता है।

(2) जैन दर्शन सम्मत नव तत्त्वों के विचार का विकास प्राचीन काल से चलने वाली अन्य अनेकविध दर्शन-परम्पराओं के मध्य में किस प्रकार से हुआ है, उसकी कालक्रम से तुलना करते हुए ऐसी पद्धति से प्रतिपादन किया है जिसमें वेद, उपनिषद्, बौद्ध, पालि और संस्कृत के ग्रन्थों तथा वैदिक-सम्मत लगभग समस्त दर्शनों के प्रमाणभूत ग्रन्थों का निष्कर्ष आ जाता है। यह बात (वस्तु) तुलनात्मक दृष्टि से दार्शनिक अभ्यास करने वालों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है।

(3) नव तत्त्वों को, आत्मा, कर्म और परलोक इन तीन तत्त्वों (मुद्दों) में संक्षेप कर, उनकी अन्य दर्शन-सम्मत विचारधारा के साथ विस्तार से ऐसी तुलना की गई है कि जिससे उन-उन तत्त्वों से सम्बन्धित समस्त भारतीय दर्शनों के विचार वाचक एक ही स्थान पर हृदयगम कर सके।

प्रस्तावनागत उपरोक्त सूचित विशेषताओं के अतिरिक्त अन्य जो भी विशेषताएँ हैं उनमें से कुछ-एक निम्न प्रकार हैं—

(1) टिप्पणियाँ—भाषान्तर पूर्ण होने के बाद उसके अनुसन्धान में अनेक दृष्टियों से पृष्ठ 180 से 210 पर्यन्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। मूल गाथाओं में प्रयुक्त और अनुवाद में आगत ऐसे अनेक दार्शनिक शब्दों का स्पष्टीकरण उनमें किया गया है। इसी प्रकार आचार्य जिनभद्र

ने कोई विचार प्रकट किये हों, अथवा कोई युक्तियाँ दी हों, अथवा किसी शास्त्र का पद या वाक्य सूचित किया हो, तो उन स्थलों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निर्देश करने के पश्चात् दार्शनिक विचारों की तुलना की गई है। आचार्य जिनभद्र द्वारा इन विचारों, युक्तियों और आधारों को जहाँ-जहाँ से ग्रहण किये जाने की सम्भावना है, उनमें से प्राप्त समस्त मूल-स्थलों को यहाँ दिखलाया गया है। केवल इतना ही नहीं, अपितु उनसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न दर्शनशास्त्रों के अनेक विद्य ग्रन्थों में जो कुछ प्राप्त हुआ उन सब का ग्रन्थ-नाम और स्थल के साथ उल्लेख किया है। वस्तुतः ये टिप्पणियाँ ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने की इच्छा रखने वालों के लिये एक अभ्यास-ग्रन्थ जैसी हैं।

(2) मूल—‘विशेषावश्यक भाष्य’ की प्राचीन से प्राचीन लगभग दसवीं शताब्दी में लिखित प्रति, जो जैसलमेर भण्डार में प्राप्त हुई है उसके साथ मिलान करने के लिये वहाँ स्वयं जाकर लिये हुए पाठान्तरों के साथ में गणधरवाद की मूल गाथाएँ परिशिष्ट में दी गई हैं वे रचनाकालीन असली पाठशुद्धि के निकट पहुँचने के इच्छुक जिज्ञासु की दृष्टि से एवं कालक्रम से लेखन और उच्चारण-भेद को लेकर किस-किस रीति से मूल पाठ में परिवर्तन होता है वह पाठालोचन की दृष्टि से विशेष महत्व का है।

(3) टीकाकार ने जो अवतरण (उद्धरण) उद्धृत किये हैं और जो अवतरण चर्चा की भूमिका को पूर्ण करते हैं उन अवतरणों के मूल-स्थानों का उल्लेख करने वाला परिशिष्ट सशोधक विद्वानों की दृष्टि में बहुत ही उपयोगी है।

(4) पृष्ठंक 255—264 में दी हुई शब्दसूची, भाषान्तर में प्रयुक्त पदों और नामों के अतिरिक्त ग्रन्थगत विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी है।

समग्र भाषान्तर ऐसी सरसता और प्रवाहबद्ध मधुर भाषा में हुआ है कि पढ़ने के साथ ही जिज्ञासु अधिकारी को इसका अर्थ, रहस्य समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। भाषान्तर की यह भी विशेषता है कि इसमें मूल और टीका दोनों का सम्पूर्ण आशय पुनरुक्ति के बिना आ जाता है और यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो ऐसा अनुभव होता है। संवादात्मक शैली के कारण जटिलता नहीं रहती और भगवान् एवं गणधरों के प्रश्नोत्तर पूर्णरूपेण पृथक्-पृथक् ध्यान में आ जाते हैं। अनुवाद में जो पारिभाषिक शब्द आये हैं, जो दार्शनिक विचार संकलित हुए हैं और जो दोनों पक्षों के तर्क दिये गये हैं उन सब का अत्यधिक स्पष्टीकरण हो जाने से भाषान्तर जटिल न बन कर सुगम बन गया है तथा विशेष जिज्ञासु के लिये अन्त में टिप्पणियाँ होने से उसकी विशिष्ट जिज्ञासा भी सन्तुष्ट हो जाती है।

वैदिक, बौद्ध या जैन आदि भारतीय दर्शनों में आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, परलोक जैसे विषयों की चर्चा साधारण है। उससे कोई भी भारतीय दर्शन की शाखा का उच्चस्तरीय अध्ययन करने वाले एम० ए० की कक्षा के विद्यार्थियों अथवा उस विषय में शोधपूर्ण प्रबन्ध लिखकर डॉक्टरेट उपाधि के अभिलाषियों अथवा अध्यापकों के लिये यह पूरी पुस्तक बहुत ही उपयोगी और बहुमूल्य सामग्री प्रदान करने वाली है।

अनेक जैन ज्ञान भण्डारों के उद्धारक श्रीर दुर्लभ सामग्री के संशोधक तथा जैन-परम्परा एवं शास्त्रों के सुज्ञाता मुनि श्री पुण्यविजयजी को मैंने मुद्रित पृष्ठों का अवलोकन कर योग्य एवं आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करने का अनुरोध किया था। उन्होंने सहृदयता के साथ समग्र प्रस्तावना देखने के पश्चात् जो सूचनाएँ दी थीं उनको मैंने 'वृद्धिपत्र' शीर्षक से प्रदान की हैं जो टिप्पणियों के पश्चात् मुद्रित की गई हैं।

-सुखलाल

सन्दर्भ-ग्रन्थ-संकेत सूची

अंगुत्तर निकाय (पाली टेक्स्ट)

अथर्ववेद

अनुयोगद्वार सूत्र

अनुयोगद्वार चूर्ण

अनुयोगद्वार हरिभद्रसूरि कृत टीका

„ हेमचन्द्रसूरि कृत टीका

अभिज्ञान शाकुन्तल

अभिधम्मसंगहो (कौशाम्बी)

अभिधर्मकोष (काशी विद्यापीठ)

अष्टसं०—अष्टसहस्री (विद्यानन्द)

आचा० नि०—आचारांग नियुक्ति

आचारांग टीका

आत्मतत्त्वविवेक (उदयनाचार्य)

आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द)

आप्तमीमांसा (समन्तभद्र)

आव० नि०—आवश्यक नियुक्ति

आव० नि० दी०—आवश्यक नियुक्ति दीपिका

आव० नि० हरि० टी०—आवश्यक नियुक्ति
हरिभद्र कृत टीका

आवश्यक नियुक्ति मलयगिरि टीका

ईशावास्योपनिषद्

उत्तरा०—उत्तराध्ययन सूत्र

उत्त० नि०—उत्तराध्ययन नियुक्ति

‘उत्थान’ महावीरांक (स्था० जैन कान्फ्रेंस,
बम्बई)

उदान (सारनाथ, महाबोधि सोसायटी)

उपासकदशांग सूत्र

ऋग्वेद

ऐतरेय आरण्यक

कठो०—कठोपनिषद्

कथावत्यु (पाली टेक्स्ट)

कर्मग्रन्थ (भाग १-६, आगरा)

कर्मप्रकृति

कर्मप्रकृति चूर्ण

कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी (विजयराजेन्द्रसूरि)

कषायपाहुड—जयधवला टीका (काशी)

कौषी०—कौषीतकी उपनिषद्

गीता

चतुःशतक (विश्व भारती)

छान्दो०—छान्दोग्योपनिषद्

जिनरत्नकोष (पूना)

जीतकल्प सूत्र

जीतकल्प सूत्र चूर्ण

जैन गुर्जर कविश्री (देसाई)

जैन सत्यप्रकाश (अहमदाबाद)

जं० सा० सं० इ०—जैन साहित्य नो संक्षिप्त
इतिहास (देसाई)

जैनायम (मालवजिया)

ज्ञानबिन्दु (सिधी सिरीज)

तन्त्रवातिक

तत्त्वसंग्रह

तत्त्वार्थसूत्र

—विवेचन (पं० सुखलालजी)

—भाष्य

—भाष्य-सिद्धसेनवृत्ति

तत्त्वार्थ भा०टी०—तत्त्वार्थ भाष्य टीका

(सिद्धसेन)

तत्त्वार्थश्लोकव.तिक (विद्यानन्द)

तत्त्वोपप्लवसिंह (बड़ोदा)

ताण्ड्य०—ताण्ड्य महाब्राह्मण

तिलोयपणलि—त्रिलोक प्रज्ञप्ति
 तेजोबिन्दूपनिषद्
 तैत्तिरीय उपनिषद्
 —ब्राह्मण
 त्रिषष्टि०—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र
 (हेमचन्द्र)
 दशवै०—दशवैकालिक सूत्र
 दीघनिकाय (पाली टेक्स्ट)
 द्रव्य सं० टी०—द्रव्य संग्रह टीका (ब्रह्मदेव)
 धम्मपद
 धर्मसंग्रहणी (हरिभद्र)
 नन्दी सू०—नन्दी सूत्र
 —चूषि
 —हरिभद्र-टीका
 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र)
 न्यायकुसुमांजली (उदयनाचार्य)
 न्यायप्रवेश (बड़ोदा)
 न्यायबिन्दु (बनारस)
 न्यायमं०—न्यायमंजरी (विजयानगरम्)
 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
 न्यायभा०—न्याय सूत्र भाष्य
 न्यायसू०—न्याय सूत्र
 न्यायवा०—न्यायवार्तिक
 न्यायवतार० टि०—न्यायवतार वार्तिकवृत्ति
 टिप्पण (मालवणिया)
 पंचसंग्रह (डभोई)
 पद्मचरित
 परिभाषेन्दुशेखर
 पाठण जैन भण्डार ग्रन्थ सूची (बड़ोदा)
 पेतवत्थु (सारनाथ)
 प्रकरण पंजिका
 प्रमाण मी० भा० टि०—प्रमाण मीमांसा
 भाषा टिप्पण
 प्रमाण० अलं०—प्रमाणवार्तिकालंकार
 (पटना)

प्रमाणवा०—प्रमाणवार्तिक
 प्रमेयकमलमार्तण्ड
 प्रवचनसारोद्धार
 प्रशस्तपाद—पदार्थधर्म संग्रह (प्रशस्तपादकृत)
 प्रशम०—प्रशमरति
 प्रश्नोपनिषद्
 बन्धशतक
 बुद्धचरित (कौशाम्बी)
 बुद्धचरित (अश्वघोष)
 बुद्धचर्या (राहुल)
 बृहत्कल्प भाष्य
 बृहदा०—बृहदारण्यक उपनिषद्
 बृहदा० भा० वा०—बृहदारण्य भाष्य वार्तिक
 बौध्दिचर्यावतार
 बौध्दिचर्यावतार पंजिका
 ब्रह्मजाल सुत्त (दीघनिकायगत)
 ब्रह्मबिन्दु उप०—ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्
 ब्रह्मसूत्राणुभाष्य (गुजराती अनुवाद-सह)
 भगवती सूत्र (विद्यापीठ)
 भगवती आराधना
 भावप्रामृत
 मज्झिमनिकाय
 महापुराण (आदिपुराण)
 महापुराण (पुष्पदन्त)
 महाभारत
 महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सवांक
 महावीर स्वामी नो अन्तिम उपदेश
 माठर वृत्ति—सांख्यकारिका टीका
 माध्यमिककारिका (नागार्जुन)
 —वृत्ति (चन्द्रकीर्ति)
 मिलिन्द प्रश्न (बम्बई)
 मीमांसा श्लो०—मीमांसा श्लोक वार्तिक
 मुण्डक उपनिषद्
 मंत्रायणी उपनिषद्
 मंत्रायणी सं०—मंत्रायणी संहिता
 मंत्रेय्युपनिषद्

यजुर्वेद
 युवत्यनुशासन
 योगदर्शन
 योगदर्शन भाष्य
 योगदृ०— योगदृष्टिसमुच्चय
 योगशिखोपनिषद्
 लोकतत्त्वनिर्णय
 वाक्यपदीय
 विग्रहव्यावर्तिनी (नागार्जुन)
 विजयोदया— भगवती आराधना टीका
 विज्ञप्तिमात्रत.सिद्धि
 विनयण्टिक— महावग्ग
 विविधतीर्थ कल्प
 विशेषणवती (जिनभद्र)
 विशेषा० भा०— विशेषावश्यक भाष्य
 विद्वृद्धिमग्ग
 वंशे०— वैशेषिक सूत्र
 व्यो०— व्योभवती-प्रशस्तपाद भाष्य टीका
 शतपथ ब्रह्मण
 शाबर भाष्य
 शास्त्रदी०— शास्त्रदीपिका
 शास्त्रवार्तासमुच्चय
 श्रीमद् भागवत (छायानुवाद)
 श्लोकवा०— सीमांसा श्लोकवार्तिक
 श्वेता०— श्वेताश्वतर उपनिषद्
 षट्खण्डागम— धवला टीका
 षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्र)
 षोडशक (हरिभद्र)
 संयुक्तिकाय (पाली टेक्स्ट)
 सन्मत्तितर्क (गुजराती)
 समयसार

समवायोग सूत्र
 सर्वसारोपनिषद्
 सर्वार्थसिद्धि— तत्त्वार्थ टीका
 सांख्यका०— सांख्य कारिका
 सांख्यत०— सांख्यतत्त्वकौमुदी
 सामवेद
 मुत्तनिपात
 सूत्रकृ० नि० } — सूत्रकृतान्तं नियुक्ति
 सूत्र० नि० }
 सूर्यप्र०— सूर्य प्रज्ञप्ति
 सौन्दरनन्द
 स्थानांग
 स्याद्वादमज्जरी
 स्याद्वादर०— स्याद्वादरत्नाकर (पूना)
 हरिवंश पुराण
 हेतुविन्दु
 —Outlines of Indian Philosophy—
 Hiryanra
 —Buddhist Conception of spirits—
 Law
 —Buddhist Philosophy—Keith
 —E.R.E. (Encyclopaedia of
 Religion and Ethics)
 —Heaven and Hell—Law
 History of Indian Philosophy
 Vol-II—The Creative period—
 Belvelkar and Ranade
 —Hymns of Rigveda
 —Nature of Consciousness in Hindu
 Philosophy—Saxena
 —Origin and development of
 Religion in Vedic Literature—
 Deshmukh

विषयानुक्रम

प्रस्तावना पृष्ठ १-१६०

१. गणधरवाद क्या है ?	१-५	५. आचार्य जिनभद्र	२७-३५
भाषान्तर की शैली	१	पूर्व-भूमिका	२७
आवश्यक सूत्र और उसका प्रथम अध्ययन	२	जीवन और व्यक्तित्व	२९
विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद का प्रसंग	३	सत्ता समय	३२
२. आवश्यक सूत्र के कर्ता कौन ?	५-१०	६. आचार्य जिनभद्र के ग्रन्थ	३५-४७
आवश्यक के प्रणेता के सम्बन्ध में दो मान्यतायें	६	१. विशेषावश्यक भाष्य	३५
३. आवश्यक-निर्युक्ति के कर्ता भद्रबाहु	१०-११	२. विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति	३६
४. आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्तियों का उपोद्घात	११-२६	३. बृहत्संग्रहणी	३६
निर्युक्ति का स्वरूप	११	४. बृहत् क्षेत्र समास	३७
आवश्यक निर्युक्ति	१२	५. विशेषणवती	३९
रचनाक्रम	१३	६. जीतकल्प सूत्र	४२
निर्युक्ति का शब्दार्थ	१४	७. जीतकल्प भाष्य	४३
उपोद्घात	१६	८. ध्यानशतक	४७
भ० ऋषभदेव का परिचय	१७	७. मलधारी हेमचन्द्राचार्य	४७-५४
भ० महावीर	१६	८. मलधारी हेमचन्द्र के ग्रन्थ	५४-६१
गणधर-प्रसंग	२०	१. आवश्यक टिप्पण	५६
शेष द्वार	२१	२. बन्धशतक वृत्ति-विनयहिता	५६
सामायिक	२३	३. अनुयोगद्वार वृत्ति	५८
उपसंहार	२३	४. उपदेशमाला सूत्र	५८
		५. उपदेशमाला-विवरण	५६
		६. जीवसमास-विवरण	५६
		७. भवभावना सूत्र	६०
		८. भवभावना विवरण	६०
		९. नन्दि-टिप्पण	६०
		१०. विशेषावश्यक विवरण	६१

६. गणधरों का परिचय	६१-७०	(७) चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेद- वाद	१६
१०. विषय प्रवेश	७०-१६०	(८) वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत- मार्ग	१६
शैली	७०	(अ) शैवों का मत	१६
शंका का आधार	७२	४. आत्मा का परिमाण	१६
शंका-स्थान	७४	५. जीवों की नित्यानित्यता	१०१
(अ) आत्म-विचारणा	७५-११८	(अ) जैन और मीमांसक	१०१
१. अस्तित्व	७५	(आ) सांख्य का कूटस्थवाद	१०१
२. आत्मा का स्वरूप-चैतन्य	७८	(इ) नैयायिक-वैशेषिकों का नित्यवाद	१०१
(१) देहात्मवाद-भूतात्मवाद	७९	(ई) बौद्ध-सम्मत अनित्यवाद	१०२
(२) प्राणात्मवाद-इन्द्रियात्म- वाद	८१	(उ) वेदान्त-सम्मत जीव की परिणामी नित्यता	१०२
(३) मनोमय आत्मा	८२	६. जीव का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व	१०२
(४) प्रजात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा	८४	(अ) उपनिषदों का मत	१०३
(५) आनन्दात्मा	८६	(आ) दार्शनिकों का मत	१०४
(६) पुरुष, चैतन्य आत्मा- चिदात्मा-ब्रह्म	८७	(इ) बौद्ध-मत	१०५
(७) भगवान् बुद्ध का अनात्म- वाद	८८	(ई) जैन मत	१०६
(८) दार्शनिकों का आत्मवाद	९४	७. जीव का बन्ध और मोक्ष	१०७
(९) जैन मत	९४	(अ) मोक्ष का कारण	१०७
उपसंहार	९५	(आ) बन्ध का कारण	१०८
३. जीव अनेक हैं	९५	(इ) बन्ध क्या है ?	१०९
(अ) वेदान्तियों के मतभेद	९६	(ई) मोक्ष का स्वरूप	११२
(१) शंकराचार्य का विवर्तवाद	९६	(उ) मुक्ति-स्थान	११६
(२) भास्कराचार्य का सत्योपाधि- वाद	९७	(ऊ) जीवनमुक्ति-विदेहमुक्ति	११७
(३) रामानुजाचार्य का विशिष्टा- द्वैतवाद	९७	(आ) कर्म-विचार	११८-१२०
(४) निम्बार्क-सम्मत द्वैताद्वैत-भेदा- भेदवाद	९८	(१) कर्मविचार का मूल	११९
(५) मध्वाचार्य का भेदवाद	९८	(२) कालवाद	१२३
(६) विज्ञानभिक्षु का अविभागा- द्वैत	९८	(३) स्वभाववाद	१२४
		(४) यदुच्छावाद	१२४
		(५) नियतिवाद	१२५
		(६) अज्ञानवर्दी	१२७
		(७) कालादि का समन्वय	१२७

(८) कर्म का स्वरूप	१२८	(२) वैदिक स्वर्ग-नरक	१५३
(९) कर्म के प्रकार	१३७	(३) उपनिषदों के देवलोक	१५४
(१०) कर्मबन्ध के प्रबल कारण	१३८	(४) देवयान, पितृयान	१५४
(११) कर्मफल का क्षेत्र	१४०	(५) पौराणिक देवलोक	१५६
(१२) कर्मबन्ध और कर्मफल की प्रक्रिया	१४०	(६) वैदिक असुरादि	१५६
(१३) कर्म का कार्य अथवा फल	१४२	(७) उपनिषदों में नरक का वर्णन	१५६
(१४) कर्म की विविध अवस्थाएँ	१४७	(८) पौराणिक नरक	१५७
(१५) कर्मफल का संविभाग	१४९	(९) बौद्ध और परलोक	१५७
(इ) परलोक विचार	१५०-१६०	(१०) जैन-सम्मत परलोक	१५९
(१) वैदिक देव और देवियाँ	१५१		

गणधरवाद—पृ० १-१७९

१. प्रथम गणधर इन्द्रभूति—जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा ३-२८

इन्द्रभूति के संशय का कथन	३-७	ज्ञान देह-गुण नहीं	११
जीव प्रत्यक्ष नहीं	३	सर्वज्ञ को जीव प्रत्यक्ष है	१२
जीव अनुमान से सिद्ध नहीं होता	३	अन्य देह में आत्म-सिद्धि	१३
जीव आगम-प्रमाण से भी सिद्ध नहीं	४	आत्म-सिद्धि के लिए अनुमान	१३
जीव के विषय में आगमों में परस्पर विरोध	५	आत्मा कथंचित् मूर्त है	१५
उपमान प्रमाण से भी जीव असिद्ध है	६	संशय का विषय होने से जीव है	१५
अर्थापत्ति से भी जीव असिद्ध है	६	अजीव के प्रतिषेधी रूप में जीव की सिद्धि	१६
संशय का निवारण	७-२८	निषेध्य होने से जीव-सिद्धि	१६
संशय विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है	७	निषेध का अर्थ	१७
अहं-प्रत्यय से जीव का प्रत्यक्ष	८	सर्वथा असत् का निषेध नहीं	१८
अहं-प्रत्यय देह द्विषयक नहीं	८	शरीर जीव का आश्रय है	१८
संशय-कर्ता जीव ही है	८	जीव-पद सार्थक है	१९
आत्म-बाधक अनुमान के दोष	९	जीव-पद का अर्थ देह नहीं	१९
गुणों के प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष	१०	सर्वज्ञ-वचन द्वारा जीव-सिद्धि	१९
शब्द पौद्गलिक है	१०	सर्वज्ञ झूठ नहीं बोलता	२०
गुण-गुणों का भेदभाव	१०	भगवान् सर्वज्ञ क्यों ?	२०
		जीव एक ही है	२०

जीव अनेक हैं	२१	विज्ञान भूत-धर्म नहीं	२६
जीव सर्व-श्यापी नहीं	२३	वेद-पद का क्या अर्थ है ?	२७
वेद वाक्यों का संगतार्थ	२३	वस्तु की सर्वमयता	२८
जीव नित्यानित्य है	२५		

२. द्वितीय गणधर अग्निभूति—कर्म के अस्तित्व की चर्चा २९-४८

कर्म के विषय में संशय	२९-३०	कर्म विचित्र है	३८
कर्म-की सिद्धि	३०-४८	कार्मण देह स्थूल शरीर से भिन्न है	३९
कर्म साधक अनुमान	३१	मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध	३९
सुख-दुःखमात्र दृष्ट कारणधीन नहीं	३१	धर्म व अधर्म कर्म ही हैं	४०
कर्म-साधक अन्य अनुमान	३१	मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा पर	
कार्मण शरीर की सिद्धि	३२	प्रभाव है	४१
चेतन की क्रिया सफल होने के कारण		संसारि आत्मा मूर्त भी है	४१
कर्म की सिद्धि	३२	जीव-कर्म का अनादि सम्बन्ध	४१
क्रिय का फल अदृष्ट है	३४	वेद-वाक्यों की संगति	४२
न चाहने पर भी अदृष्ट फल मिलता है	३५	ईश्वरादि कारण नहीं	४२
अदृष्ट होने पर भी कर्म मूर्त है	३६	स्वभाववाद का निराकरण	४४
कर्म परिणामी है	३७	वेद-वाक्य का सम्बन्ध	४६

३. तृतीय गणधर वायुभूति—जीव-शरीर-चर्चा ४९-६६

जीव व शरीर एक ही है, यह संशय	४-६५०	अतीन्द्रिय वस्तु की सिद्धि में प्रमाण	५५
संशय का निराकरण	५०-६६	भूत-भिन्न आत्मा का साधक अनुमान	५५
जो प्रत्येक में नहीं होता वह समुदायों		जीव अणिक नहीं	५८
में नहीं होता	५१	विज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं	५९
प्रत्येक भूत में चैतन्य नहीं	५१	ज्ञान के प्रकार	६३
भूत-भिन्न आत्मा का साधक अनुमान	५३	विद्यमान होने पर अनुपलब्धि के	
इन्द्रियाँ आत्मा नहीं	५३	कारण	६३
इन्द्रियाँ ग्राहक नहीं	५४	आत्मा का अभाव क्यों नहीं ?	६५
		वेद से समर्थन	६५

४. चतुर्थ गणधर व्यक्त—शून्यवाद-निरास ६७-६३

भूतों की सत्ता के विषय में संदेह	६७-७३	सर्व शून्यता का समर्थन	७०
पदार्थ मायिक हैं	६७	उत्पत्ति घटित नहीं होती	७१
समस्त व्यवहार सापेक्ष	६८	अदृश्य होने के कारण शून्यता	७२

संशय-निवारण	७३-९३	सर्वशून्यता का निराकरण	७९
भूतों के विषय में संशय का होना		उत्पत्ति सम्भव है	८०
उनकी सत्ता का द्योतक है	७३	सब कुछ अदृश्य नहीं	८५
स्वप्न के निमित्त	७४	अदर्शन अभास-साधक नहीं होता	८५
सर्व शून्यता में व्यवहाराभाव	७४	पृथ्वी आदि भूत प्रत्यक्ष हैं	८८
सभी ज्ञान भ्रान्त नहीं	७५	वायु का अस्तित्व	८८
सर्व सत्ता मात्र सापेक्ष नहीं	७६	आकाश की सिद्धि	८८
शून्यवाद में स्व-पर-पक्ष का भेद नहीं घटता	७६	भूत सजीव है	८९
शून्यता स्वाभाविक नहीं	७७	भूतों के सजीव होने पर भी अहिंसा का सद्भाव	९१
वस्तु की अश्व-निरपेक्षता	७८	हिंसा-अहिंसा का विवेक	९१
स्वतः परतः आदि पदार्थों की सिद्धि	७८	वेद-वचन का समन्वय	९२

५. पंचम गणधर सुधर्मा—इस भव तथा परभव के सादृश्य की चर्चा ९४-१०२

इह-परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य का संशय	९४-९५	कर्म का फल परभव में भी होता है	९६
कारण-सदृश कार्य	९४	कर्म के अभाव में संसार नहीं	९७
संशय-निवारण	९५-१०२	परभव स्वभावजन्य नहीं	९७
कारण से विज्ञक्षण कार्य	९५	स्वभाववाद का निराकरण	९८
कारण-वैचित्र्य से कार्य-वैचित्र्य	९५	वस्तु समान तथा असमान है	१००
इस भव की तरह परभव विचित्र है	९६	परभव में वही जाति नहीं	१०१
		वेद-वाक्यों का समन्वय	१०१

६. छठे गणधर मण्डिक—बन्ध-मोक्ष चर्चा १०३-१२०

बन्ध-मोक्ष का संशय	१०३-३०५	भव्यों का मोक्ष मानने से भी संसार खाली नहीं होता	१०६
जीव कर्म से पूर्व नहीं हो सकता	१०४	सर्वज्ञ के वचन को प्रमाण मानो	१०६
कर्म जीव से पहले नम्भव नहीं	१०४	मोक्ष में न जाने वाले भव्य क्यों ?	११०
जीव तथा कर्म युगपद् उत्पन्न नहीं हैं	१०४	मोक्ष कृतक होने पर भी नित्य है	१११
संशय-निवारण	१०५-१२०	मोक्ष एकान्ततः कृतक नहीं	१११
कर्म-सन्तति अनादि है	१०५	मुक्त पुनः संसार में नहीं आते	१११
जीव का बन्ध	१०६	आत्मा व्यापक नहीं है	११३
कर्म-सिद्धि	१०६	आत्मा-नित्य-अनित्य है	११३
बन्ध अनादि सान्त है	१०७	मुक्त लोक के अग्रभाग में रहते हैं	११३
भव्य-अभव्य का भेद	१०८	आत्मा अरूपी होने पर भी सक्रिय	११४
अनादि होने पर भी भव्यत्व का अन्त	१०८		

अलोक के अस्तित्व में प्रमाण	११६	आदि सिद्ध कोई नहीं	११६
धर्माधर्मास्तिकायों की सिद्धि	११७	सिद्धों का समावेश	११६
सिद्ध-स्थान से पतन नहीं	११८	वेद-वाक्यों का समन्वय	११६

७. सातवें गणधर मौर्यपुत्र—देव-चर्चा १२१-१२७

देवों के विषय में सन्देह	१२१-१२२	वे यहाँ कैसे आएँ ?	१२४
संशय का निवारण	१२२-१२७	देव-साधक ग्रन्थ अनुमान	१२५
देव प्रत्यक्ष हैं	१२२	ग्रह-विकार की सिद्धि	१२५
अनुमान से सिद्धि	१२२	देव पद की सार्थकता	१२५
देव इस लोक में क्यों नहीं आते ?	१२४	वेद-वाक्यों का समन्वय	१२६

८. आठवें गणधर अकम्पित—नारक-चर्चा १२८-१३३

नारक विषयक सन्देह	१२८	आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है	१३०
संशय-निवारण	१२९-१३३	अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय समस्त है	१३१
नारक सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष हैं	१२९	इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष क्यों ?	१३१
किसी को भी प्रत्यक्ष हो, वह प्रत्यक्ष ही है	१२९	अनुमान से नारक-सिद्धि	१३२
इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है	१२९	सर्वज्ञ के वचन से सिद्धि	१३२
उपलब्धि-कर्ता इन्द्रियाँ नहीं, आत्मा है	१३०	वेद-वाक्यों का समन्वय	१३३

९. नववें गणधर अचलभ्राता—पुण्य-पाप-चर्चा १३४-१५१

पुण्य-पाप के विषय में संदेह	१३४-१३६	अदृष्ट-रूप कर्म की सिद्धि	१४१
पुण्यवाद	१३५	केवल पुण्यवाद का निरास, पाप सिद्धि	१४२
पापवाद	१३५	केवल पापवाद का निरास, पुण्य-सिद्धि	१४३
पुण्य-पाप दोनों संकीर्ण हैं	१३५	संकीर्ण पक्ष का निरास	१४३
पुण्य-पाप दोनों स्वतन्त्र हैं	१३६	कर्म-संक्रम का नियम	१४५
स्वभाववाद	१३६	पुण्य व पाप का लक्षण	१४५
संशय-निवारण	१३६-१५१	कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया	१४६
स्वभाववाद का निराकरण	१३६	पुण्य-पाप प्रकृति की गणना	१४८
अनुमान से पुण्य-पाप कर्म की सिद्धि	१३७	पुण्य-पाप के स्वातन्त्र्य का समर्थन	१४९
पुण्य-पाप रूप अदृष्ट कर्म की सिद्धि	१३८	वेद-वाक्यों का समन्वय	१५०
कर्म के पुण्य-पाप भेदों की सिद्धि	१३९		
कर्म अमूर्त नहीं	१३९		

१०. दशवें गणधर मेतार्य—परलोक-चर्चा १५२-१५८

परलोक-विषयक सन्देह	१५२-१५३	देव-नारक का अस्तित्व	१५४
मृत-धर्म चैतन्य का भूतों के साथ	नाश १५२	परलोक के अभाव का पूर्वपक्ष :	
भूतों से उत्पन्न चैतन्य अनित्य है	१५२	विज्ञान अनित्य होने से	आत्मा अनित्य १५४
अद्वैत आत्मा का संसरण नहीं होता	१५३	एकान्त नित्य में कर्तृत्वादि नहीं	१५५
संशय-निवारण	१५३-१५८	अज्ञानी आत्मा का संसरण नहीं	१५५
परलोक-सिद्धि, आत्मा स्वतन्त्र	द्रव्य है १५३	परलोक-सिद्धि—आत्मा अनित्य है	अतः नित्य भी है १५५
आत्मा अनेक है	१५३	घट भी नित्यानित्य है	१५६
आत्मा देह-परिमाण है	१५४	विज्ञान भी नित्यानित्य है	१५७
आत्मा सक्रिय है	१५४	वेद-वाक्यों का समन्वय	१५८

११. ग्यारहवें गणधर प्रभास—निर्वाण-चर्चा १५९-१७९

निर्वाण-सम्बन्धी सन्देह	१५९-१६०	जीव में बन्ध व मोक्ष है	१६३
निर्वाण-विषयक मतभेद	१६०	मोक्ष नित्यानित्य है	१६३
सन्देह-निवारण	१६१-१७९	पुद्गल के स्वभाव का निरूपण	१६४
निर्वाण-सिद्धि, जीव-कर्म का अनादि		विषय-भोग के अभाव में भी मुक्त	
संयोग नष्ट होता है	१६१	को सुख होता है	१६५
संसार-पर्याय का नाश होने पर भी		इन्द्रियों के अभाव में भी मुक्त	
जीव विद्यमान रहता है	१६१	जानी है	१६६
कर्म-नाश से संसार के समान जीव		मुक्तात्मा अजीव नहीं बनता	१६७
का नाश नहीं	१६१	इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान है	१६८
जीव सर्वथा विनाशी नहीं	१६१	आत्मा ज्ञान स्वरूप है	१६९
कृतक होने पर भी मोक्ष का नाश		पुण्य के अभाव में भी मुक्त सुखी है,	
नहीं	१६२	पुण्य का फल सुख नहीं है	१७०
प्रध्वंसाभाव तुच्छ नहीं	१६२	देह के बिना भी सुख का अनुभव	१७४
मोक्ष कृतक ही नहीं है	१६२	सिद्ध का सुख व ज्ञान नित्य है	१७४
मुक्तात्मा नित्य है	१६२	सुख व ज्ञान अनित्य भी हैं	१७५
मुक्तात्मा व्यापक नहीं	१६३	वेद-वाक्यों का समन्वय	१७६
टिप्पणियाँ	१८०-२१०		
वृद्धिपत्र	२११-२१२		
गणधरवाद की गाथाएँ	२१३-२५२		
टीका के अवतरण	२५३-२५४		
शब्द सूची	२५५-२६४		

प्रस्तावना

1. गणधरवाद क्या है ?

आवश्यक सूत्र जैनश्रुत का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैनश्रुत की सर्वप्रथम प्राकृत गद्य-व्याख्या अनुयोगद्वारा सूत्र में दृष्टिगोचर होती है और वह आवश्यक सूत्र की व्याख्या के रूप में है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन अनेक निर्युक्तियों की रचना की है उनमें आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति का विशेष स्थान है। अन्य निर्युक्तियों के समान उसमें प्राकृत पद्य में आवश्यक सूत्र की व्याख्या की गई है। आवश्यक सूत्र के छः अध्ययन हैं जिनमें सामायिक अध्ययन प्रथम है। आचार्य जिनभद्र ने, उस सामायिक अध्ययन तथा उस पर उक्त निर्युक्ति तक के सीमित भाग की प्राकृत पद्य में अति विस्तृत व्याख्या की है, वह विशेषावश्यक भाष्य के नाम से सुविख्यात है। विशेषावश्यक भाष्य की अनेक व्याख्याओं में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विस्तृत संस्कृत व्याख्या सर्वाधिक प्रसिद्ध है। प्रस्तुत पुस्तक आचार्य जिनभद्र के भाष्य की इस विस्तृत व्याख्या के आधार पर 'गणधरवाद' नामक प्रकरण का भाषान्तर है।

भाषान्तर की शैली

मेरे विचार में प्रस्तुत ग्रन्थ को केवल भाषान्तर न समझ कर रूपान्तर समझना अधिक उपयुक्त होगा। प्रकरण के नाम के अनुसार इसमें उस वाद का समावेश है जो भगवान् महावीर और ब्राह्मण-पण्डितों में हुआ था। इस वाद के पश्चात् ये ब्राह्मण पण्डित भगवान् से प्रभावित हुए, उनके मुख्य शिष्य बने और गणधर कहलाए। इसीलिए इस वाद का नाम 'गणधरवाद' है। अतः भाषान्तर की शैली संवादात्मक रखी गई है। संवाद को अनुकूल रूप प्रदान करने के लिए मलधारी की व्याख्या के वाक्यों का भाषान्तर के साथ-साथ रूपान्तर भी करना पड़ा है। अतः यह भाषान्तर संस्कृत से गुजराती भाषा में केवल अनुवाद नहीं है प्रत्युत इस व्याख्या को संवादात्मक रूप में उपस्थित करने का एक प्रयत्न है। इसी कारण मैंने इसे रूपान्तर कहा है।

संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि उसमें ऐसी परम्परा विद्यमान है जिसके आधार पर गम्भीर दार्शनिक विषयों की चर्चा अति संक्षिप्त शैली में हो सकती है और फिर भी विषय की अस्पष्टता लेशमात्र नहीं रहती। गुजराती भाषा की तथा संस्कृत भाषा की शैली में भी भेद है। अतः भाषान्तर को सुवाच्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शैली गुजराती हो। केवल शब्दशः अनुवाद करने से भावों के अस्पष्ट रहने की अधिक संभावना रहती है। यह भी संभव है कि भाषान्तर गुजराती में हो और उस में गुजरातीपन भी दृग्गोचर न हो। इन कारणों से भाषान्तरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल शब्दों का नहीं अपितु शब्दों और भावों को मिलाकर संस्कृत भाषा से गुजराती भाषा में रूपान्तर करे। इस भाषान्तर में इसी नीति के अनुसार कार्य करने का विनम्र प्रयास किया है। मुझे इसमें कहां तक सफलता मिली, इस बात का निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं।

इस प्रयत्न में मेरा यह ध्येय रहा है कि सामान्य संस्कृत को जानने वाला परन्तु दर्शन-शास्त्र से अनभिज्ञ पाठक भी गुजराती पढ़ने के बाद यदि संस्कृत को सामने रखे तो वह सरलता पूर्वक मूल ग्रन्थ में प्रवेश कर सके। अतः मूल संस्कृत की कोई भी आवश्यक बात छोड़ी नहीं गई और क्रम भी मूल ग्रन्थ का ही रखा गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है किंतु मैंने उसमें कोई नई बात नहीं जोड़ी, यदि ऐसा किया जाता तो यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जाता, भाषान्तर अथवा रूपान्तर नहीं रहता। जहाँ कोई नवीन बात लिखने की थी, उसे मैंने बाद में टिप्पणी में लिखना उचित समझा है।

आवश्यक सूत्र तथा उसका प्रथम अध्ययन

समस्त जैनागम साहित्य में आवश्यक सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका प्रचार अपने रचनाकाल से लेकर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है। आज भी जितना साहित्य इस सूत्र के संबंध में प्रकाशित होता है, उतना अन्य किसी भी सूत्र के संबंध में नहीं। इसका कारण यह है कि इसमें श्रमण और श्रावक के दैनिक कर्तव्य—आवश्यक क्रिया का निरूपण है, अतः प्रत्येक श्रमण और श्रावक को इसकी प्रतिदिन आवश्यकता रहती है। इस ग्रन्थ का विषय धार्मिक पुरुषों के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसके जीवन में अंतर्प्रोत हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ की टीकाओं और उपटीकाओं के अतिरिक्त इसके एक-एक विषय को लेकर अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना हुई है। ये स्वतंत्र ग्रन्थ भी टीकाओं तथा उपटीकाओं से अलंकृत हुए हैं। भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो इस ग्रन्थ की प्राचीन प्राकृत और संस्कृत टीकाओं से आरम्भ कर आधुनिक गुजराती व हिन्दी भाषा में उपलब्ध साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक शताब्दी में आवश्यक सूत्र पर कुछ न कुछ लिखा गया है। जैनागमों के वर्गीकरण में प्राचीन पद्धति के अनुसार अंग-बाह्य के एक वर्ग में आवश्यक-सूत्र तथा दूसरे वर्ग में आवश्यकेतर सूत्रों को रखा गया है। इससे भी इस सूत्र का महत्व प्रकट होता है।¹

आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन सामायिक के विषय में है। आचार्य भद्रबाहु के मतानुसार यह सामायिक समय श्रुतज्ञान के आदि में है। श्रुतज्ञान का एक मात्र सार चारित्र है और चारित्र का सार निर्वाण है²। इस प्रकार सामायिक की चर्चा करने वाले आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन का मोक्ष से सीधा सम्बन्ध है। आगम में जहाँ भगवान् महावीर के श्रमणों के श्रुतज्ञान के अध्ययन का वर्णन है वहाँ सर्वत्र उन के अध्ययन में सामायिक को प्रथम स्थान दिया गया है।³ अन्य अंग-ग्रन्थों का स्थान उसके उपरान्त है। अतः केवल ज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, परन्तु आचार की दृष्टि से भी सामायिक का स्थान सर्वप्रथम है।

1. नन्दी सूत्र सू० 43

2. सामाद्यमाईयं सुयनाणं जाव विन्दुसाराधो ।

तस्स विसारो चरणं सारो चरणस्स निब्बाणं । आ० नि० 93

3. भगवती 2.1

आचार्य भद्रबाहु के मतानुसार भगवान् ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् सबसे पहले अर्थतः उपदेश सामायिक का ही दिया था। अर्थात् उनके प्रथम उपदेश में सामायिक का अर्थ समाविष्ट था। यही नहीं, बाद के पश्चात् गणधरों ने भी सर्वप्रथम सामायिक का ही उपदेश ग्रहण किया था।¹ इस उपदेश से गणधरों को क्या लाभ हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने कहा है कि, उन्हें इससे शुभाशुभ पदार्थों का ज्ञान हुआ। इस ज्ञान के कारण संयम और तप में उनकी प्रवृत्ति हुई। इससे वे नवीन पाप-कर्म से निवृत्त हुए, बद्ध कर्मों के नाश में समर्थ बने, अशरीरी हुए और अशरीरी होकर उन्होंने अव्याबाध मोक्ष-सुख को प्राप्त किया।²

श्रमण दीक्षा में सर्वप्रथम सामायिक चारित्र को ही ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः यही चारित्र परिपूर्ण होने पर यथाख्यात अथवा सम्पूर्ण चारित्र कहलाता है और वही मोक्ष का साक्षात् कारण बनता है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनों में सामायिक की ही प्रधानता है। इसीलिए आचार्य जिनभद्र ने नियुक्ति सहित केवल इस सामायिक अध्ययन की विशेषरूपेण व्याख्या करना उचित समझा और विशेषावश्यक भाष्य नामक एक महान् ग्रन्थ की रचना की।

विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद का प्रसंग

आवश्यक नियुक्ति में सामायिक अध्ययन की व्याख्या करते हुए उपोद्घात रूप में आचार्य भद्रबाहु ने कुछ³ प्रश्नों का समाधान किया है। उसमें उन्होंने सामायिक के निर्गम अर्थात् आविर्भाव के प्रश्न की चर्चा की है और इन प्रश्नों का समाधान किया है कि, सामायिक किस परिस्थिति में, किससे, कब और कहाँ आविर्भूत हुई। इसी चर्चा के अन्तर्गत उन्होंने यह भी बताया है कि, भगवान् महावीर के जीव ने पूर्वभव में जंगल में रास्ता भूले हुए साधुओं को मार्ग बताकर क्रमशः किस प्रकार मिथ्यात्व⁴ से बाहर निकल कर सम्यक्त्व की प्राप्ति⁵ की। भगवान् महावीर उत्तरोत्तर कषायों का क्षय करते हुए जिस प्रकार सर्वज्ञ के पद पर पहुँचे, उसका भी वहाँ विस्तार-पूर्वक वर्णन है। अन्त में उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया है कि, छप्पस्थज्ञान के नष्ट होने पर जब उन्हें अनन्त केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई, तब वे विहार कर रात्रि के समय महासेन वन में⁶ पहुँचे। अर्थात् मध्यमापावा में इस महासेन वन में देवताओं ने धर्म चक्रवर्ती भगवान् महावीर के द्वितीय समवसरण-महासभा की रचना⁷ की। इसी नगरी में सोमिलार्य ब्राह्मण ने यज्ञ

1. आव० नि० 733-35, 742-45

2. आव० नि० 745-48

3. आव० नि० 140-141, 145

4. विशेषा० भाष्य में 'मिच्छताइतमाप्रो' इत्यादि गाथा को भाष्य की गाथा माना है, आवश्यक हारिभद्रीय में भी इस गाथा की व्याख्या नहीं की गई, किन्तु विशेष० के संपादक ने उस गाथा को नियुक्ति की गाथा माना है। पीछे छपा हुआ मूल देखें।

5. आव० नि० 146 (पंथ किर 'देसित्ता')

6. आव० नि० 539

7. आव० नि० 540

रचाया था। अतः दूर-दूर के शहरों से महान् विद्वान् पण्डित उसमें भाग लेने आए थे। इसी यज्ञ-मण्डप के उत्तर में देवगण भगवान् महावीर के समवसरण में उत्सव मना रहे थे।¹ अतः यज्ञ में उपस्थित लोगों ने अनुमान किया कि उनके यज्ञानुष्ठान से सन्तुष्ट होकर देव स्वयं यज्ञवाटिका में आ रहे हैं², किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे देव यज्ञवाटिका की ओर न आकर किसी दूसरे स्थान की तरफ उत्तर में जा रहे हैं, तब उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। अन्य लोगों ने भी जब यह समाचार सुनाया कि, देवता स्वयं आकर सर्वज्ञ भगवान् महावीर की महिमा में वृद्धि कर रहे हैं तब अभिमान्ती पण्डित इन्द्रभूति ने सोचा कि, मेरे अतिरिक्त अन्य कौन सर्वज्ञ हो सकता है? अतः वह स्वयं भगवान् के समवसरण में उपस्थित हुआ।³ उसे आया हुआ जानकर भगवान् महावीर ने उसे उसके नाम और गोत्र से बुलाया।⁴ उन्होंने उसे यह भी कहा कि, तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के विषय में सन्देह है। साथ ही भगवान् महावीर ने बताया कि, वस्तुतः तुम वेद के पदों का अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें ऐसा सन्देह है। मैं तुम्हें उन पदों का सच्चा अर्थ बताऊंगा⁵। फलस्वरूप जब इन्द्रभूति के संशय का समाधान हो गया तब उसने अपने 500 शिष्यों के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा ले ली⁶। यही इन्द्रभूति भगवान् के मुख्य गणधर बने। उनके दीक्षित होने का समाचार जानकर अग्निभूति आदि अन्य ब्राह्मण पण्डित भी क्रमशः भगवान् के पास आए, उन्हें भी भगवान् ने उसी प्रकार उनके गोत्र सहित नाम से पुकारा और उन के मन में विद्यमान भिन्न-भिन्न शंकाएं भी बता दीं। समाधान होने पर वे भी अपने-अपने शिष्य समुदायों सहित दीक्षित हो गए और गणधर पद को प्राप्त किया⁷।

प्रथम विद्वान् इन्द्रभूति के मन में वर्तमान संशय के कथन से लेकर अंतिम ग्याहरवें विद्वान् प्रभास की दीक्षा विधि तक के प्रसंग की आवश्यक नि० की 42 गाथाओं (600-641) की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनभद्र ने 'गणधरवाद' की रचना की है। केवल इन 42 गाथाओं की व्याख्या के रूप में उन्होंने 11 गणधरों के बाद सम्बन्धी जिन गाथाओं की रचना की है, उनकी संख्या इस प्रकार है :—1-56; -35; 3-38; 4-79; 5-28; 6-38; 7-17; 8-16; 9-40; 10-19; 11-49.

आव० नि० की उक्त 42 गाथाओं में ग्यारह गणधरों के नाम, शिष्य संख्या, संशय का विषय, उनका वेद-पदों के अर्थ का अज्ञान, और मैं तुम्हें वेद-पदों का सच्चा अर्थ बताता हूँ,

1. आव० नि० 541-42, 592
2. आव० नि० 591
3. आव० नि० 598
4. आव० नि० 598
5. आव० नि० 600
6. आव० नि० 601
7. आव० नि० 602-641

भगवान् का यह कथन—इन्हीं बातों का समावेश है। गणधरों के मन में वेद के किन वाक्यों के आधार पर उस विषय में किस प्रकार संशय उत्पन्न हुआ ? उस संशय के संबंध में उनकी क्या युक्तियाँ थीं ? भगवान् ने उन का क्या उत्तर दिया ? भगवान् ने वेद-पदों का क्या अर्थ किया ? इत्यादि बातें आ० नि० में नहीं हैं। इन सब विषयों की पूर्ति कर और पूर्वोत्तर पक्ष की स्थापना करके आचार्य जिनभद्र ने अपने भाष्य में विस्तृत 'गणधरवाद' की रचना की है। सारांश यह है कि आ० नि० में प्रस्तुत वाद के सम्बन्ध में कोई भी विशेष उल्लेख दृग्गोचर नहीं होता। वहाँ केवल वाद का निर्देश है। इस निर्देश के आधार पर आचार्य जिनभद्र ने गणधरवाद की ऐसी रचना की है जो एक विद्वान् टीकाकार के लिए शोभास्पद है।

इस प्रकार प्रस्तुत अनुवाद-ग्रन्थ (गणधरवाद) के साथ आवश्यक सूत्र, भद्रबाहु कृत उपोद्घात-निर्युक्ति, जिनभद्र रचित विशेषावश्यक भाष्य और हेमचन्द्रसूरि मलधारी प्रणीत बृहद्वृत्ति इतने ग्रन्थों का सम्बन्ध है। अतएव इस प्रस्तावना में उन-उन ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों का परिचय देना उचित समझता हूँ और अन्त में गणधरों का सामान्य परिचय देकर, प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रदेशरूप आत्मवाद, कर्मवाद और उसके विरोधी वादों—अनात्मवाद एवं अकर्म-वाद विषयों का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से निरूपण किया है। इससे गणधरवाद से सम्बन्धित दार्शनिक भूमिका क्या है ? वह पाठकों के ध्यान में आ जावेगी।

2. आवश्यक के सूत्र कर्त्ता कौन ?

जैन आगम शास्त्र के दो भेद किये जाते हैं:—अर्थागम और सूत्रागम अर्थात् शब्दागम। अनुयोगद्वारा में कहा गया है कि, तीर्थंकर आगम का उपदेश करते हैं इसलिये वे स्वयं अर्थागम के कर्त्ता हैं। वह अर्थागम गणधरों को तीर्थंकर से साक्षात् (प्रत्यक्ष) में मिलने के कारण गणधरों की अपेक्षा से वह अनन्तरागम है। किन्तु उस अर्थागम के आधार से गणधर सूत्रों की रचना करते हैं इसलिये सूत्रागम या शब्दागम के प्रणेता गणधर ही कहे जाते हैं। गणधरों के प्रत्यक्ष शिष्यों की अपेक्षा से अर्थागम परम्परागम कहलाता है और उनको गणधरों के पास से प्रत्यक्ष में मिलने के कारण उनकी अपेक्षा से वह सूत्रागम अनन्तरागम कहा जाता है। गणधरों के प्रशिष्यों की अपेक्षा से दोनों प्रकार के आगम परम्परागम कहलाते हैं।¹

इस आधार से यह निष्कर्ष निकलता है कि, आगम के अर्थ का उपदेश तीर्थंकरों ने दिया था और उसको ग्रन्थबद्ध करने का श्रेय गणधरों को दिया जाता है। इसलिये जहाँ-जहाँ आगम को तीर्थंकर प्रणीत कहने में आता है वहाँ उसका इतना ही अर्थ समझना चाहिए कि, इस आगम में जिस बात का प्रतिपादन हुआ है उसका मूल तीर्थंकर के उपदेश में है। उसका शब्दार्थ यह नहीं होता है कि, ये ग्रन्थ भी तीर्थंकरों ने बनाये हैं। आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यक निर्युक्ति में इसी मत का समर्थन किया है :—

1. अनुयोगद्वार सू. 147, पृ. 219; विशेषावश्यक भाष्य 948-949

अर्थं भासइ अरहा सूतं गंथंति गणहरा निउरुं ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई ॥१२॥^१

आवश्यक के प्रणेता के सम्बन्ध में दो मान्यतायें :—

अब इस प्रश्न पर विचार करें कि, किन-किन ग्रन्थों की रचना गणधरों ने की है ? और उसमें आवश्यक सूत्र का समावेश होता है या नहीं ? इस प्रश्न पर आगम-ग्रन्थ एकमत हों, ऐसा नहीं दिखता ।

अनुयोगद्वार सूत्र में आगमों के सम्बन्ध में प्रतिपादन किया गया है । उसमें तीर्थंकरों को आचारांग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अंगों के प्रणेता कहा गया है ।^२ इसका अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं कि, तीर्थंकरों के उपदेश के आधार पर गणधरों ने द्वादशांगी की रचना की । इसी बात का नन्दीसूत्र में भी सम्यक् श्रुत का प्रतिपादन करते हुए अनुयोगद्वार के शब्दों में वर्णन किया गया है ।^३ षट्खण्डागम की धवला टीका और कषायपाट्ट की जयधवला टीका में भी गणधर इन्द्रभूति को द्वादशांग और चौदह पूर्व^४ के सूत्रकर्ता के रूप में कहा गया है ।^५

इस मान्यता का समर्थन अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है । आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-सूत्र भाष्य में आगमों में अंग और अंग-बाह्य का भेद किन कारणों से किया गया है ? इसका समाधान करते हुए कहा है कि, जो गणधर-कृत हैं वे अंग हैं और जो स्वविर रचित हैं वे अंगबाह्य^६ हैं । बृहत्कल्पभाष्य^७ और विशेषावश्यक भाष्य^८ में अंग और अंगबाह्य के तीन प्रकार से भेद बताये गये हैं । उनमें से एक प्रकार आचार्य उमास्वाति द्वारा निर्दिष्ट मत का अनुसरण करता है । इसके साथ यह भी ज्ञात होता है कि, उनके समय में आचार्य उमास्वाति निर्दिष्ट

1. इस वस्तु का समर्थन भगवती आराधना गा० 34, विजयोदया पृ० 125, षट्खण्डागम धवला टीका (पृ० 60) और कषायपाट्ट की जयधवला टीका (पृ० 84) में तथा महापुराण (आदि पुराण) 1,202; तिलोपपणत्ति 1,33; 1,80; तत्त्वार्थभाष्य-सिद्धसेन-वृत्ति 1,20 में भी है ।
2. अनुयोगद्वार सूत्र 147 पृ० 218
3. नन्दी सूत्र 40
4. चौदह पूर्वों का समावेश बारहवें अंग में होने से धवला और जयधवला मत पूर्वोक्त मत से भिन्न नहीं हैं ।
5. षट्खण्डागम धवला टीका भाग 1 पृ० 65 और कषायपाट्ट-जयधवला टीका भाग 1 पृ० 84
6. तत्त्वार्थ-भाष्य 1,20
7. बृहत्कल्पभाष्य गा० 144
8. विशेषा० भा० गा० 550; यहाँ यह अंकन करने योग्य है कि, बृहत्कल्पभाष्य और विशेषा० भा० की गथा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है ।

मान्यता में शिथिलता आने लग गई थी। यही कारण है कि, अंगबाह्य का भेद उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित एक प्रकार का न होकर, तीन प्रकार का बताया गया है।

नन्दी सूत्र की चूर्ण¹ में तथा आचार्य हरिभद्र रचित नन्दी सूत्र की टीका² में अंग-बाह्य की रचना के विषय में दो धारयों(मत) प्राप्त होते हैं उसमें भी एक मत तो आचार्य उमास्वाति स्वीकृत मत ही है कि, जो गणधर रचित हैं वे अंग हैं और स्थविर-प्रणीत होते हैं वे अंग-बाह्य हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे 'अंग-बाह्य गणधर-कृत हैं' ऐसी मान्यता की तरफ आकर्षित होते हुए भी आचार्य-गण प्राचीन मान्यता को स्मरण में रखते हुए, उल्लेख करते रहे।

जो कुछ भी हो, किन्तु प्राचीन मान्यता से यह प्रतिपादित होता है कि, आवश्यक सूत्र अंग-बाह्य होने से इसके कर्ता गणधर नहीं अपितु कोई स्थविर थे।

यह कहना कठिन है कि इस मान्यता के विरुद्ध दूसरी मान्यता कब से प्रारंभ हुई? तो भी इतना तो निश्चित है कि, यह आवश्यक सूत्र भी गणधर-प्रणीत है। इस प्रकार की मान्यता का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रतिपादन आवश्यक नियुक्ति में दिखाई पड़ता है।

आवश्यक सूत्र के सामायिकाध्ययन की उपोद्घात-नियुक्ति में उद्देशादि³ अनेक द्वारों में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका नियुक्तिकार ने क्रमशः उत्तर दिया है। उसका निरन्तर स्वाध्याय करने वाले की दृष्टि में यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि, नियुक्तिकार बारम्बार यही तथ्य सिद्ध करना चाहते हैं कि, सामायिकादि अध्ययनों की रचना भगवान् के उपदेश के आधार पर गणधरों ने की है। इसी बात का समर्थन नियुक्ति का भाष्य करते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्र ने किया है।⁴ नियुक्ति और भाष्य के टीकाकार आचार्य हरिभद्र, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र भी उस-उस प्रसंग पर इसी बात का अनुसरण करें, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। आचार्य भद्रबाहु ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि, 'इसमें मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह परम्परा से प्राप्त हुआ है'⁵ इस परम्परा का अनुसन्धान करें तो हमें यह बात आवश्यक की प्राचीनतम व्याख्या अनुयोगद्वार में मिलती है। वहाँ भी आवश्यक के अध्ययनों के विषय में आवश्यक नियुक्ति में आगत 'उद्देशादि' प्रदर्शक गाथायें

1. नन्दी चूर्णो पृ० 47
2. पृ० 90
3. आव० नि० गा० 140-141
4. आव० नि० की विशेषरूप से उसके भाष्यादि टीकायों के साथ निम्नांकित गाथाएँ द्रष्टव्य हैं :— गा० 80, 90, 270, 734, 735, 742, 745, 750; विशेषा० 948-49, 973-974, 1484-1485, 1533, 1545-1548, 2082, 2083, 2089।
5. आव० नि० 87

उसी रूप में है।¹ अनुयोगद्वार चूर्णि में इन गाथाओं पर विशेष-विवरण के रूप में कुछ भी नहीं कहा गया है, किन्तु आचार्य हरिभद्र ने स्वरचित आवश्यक टीका में इनका विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है।² यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, वह विवेचन आवश्यक नियुक्ति का ही अनुसरण करता है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र भी आवश्यक नियुक्ति का ही उपयोग करके इन गाथाओं की व्याख्या करते हैं।³ ऐसी अवस्था में यह मान सकते हैं कि, अनुयोग की उक्त गाथाओं का तात्पर्य यह है कि आवश्यक सूत्र गणधर-प्रणीत है। यह परम्परा टीकाकारों को मान्य है तथा वह आवश्यक नियुक्ति जितनी ही प्राचीन भी है। आचार्य भद्रबाहु स्वयं कहते हैं कि, मैं परम्परा के अनुसार सामायिक-विषयक विवेचन करता हूँ। इसलिये यह माना जा सकता है कि, आचार्य भद्रबाहु के भी पहले कभी यह मान्यता रही कि मात्र अंग ही नहीं अपितु अंग-बाह्य ग्रन्थों में से आवश्यक सूत्र के अध्ययन भी गणधर-प्रणीत हैं। यह मान्यता केवल यहीं नहीं वही अपितु समस्त अंग-बाह्य आगम-ग्रन्थों को गणधर-रचित हैं, ऐसा माना जाने लगा। इसके प्रमाण दिग्म्बर ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं। इसी मान्यता का अनुसरण दिग्म्बर आचार्य जिनसेन (वि० 840) स्वरचित हरिवंश पुराण में करते हैं। वे लिखते हैं कि, भगवान् महावीर ने पहले बारह अंगों का अर्थतः उपदेश दिया; इसके पश्चात् गौतम गणधर ने उपांग सहित द्वादशांगी की रचना की।⁵

जैसा कि नन्दी सूत्र के मूल में एक स्थान पर द्वादशांगी को ही जिन-प्रणीत कहा है तो भी चूर्णिकार अंगबाह्य को भी इसके साथ जोड़ने की सूचना देते हैं।⁶ चूर्णिकार संकेत करते हैं कि, उनके सन्मुख अंगबाह्य को भी गणधरकृत मानने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। इसीलिये वे दूसरे स्थान पर मूल में जहाँ अंग और अंग-बाह्य दोनों की गणना है वहाँ वे दोनों के लिये लिखते हैं कि, वे दोनों अरिहंत के उपदेशानुसार हैं।⁷ आचार्य हरिभद्र को भी 'नन्दी' की टीका में चूर्णिकार की मान्यता का अनुसरण करना पड़ा, जब कि चूर्णिकार और हरिभद्र दोनों 'अथवा' कहकर इस मान्यता के विरुद्ध जो मान्यता प्रचलित थी उसका भी संकेत करना नहीं भूलते कि, गणधर-रचित द्वादशांगी है और स्थविर-प्रणीत अंगबाह्य है।⁸

अंग-बाह्य आगम गणधर-कृत हैं यह मान्यता यहीं नहीं अटकी, बल्कि जैन पुराणकारों ने स्वयं के पुराणों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपोद्धात में स्पष्ट करना

1. अनुयोगद्वार सूत्र 155
2. अनुयोगद्वारवृत्ति हरिभद्रकृत पृ० 122
3. पृ० 258-259।
4. हरिवंश पुराण 2,92-105
5. हरिवंश पुराण 2,111
6. पृ० 38
7. पृ० 49
8. पृ० 82, 89-90

उचित समझा कि, ये पुराण भी मूलतः गणधर-कृत हैं और हमें तो यह वस्तु परम्परा से प्राप्त हुई है, अतएव उसी के आधार से रचना करने में आई है।¹ इस प्रकार गणधर-रचित न केवल अंग ग्रन्थ ही अत्रिनु अंग-बाह्य ग्रन्थों के साथ पुराण भी गणधर-कृत माने जाने लगे।

इस प्रस्तुत चर्चा का उपयोगी निष्कर्ष यह है कि, प्राचीन मान्यता के अनुसार यह आवश्यक अंगबाह्य होने से गणधर-प्रणीत नहीं माना जाता था किन्तु बाद में आचार्यगण इसको भी गणधर-रचित मानने लगे। साथ ही यह भी कहना चाहिए कि, अंगबाह्य ग्रन्थों में से सर्व-प्रथम आवश्यक को ही गणधर-रचित मानने की परम्परा प्रारम्भ हुई और उसके बाद दूसरे अंग-बाह्य ग्रन्थों को भी गणधर-कृत ग्रन्थों में सम्मिलित करने लगे।²

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा किसलिए करना पड़ा ? इसका सीधा समाधान तो यह हो सकता है कि, गणधर विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न माने जाते थे और उन्होंने भगवान् से सीधा उपदेश ग्रहण किया था। इसलिये दूसरों की अपेक्षा उनकी रचना की प्रामाणिकता बढ़ जाय यह स्वाभाविक है। इसलिये पीछे के आचार्यों ने आगम में समावेश हो जाय ऐसे समस्त साहित्य को गणधरों के नाम चढ़ाना उचित समझा, जिससे उसकी प्रामाणिकता में संदेह की गुंजाइश ही न रहे। इस प्रकार क्रमशः आवश्यक से लेकर पुराणों तक समस्त अंग-बाह्य साहित्य गणधर-कृत माना जाने लगा।

अंग-बाह्य में तो अनेक ग्रन्थ थे, तो भी आवश्यक को सर्वप्रथम गणधर-रचित मानने की परम्परा का प्रचलन इसलिये हुआ कि आगम-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर जहाँ-जहाँ भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों के श्रुतज्ञान-अभ्यास का निर्देश है वहाँ-वहाँ उन्होंने “सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया” ऐसे उल्लेख मिलते हैं। सामायिक, यह आवश्यक का प्रथम प्रकरण है। अध्ययन-क्रम में यदि उसका स्थान ग्यारह अंगों में भी पहिले है, तो आवश्यक को गणधर-कृत मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होती। अतएव अंग-बाह्य में से आवश्यक को गणधरों की कृति के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करें, यह स्वाभाविक है।

और, आवश्यक की सबसे प्राचीनतम व्याख्या अनुयोगद्वार सूत्र के उपक्रमद्वार में प्रमाणभेद की चर्चा करते हुए सूत्रागम आदि भेद किये हैं। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन की ही चर्चा के प्रसंग में उक्त भेदों के करने से नियुक्तिकार, भाष्यकार और अन्य टीकाकारों ने सामायिक अध्ययन को सामने रखकर ही इन भेदों का प्रतिपादन किया हो, यह स्वाभाविक है। इसी कारण वे समस्त, सामायिक के अर्थकर्त्ता के रूप में तीर्थंकर को, सू कर्त्ता के रूप में गणधर को मानते हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि, अनुयोगद्वार सूत्र में आगम के सूत्रागम आदि भेद करते हुए भी प्रस्तुत सामायिक सूत्र में उसका उपसंहार

1. पद्मचरित 1, 41-42; महापुराण (आदिपुराण) 1, 26; 1, 198-201
2. अंगबाह्य की जिन भिन्न-भिन्न व्याख्याओं का उल्लेख करने में आया है, उन कारणों पर विचार करने से एक कारण यह प्रतीत होता है कि, श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा और उनके साहित्य के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों मतभेद तीव्रतम होता गया त्यों-त्यों अंगबाह्य गणधरकृत मानने और मनवाने की प्रवृत्ति सबलता के साथ बढ़ती गई और पुराण जैसे ग्रन्थों को भी गणधर-कृत कृतियों में समावेश करते गए।

नहीं किया है। अनुयोगद्वार की अन्य स्थलों पर यह पद्धति है कि, प्रस्तुत, अप्रस्तुत समस्त भंदों का उल्लेख कर, अन्त में उपसंहार में अप्रस्तुत का निराकरण कर, प्रस्तुत क्या है? उसका उल्लेख करते हैं।

3. आवश्यक नियुक्ति के कर्ता

आचार्य भद्रबाहु नाम के अनेक आचार्य होने से एक की जीवन-घटना दूसरे के नाम पर, और एक का ग्रन्थ दूसरे के नाम पर चढ़ जाने की अधिक सम्भावनायें होती हैं। उदाहरण स्वरूप, नियुक्तियों में प्रथम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के पश्चात् अनेक आचार्यों का नामोल्लेख होने पर भी आज तक यह मान्यता प्रचलित थी कि, समस्त नियुक्तियाँ चतुर्दश पूर्वधर रचित हैं और आज भी बहुत से श्रद्धालु जीव इसी मान्यता से जुड़े हुए हैं। साथ ही जहां श्वेताम्बर आगमों के अनुसार ऐसी कथा है कि, चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु योग-साधना के लिए नेपाल गये, वहाँ यही भद्रबाहु दक्षिण में गये थे, ऐसी कथा दिगम्बर साहित्य में प्रचलित है। ऐसा लगता है कि, ये दोनों भिन्न-भिन्न भद्रबाहु के जीवन की घटनाएँ एक के नम चढ़ गई हैं। इसमें कौनसी घटना कौन से भद्रबाहु के जीवन में घटी है, यह अभी तक शोध का विषय है। आवश्यक आदि की जो नियुक्तियाँ उपलब्ध हैं वे प्रथम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की नहीं, अपितु विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान दूसरे भद्रबाहु की रचना है, ऐसा मुनि श्री पुण्यविजयजी ने स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है।

आचार्य भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के संसारी अवस्था के भ्राता थे। जैन परम्परा में वे वैमिक्तिक और मन्ववेत्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका की प्रशस्त में रचना-काल शक संवत् 427 अर्थात् विक्रम संवत् 562 बताया है। इसलिये हम ऐसा कह सकते हैं कि, आचार्य भद्रबाहु छठी शताब्दी में विद्यमान¹ थे।

1. भद्रबाहु चाहे छठी शताब्दी में हुए हों, किन्तु प्रश्न यह है कि इनकी लिखी हुई नियुक्तियों में कोई प्राचीन भाग सम्मिलित है अथवा नहीं। श्री कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों में बहुत-सी गाथाएँ नियुक्ति की हैं, भगवती आराधना और मूलाचार में भी हैं, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि उपलब्ध नियुक्ति की समस्त गाथाएँ केवल छठी शताब्दी में ही लिखी गई हैं? यदि पुरानी गाथाओं का समावेश कर नई कृति उपलब्ध रूप में उस समय बनी, तो समग्र नियुक्ति को छठी शताब्दी की ही कैसे माना जाए? इसमें सन्देह नहीं कि हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि पुरानी गाथाएँ कौन-कौन सी हैं और कितनी हैं? फिर भी नियुक्ति की व्याख्यान-पद्धति अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। अनुयोगद्वार प्राचीन है, उसकी गाथाएँ भी नियुक्ति में हैं। अतः यदि छठी शताब्दी के भद्रबाहु ने उपलब्ध रचना लिखी हो, तो भी यह मानना पड़ता है कि प्राचीनता की परम्परा निराधार नहीं। छठी शताब्दी के भद्रबाहु की कृति में से प्राचीन माने जाने वाले दिगम्बर ग्रन्थों में गाथाएँ ली गई, यह कल्पना कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण मालूम होती है। यह अधिक संभव है कि समान पूर्व-परम्परा से दोनों में कुछ लिया गया हो, जैसे कि कर्म-शास्त्र और जीवादि तत्त्वों की परिभाषा के विषय में हुआ है।

आचार्य भद्रबाहु के नाम से विख्यात ग्रन्थों में छेदसूत्र तो चतुर्दश पूर्वधर प्रथम भद्रबाहु की रचनाएँ हैं। निम्न ग्रन्थों की निर्युक्तियाँ प्रस्तुत भद्रबाहु द्वितीय की रचनाएँ स्वीकार की जानी चाहिए :—

1. आवश्यक, 2. दशवैकालिक, 3. उत्तराध्ययन, 4. आचारांग, 5. सूत्रकृतांग, 6. दशाश्रुतस्कन्ध, 7. कल्प-बृहत्-कल्प, 8. व्यवहार, 9. सूर्य प्रज्ञप्ति, 10. ऋषि-भाषित।

इन दस निर्युक्तियों के लिखने की प्रतिज्ञा स्वयं भद्रबाहु ने आवश्यक¹ निर्युक्ति में की है। इनमें से अन्तिम दो को छोड़कर शेष सब उपलब्ध हैं।

प्राकृत-स्तोत्र उवसगगहर भी इन्हीं भद्रबाहु की रचना माना जाता है। इसमें शंका करने का कोई कारण भी नहीं है। भद्रबाहु-संहिता भी उनकी कृति मानी जाती है, किन्तु इस नाम की उपलब्ध रचना उनकी हो, यह सन्देहास्पद है।

श्लोचनिर्युक्ति, विडनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति, ये तीनों निर्युक्तियाँ क्रम से आव० नि०, दशवैकालिक नि० और कल्प-बृहत्-कल्प नि० की अंशरूप हैं, अतः वे पृथक् ग्रन्थ रूप में नहीं गिनी गईं। इनसे भिन्न संस्कृतनिर्युक्ति, ग्रहणातिस्तोत्र, सपादलक्ष वसुदेवहिण्डी जैसे ग्रन्थों को उनकी रचना मानने में कई बाधाएँ हैं।²

4. आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्तियों का उपोद्घात

निर्युक्ति का स्वरूप

जिस प्रकार यास्क ने निरुक्त लिखकर वैदिक-शब्दों की व्याख्या निश्चित की, उसी प्रकार आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य में निर्युक्तियाँ लिखकर जनागम के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या निश्चित की। उनकी इन निर्युक्तियों की सामान्य रूपेण यह विधा है—वे कभी भी ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक वाक्य का अर्थ या विवरण नहीं लिखते। वे साधारणतः ग्रन्थ के नाम का प्रस्तुत अर्थ बताते हैं, ग्रन्थ के आधारभूत ग्रन्थ आगम प्रकरणों का उल्लेख करते हैं, तत्पश्चात् समस्त ग्रन्थ का विषयानुक्रम संक्षेप में सूचित करते हैं। इसके अनन्तर प्रत्येक अध्ययन की निर्युक्ति लिखते समय सम्बन्धित अध्ययन के नाम का प्रस्तुत अर्थ स्पष्ट करते हैं और अध्ययन में वर्णित कुछ महत्वपूर्ण शब्दों का विवरण लिखकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। शब्दों के प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये वे निक्षेप-पद्धति से शब्द के सभी सम्भावित अर्थ बताते हैं और अप्रस्तुत अर्थों का निराकरण कर, केवल प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान कर तथा तत्सम्बन्धी विशेष उल्लेखनीय बातों का प्रतिपादन कर व्याख्यापूर्ण कर देते हैं।

1. आव० नि० गा० 84-85।

2. आचार्य भद्रबाहु सम्बन्धी उक्त सभी तथ्य मुनि पुण्यविजयजी के महावीर जैन विद्यालय के रजत-महोत्सव अंक (पृ० 185) में प्रकाशित लेख के आधार पर लिखे गए हैं। उनका आभार मानता हूँ।

आवश्यक निर्युक्ति

सामान्य क्रम वैसा ही है जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है तथापि आवश्यक निर्युक्ति उनकी सर्वप्रथम निर्युक्ति है, अतः उसमें कुछ विशेषताएँ दृग्भोचर होती हैं। इस निर्युक्ति में उस विशेषता को इसलिए स्थान दिया गया है कि वह सभी निर्युक्तियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो तथा उसकी पुनरावृत्ति न करनी पड़े। भारतीय संस्कार के अनुसार शुभ कार्य का प्रारम्भ मंगल से होता है। अतः आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यक-निर्युक्ति में पांच ज्ञान रूप नन्दी¹ मंगल की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर मंगलाचरण किया है। साथ ही उन्होंने यह भी संकेत किया है कि जैन धर्म के अनुसार किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा गुण की महत्ता अधिक है। पीठिका-बन्ध स्वरूप (प्रस्तावना रूप) इस मंगल कार्य को करने के बाद आचार्य ने अन्त में लिखा है कि, इन पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान का ही अधिकार प्रस्तुत है, क्योंकि यही एक ऐसा ज्ञान है जो दीपक के समान स्व-पर-प्रकाशक है। अतः श्रुतज्ञान के द्वारा ही अन्य मत्यादि ज्ञानों का और स्वयं श्रुत का भी निरूपण हो सकता है।²

इतनी पीठिका बनाकर उन्होंने उपोद्घात की रचना के लिए कुछ प्रासंगिक बातें लिखी हैं। उसमें उन्होंने सर्वप्रथम सामान्य रूप से सभी तीर्थंकरों को नमस्कार करने के बाद भगवान् महावीर को नमस्कार किया है, क्योंकि उनका तीर्थ-शासन आजकल प्रवर्तमान है। भगवान् महावीर के उपदेश को धारण कर जिन्होंने प्रथम वाचना दी, उन प्रवाचक गणधरों को नमस्कार करके गुरु परम्परा रूप गणधरवंश-आचार्यवंश तथा अध्यापक-परम्परा रूप वाचक वंश-उपाध्याय

1. प्राकृत पद 'नन्दी' को संस्कृत में 'नान्दी' कहते हैं। नाटकों के प्रारम्भ में सूत्रधार द्वारा किए गए मंगलपाठ को नान्दी कहा जाता है। नाटकों में यह उल्लेख उपलब्ध होता है कि 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः'। इसका भाव यही है कि, मंगलाचरण करने के पश्चात् सूत्रधार आगे की प्रवृत्ति का प्रारम्भ करता है। मंगल करना जनसाधारण की सामान्य प्रवृत्ति है। कहीं किसी पाठरूप में और कहीं पुष्प, अक्षत आदि द्रव्यार्पण रूप में। अनेक प्रकार का मंगलाचरण माना जाता है। शास्त्र के प्रारम्भ में देवस्तुति, नमस्कार आदि के रूप में भी मंगलानुष्ठान होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जैन परम्परा शुद्ध गुण की पूजक और उपासक रही है। आध्यात्मिक गुणों में ज्ञान का स्थान सर्वोपरि है। ज्ञान सर्वगम्य वस्तु है और वह चारित्र्य का अंतरंग कारण भी है। इसीलिए ही शास्त्र में ज्ञान का वर्णन और वर्गीकरण मंगलरूप में भी किया गया है। जैन परम्परा में मंगल शब्द का व्यवहार भी अति प्राचीन काल से होता रहा है। दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम में 'धम्मो मंगल-मुक्किट्ठु' का प्रयोग है। ऐसा प्रतीत होता है कि, जब नाटक खेलने और लिखने की प्रवृत्ति अधिक लोकप्रिय होती गई और उसमें मंगलसूचक नान्दां शब्द का प्रयोग सर्वसाधारण हो गया तब जैन ग्रन्थकारों ने भी इस शब्द का मंगल अर्थ में प्रयोग कर आध्यात्मिक दृष्टि से स्वाभिप्रेत ज्ञान गुण को मंगलरूप प्रगट करने के लिए इसका उपयोग किया। इसी भावना के कारण ज्ञानों का वर्णन करने वाला शास्त्र 'नन्दी' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

2. आव० नि० गा० 79

वंश को नमस्कार किया है¹, और भद्रबाहु ने यह प्रतिज्ञा की है कि, इन्होंने श्रुत का जो अर्थ बताया है, वे उसकी निर्युक्ति अर्थात् श्रुत के साथ अर्थ की योजना² करेंगे। उन्होने प्रारम्भ में यह भी संकेत कर दिया है कि, वे कौन-कौन से श्रुत के अर्थ की योजना करने का विचार रखते हैं। उन श्रुतों के नाम ये हैं—1. आवश्यक, 2. दशवैकालिक, 3. उत्तराध्ययन, 4. आचारांग, 5. सूत्रकृतांग, 6. दशाश्रुतस्कन्ध,³ 7. कल्प-वृहत्-कल्प, 8. व्यवहार, 9. सूर्य-प्रज्ञप्ति, 10. ऋषिभाषित।

रचना-क्रम

मेरा अनुमान है कि उन्होंने जिस क्रम से आवश्यक निर्युक्ति में ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उसी क्रम से उनकी-निर्युक्तियों की रचना की होगी। इस बात का समर्थन निम्न लिखित कतिपय प्रमाणों से होता है :—

1. उत्तराध्ययन निर्युक्ति में 'विनय' की निर्युक्ति करते हुए कहा गया है कि, इस विषय में पहले लिखा जा चुका है,⁴ यह बात दशवैकालिक के 'विनय समाधि' नामक अध्ययन की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर लिखी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि, उत्तराध्ययन निर्युक्ति से पहले दशवैकालिक निर्युक्ति की रचना हो चुकी थी।

2. 'कामा पुष्पुहिट्टा'-उत्तराध्ययन निर्युक्ति गा० 208 से संकेत किया है कि, काम के विषय में पहले विवेचन हो चुका है। यह दशवैकालिक निर्युक्ति 161 में है। अतः उत्तराध्ययन निर्युक्ति से पहले दशवैकालिक निर्युक्ति की रचना हुई।

3. उत्तराध्ययन निर्युक्ति की-100वीं गाथा आवश्यक निर्युक्ति में से वंसी की वंसी उद्धरित की गई है (आवश्यक निर्युक्ति 1279)।

4. आवश्यक निर्युक्ति में निह्वववाद सम्बन्धी जो गाथाएँ हैं (778 से) वे सभी सामान्यतः उसी रूप में उत्तराध्ययन में ली गई हैं, (नि० गा० 164 से)। इससे और आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा से भी सिद्ध होता है कि, उत्तराध्ययन निर्युक्ति से पहले आवश्यक निर्युक्ति बन चुकी थी।

5. आचारांग निर्युक्ति 5 में कहा है कि 'आचार' और 'अंग' के निक्षेप का कथन पहले हो चुका है। इससे दशवैकालिक निर्युक्ति तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति की रचना आचारांग निर्युक्ति से पहले सिद्ध होती है। कारण यह है कि, दशवैकालिक के क्षुल्लिकाचार अध्ययन की निर्युक्ति में 'आचार' की तथा उत्तराध्ययन के 'चतुरंग' अध्ययन की निर्युक्ति में 'अंग' की जो निर्युक्ति की गई है, आचार्य ने उसी का उल्लेख किया है।

6. इसी प्रकार आचारांग निर्युक्ति 176 में कहा है कि 'लोगो भणियो'। इसमें भी आवश्यक निर्युक्ति के 'लोगस्स' पाठ की निर्युक्ति का निर्देश है।

1. आव० नि० गा० 82

2. आव० नि० गा० 83

3. आव० नि० गा० 84-86

4. उत्त० नि० 29 'विणओ पुष्पुहिट्टो'

7. आचारांग निर्युक्ति 346 में कहा है कि, उत्तराध्ययन के 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के समान ही 'विमुक्ति' शब्द की व्याख्या समझ लेनी चाहिए। इससे भी ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययन निर्युक्ति की रचना आचारांग निर्युक्ति से पहले हुई।

8. सूत्र० नि० में 'करण' की व्याख्या (गा० 5-13) आवश्यक सूत्र० नि० की गाथाओं (1030 आदि) जैसी ही है। यही गाथाएँ उत्त० (183 आदि) में भी हैं।

9. सूत्र० नि० गा० 99 में कहा है कि 'धर्म' शब्द का निक्षेप पहले लिखा जा चुका है। यह उल्लेख दश० नि० गा० 39 को लक्ष्य में रख कर किया गया है। अतः सूत्र० नि० से पहले दश० नि० की रचना हुई।

10. सूत्र० नि० 127 में कहा है कि 'ग्रन्थ' का निक्षेप पहले आ चुका है। इसमें उत्त० नि० 240 की ओर संकेत है। अतः उत्त० नि० सूत्र० नि० से पहले लिखी गई।

निर्युक्ति का शब्दार्थ

इस प्रकार जितनी निर्युक्तियाँ लिखने की उनकी इच्छा थी, उन सब का एक साथ निर्देश करने के पश्चात् उन्होंने क्रम-प्राप्त सामायिकाध्ययन की निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है तथा निर्युक्ति शब्द की व्याख्या भी स्पष्ट की है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। निर्युक्ति का प्रयोजन यह है कि, वह इस बात की शोध करे कि कौनसा अर्थ अधिक उपयुक्त है, अथवा भगवान् के उपदेश के समय सर्वप्रथम अमुक शब्द के साथ कौन-सा अर्थ सम्बद्ध था। इस शोध के अनन्तर निर्युक्ति सूत्र के शब्दों के साथ उस अर्थ की उपपत्ति का निश्चय करती है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये अनिवार्य है कि, निर्युक्ति में सर्वत्र निक्षेप-पद्धति का आश्रय लिया जाए। अतः आचार्य जिस शब्द की व्याख्या करना चाहते हैं, सब से पहले वे उसके निक्षेपों के सम्भावित अर्थों की योजना करते हैं और फिर अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण कर प्रस्तुत अर्थ को सूत्रों के शब्दों के साथ सम्बद्ध करते हैं।

निर्युक्ति का लक्षण लिखने के उपरान्त आचार्य ने एक सुन्दर रूपक द्वारा यह वर्णन किया है कि, जैन शास्त्रों का उद्भव कैसे हुआ? "अमित ज्ञानी तप-नियम ज्ञान रूप वृक्ष पर आरूढ होकर भव्यजनों के बांध के उद्देश्य से ज्ञान की वृष्टि करते हैं। गणधर उसे सम्पूर्णतः अपने बुद्धिपट में धारण करते हैं। फिर वे प्रवचन के निमित्त तीर्थकर-भाषित की माला का गूँथन करते हैं।"²

भगवान् के उपदेश की सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करने का यह लाभ है कि, जिन व्यक्तियों ने भगवान् का उपदेश न सुना हो, अथवा जो सुन कर भी सम्पूर्ण विषय को स्मृति-पट में न रख सके हों, वे इन ग्रन्थों का आश्रय लेकर भगवान् के उपदेश को सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकते हैं, उसका अभ्यास कर सकते हैं तथा उसे धारण कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से गणधर प्रवचन-माला गूँथते हैं।³

1. आव० नि० गा० 88

2. आव० नि० गा० 89-90

3. आव० नि० गा० 91

पुनश्च भगवान् केवल संक्षेप से ही अर्थ का कथन करते हैं, उस कथन को कुशलता पूर्वक व्यवस्थित सूत्र-ग्रन्थ का रूप प्रदान करना गणधरों का ही कार्य है। इस प्रकार शास्त्रों की प्रवृत्ति शासन के हित के लिए हुई है।¹ आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से शास्त्र-प्रवर्तन का जो यह इतिहास बताया है, वह सभी शास्त्रों के लिए सामान्य है। उन्हें जिन शास्त्रों की निर्युक्ति लिखनी थी, वे या तो गणधरों की कृतियाँ हैं अथवा उसके आधार पर लिखी गई रचनाएँ हैं। अतः उन्होंने इस तथ्य का कथन आवश्यक निर्युक्ति के प्रकरण में ही करना उचित समझा।

अंगों में आचारांग का क्रम सर्वप्रथम है, तथापि आचार्य भद्रबाहु ने गणधर-कृत सम्पूर्ण श्रुत के आदि में सामायिक का तथा अन्त में विन्दुसार का उल्लेख कर लिखा है कि, श्रुत-ज्ञान का सार चारित्र्य है तथा चारित्र्य का सार निर्वाण है।² आचारांग के स्थान पर सामायिक को प्रथम क्रम देने का कारण यह प्रतीत होता है कि, अंग-ग्रन्थों में भी जहाँ-जहाँ भगवान् महावीर के श्रमणों के श्रुतज्ञान सम्बन्धी अभ्यास की चर्चा है, वहाँ अनेक स्थलों पर बताया गया है कि वे अंग-ग्रन्थों से भी पूर्व सामायिक का अध्ययन करते थे। इसीलिए आचार्य भद्रबाहु ने केवल गणधर-कृत माने जाने वाले अंगों में आवश्यक सूत्र का समावेश करना उचित माना। कारण यह है कि सामायिक आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन है।

इसी प्रसंग पर आचार्य ने इस बात का कुछ विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया है कि, ज्ञान और चारित्र्य दोनों ही मोक्ष के लिए आवश्यक हैं और अन्त में ग्रन्थे और लगे व्यक्तिओं के सांख्य-प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा बताया है कि, ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।³ इस विषय का यहाँ उल्लेख इसलिए आवश्यक था कि कुछ लोग क्रिया-जड़ बन कर ज्ञान की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते थे और कुछ ज्ञान-गीरव के अभिमान में चूर होकर क्रिया-शून्य बन जाते थे। अतः उन्हें यह बताना जरूरी था कि, श्रुत-ग्रन्थों को पढ़ कर भी अन्त में तदनुसार आचरण किए बिना निर्वाण-प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। यह प्रयत्न भी निर्वाण-मार्ग के लिए लाभप्रद था। अतः उसको स्वीकार किया गया।

तत्पश्चात् सामायिक के अधिकारी के निरूपण के द्याज से वस्तुतः श्रुत-ज्ञान के अधिकारी का ही निरूपण किया गया है। क्योंकि श्रुत-ज्ञान के अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि, वह सर्वप्रथम सामायिक का ही अध्ययन करे। अधिकारी किस प्रकार क्रमशः विकास की सीढ़ी पर आरोहण होता है, यह भी उपशम और क्षपक श्रेणी के वर्णन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। विकास-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ जीव केवली बनता है और समस्त लोकालोक को जानता है।⁴ ऐसे केवली का उपदेश ग्रहण करके ही गणधर शास्त्रों की रचना करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विकास-मार्ग का निदर्शन कराकर आचार्य के कथन का तात्पर्य यही है कि जो

1. आव० नि० गा० 92
2. आव० नि० गा० 93
3. आव० नि० गा० 94-102
4. आव० नि० गा० 104-127

सामायिक श्रुत का अधिकारी होता है, वही कभी क्रमेण विकास-मार्ग का आश्रय लेकर तीर्थंकर बन सकता है और सुने हुए ज्ञान को साक्षात् ज्ञान में परिणत करने के पश्चात् अपना शासन स्थापित करने में सफल होता है तथा जिन प्रवचन को उत्पन्न कर सकता है।

इस पद्धति से जिन प्रवचन की उत्पत्ति के सामान्य क्रम का उल्लेख कर, जिन प्रवचन सूत्र तथा अर्थ अर्थात् अनुयोग के पर्याय संगृहीत किए गए हैं जो ये हैं¹—

प्रवचन—श्रुत, धर्म, तीर्थ, मार्ग ये पर्यायवाची हैं।

सूत्र—संत्र, ग्रंथ, पाठ, शास्त्र ये पर्यायवाची हैं।

अनुयोग—नियोग, भाष्य, विभाषा, वार्तिक ये पर्यायवाची हैं।

उपोद्घात

अनुयोग तथा अननुयोग का सोदाहरण निक्षेप सहित विवरण² करने के बाद भाषा, विभाषा और वार्तिक के भेद दृष्टान्त सहित स्पष्ट किए³ गए हैं। व्याख्यान विधि का विवेचन करते हुए आचार्य तथा शिष्य की योग्यता का सद्दृष्टान्त निरूपण⁴ किया गया है।

इतनी प्रासंगिक चर्चा करने के उपरान्त आचार्य सामायिक अध्ययन के उपोद्घात की रचना करते हैं। अर्थात् उन्होंने सामायिक सम्बन्धी कुछ प्रश्न उठाए हैं और उनकी चर्चा द्वारा उन सम्बन्धित विषयों का निरूपण किया है जिनका ज्ञान सामायिक के सूत्र-पाठ की व्याख्या करने से पहले सामान्यतः आवश्यक है। आजकल विसी भी पुस्तक की प्रस्तावना में जिन बातों की चर्चा आवश्यक होती है, वैसी ही बातों की चर्चा आचार्य ने उपोद्घात में की है जो इस प्रकार हैं⁵ :—

1. उद्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो, उसका सामान्य कथन, जैसे कि, अध्ययन।
2. निर्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो उसका विशेष कथन, जैसे कि सामायिक।
3. निर्गम—व्याख्येय वस्तु का निर्गम, सामायिक का आविर्भाव किस से हुआ? 4. क्षेत्र—उसके क्षेत्र-देश की चर्चा। 5. काल—उसके समय की चर्चा। 6. पुरुष—किस पुरुष से इस वस्तु की प्राप्ति हुई? 7. कारण चर्चा। 8. प्रत्यय—श्रद्धा की चर्चा। 9. लक्षण चर्चा। 10. नय विचार। 11. समवतार—नयों की अवतारणा। 12. अनुमत—व्यवहार निश्चय की अपेक्षा से विचार। 13. किम्—यह क्या है? 14. उसके भेद कितने हैं? 15. किसको है? 16. कहाँ है? 17. किसमें है? 18. किस तरह प्राप्त होती है? 19. कितने समय स्थिर रहती है? 20. कितने प्राप्त करते हैं? 21. विरह काल कितना है? 22. अविरह काल कितना है? 23. कितने भव तक प्राप्त करता है? 24. कितनी बार स्वीकार करता है? 25. कितने क्षेत्र का स्पर्श करता है? और 26. निरुक्ति।

1. आव० नि० गा० 130-131

2. आव० नि० गा० 132-134

3. आव० नि० गा० 135

4. आव० नि० गा० 136-139

5. आव० नि० गा० 140-141

भगवान् ऋषभदेव—परिचय

निर्गम के विवरण में आचार्य ने उद्देशादि के समान निर्गम के भी नामादि छह निक्षेप¹ करके उसके अनेक अर्थ बताए हैं। इस प्रसंग पर यह भी लिखा है कि, भगवान् महावीर का मिथ्यात्वादि से निर्गम²—निकलना किस प्रकार हुआ ? इस व्याज से भगवान् महावीर के पूर्व-भवों की चर्चा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के युग से पूर्वकालीन कुलकरों के समय से आचार्य ने इतिहास प्रारम्भ किया है।³ उसमें कुलकरों⁴ के पूर्वभव, जन्म, नाम, प्रमाण, संहतन, संस्थान, वर्ण, उनकी स्त्रियां, आयु, कितने वर्ष की आयु में कुलकर बने, मर कर कौन से भव में गए, उनके समय की नीति—इन विषयों की चर्चा की गई है। अन्तिम कुलकर नामि की पत्नी का नाम मरु देवी था। विनीता भूमि में उनका निवास था। ऋषभदेव उनके पुत्र थे। ऋषभदेव पूर्वभव में वैरदाभ नाम के राजा थे। उस भव में उन्होंने तीर्थकर नाम-कर्म बांधा और वे सर्वार्थसिद्धि में देव हुए। वहां से च्युत होकर वे ऋषभदेव बने।⁵ यहां पर ऋषभदेव के भी अनेक पूर्व-भवों का वर्णन है।⁶ जिन बीस कारणों के आधार पर उनके जीव ने तीर्थकर नाम-कर्म का बंधन किया, उनके नाम का भी निर्देश है।⁷ तीर्थकर नाम-कर्म सम्बन्धी कुछ और बातों का भी उल्लेख है।⁸ उस के बाद ऋषभदेव के जीवन के विषय में निम्नलिखित बातों का वर्णन है :—जन्म, नाम, वृद्धि, जाति-स्मरण, विवाह, सन्तान, अभिषेक, राज्य-संग्रह।⁹ तत्पश्चात् आचार्य ने आहार, शिल्प, कर्म, परिग्रह, विभूषा इत्यादि 40 विषयों की चर्चा द्वारा उस युग का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है और बताया है कि उस युग के निर्माण में ऋषभदेव की क्या देन थी।¹⁰ निर्युक्ति में इन सब विषयों की चर्चा नहीं की गई, केवल उनका निर्देश है। ऋषभदेव का चरित्र-वर्णन करते हुए 24 तीर्थकरों के चरित्र पर भी साधर्म्य, वैधर्म्य, सम्बोधन, परित्याग इत्यादि 21 विषयों के आधार पर विचार किया गया है।¹¹ यहां अत्यन्त संक्षिप्त रूप में 24 तीर्थकरों के जीवन का सार दे दिया गया है। इन सब बातों का वर्णन क्यों करना पड़ा, इस का पूर्वापर सम्बन्ध बताते हुए आचार्य ने कहा है कि, सामायिक के निर्गम के विचार में भगवान् महावीर के पूर्वभवों की चर्चा के अन्तर्गत उन के मरीचि जन्म का विचार आवश्यक था, अतः भगवान्

1. आब० नि० गा० 145
2. आब० नि० गा० 146
3. आब० नि० गा० 150
4. आब० नि० गा० 152
5. आब० नि० गा० 170
6. आब० नि० गा० 171-178
7. आब० नि० गा० 179-181
8. आब० नि० गा० 182-184
9. आब० नि० गा० 185-202
10. आब० नि० गा० 203 से
11. आब० नि० गा० 209-312

ऋषभदेव का प्रसंग उपस्थित हुआ¹, क्योंकि मरीचि ऋषभदेव के पौत्र थे। इस सम्बन्ध का प्रतिपादन करने के उपरांत आचार्य ने दीक्षा के प्रसंग से ऋषभ-चरित्र पुनः प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि, उन्हें एक वर्ष के बाद भिक्षा प्राप्त हुई। इस जगह आचार्य ने बताया है कि, 24 तीर्थंकरों का पारथा कौन-कौन से नगर में हुआ था², किस-किस ने उन्हें प्रथम भिक्षा दी, उनके नाम क्या थे।³ उस समय जो दिव्य वृष्टि हुई, उसका भी अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया गया है और यह भी लिखा है कि, भिक्षा देने वालों में कुछ उसी भव में तथा कुछ तीसरे भव में निर्वाण को प्राप्त हुए।⁴

भगवान् के दर्शनार्थ धर से निकलने पर भरत को उन के दर्शन नहीं हुए, अतः उसने उनके स्मरण में धर्म-चक्र की स्थापना की। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि, ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय में विचरण करते रहे, उसके बाद उन्हें केवलज्ञान हुआ। अतः उन्होंने पाँच महाव्रतों की प्ररूपणा की और देवों ने उत्सव मनाया।⁵ केवलज्ञान की उत्पत्ति के दिन ही भरत की आयुधशाला में चक्र रत्न भी उत्पन्न हुआ। सेवकों ने तत्क्षण ही भरत को ये दोनों समाचार सुनाए। उसने विचार किया कि, पहले अपने पिता ऋषभदेव की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि चक्र केवल इसी भव में उपकारी है किन्तु पिताजी परलोक के लिए भी हितकारी हैं।⁶ भगवान् की माता मरुदेवी, पुत्र, पुत्री, पौत्र आदि उनके दर्शनार्थ आए और उपदेश सुनकर कई दीक्षित हो गए। भगवान् महावीर के पूर्वभव के जीव मरीचि ने भी दीक्षा ली।⁷ भरत की दिग्विजय और भगवान् की धर्म विजय शुरू हुई। भरत ने अपने छोटे भाईयों से कहा कि, वे उसकी आज्ञा के अधीन हो जाएँ। उन्होंने भगवान् से परामर्श किया और उन के उपदेशानुसार बाहुबलि के अतिरिक्त सभी ने दीक्षा लेली। दूत से यह समाचार सुनकर बाहुबलि क्रुद्ध हुआ और उसने भरत को युद्ध के लिए ललकारा। सेना का संहार करने की अपेक्षा वे दोनों ही युद्ध कर लें, यह निश्चय हुआ। अन्त में भरत को अधर्म-युद्ध करते हुए देख बाहुबलि के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने दीक्षा ले ली।⁸

इसके पश्चात् आचार्य ने परीषद् सहने में असमर्थ होने के कारण मरीचि द्वारा त्रिदंडी सम्प्रदाय की स्थापना, ब्राह्मणों की उत्पत्ति और उनके पतन का वर्णन किया है।⁹ किसी अन्य

1. आव० नि० गा० 313
2. आव० नि० गा० 323-325
3. आव० नि० गा० 326-329
4. आव० नि० गा० 330-334
5. आव० नि० गा० 335-341
6. आव० नि० गा० 342-343
7. आव० नि० गा० 344-347
8. आव० नि० गा० 348-349
9. आव० नि० गा० 350-366

प्रसंग पर भरत ने भगवान् से जिन और चक्री के विषय में प्रश्न किया और उन्होंने इनका विस्तृत वर्णन करके वासुदेव और बलदेव के विषय में भी कई बातें बताईं।¹

भरत ने भगवान् से पूछा कि, क्या इस सभा में कोई भावी धर्मवर चक्रवर्ती-तीर्थंकर है ? इसके उत्तर में भगवान् ऋषभदेव ने अपने पौत्र ध्यानस्थ परिव्राजक मरीचि को दिखाया और कहा कि, वह 'वीर' नाम का अन्तिम तीर्थंकर होगा, वही अपनी नगरी में त्रिपृष्ठ नाम का आदि वासुदेव और विदेह क्षेत्र की मूकानगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती भी होगा। यह सुनकर भरत भगवान् को नमस्कार करके मरीचि को नमस्कार करने गया और वन्दना नमस्कार करके कहने लगा, "मैं इस परिव्राजक मरीचि को नमस्कार नहीं कर रहा हूँ किन्तु तुम भविष्य में तीर्थंकर होने वाले हो, इसलिए तुम्हें नमस्कार करता हूँ।" यह सुनकर मरीचि गर्व से फूल गया और हर्षान्मत्त होकर अपने श्रेष्ठ कुल की प्रशंसा करने लगा।²

भगवान् ऋषभदेव विचरण करते हुए अष्टापद पर्वत पर पहुँचे और वहाँ उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।³ निर्वाण के उपरान्त उनकी चित्ता की रचना की गई और उस समय उनकी अस्थियाँ तथा भस्म ग्रहण करने से याचक आहिताग्नि की परम्परा किस प्रकार प्रसिद्ध हुई, इसका उल्लेख किया है। आचार्य ने यह भी लिखा है कि, उस स्थान पर स्तूपों और जिनगृहों का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् बताया गया है कि, आदर्शगृह-काचगृह में अँगूठी के गिरने से भरत किस प्रकार वैराग्य एवं ज्ञान-पथ पर आरूढ हुए और दीक्षित हुए।⁴

भगवान् के निर्वाण के बाद मरीचि ने अन्तिम अवस्था में कपिल नाम का शिष्य बनाया। अब तक मरीचि अपनी निर्बलता स्वीकार किया करता था और भगवान् के धर्म का ही प्ररूपण करता था। यदि कोई दीक्षार्थी आता तो वह उसे दूसरे साधुओं को सौंप देता, किन्तु अब उसने कपिल से कहा कि, यहाँ भी धर्म है। अतः कपिल ने उसके पास दीक्षा ली। इस मिथ्या-भाषण के कारण मरीचि कोटा-कोटी सागरोपम तक संसार-सामर में भटकता रहा। कुल-मद के कारण उसने नीच गोत्र भी बांधा। मरकर वह ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ और उसने सांख्य तत्व का प्रचार किया।⁵

भगवान् महावीर

इसके उपरान्त मरीचि के अनेक भवों का वर्णन करने के पश्चात् बताया गया है कि, अन्त में वह ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में कोडाल-सगोत्र ब्राह्मण के घर देवानन्दा की कुक्षि में देवलोक से च्युत होकर उत्पन्न हुआ।⁶

1. आव० नि० गा० 367-421
2. आव० नि० गा० 422-432
3. आव० नि० गा० 433-434
4. आव० नि० गा० 435-436
5. आव० नि० गा० 437-439
6. आव० नि० गा० 440-457

यहाँ से भगवान् महावीर का चरित्र प्रारम्भ होता है। आचार्य ने निर्देश किया है कि निम्न बातों का वर्णन किया जाएगा—1. स्वप्न, 2. गर्भापहार, 3. अभिग्रह, 4. जन्म, 5. अभिषेक, 6. वृद्धि, 7. जाति-स्मरण, 8. देव द्वारा डराने का प्रयत्न, 9. विवाह, 10. अपत्य, 11. दान, 12. सम्बोधन, 13. महाभिनिष्क्रमण¹। महावीर ने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् दीक्षा ली।² गोप द्वारा परीषह किए जाने के बाद शक्रेन्द्र भगवान् के पास सहायतार्थ आया, इसकी भी सूचना निर्युक्ति में है। कोल्लाक सन्निवेश में ब्राह्मण बहल द्वारा पारसी के निमित्त वसुधारा³ का उल्लेख है। महावीर अपने पिता के मित्र दुइज्जंत की कुटी में भी रहे। वहाँ उन्होंने पाँच तीव्र अभिग्रह—प्रतिज्ञाएँ स्वीकार की—1. जहाँ रहने से मकान का मालिक नाराज हो वहाँ नहीं रहना, 2. प्रायः कायोत्सर्ग अवस्था में रहना, 3. प्रायः मौन रहना, 4. भिक्षा हाथ में ही लेना, पात्र में नहीं और 5. गृहस्थ को बन्दना नहीं करना।⁴ कोल्लाक सन्निवेश से प्रस्थान कर उन्होंने अस्थिग्राम में चातुर्मास किया। वहाँ शूलपाणि का उपद्रव⁵ हुआ, उसने अनेक भयंकर उपसर्ग किए और अन्त में हार मानकर उसने भगवान् की स्तुति की।⁶

भगवान् के साधनाकालीन⁷ विहार में उनसे गोशालक मिला। निर्युक्ति में गोशालक के पराक्रम (?) भगवान् के उग्र परीषह, उपसर्ग तथा मन्मान का वर्णन कर बताया गया है कि, उन्हें जूम्भिक गाँव के बाहर, ऋजुवालुका नदी के तट पर, वैयावृत्य चैत्य के निकट, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र में, शाल वृक्ष के नीचे, षष्ठभक्त के तप की अवस्था में, उकडु आसन की स्थिति में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।⁸

इसके बाद आचार्य ने भगवान की सम्पूर्ण तपस्या का उल्लेख किया⁹ है और कहा है कि उन की छवस्थ पर्याय बारह वर्ष और साढ़े छह महीने की थी।¹⁰

गणधर-प्रसंग

केवलज्ञान होने के उपरान्त भगवान् महावीर रात के समय मध्यमापापा नगरी के निकट महासेन वन के उद्यान में पहुँच गए। वहाँ दूसरा समवसरण हुआ। सोमिलार्य नाम के ब्राह्मण के घर दीक्षा (संस्कार विशेष) के अवसर पर यज्ञवाटिका में एक विशाल समुदाय

1. आव० नि० गा० 458
2. आव० नि० गा० 459-460
3. आव० नि० गा० 461
4. आव० नि० गा० 462-463
5. आव० नि० गा० 463
6. आव० नि० गा० 464
7. आव० नि० गा० 464-525
8. आव० नि० गा० 472-526
9. आव० नि० गा० 527-536
10. आव० नि० गा० 537-538

एकत्रित हुआ था। यज्ञवाटिका के उत्तर में एकान्त स्थान में देवेन्द्र व दानवेन्द्र जिनेन्द्र की महिमा का गान कर रहे थे।¹ आचार्य ने समवसरण का भी विस्तृत वर्णन किया है।²

दिव्य घोष का श्रवण कर यज्ञवाटिका में बैठे हुए लोगों को प्रसन्नता हुई कि उनके यज्ञ से आकृष्ट होकर देवता आ रहे हैं। भगवान् के 11 गणधर उस यज्ञवाटिका में आए हुए थे। वे सभी उच्चकुलों के थे। आचार्य ने उनके नाम भी गिनाए हैं। उन्होंने दीक्षा क्यों ली? उनके मन में क्या-क्या संशय थे? उनके शिष्यों की संख्या कितनी थी? इन सब बातों का भी वर्णन किया है।³

किन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि देवता तो जिनेन्द्र का यशोगान कर रहे हैं, तब अभिमानी इन्द्रभूति क्रोध के साथ भगवान् महावीर के पास आया। भगवान् ने उसे नाम-गोत्र से बुलाया। भगवान् ने उसके मन में विद्यमान संशय का कथन करके कहा कि, तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते, मैं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताता हूँ। जब उसके संशय का निवारण हो गया, तब उसने अपने पाँच-सौ शिष्यों के साथ दीक्षा लेली। इसी प्रकार अन्य गणधरों की दीक्षा हुई।⁴ इस उल्लेख के बाद आचार्य ने गणधरों के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं।⁵

शेष-द्वार

इस पद्धति से उपोद्घात निर्युक्ति के द्वारों में से निर्गम द्वार का वर्णन करते हुए सामायिक के अर्थकर्ता तीर्थंकर और सूत्रकर्ता गणधरों के निर्गम का प्रतिपादन किया।⁶ तत्पश्चात् निर्गम के कालादि अन्य निक्षेपों की विवेचना है।⁷ इस प्रसंग में विशेषतः इच्छाकार, मिथ्याकार आदि दस प्रकार की सामाचारी की व्याख्या विस्तार पूर्वक की गई है।⁸

क्षेत्र-काल विवेचन में प्रश्न किया है कि प्रस्तुत क्या है? खेतन्मि कन्मि काले विभासियं जिणुर्वारिदेण'⁹ (733) अर्थात् किस क्षेत्र और किस काल में जिनवरेन्द्र ने (सामायिक को) प्रकट किया? इसके उत्तर में कहा है कि, वैशाख शुक्ल एकादशी के दिन पूर्वाह्न में महासेन उद्यान में भगवान् ने सामायिक को प्रकट किया। अर्थात् इस क्षेत्र और इस समय में (सामायिक का) साक्षात् निर्गम है। अन्य क्षेत्रों और काल में उसका परम्परा से निर्गम है।¹⁰

1. आब० नि० गा० 539-542

2. आब० नि० गा० 543-590

3. आब० नि० गा० 591-597

4. आब० नि० गा० 598-641

5. आब० नि० गा० 642-659

6. 'उक्तः सामायिकार्थसूत्रप्रलेतुणां तीर्थंकर-गणधराणां निर्गमः' आब० नि० हरि० टी० पृ० 257 गा० 660 का उद्धान।

7. आब० नि० गा० 660

8. आब० नि० गा० 666-723

9. आब० नि० गा० 733 (विशेषा० 2082)

10. आब० नि० गा० 734 (विशेषा० 2083, 2089)

उद्देशादि द्वार गाथा के पुरुष का अन्त में भाव-पुरुष रूप तात्पर्य बता कर¹ कारण द्वार का कुछ विस्तृत वर्णन² किया है। साथ ही संसार और मोक्ष के कारण की भी चर्चा की गई है।³ यहाँ इस बात का भी स्पष्टीकरण किया गया है कि तीर्थंकर किसलिए सामायिक अध्ययन का कथन करते हैं और गणधर उसे क्यों सुनते हैं ?⁴ प्रत्यय द्वार का भी ऐसे ही स्पष्टीकरण किया है।⁵

लक्षण द्वार में वस्तु के लक्षण की चर्चा की गई है।⁶ नय द्वार में सात मूल नयों के नामों का उल्लेख है⁷ और उनके लक्षण भी बताए गए हैं। प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद होते हैं। पाँच मूल नयों को स्वीकार करने की मान्यता का भी निर्देश किया गया है।⁸ नय के द्वारा दृष्टिवाद में प्ररूपणा की गई है।⁹ वस्तुतः जिदमत में एक भी सूत्र अथवा अर्थ ऐसा नहीं जो नय-विहीन हो। अतः नय-विशारद को चाहिए कि वह श्रोता की योग्यता देख कर नय सम्बन्धी विवेचन करे।¹⁰ किन्तु आजकल कालिक श्रुत में नयावतारणा नहीं होती।¹¹ आचार्य ने यह भी लिखा है कि ऐसा क्यों हुआ ? उनका कथन है कि, पहले कालिक का अनुयोग अपृथक् था, किन्तु आर्य वज्र के बाद कालिक का अनुयोग पृथक् किया गया है।¹² इस अवसर पर आचार्य ने आर्य वज्र की जीवन घटनाओं का अत्यन्त आदर पूर्वक वर्णन किया है¹³ और अन्त में लिखा है कि आर्य रक्षित ने चारों अनुयोग पृथक् किए¹⁴। आर्य रक्षित का भी संक्षिप्त जीवन लिखा गया है।¹⁵

आर्य रक्षित के शिष्य गोष्ठामाहिल से अबद्धिक निह्लव का प्रारम्भ हुआ। इस प्रकरण के अन्तर्गत भगवान् महावीर के शासन में आचार्य के समय तक जितने निह्लव हुए; उन सब का संक्षेप में वर्णन किया गया है।¹⁶

1. आव० नि० गा० 736
2. आव० नि० गा० 737
3. आव० नि० गा० 740-741
4. आव० नि० गा० 742-748
5. आव० नि० गा० 749-750
6. आव० नि० गा० 751
7. आव० नि० गा० 754-758
8. आव० नि० गा० 759
9. आव० नि० गा० 760
10. आव० नि० गा० 761
11. आव० नि० गा० 762
12. आव० नि० गा० 763
13. आव० नि० गा० 764-772
14. आव० नि० गा० 774-777
15. आव० नि० गा० 775-776
16. आव० नि० गा० 778-788 (मलयगिरि)

सामायिक

इतनी प्रासंगिक चर्चा करने के पश्चात् अनुमत¹ द्वार की व्याख्या करके आचार्य ने 'सामायिक क्या है ?' इस द्वार की चर्चा प्रारम्भ की है। यहाँ तय-दृष्टि से सामायिक पर विचार किया गया है। सामायिक के भेदों पर विचार करते हुए उसके तीन भेद बताए गए हैं:— सम्यक्त्व, श्रुत, चारित्र।² 'सामायिक किस की होती है ?' इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि, जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में रमण करती है, उसी की सामायिक है। जो सब जीवों के प्रति सम-भाव रखता है, उसकी सच्ची सामायिक है।³ तदनन्तर सामायिक के कारण-अचरण का उपदेश दिया गया है।⁴ 'सामायिक कहाँ है' इस प्रश्न के उत्तर में क्षेत्र आदि अनेक द्वारों पर विचार किया गया है।⁵ 'किसमें है?' इस पर विचार प्रकट कर आचार्य ने यह भी उल्लेख किया है कि वह किस प्रकार प्राप्त होती है⁶ और साथ ही मनुष्य-भव की दुर्लभता का दृष्टान्त सहित विवेचन किया है।⁷ श्रुत की दुर्लभता⁸ और बोधि-सामायिक की दुर्लभता का भी वर्णन किया गया है और उसकी प्राप्ति का क्रम स-दृष्टान्त स्पष्ट किया गया है।⁹ 'वह कब तक स्थिर रहती है' इत्यादि¹⁰ प्रश्नों का समाधान कर, सामायिक के सम्यक्त्व आदि भेदों के पर्यायों का संग्रह¹¹ कर तथा उपोद्घात-निर्युक्ति के निरुक्ति नामक अन्तिम द्वार का विवेचन कर, उन आठ प्रसिद्ध महापुरुषों के उदाहरण दिए गए गए हैं जिन्होंने सामायिक का पालन करके महर्षि पद को प्राप्त किया।¹² उन्हें नमस्कार करने के बाद उपोद्घात निर्युक्ति का प्रकरण समाप्त हो जाता है।

उपसंहार

उपोद्घात निर्युक्ति के उक्त विषयानुक्रम को सविस्तार इसलिए प्रतिपादित किया गया है कि पाठक यह बात समझ सकें कि आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक के उपोद्घात के व्याज से

1.	आव० नि० गा०	789
2.	„	790-794
3.	„	795
4.	„	796-97
5.	„	799-803
6.	„	804-829
7.	„	830
8.	„	831
9.	„	832-40
10.	„	841-843
11.	„	844-48
12.	„	849-60
13.	„	861-864
14.	„	865-879

वस्तुतः समस्त टीकाओं का उपोद्घात किया है। अतः जो कुछ उन्हें अन्यत्र अवश्यमेव लिखना था, उन सब विषयों का यहाँ समावेश कर दिया गया है। अन्य निर्युक्तियों में इन विषयों की पुनरावृत्ति नहीं की गई है। आवश्यक निर्युक्ति के केवल उपोद्घात में ही इतनी अधिक गाथाएँ हैं, कि उतनी कई पूरे निर्युक्ति ग्रन्थों में दृग्गोचर नहीं होती। मूल आवश्यक सूत्र का परिमाण अन्य सूत्रों की अपेक्षा बहुत ही कम है, तथापि उसकी उपोद्घात निर्युक्ति का ही प्रमाण अन्य अनेक सम्पूर्ण निर्युक्तियों के परिमाण से बहुत बड़ जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि सर्वत्र उपयोगी होने के कारण इस उपोद्घात का विस्तृत होना प्रनिवार्य था।

शास्त्रों की उत्पत्ति कैसे हुई, ? यह बताने के लिए आचार्य जैन-परम्परा के मूल तक पहुँचे हैं। उन्होंने न केवल भगवान् महावीर के अपितु भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पूर्वन्त जैन-परम्परा के समग्र इतिहास का उल्लेख किया है। भगवान् महावीर किस क्रम से तीर्थंकर बने, यह बात बताने के उद्देश्य से उन्होंने उनके अन्तिम जीवन का ही वर्णन नहीं किया, प्रत्युत भगवान् ऋषभदेव से भी पूर्वकालीन युग से भगवान् महावीर के पूर्वभवों की शोध की है और अन्त में उनके तीर्थंकर बनने तक के आरोह-अवरोह का इतिहास उपलब्ध साहित्य की दृष्टि से क्रमबद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। वस्तुतः उपलब्ध जैन साहित्य में जैन-परम्परा का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित इतिहास लिखने का श्रेय आचार्य भद्रबाहु को है। उनकी निर्युक्ति में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर ही उत्तरकालीन समस्त साहित्य में जैन-परम्परा की इतिहास सम्बन्धी बातों का वर्णन किया गया है। उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्यों के आलोक में (ढाँचे में) कवियों ने रंग भर कर महापुराणों तथा महाकाव्यों की रचना की है।

उन्होंने साम्प्रदायिक परम्परा के कुछ ऐसे तथ्य वर्णित किए हैं जो उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। निह्नवों की चर्चा इसका एक उदाहरण है। यदि निर्युक्ति में इस विषय में विशेष वक्तव्य न होता, तो निह्नवों सम्बन्धी सम्पूर्ण इतिहास अन्धकार में ही रहता। ऐसी अन्य अनेक चर्चाएँ हैं।

सम्प्रदाय-प्रसिद्ध हृष्टान्त-माला को एक दो गाथाओं में ही बद्ध कर देने की उनकी विशेषता अद्वितीय है। साथ ही वे सारी कथा का सारांश जिस प्रकार संक्षेप में लिख देते हैं, वह उनकी अद्भुत कुशलता का उदाहरण है। उनकी लेखनी में यह चमत्कार है कि जिस व्यक्ति ने वह कथा पूरी पढ़ी हो अथवा सुनी हो, उसके सम्मुख एक या दो गाथाओं में ही संपूर्ण कथा का चित्र उपस्थित हो जाता है।

निर्युक्ति की व्याख्यान-शैली का वर्णन करते हुए आचार्य ने स्वयं कहा है कि “आहरणहेउकारणपदनिवहमिसं समासेणं (गा० 86)।” अर्थात् इसमें दृष्टान्त-पद, हेतु-पद तथा कारण-पद का आश्रय लेकर संक्षिप्त निरूपण करना है। अन्यत्र भी आचार्य ने कहा है:-

“जिलावयणं सिद्धं चेव भण्णई कथवी उदाहरणं ।
आसज्ज उ सोयारं हेऊवि कहंचिय भणेज्जा ॥”

दशवै० नि. 49

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् ने जो उपदेश दिया वह तो सिद्ध ही है, उसे अनुमान द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि श्रोता की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर कहीं आवश्यक प्रतीत हो तो वहाँ दृष्टान्त का उपयोग करना चाहिए और श्रोता की योग्यता के अनुसार हेतु देकर भी समझाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि, भगवान् के वचन का प्रामाण्य मान्य है, अर्थात् वह स्वतन्त्र आगम प्रमाण है। उनके वचन में कई ऐसी बातें हो सकती हैं जो अनुमान या दृष्टान्त से सिद्ध न हो सकें। ऐसी बातें भी सम्भव हैं जो दृष्टान्त और हेतु द्वारा समझाई जा सकें। उनका यह आशय उनकी समस्त नियुक्तियों में लक्षित होता है। जिस वस्तु को वे दृष्टान्त योग्य समझते थे, उसका स्पष्टीकरण उन्होंने एक नहीं अनेक दृष्टान्तों द्वारा किया है। अनेक विषयों के सम्बन्ध में दृष्टान्त के साथ-साथ हेतुओं का भी प्रतिपादन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उनकी अधिकतर उपमायें पूर्णोपमा होती हैं।

व्याख्या करने की उनकी विशेषता यह है कि वे पहले व्याख्येय विषय के द्वार निश्चित कर लिख देते हैं और तत्पश्चात् एक-एक द्वार का स्पष्टीकरण करते हैं। द्वारों में विशेषतः अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ नामादि निक्षेपों का आश्रय लिया गया है। व्याख्येय शब्द के पर्याय-वाची शब्द अवश्य लिखे जाते हैं और शब्दार्थ के भेदों-प्रकारों का भी उल्लेख किया जाता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप अत्यन्त संक्षेप में वस्तु सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातें अनावश्यक विस्तार के बिना ही बताई जा सकती हैं।

शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थ-प्रधान और शब्द-प्रधान दोनों प्रकार से करते हैं। यहाँ प्राकृत भाषा के शब्द व्याख्येय हैं, उनकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य संस्कृत-धातुओं से चिपके नहीं रहते, वे प्रयत्न करते हैं कि शब्द को तोड़कर किसी भी प्रकार प्राकृत शब्द के आधार पर ही व्युत्पत्ति की जाए और उससे इष्ट अर्थ की प्राप्ति की जाए। इसके उदाहरण के लिए 'मिच्छा मि दुक्कड' (गा० 686-87) की नियुक्ति द्रष्टव्य है। आचार्य ने 'उत्तम' शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह मनस्वी होने के साथ-साथ आध्यात्मिक अर्थ-युक्त होने के कारण रोचक प्रतीत होती है। (प्राव० नि० गाथा 1100 दी०), ऐसे अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

आचार्य की किसी भी नियुक्ति को देखने से यह बात शीघ्र ध्यान में आ जाती है कि आचार्य का जैन परिभाषा तथा परम्परा सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त तलस्पर्शी है। आचार्य ने जैन

1. 'मिच्छा मि दुक्कड' इस पद में छह अक्षर हैं। उनमें 'मि' का 'मृदुता', 'छा' का 'दोषाच्छादन', 'मि' का 'मर्यादा में रहते हुए', 'डु' का 'दोषयुक्त आत्मा की जुगुप्सा', 'क' का 'किया गया दोष' और 'ड' का 'अतिक्रमण' अक्षरार्थ करके एक प्रकार से यह अर्थ सूचित किया है—'नम्रता पूर्वक चारित्र्य की मर्यादा में रहकर दोष निवारण के निमित्त मैं आत्मा की जुगुप्सा करता हूँ। और किये गये दोष का इस समय अतिक्रमण करता हूँ।' जिस प्रकार नियुक्ति ग्रन्थों में व्युत्पत्ति की गई है, उसी प्रकार बौद्ध पालि-ग्रन्थों में भी

आचार के गली-कूचों में भ्रमण किया है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान का भी पान किया हुआ है।

इसी उपोद्घात निर्युक्ति में ही उन्होंने गणधरवाद के बीज रख दिये हैं। इस विषय की विशेष चर्चा आगे की जायेगी। यह बात तो निश्चित है कि गणधरों की शंकाओं के जिन विषयों का उन्होंने निर्देश किया है, उनमें उन सब महत्वपूर्ण विषयों का समावेश हो जाना है जिनकी उस काल में भारतीय दर्शनों में चर्चा होती थी। गणधर ब्राह्मण थे, अतः उनकी शंकाओं के आधार वेद-वाक्य थे, यह बात आचार्य ने निर्युक्ति में प्रतिपादित की है। इसका उल्लेख निर्युक्ति से पूर्व किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। अतः विद्वान् सज्ज ही यह बात स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं कि यह उल्लेख आचार्य भद्रबाहु की प्रतिभा का ही परिणाम है।

उपोद्घात निर्युक्ति के उत्तरवर्ती आवश्यक निर्युक्ति ग्रन्थ में सूत्र का स्पर्श करते हुए आवश्यक सूत्र के छह अध्ययनों की व्याख्या की गई है।

व्युत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है। यहाँ इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा—‘अरिहंत’ पद जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में सामान्य है। बुद्धघोष ने ‘विनुद्धि-मग्ग’ में उसकी व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से की है :—

अरिहंत के लिए उन्होंने पालि में ‘अरिहंत, अरहंत और अरह’ ये तीन शब्द दिये हैं। उनके क्रमशः दो, एक और दो अर्थों की उपपत्ति की गई है।

(1) अरिहन्त अर्थात् (अ) क्लेश रूपी अरि को आरात्-दूर करने से अरिहन्त; (ब) क्लेश रूपी अरि का हन्त अर्थात् हनन करने से अरिहन्त।

(2) अरहन्त—संसार रूपी चक्र के आराओं का हनन करने से अरहन्त।

(3) अरह—(अ) वस्त्रपात्रादि के दान के ‘अर्ह’ योग्य होने से अरह।

(ब) रह :—एकान्त में पाप ‘अ’—नहीं करने से अरह।

आरकत्ता हतत्ता च किलेसारीन सो मुनि।

हत संसार चक्कारो पच्चयादीनचारहो।

न रहो करोति पापानि अरहं तेन बुच्चतीति।

जैन परम्परा में अरिहंत और अरहंत इन दो प्राकृत शब्दों के अतिरिक्त एक अरुहंत शब्द भी उपलब्ध होता है। इसकी व्युत्पत्ति ऐसे की गई है :—

अरुह—अर्थात् जो दुबारा न जन्मे, प्रकट न हो वह अरहन्त।

वैदिक परम्परा के व्युत्पत्ति-प्रधान निरुक्त शास्त्र में भी ऐसी ही व्युत्पत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणतः यास्क ने दुहिता (पुत्री) की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है—

(1) दुर + हिता = जिसका हित साधन-वर की खोज कठिन है।

(2) दूरे + हिता = जो माता-पिता आदि कुटुम्ब से दूर रहने पर ही हितावह है।

(3) दुह + इता = जो सदा धन, वस्त्र आदि से माता-पिता का दोहन करती है।

अन्य निर्युक्तियों में भी आवश्यक के समान आचार्य ने प्रारम्भ में उन-उन मूल ग्रन्थों के प्रादुर्भाव की कथा का वर्णन किया है, किन्तु यह वर्णन उसी ग्रन्थ में है जिसकी उत्पत्ति की कथा आवश्यक से भिन्न है। अन्यत्र अध्ययनों के नाम और विषयों का निर्देश कर, उनकी निष्पत्ति का मूल-स्थान या ग्रन्थ बताकर और प्रायः प्रत्येक अध्ययन के नाम का निक्षेप कर व्याख्या की गई है। अध्ययन के अन्तर्गत किसी महत्वपूर्ण शब्द अथवा उसमें विद्यमान मौलिक भाव को लेकर आचार्य ने उसका अपने ढंग से विवेचन करके ही सन्तोष माना है। अन्य ग्रन्थों में आवश्यक के समान सूत्र-स्पर्शी निर्युक्ति अत्यन्त अल्प दिखाई देती है। यही कारण है कि अन्य ग्रन्थों की निर्युक्ति का परिमाण मूल-ग्रन्थ की अपेक्षा बहुत कम है। आवश्यक की स्थिति इससे विपरीत है।

5. आचार्य जिनभद्र

पूर्व-भूमिका

इस विश्व का मूल सत् है अथवा असत् है, इस विषय में दो परस्पर विरोधी वादों का खण्डन-मण्डन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। त्रिपिटक तथा गणिपिटक—जैन आगम में भी विरोधी का खण्डन करने की प्रवृत्ति दृग्गोचर होती है, अतः हम यह विश्वास कर सकते हैं कि, वाद-विवाद का इतिहास अति प्राचीन है और उत्तरोत्तर उसका विकास होता रहा है। किन्तु दार्शनिक विवादों के इतिहास में नागार्जुन से लेकर धर्मकीर्ति के समय तक का काल ऐसा है जिसमें दार्शनिकों की वाद-विवाद सम्बन्धी प्रवृत्ति तीव्रतम हो गई है। नागार्जुन, वसुबन्धु और दिग्नाग जैसे बौद्ध आचार्यों के तार्किक प्रहारों के वार सभी दर्शनों पर सतत् पड़े थे और उनके प्रतीकार के रूप में भारतीय दर्शनों में पुनर्विचार की धारा प्रवाहित हुई थी। न्यायदर्शन में वात्स्यायन और उद्द्योतकर, वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद, मीमांसा दर्शन में शबर और कुमारिल जैसे प्रौढ़ विद्वानों ने अपने दर्शनों पर होने वाले प्रहारों के प्रत्युत्तर दिए। यही नहीं, उन्होंने इस व्याज से स्वदर्शन को भी नया प्रकाश प्रदान कर उन्हें सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवादके इस अखाड़े में जैन तार्किकों ने भी भाग लिया और अपने आगम के आधार पर जैन दर्शन को तर्क-पुरस्सर सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि, आचार्य उमास्वाति ने इस विवाद से 'तत्त्वार्थ-सूत्र' लिखने की प्रेरणा प्राप्त की, परन्तु उन्होंने उन सब का खण्डन कर जैन दर्शन को स्वकीय रूप प्रदान करने का कार्य नहीं किया, उन्होंने केवल जैन दर्शन के तत्त्वों को सूत्रात्मक शैली में उपस्थित किया और विवाद का काम बाद में होने वाले पूज्यपाद, अकलंक, सिद्धसेन गणि, विद्यानन्द आदि टीकाकारों के लिए छोड़ दिया।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस विवाद में से जैन न्याय की आवश्यकता का अनुभव कर 'न्यायावतार' जैसी अत्यन्त संक्षिप्त कृति की रचना की और जैन-न्याय में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले अनेकान्तवाद के मूल में स्थित नयवाद का विवेचन करने के लिए 'सन्मतितर्क'

लिखा। किन्तु इन दोनों कृतियों में अधिकतर प्रयत्न इसी बात का किया गया है कि दार्शनिक जगत् का तटस्थ अवलोकन कर अपने दर्शन को व्यवस्थित किया जाए, अन्य दार्शनिकों की युक्तियों का खण्डन करने का कार्य गौण है।

आचार्य सिद्धसेन के विषय में यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे दार्शनिक अखाड़े में एक प्रबल प्रतिमल्ल के रूप में अपने ग्रन्थों को लेकर उपस्थित हुए। उनके ग्रन्थों में जैन दर्शन की व्यवस्था के बीज विद्यमान हैं, किन्तु उनमें अन्य दार्शनिकों की छोटी-बड़ी सभी महत्वपूर्ण युक्तियों का खण्डन करने का प्रयास नहीं किया गया है। छोटी-छोटी युक्तियों के वाग्जाल में न पड़कर केवल महत्व की बातों का खण्डन-मण्डन उनके ग्रन्थों में है। आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने विस्तार की अपेक्षा संक्षेप को अधिक महत्व दिया है। दोनों केवल प्रबल वादी ही नहीं, प्रत्युत् महावादी हैं। तथापि उनके ग्रन्थ, उद्द्योतकर अथवा कुमारिल के समान अत्यधिक बारीकी में नहीं जाते। इन दोनों आचार्यों ने तर्क-प्रतिर्तर्क का जाल बिछाने का कार्य नहीं किया, किन्तु निष्कर्ष में उपयोगी युक्तियाँ देकर निर्णय किया है। वे युक्तियाँ ऐसी अक्राट्य हैं कि उनके ही आधार पर उनकी टीकाओं में प्रचुर मात्रा में विवादों की रचना की जा सकी है। सारांश यह है कि इन दोनों आचार्यों ने तर्कजाल में न पड़कर केवल अन्तिम कोटि का तर्क कर संतोष किया है।

किन्तु इससे उनके ग्रन्थों में ऐसा सामर्थ्य नहीं आया जिससे कि उन्हें आचार्य दिग्गज, कुमारिल अथवा उद्द्योतकर जैसे मल्लों के सम्मुख प्रतिमल्ल के रूप में रखा जा सके। अति-विस्तार के सामने अतिसंक्षेप ढक जाता है। जब उनके ग्रन्थों की 'वादमहार्णव' जैसी तथा 'अष्टसहस्री' जैसी टीकाएँ तैयार हुईं, तभी उन ग्रन्थों की प्रतिमल्लता की ओर ध्यान जाता है। किन्तु आचार्य जिनभद्र के विषय में यह बात नहीं है। उनके ग्रन्थ 'विशेषावश्यक भाष्य' की रचना ऐसी शैली में हुई है कि उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक जगत् के अखाड़े में सर्वप्रथम जैन प्रतिमल्ल का स्थान यदि किसी का दिया जाए तो वह आचार्य जिनभद्र को ही दिया जा सकता है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने दर्शन के सामान्य तत्त्वों के विषय में ही तर्कवाद का अवलम्बन नहीं लिया, किन्तु जैन दर्शन की प्रमाण एवं प्रमेय सम्बन्धी छोटी-बड़ी महत्वशाली सभी बातों के सम्बन्ध में तर्कवाद का प्रयोग कर दार्शनिक अखाड़े में जैन दर्शन को एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से ही नहीं प्रत्युत् सर्वतन्त्र समन्वय रूप में भी उपस्थित किया है। उनकी युक्तियाँ और तर्क-शैली इतनी अधिक व्यवस्थित है कि आठवीं शताब्दी में होने वाले महान् दार्शनिक हरिभद्र तथा बारहवीं शताब्दी में होने वाले आगमों के समर्थ टीकाकार मलयगिरि भी ज्ञान-चर्चा में आचार्य जिनभद्र की ही युक्तियों का आश्रय लेते हैं। इतना ही नहीं, अपितु अठारहवीं शताब्दी में होने वाले नव्यन्याय के असाधारण विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी भी अपने जैन तर्क परिभाषा, अनेकान्त व्यवस्था, ज्ञानबिन्दु आदि ग्रन्थों में उनकी दलीलों को केवल नवीन भाषा में उपस्थित कर संतोष मानते हैं, उन ग्रन्थों में अपनी ओर से नवीन वृद्धि शायद ही की गई है। इससे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी में आचार्य जिनभद्र ने सम्पूर्ण-रूपेण प्रतिमल्ल का कार्य सम्पन्न किया था।

आचार्य जिनभद्र का विशेषावश्यक महाग्रन्थ जैन आगमों को समझने की कुञ्जी है। इस ग्रन्थ में सभी महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। जैसे बौद्ध-त्रिपिटक का सारग्राही ग्रन्थ 'विशुद्धिमार्ग' है, उसी प्रकार विशेषावश्यक भाष्य जैन-आगम का सारग्राही है। साथ ही उसकी यह विशेषता है कि उसमें जैन-तत्त्व का निरूपण केवल जैन दृष्टि से ही नहीं किया गया, अपितु अन्य दर्शनों की तुलना में जैन-तत्त्वों को रखकर समन्वयगामी मार्ग द्वारा प्रत्येक विषय की चर्चा की गई है। विषय-विवेचन के प्रसंग में जैन-आचार्यों के उन विषयों के सम्बन्ध में अनेक मतभेदों का खण्डन करते हुए भी वे उन पर ग्रांथ नहीं आने देते। कारण यह है कि ऐसे प्रसंग पर वे आगमों के अनेक वाक्यों का आधार देकर अपना मन्तव्य उपस्थित करते हैं। किसी भी व्यक्ति की कोई भी व्याख्या यदि आगम के किसी वाक्य से विरुद्ध हो, तो वह उन्हें असह्य प्रतीत होती है और वे प्रयत्न करते हैं कि, उसके तर्क-पुरस्सर समाधान की शोध की जाए। उन्होंने आगम के परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले मन्तव्यों का समाधान ढूँढ़ने का भी प्रयास किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि, विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यों की भी परस्पर उपपत्ति कैसे हो सकती है। सच बात तो यह है कि आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य लिखकर जैन-आगमों के मन्तव्यों को तर्क की कसौटी पर कसा है और इस तरह इस काल के तात्त्विकों की जिज्ञासा को शान्त किया है। जिस प्रकार वेद-वाक्यों के तात्पर्य के अनुसन्धान के लिए मीमांसा-दर्शन की रचना हुई, उसी प्रकार जैन-आगमों के तात्पर्य को प्रकट करने के लिए जैन-मीमांसा के रूप में आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक की रचना की।

जीवन और व्यक्तित्व :

आचार्य जिनभद्र का अपने ग्रन्थों के कारण जैन धर्म के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि इस महान् आचार्य के जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती, इसे एक आश्चर्यजनक घटना समझना चाहिए। वे कब हुए और किन के शिष्य थे ? इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं और वे भी 15 वीं या 16 वीं शताब्दी में लिखी गई पट्टावलिधियों में हैं। अतः हम यह मान सकते हैं कि उन्हें सम्यक प्रकारेण पट्ट-परम्परा में संभवतः स्थान नहीं मिला, परन्तु उनके साहित्य का महत्व समझकर तथा जैन साहित्य में सर्वत्र उनके ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए विवरण देखकर उत्तरकालीन आचार्यों ने उन्हें महत्त्व प्रदान किया, उन्हें युगप्रधान बना डाला और आचार्य-परम्परा में भी कहीं न कहीं उन्हें सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न कल्पित था, अतः यह बात स्वाभाविक है कि उसमें मत्तैक्य न हो। इसीलिए हम देखते हैं कि उनके सम्बन्ध में यह असंगत उल्लेख भी उपलब्ध होता है कि वे आचार्य हरिभद्र के पट्ट पर बैठे।

आगमों से यह सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर के समय में पूर्व देश में जैन धर्म का प्राबल्य था, किन्तु बाद में उसका केन्द्र पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हटता गया। ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग मथुरा में तथा पाँचवीं शताब्दी के लगभग वलभी नगरी में जैन धर्म का प्राबल्य दिखाई देता है। क्रमशः इन दोनों स्थानों में आगम की वाचना हुई। इससे उक्त काल में दोनों नगरों का महत्व सिद्ध होता है। दिगम्बर शास्त्र षट्खण्डागम की रचना का

मूल स्रोत भी पश्चिम देश में ही है, अतः हम सहज ही यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रथम शताब्दी के बाद जैन साधुओं का विहार विशेषतः पश्चिम में हुआ। जैन दृष्टि से वलभी नगरी का महत्त्व उसके नष्ट होने तक रहा है और उसके नष्ट होने के बाद वलभी के निकट-वर्ती पालीताना आदि नगर जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं।

आचार्य जिनभद्र-कृत विशेषावश्यक भाष्य की प्रति शक संवत् 531 में लिखी गई और वलभी के किसी जैन मन्दिर को समर्पित की गई। इससे ज्ञात होता है कि वलभी नगरी से आचार्य जिनभद्र का कोई सम्बन्ध होना चाहिये। इससे हम यह अनुमान माथ कर सकते हैं कि वलभी और उसके आसपास उनका विहार हुआ होगा।

‘विविधतीर्थकल्प’ में मथुरा-कल्प के प्रसंग में आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि—आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मथुरा में देवनिर्मित स्तूप के देव की एक पक्ष की तपस्या कर आराधना की और दीमक द्वारा खाए हुए महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया¹। इससे यह तथ्य ज्ञात होता है कि जिनभद्र ने वलभी के उपरान्त मथुरा में भी विचरण किया था और उन्होंने महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया था।

अभी कुछ ही समय पूर्व अंकोट्टक (अर्वाचोन, अकोटा गाँव) से प्राप्त हुई प्राचीन जैन मूर्तियों का अध्ययन करते हुए श्री उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को दो अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ मिली हैं। उन्होंने जैन सत्यप्रकाश (अंक 196) में उन मूर्तियों का परिचय दिया है। कला तथा लिपि विद्या के आधार पर उन्होंने इन्हें ई० सन् 550 से 600 तक के काल में रखा है। उन्होंने यह भी निर्णय किया है कि इन मूर्तियों के लेख में जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है, वे विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता क्षमाश्रमण जिनभद्र ही हैं, अन्य नहीं। उनकी वाचनानुसार² एक मूर्ति के पभासण (पद्यासन) के पृष्ठ भाग में ‘ओं देवधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य’ ऐसा लेख है और दूसरी मूर्ति के भा-मण्डल में ‘ओं निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य’ यह लेख उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त वर्णन से निश्चयरूपेण ये तीन नई बातें ज्ञात होती हैं—आचार्य जिनभद्र ने इन मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया होगा, उनके कुल का नाम निवृत्ति कुल था और वे वाचनाचार्य कहलाते थे। इससे एक तथ्य यह भी फलित होता है कि वे चैत्यवासी थे,³ क्योंकि लेख में लिखा है कि ‘जिनभद्रवाचनाचार्य का’। इस तथ्य को इस कारण विचाराधीन समझना चाहिए

1. इत्थं देवनिम्मिअयूमे पक्खक्खमणेण देवयं आराहिता जिनभद्रखमासमणेहि उद्देहिथा भक्खियपुत्थयपत्तत्तणेण तुट्टं भग्गं महानिसीहं संधिअं । वि० तीर्थकल्प पृ० 19.
2. श्री शाह की वाचना प्रामाणिक है और उनका लिपि के समय का अनुमान भी ठीक है। इस बात का समर्थन बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्राचीन लिपि विशारद प्रो० अबधकिशोर ने भी किया है, अतः इसमें शंका का अवकाश नहीं है।
3. श्री शाह ने भी यह संकेत किया है, परन्तु कारण अन्य बताया है।

कि इस विषय में इस लेख के अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं मिल सकता। पुनश्च, ये मूर्तियाँ अंकोट्टक में मिली हैं, अतः यह अनुमान भी शक्य है कि बलभी के उपरान्त उस काल में भरुच के आस-पास भी जैनों का प्रभाव था और आचार्य जिनभद्र का इस ओर भी विहार हुआ होगा।

इस लेख में आचार्य जिनभद्र को क्षमाश्रमण नहीं कहा गया है, किन्तु वाचनाचार्य कहा है। इस विषय में कुछ विचार करना आवश्यक है। परम्परा के अनुसार वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर तथा वाचक एकार्थक शब्द माने गए हैं¹। वाचक और वाचनाचार्य भी एकार्थक हैं, अतः परम्परा के अनुसार वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं। फिर भी यह विचार करने योग्य बात है कि ये शब्द एकार्थक क्यों माने गए? आचार्य जिनभद्र ने स्वयं वाचनाचार्य पद का उल्लेख किया है, तथापि उनकी विशेष प्रसिद्धि क्षमाश्रमण के नाम से क्यों हुई? इन प्रश्नों का उत्तर दल्पना के आधार पर देना चाहें तो दिया जा सकता है।

प्रारम्भ में 'वाचक' शब्द शास्त्रविशारद के लिए विशेष प्रचलित था, परन्तु जब वाचकों में क्षमाश्रमणों की संख्या बढ़ती गई, तब क्षमाश्रमण शब्द भी वाचक के पर्याय-रूप में प्रसिद्ध हो गया; अथवा क्षमाश्रमण शब्द आवश्यक सूत्र में सामान्य गुरु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, अतः सम्भव है कि, शिष्य विद्या-गुरु को क्षमाश्रमण के नाम से सम्बोधित करते रहे हों, इसलिए यह स्वाभाविक है कि क्षमाश्रमण वाचक का पर्याय बन जाए। जैन समाज में जब वादियों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई, तब शास्त्र-वैशारद के कारण वाचकों का ही अधिकतर भाग वादी नाम से विख्यात हुआ होगा; अतः कालान्तर में वादी का भी वाचक का ही पर्यायवाची बन जाना स्वाभाविक है। सिद्धसेन जैसे शास्त्रविशारद विद्वान् अपने को दिवाकर कहलाते होंगे अथवा उन के साधियों ने उन्हें 'दिवाकर' की पदवी दी होगी, इसलिए वाचक के पर्यायों में दिवाकर को भी स्थान मिल गया। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग रहा होगा, अतः सम्भव है कि, उनके बाद के लेखकों ने उनके लिए 'वाचनाचार्य' के स्थान पर 'क्षमाश्रमण' पद का उल्लेख किया हो।

आचार्य जिनभद्र का कुल 'निवृत्ति कुल' था, यह तथ्य उक्त लेख के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। भगवान् महावीर के 17वें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए थे। उन्होंने सोपारक नगर के सेठ जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रों को दीक्षा दी थी। उनके नाम थे—नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर। भविष्य में इन चारों के नाम से भिन्न-भिन्न चार परम्पराएँ चलीं और वे नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति तथा विद्याधर कुलों के नाम से प्रसिद्ध हुईं²। उक्त मूर्ति-लेख के आधार पर यह सिद्ध होता है कि, आचार्य जिनभद्र निवृत्ति कुल में हुए। महापुरुष-चरित नामक प्राकृत-ग्रन्थ के लेखक शीलाचार्य, उपमिति-भव-प्रपंचा-कथा के लेखक

1. कहावली का उद्धरण देखें—सत्यप्रकाश अंक 196, पृ० 89.
2. खरतर गच्छ की पट्टावली देखें—जैन गुर्जरकविग्रो भाग 2, पृष्ठ 669। 'निवृत्ति' शब्द के 'निवृत्ति, निर्वृत्ति' ये रूप भी भिन्न-भिन्न स्थानों में दृग्गोचर होते हैं।

सिद्धार्थ, नवांगवृत्ति के संशोधक द्रोणाचार्य जैसे प्रसिद्ध आचार्य भी इस निवृत्ति कुल में हुए हैं, अतः इस बात में सन्देह नहीं कि यह कुल विद्वानों की खान के समान है।

इस बात को छोड़कर उनके जीवन के सम्बन्ध में और कोई बात ज्ञात नहीं है। केवल उनका गुण-वर्णन उपलब्ध होता है। उसका सार यह है कि, वे एक महाभाष्यकार थे, तथा प्रवचन के यथार्थ ज्ञाता और प्रतिपादक थे। उनके गुणों का व्यवस्थित वर्णन उनके द्वारा रचित जीतकल्प-सूत्र के टीकाकार ने किया है। उसके आधार पर मुनि श्री जिनविजयजी ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह यह है—तत्कालीन प्रधान-प्रधान श्रुतधर भी इनका बहुत मान करते थे। वे श्रुत व श्रुतेतर दोनों शास्त्रों के कुशल विद्वान् थे। जैन सिद्धान्तों में ज्ञान-दर्शन के क्रमिक उपयोग का जो विचार किया गया है, वे उसके समर्थक थे। अनेक मुनि ज्ञानाभ्यास के निमित्त उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे। भिन्न-भिन्न दर्शनों के शास्त्रों तथा लिपि-विद्या, गणित शास्त्र, छन्दःशास्त्र और व्याकरण आदि शास्त्रों में उनका अनुपम पाण्डित्य था। पर-समय के आगम में भी वे विशेष निपुण थे। वे स्वाचार पालन में तत्पर थे तथा सर्व जैन श्रमणों में मुख्य थे।

जब तक और नई बातें ज्ञात न हों, तब तक उक्त गुणवर्णन से ही उनके व्यक्तित्व की कल्पना कर हमें सन्तोष रखना चाहिए।

सत्ता-समय

धीरे निर्वाण सं० 980 (वि० सं० 510; ई० स० 453) में वालभी वाचना के समय आगम व्यवस्थित हुए और उन्हें अन्तिम रूप प्राप्त हुआ। उसके बाद उनकी सर्वप्रथम पद्यटीकाएँ प्राकृत भाषा में लिखी गईं। आज-कल उपलब्ध होने वाली ये प्राकृत टीकाएँ निर्युक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन सब के प्रणेता आचार्य भद्रबाहु हैं। उनका समय वि० सं० 562 (ई० स० 505) के लगभग है, अतः हम मान सकते हैं कि, आगम के वालभी संकलन के बाद के 50 वर्षों में वे लिखी गई होंगी। इस निर्युक्ति की पद्यबद्ध प्राकृत टीका लिखी गई, जो मूल-भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है, इस मूल-भाष्य के कर्ता के विषय में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है; किन्तु आचार्य हरिभद्र आदि के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आव० नि० की प्रथम टीका के रूप में किसी भाष्य की रचना हुई थी। सम्भव है कि, उसे आचार्य जिनभद्र के भाष्य से पृथक् करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने 'मूल-भाष्य' का नाम दिया हो। कुछ भी हो, किन्तु इस मूल भाष्य के बाद आचार्य जिनभद्र ने आव० नि० के सामायिक अध्ययन तक प्राकृत-पद्य में जो टीका लिखी, वह विशेषावश्यक भाष्य के नाम से विख्यात है। अतः आचार्य जिनभद्र के विशेषा० के समय की पूर्वावधि निर्युक्ति कर्ता भद्रबाहु के समय से और पूर्वोक्त मूल-भाष्य के समय से पहले नहीं हो सकती। आचार्य भद्रबाहु वि० सं० 562 के लगभग विद्यमान थे, अतः विशेषा० की पूर्वावधि वि० सं० 600 से पहले सम्भव नहीं है।

मुनि श्री जिनविजयजी ने जैसलमेर की विशेषा० की प्रति के अन्त में लिखित दो

1. जीतकल्प सूत्र की प्रस्तावना पृष्ठ 7.

गाथाओं के आधार पर निर्णय किया है कि, उनकी रचना वि० सं० 666 में हुई। वे गाथाएँ ये हैं :—

“पंच सता इगतीसा समणिवकालस्स बट्टमाणस्स ।
तो चेतपुण्णिमाए बुधदिएण सातिमि रावणत्ते ॥
रउजे णु पालरापरे सी [लाइ]च्चम्मि शरबारिदम्मि ।
वलभीएगरोए इमं महवि.....मि जिणभवरो ॥”

श्री जिनविजयजी इन गाथाओं का तात्पर्य यह बताते हैं कि, शक संवत् 531 में वलभी में जब शिलादित्य राज्य करते थे, तब चैत्र की पूर्णिमा, बुधवार तथा स्वाति नक्षत्र में विशेषावश्यक की रचना पूर्ण हुई। किन्तु मूल गाथाओं से उनका बताया हुआ तात्पर्य नहीं निकलता। इस गाथा में रचना के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। दूटे हुए अक्षरों को हम यदि किसी मन्दिर का नाम मान लें तो इन दोनों गाथाओं में कोई क्रिया ही नहीं है, इसलिए यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि, इस भाष्य की रचना शक संवत् 531 (वि० सं० 666) में हुई। इस बात की सम्भावना अधिक है कि, वह प्रति उस वर्ष लिखी गई और उस मन्दिर में रखी गई। गाथाओं का तात्पर्य रचना से नहीं, अपितु मन्दिर में स्थापित करने से है, यह बात निम्नलिखित कारणों से अधिक संगत प्रतीत होती है :—

1. ये गाथाएँ केवल जैसलमेर की प्रति में ही मिलती हैं, अन्यत्र किसी भी प्रति में ये नहीं हैं, अतः यह मानना पड़ेगा कि ये गाथाएँ मूल कर्त्ता की नहीं, किन्तु प्रति के लिखे जाने और उक्त मन्दिर में रखे जाने की सूचक हैं। जो प्रति मन्दिर में रखी गई होगी, उसी की नकल जैसलमेर की प्रति होगी, अतः उसमें भी इन गाथाओं के सम्मिलित हो जाने की सम्भावना है। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, इस प्रति के आधार पर दूसरी कोई प्रति नहीं लिखी गई, इसीलिए अन्य किसी प्रति में इनका समावेश नहीं हुआ।

2. यदि इन गाथाओं की रचनाकाल सूचक माना जाए तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि, इन्हें आचार्य जिनभद्र ने बनाया। ऐसी दशा में उनकी टीका भी उपलब्ध होनी चाहिए, किन्तु जिनभद्र द्वारा अग्ररम्भ की गई और आचार्य कोट्यार्य द्वारा पूर्ण की गई, विशेषावश्यक की सर्व-प्रथम टीका में, अथवा कोट्याचार्य और आचार्य हेमचन्द्र मलधारी की टीकाओं में भी इन गाथाओं की टीका दृग्गोचर नहीं होती; यही नहीं, इन गाथाओं के अस्तित्व का भी संकेत नहीं मिलता। अतः हम कह सकते हैं कि, ये गाथाएँ आचार्य जिनभद्र की रचना नहीं हैं। अर्थात् हो सकता है कि, प्रति की नकल करने वाले या करवाने वाले ने इन्हें लिखा हो। तब इन गाथाओं में उल्लिखित समय रचना संवत् नहीं, किन्तु प्रति-लेखन संवत् सिद्ध होता है। कोट्यार्य के उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि, आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति विशेषावश्यक भाष्य है। कोट्यार्य ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि, उस भाष्य की स्वोपज्ञ टीका उनका स्वर्गवास हो जाने के कारण पूर्ण न हो सकी।

अब यदि विशेषा० की यह प्रति शक संवत् 531 में अर्थात् वि० सं० 666 में लिखी गई, तो उसकी रचना का समय वि० 660 के बाद का तो हो ही नहीं सकता। हम यह भी

जानते हैं कि, यह आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति थी। उसकी टीका भी उनके स्वर्गवास के कारण अपूर्ण रही, अतः स्वयं जिन भद्र की भी उत्तरावधि वि० 650 के पश्चात् नहीं हो सकती।

एक परम्परा के आधार पर भी उनकी इस उत्तर अवधि का समर्थन होता है। 'विचार-श्रेणी' के उल्लेख के अनुसार आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास वि० 650 में निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि उसमें वीर निर्वाण 1055 में आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास¹ लिखा है और उसके बाद 65 वर्ष तक जिनभद्र का युगप्रधान-काल बताया है, अतः आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास 1120 वीर-निर्वाण संवत् में निश्चित होता है; अर्थात् वि० 650 में उनका स्वर्गवास हुआ। विचारश्रेणी के अनुसार हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं; विचारश्रेणी का यह मत हमारी उपर्युक्त विचारणा के अनुकूल है, अतः उसे यदि निश्चय-कोटि में नहीं तो सम्भव-कोटि में अवश्यमेव रख सकते हैं।

दूसरी परम्परा के अनुसार आचार्य जिनभद्र वीर निर्वाण 1115 में युगप्रधान बने। इसका उल्लेख धर्मसागरीय पट्टावली में है। इस युगप्रधान-काल को 60 या 65 वर्ष का गिनने से उनका स्वर्गवास विक्रम 705-710 में निश्चित होता है, किन्तु इसके साथ उक्त प्रति के उल्लेख का मेल नहीं बैठता, क्योंकि वह वि० 666 में लिखी गई थी, अतः उसका निर्माण उससे पहले ही पूर्ण हो चुका था। अन्तिम कृति होने के कारण उसके निर्माण और आचार्य की मृत्यु के समय में 10 या 15 वर्ष से अधिक के अन्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी यदि कल्पना करें कि, यह उल्लेख ग्रन्थ के निर्माण का सूचक है तो ऐसी दशा में इस ग्रन्थ की रचना के चालीस वर्ष बाद उनकी मृत्यु माननी पड़ेगी, किन्तु कोट्टार्य का उल्लेख इसमें स्पष्ट रूप से बाधक है, अतः धर्मसागरीय पट्टावली में वर्णित समय से विचारश्रेणी में प्रतिपादित समय अधिक उपयुक्त है; अर्थात् आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास अधिक से अधिक वि० 650 में हुआ, यह मानना अधिक ठीक है।

ऐसी जनश्रुति है कि, आचार्य जिनभद्र की पूर्ण आयु 104 वर्ष की थी। उसके अनुसार उनका समय वि० 545 से 650 तक माना जा सकता है, जब तक इसके विरुद्ध प्रमाण न मिले, तब तक हम आचार्य जिनभद्र के इस समय को प्रामाणिक मान सकते हैं।

उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले उल्लेखों की शोध करने पर भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो इस मान्यता में बाधक हो। सामान्यतः उनके ग्रन्थों में आचार्य सिद्धसेन, पूज्यपाद, दिग्नाग जैसे प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश है, किन्तु वि० 650 के बाद के किसी भी आचार्य का उल्लेख उनके ग्रन्थों में देखने में नहीं आता। जिनदास की चूर्णि में जिनभद्र के मत का उल्लेख मिलता है। इससे भी उक्त समयावधि का समर्थन हो जाता है।

1. आचार्य हरिभद्र के समय के विषय में यह उल्लेख भ्रान्त है। यह बात आचार्य जिनविजयजी ने सप्रमाण अपने लेख में सिद्ध की है, वह उचित है; फिर भी आचार्य जिनभद्र का समय अभ्रान्त हो सकता है।

नन्दी चूर्ण तो निश्चित रूप में 733 वि० में बनी थी और उसमें पग-पग पर विशेषावश्यक का उल्लेख है ।

6. आचार्य जिनभद्र के ग्रन्थ

निम्न लिखित ग्रन्थ आचार्य जिनभद्र के नाम से प्रसिद्ध हैं :—

1. विशेषावश्यक भाष्य—प्राकृत पद्य
2. विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति—संस्कृत गद्य
3. बृहत् संग्रहणी—प्राकृत पद्य
4. बृहत् क्षेत्रसमाप्त—प्राकृत पद्य
5. विशेषणवती—प्राकृत पद्य
6. जीतकल्प सूत्र — प्राकृत पद्य
7. जीतकल्पसूत्र भाष्य—प्राकृत पद्य
8. ध्यानशतक

(1) विशेषावश्यक भाष्य—

यदि इस ग्रन्थ को जैन-ज्ञान-महोदधि की उपमा दी जाए, तो इसमें लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं होगी । इसमें जैन आगमों में बिखरी हुई अनेक दार्शनिक चर्चाओं को सम्यक् और व्यवस्थित रीति से तर्क-पुरस्सर सुव्यवस्थित कर उपस्थित किया गया है । जैन परिभाषाओं को स्थिर रूप प्रदान करने में इस ग्रन्थ को जो श्रेय प्राप्त है, वह शायद ही अन्य अनेक ग्रन्थों को एक साथ मिलाकर मिल सके । जब से इस महान् ग्रन्थ की रचना हुई, तब से जैन आगम की व्याख्या करने वाला कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं बना जिसमें इस ग्रन्थ का आधार न लिया गया हो । इस से हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि इस ग्रन्थ का महत्व कितना है । इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण ऐसे हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान हैं । पाँच ज्ञान चर्चा, गणधरवाद, निह्लववाद, नयाधिकार, नमस्कार प्रकरण, सामायिक विवेचन तथा अन्य ऐसे अनेक प्रकरण हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ का उद्देश्य पूरा करते हैं । आचार्य जब किसी भी विषय की चर्चा का आरम्भ करते हैं, तब उस की गहराई में तो जाते ही हैं, साथ ही उसका विस्तृत वर्णन करने में भी संकोच नहीं करते । फलतः किसी भी विषय की गम्भीर व विस्तृत चर्चा एक ही स्थान पर पाठकों को उपलब्ध हो जाती है ।

यह ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति की टीका के रूप में लिखा गया है, अतः इसका मूल के अनुसार होना स्वाभाविक है, किन्तु आचार्य वस्तु-संकलन में इतने कुशल हैं कि, मूल की स्पष्टता के आधार पर वे अनेक सम्बद्ध विषयों की चर्चा कर देते हैं । इस ग्रन्थ के परिचय के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के लिखे जाने की आवश्यकता है, अतः यहाँ उसका अधिक विस्तार करना अनावश्यक समझ कर सामान्य परिचय देकर ही सन्तोष मानना उचित है ।

इस भाष्य की 3606 गाथाएँ हैं, उनकी टीका स्वयं आचार्य ने संस्कृत में लिखी थी । वह ग्रन्थ के आरम्भ से छठे गणधर तक है, उनके स्वर्गवास के कारण शेष टीका अधूरी रह गई, अतः उसे आचार्य कौटार्य ने पूरा किया ।

दूसरी टीका कोट्याचार्य की है और तीसरी मलधारी हेमचन्द्र की। प्रस्तुत अनुवाद इसी तीसरी टीका के आधार पर तैयार किया गया है।

(2) विशेषावश्यक-भाष्य स्वोपज्ञ-वृत्ति

आचार्य ने यह टीका संस्कृत में लिखी है। प्रायः प्राकृत गाथाओं का वक्तव्य संस्कृत भाषा में लिख दिया गया है और यत्र-तत्र कुछ अधिक चर्चा भी की है। यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है, अतः साधारण पाठक मूल का तात्पर्य नहीं समझ सकते; इसीलिए आचार्य कोट्याचार्य तथा मलधारी हेमचन्द्र ने इस पर उत्तरोत्तर विस्तृत टीका लिखना उचित समझा। इस टीका का विशेष परिचय मुनि श्री पुण्यविजयजी ने ही कुछ समय पूर्व दिया है और उन्होंने ही सर्वप्रथम उसकी शोध की है।

आचार्य ने इस टीका में आचार्य सिद्धसेन के नाम का उल्लेख किया है, अतः अब यह बात निश्चित हो जाती है कि अन्य टीकाकारों ने जिन कुछ मतों को सिद्धसेन के मत के रूप में माना है, उनका आधार प्रस्तुत टीका ही है¹। उनकी स्वोपज्ञ टीका से यह भी सिद्ध होता है कि, उन्होंने स्वयं ही इस भाष्य का नाम विशेषावश्यक² रखा। गाथा 1863 तक आचार्य ने व्याख्या की, तत्पश्चात् उनकी मृत्यु हो जाने के कारण व्याख्या अधूरी रह गई³।

(3) बृहत् संग्रहणी

बृहत् संग्रहणी के विवरण के मंगलाचरण प्रसंग पर आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ के कर्ता के रूप में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का उल्लेख अत्यन्त आदर-पूर्वक किया है⁴, अतः इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि इस कृति के कर्ता आचार्य जिनभद्र हैं। आचार्य जिनभद्र ने स्वयं इस ग्रन्थ का नाम संग्रहणी⁵ लिखा है, किन्तु अन्य संग्रहणियों से पृथक् करने के लिए इसे बृहत् संग्रहणी कहा जाता है। इसमें चारों गति के जीवों की स्थिति आदि का संग्रह किया गया है, अतः इस ग्रन्थ का नाम संग्रहणी पड़ा। प्रारम्भ की दो गाथाओं में आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का संग्रह किया है; उससे ज्ञात होता है कि, देवों व नारकों की

1. गाथा 65 की व्याख्या देखें।

2. गाथा 1442 की व्याख्या देखें।

3. निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्यं किल दिवंगताः पूज्याः ।
अनुयोगमार्यं (र्गं) देशिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः ॥
तानेव प्रष्पित्यातः परमवि (त्र) शिष्टविवरणं क्रियते ।
कोट्याचार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य ॥ गाथा 1863.

4. नमत जिनबुद्धितेजःप्रतिहतनिःशेषकुमघनतिमिरम् ।
जिनवचनैकनिषण्णं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणम् ॥
यामकुरुत संग्रहणिं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यः ।
स्तस्या गुरूपदेशानुसारतो वल्मि विवृतिमहम् ॥

5. 'ता संग्रहणि त्ति नामेणं' ॥ गा० 1.

स्थिति, भवन तथा अवगाहना, मनुष्यों व तिर्यचों के देह-मान तथा आयु प्रमाण, देवों और नारकों के उपपात तथा उद्वर्तन के विरहकाल, संख्या, एक समय में कितनों का उपपात तथा उद्वर्तन होता है और समस्त जीवों की गति व आगति का इस ग्रन्थ में क्रमशः वर्णन किया गया है¹।

वस्तुतः यह ग्रन्थ भूगोल व खगोल के अतिरिक्त देवों तथा नारकों के विषय में संक्षेप में जैन-मन्तव्य का प्रतिपादन करता है। यही नहीं, मनुष्यों तथा तिर्यचों के सम्बन्ध में भी अनेक जातव्य बातें इसमें संगृहीत हैं। वास्तविक रूप में इस ग्रन्थ को जीव व जगत् विषयक मन्तव्यों का संग्राहक ग्रन्थ कहना चाहिए। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की कलश-रूप जो टीका लिखी है, उससे इस ग्रन्थ का स्थान सहज ही जीव व जगत् सम्बन्धी जैन मन्तव्यों के एक विश्वकोश का हो जाता है। अन्त में आचार्य ने लिखा है कि, इसमें जो कुछ प्रतिपादित किया गया है, वह मूल श्रुत-ग्रन्थों और पूर्वाचार्यों द्वारा कृत ग्रन्थों के आधार पर स्व-मति से उद्धृत है। इसमें यदि कोई त्रुटि हो तो श्रुतधर और श्रुतदेवी क्षमा करें²।

इस ग्रन्थ की कुल गाथाएँ 367 हैं, किन्तु आचार्य मलयगिरि के अनुसार उनमें कुछ अन्यकृत³ और कुछ मतान्तर सूचक प्रक्षिप्त⁴ गाथाएँ भी हैं। उन्हें निकाल कर मूल गाथाओं की संख्या 353 है। प्रक्षेप की चर्चा के अवसर पर यह भी बताया गया है कि आचार्य हरिभद्र ने भी इसकी एक टीका लिखी थी।

(4) बृहत् क्षेत्रसमास :

आचार्य मलयगिरि ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में और अन्त में क्षेत्रसमास को आचार्य जिनभद्र की कृति बताया है। बृहत् क्षेत्रसमास के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र-समास कृति आचार्य जिनभद्र की है, इसमें सन्देह का स्थान नहीं है। आचार्य जिनभद्र ने स्वयं इस ग्रन्थ का नाम⁵ समय-क्षेत्र-समास अथवा क्षेत्र-समास प्रकरण⁶ सूचित किया है। आचार्य मलयगिरि ने मंगलाचरण के प्रसंग पर आरम्भ में इसका नाम क्षेत्र-समास सूचित किया है। दूसरे क्षेत्र-समास से इसके पृथक्करण के लिए तथा इसके बृहद् होने के कारण यह ग्रन्थ बृहत् क्षेत्र-समास के नाम से विशेषरूपेण प्रसिद्ध है, तदपि आचार्य ने स्वयं इसका जो 'समय-क्षेत्र-समास' नाम प्रदान किया है, वह भी सार्थक है। कारण यह है कि इसमें जितने क्षेत्र में सूर्यादि की गति के आधार पर

1. गाथा 2 व 3 देखें।
2. गाथा 367
3. गाथा 9, 10, 15, 16, 68, (सूर्य प्र०), 69 (सूर्य प्र०), 72 (सूर्य प्र०)
4. अथेयं प्रक्षेपगाथेति कथमवसीयते ? उच्यते, मूलटीकाकारेण हरिभद्रसूरिणा। लेशतोऽप्यस्या असूचनात्। एवमुत्तरा अपि मतान्तरप्रतिपादिका गाथाः प्रक्षेपगाथा अवसेयाः। मलयगिरि टीका गाथा 73 से 79 तक की गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं।
5. गाथा 1,1;76.
6. गाथा 50, 75

समय की गणना की गई है, उतने समय क्षेत्र के विषय में ही—अर्थात् मनुष्य क्षेत्र अथवा ढाई द्वीप के विषय में संक्षिप्त कथन है, किन्तु इसे संक्षेप में 'क्षेत्र-समाप्त' कहते हैं।

इस ग्रन्थ में जम्बू द्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि और पुष्करवर द्वीपार्ध नामक पाँच प्रकरणों में इन द्वीपों तथा समुद्रों का वर्णन किया गया है। जम्बू द्वीप का निरूपण करते समय सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों की गति के विषय में विस्तार-पूर्वक प्ररूपणा की गई है। लवणोदधि के वर्णन के समय अन्तर-द्वीपों की भी विस्तृत प्ररूपणा है। यह समझना चाहिए कि आचार्य ने इस ग्रन्थ में जैन भूगोल और खगोल का समावेश किया है, साथ ही इसमें गणिता-नुयोग का भी वर्णन है।

जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर ने इस ग्रन्थ को आचार्य मलयगिरि की टीका के साथ प्रकाशित किया है, उसमें कुल 656 गाथाएँ हैं। जिस गाथा में ग्रन्थ की गाथा-संख्या का उल्लेख है, उस गाथा¹ में एक पाठान्तर के अनुसार 655 गाथाओं का निर्देश है, किन्तु आचार्य मलयगिरि ने 637 गाथाओं का पाठ स्वीकृत किया है, फिर भी उन्होंने जो व्याख्या की है, वह 656 गाथाओं की है। ग्रन्थ-प्रशस्ति-रूप अन्तिम गाथा को निकाल कर पाठान्तर-निदिष्ट शेष 655 गाथाएँ मूल-ग्रन्थ की मानी जा सकती हैं। आचार्य मलयगिरि ने किसी भी गाथा के सम्बन्ध में प्रक्षेप की सूचना नहीं दी है। ऐसा क्यों हुआ? यह अनुमान करना कठिन है। सम्भव है कि मूल गाथाएँ 637 ही हों, बाद में उनमें प्रक्षेप हुआ हो, परन्तु आचार्य मलयगिरि उस प्रक्षेप का पता न लगा सके हों। उन्होंने बिना गिने ही जो पाठ मिला, उसकी टीका लिख दी, परन्तु गाथा का पाठान्तर सम्भवतः उनके ध्यान में नहीं आया; फिर भी यह पाठान्तर उपलब्ध है, अतः प्रक्षेप की सम्भावना अग्रथार्थ नहीं है।

रचना के उपरान्त इस ग्रन्थ का अत्यधिक प्रचार हुआ। यही कारण है कि इस ग्रन्थ के अनुकरण पर अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं और इस पर अनेक टीकाएँ भी रची गई हैं।

जिन रत्न कोष में इस ग्रन्थ की दस टीकाओं का उल्लेख है :—

1. आचार्य हरिभद्र कृत वृत्ति—यह वृत्ति प्रसिद्ध याकिनीसूनु हरिभद्र की नहीं, किन्तु बृहद्गच्छ के मरुदेव—जिनदेव उपाध्याय के शिष्य हरिभद्र कृत है। यह संवत् 1185 में लिखी गई²।

2. सिद्धसेनसूरि कृत वृत्ति—उपकेश गच्छ के देवगुप्तसूरि के शिष्य सिद्धसेनसूरि ने 3000 श्लोक प्रमाण वृत्ति की रचना संवत् 1192 में पूर्ण की।

3. आचार्य मलयगिरि कृत वृत्ति—यह वृत्ति प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने लिखी है। इसका प्रमाण 7887 श्लोकों का है। आचार्य मलयगिरि प्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य के समकालीन थे।

4. विजयसिंह कृत वृत्ति—इसकी रचना संवत् 1215 में हुई। इसका परिमाण 3256 श्लोक का है। श्री देसाई का अनुमान है कि ये विजयसिंह वही हैं जिन्होंने जम्बूद्वीप

1. गाथा 5.75 देखिये।

2. जैन साहित्य वो संक्षिप्त इतिहास पृ० 250

समास की टीका लिखी है और वे चन्द्रगच्छीय अभयदेव¹परम्परा में—धनेश्वर—अजितसिंह—वर्धमान—चन्द्रप्रभ—भद्रेश्वर—हरिभद्र—जिनचन्द्र के शिष्य थे ।

5. देवानन्द कृत वृत्ति—यह वृत्ति पद्मप्रभ के शिष्य देवानन्द ने संवत् 1455 में 3332 श्लोक प्रमाण लिखी ।

6. देवभद्र कृत वृत्ति—संवत् 1233 में देवभद्र ने एक हजार श्लोक प्रमाण इस वृत्ति की रचना की ।

7. आनन्दसूरि कृत वृत्ति—देवभद्र के शिष्य जिनेश्वर के शिष्य आनन्दसूरि ने इसकी रचना की । इसका प्रमाण 2000 श्लोक है ।

8-10. वृत्तियाँ—ये किन की हैं, ज्ञात नहीं, किन्तु मंगलाचरणों से पता चलता है कि पूर्वोक्त वृत्तियों से ये भिन्न हैं ।

(5) विशेषणवती² :

आचार्य जिनभद्र तर्क की अपेक्षा आगम को अधिक महत्व देते थे, अतः आगम-गत असंगतियों का निराकरण करना उनका परम कर्तव्य था । विशेषणवती ग्रन्थ लिखकर उन्होंने अपने इस कर्तव्य का पालन किया । उन्होंने असंगति का निराकरण विशेष प्रकार की अपेक्षा को सन्मुख रखकर किया है । अर्थात् एक ही विषय में दो विरोधी मत उपस्थित हों, तब उन दोनों की विशेषता किस बात में है, यह बताकर असंगति का निवारण करते समय उन मन्तव्यों को विशेषण से विशिष्ट करना पड़ता है । ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम विशेषणवती पड़ा । पुनश्च आगम-गत असंगतियों के उपरान्त जैनाचार्यों के ही कतिपय ऐसे मन्तव्य थे जो आगम की मान्यता के विरुद्ध थे । उनका आचार्य जिनभद्र ने इस ग्रन्थ में निराकरण करते हुए और आगम-पक्ष की स्थापना की है । इस ग्रन्थ में जिन विषयों की चर्चा की गई है, उनमें से कुछ ये हैं :—

प्रारम्भ में ही उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल के माप की चर्चा है । भगवान् महावीर की ऊँचाई जिस शास्त्र में बताई गई है, उसके साथ इन अँगुलों के माप का मेल नहीं है । ऐसी स्थिति में इसका समाधान कैसे करना चाहिये, यह प्रश्न उपस्थित कर उसका अपेक्षा विशेष से समाधान किया है³ । कुलकरोँ की शास्त्रों में जो सात, दस और पनरह संख्या दृष्टिगोचर होती है, उसका भी संक्षेप व विस्तार-दृष्टि से विवेचन किया है⁴ । तिर्यच में चारित्र नहीं है, यह बात आगम में बताई गई है, फिर भी तिर्यच को महाव्रत आरोपण करने के उदाहरण शास्त्र में मिलते हैं । इस विरोध का परिहार यह कह कर किया है कि महाव्रता-

1. जैन साहित्य तो संक्षिप्त इतिहास पृ० 278
2. रतलाम की ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेड़ी की ओर से वि० सं० 1984 में प्रत्याख्यान स्वरूपादि पाँच ग्रन्थ एक साथ प्रकाशित हुए हैं, उनमें एक यह 'विशेषणवती' है ।
3. गाथा 1 से
4. गाथा 18 से

रोजग होने पर भी चारित्रिक परिणामों का अभाव होता है¹। विग्रहगति के चार व पाँच समय के निर्देश की असंगति का भी निराकरण किया है²। एक स्थान पर ऋषभ के सात भव और अन्यत्र बारह भव बताये हैं, उसका स्पष्टीकरण भी संक्षेप विस्तार से समझ लेना चाहिए, यह बताया गया है³। सिद्धों को आदि अनन्त माना है, किन्तु सिद्धि को कभी भी सिद्धों से शून्य स्वीकार नहीं किया गया, अतः या तो सिद्धों की आदि नहीं मानी जा सकती, अथवा सिद्धि को किसी समय सिद्ध-शून्य भी मानना पड़ेगा। आचार्य ने इस समस्या का यह समाधान किया है कि जिस प्रकार जीव के समस्त शरीर सादि हैं, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि कौन-सा शरीर आदि अथवा सर्वप्रथम है, क्योंकि काल अनादि है और जीव के शरीर अनादि-काल से जीव के साथ सम्बद्ध होते आये हैं; अथवा सभी रातों और सभी दिन सादि हैं, फिर भी हम यह नहीं बता सकते कि अमुक दिन या अमुक रात सर्वप्रथम थी, उसी प्रकार सिद्धों के विषय में यह समझना चाहिए कि सभी सिद्ध सादि हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा सिद्ध सर्वप्रथम था; अतएव सिद्धों के सादि होने पर भी सिद्धि को कभी भी सिद्धि-शून्य नहीं माना जा सकता⁴। सिद्धान्त में जिस उत्कृष्ट आयु और ऊँचाई का निर्देश है, उसके साथ बामुदेव, मरुदेवी और कुर्मापुत्र आदि की आयु व ऊँचाई का मेल नहीं है। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि तीर्थंकर की जो उत्कृष्ट आयु और ऊँचाई होती है, वह सामान्य मनुष्य की नहीं होती। अथवा यह समझना चाहिए कि कुर्मापुत्रादि सम्बन्धी आयु आदि आश्चर्य है, अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादित आयु और ऊँचाई सामान्य रूप से है, विशेष रूप से नहीं⁵। वनस्पति के जीवों का संख्यातीत पुद्गल परावर्त संसार होता है, तब मोक्ष जाने वाला मरुदेवी का जीव उपान्त्य भव में वनस्पति रूप में किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में बताया है कि उक्त स्थिति कायस्थिति की अपेक्षा से समझनी चाहिए⁶। चतुर्दश पूर्व के विच्छेद के साथ ही प्रथम संघयण विच्छिन्न होता है और प्रथम संघयण के बिना सर्वार्थ में जाना सम्भव नहीं, यह बात सिद्धान्त में प्रतिपादित है। ऐसी अवस्था में वज्र, प्रथम संघयण के अभाव में सर्वार्थ में कैसे गये? इसका समाधान यह कह कर किया है कि वज्र सर्वार्थ सिद्ध में गये हैं, ऐसा उल्लेख आगम में नहीं है, अतः इसमें विरोध की कोई बात नहीं है⁷।

आगम में यह बात बार-बार कही गई है कि विभंगजानी को भी अवधि-दर्शन होता है, तो कर्मप्रकृति में वर्णित अवधि-दर्शन के निषेध के साथ इसकी संगति कैसे होगी? इसका समाधान अपेक्षा विशेष से किया गया है⁸। देवकृत अतिशय 34 से भी अधिक हैं तो आगम में

1. गाथा 21 से
2. गाथा 23 से
3. गाथा 31 से
4. गाथा 35 से
5. गाथा 38 से 45
6. गाथा 46 से
7. गाथा 101-103
8. गाथा 104-106

इन गाथाओं का अर्थ मैंने अपनी समझ से किया है, सम्भव है उसमें भूल हों।

केवल 34 का ही क्यों निर्देश है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 34 का कथन नियत अतिशयोक्ति की अपेक्षा से है । अन्य अनियत कितने ही हो सकते हैं¹ । आचार्य सिद्धसेन का मत है कि केवली में ज्ञान-दर्शनोपयोग का भेद ही नहीं है । दूसरे आचार्यों के मत में केवली में ज्ञान-दर्शन का उपयोग युगपद् है, किन्तु आचार्य जिनभद्र की मान्यता है कि आगम में ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्रमिक लिखा है । सिद्धसेन आदि आचार्य आगम-पाठों का अपनी पद्धति से अर्थ कर उनकी संगति का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु आचार्य जिनभद्र ने आगम के अनेक पाठ तथा मन्तव्य उपस्थित कर विरोधी मतों की समालोचना की है और बताया है कि पूर्वापर-संगति की दृष्टि से आगम के प्रमाणानुसार क्रमिक उपयोग ही मानना चाहिए² । इस ग्रन्थ में यह प्रकरण सबसे लम्बा है और लगभग एक सौ गाथाओं में इसकी चर्चा है । इस चर्चा के उपसंहार में आचार्य ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है और यह स्पष्ट किया है कि उनकी बुद्धि स्वतन्त्र नहीं किन्तु आगम-तन्त्र से बन्धी हुई है । इन गाथाओं से आचार्य जिनभद्र की प्रकृति का ठीक-ठीक परिचय मिल जाता है । वे कहते हैं कि मुझे क्रमिक उपयोग के विषय में कोई एकान्त अभिनिवेश नहीं, जिसके आधार पर मैं किसी भी प्रकार उस मत की स्थापना का प्रयत्न करूँ³; तथापि मुझे यह कहना चाहिए कि जिनमत को अन्यथा करने की मुझ में शक्ति नहीं है । पुनश्च, आगम और हेतुवाद की भयादा भिन्न है, अतः उनका कथन है कि तर्क⁴ को एक ओर रखकर मात्र आगम का ही अवलम्बन करना चाहिए और तदनन्तर यह विचार करना चाहिए कि युक्त क्या है और अयुक्त क्या है ? अर्थात् युक्तियों को आगम का अनुकरण करना चाहिए, न कि जिस विषय का युक्ति से पहले विचार कर लिया जाये, उसके समर्थन में आगमों को रखा जाये⁵ । उन्होंने यह भी कहा है कि आगम में जो कुछ कहा है वह अहेतुक

1. गाथा 109-110

2. गाथा 153-249

3. ण वि अभिनिवेशबुद्धी अमहं एगतरौवभोगम्मि ।

तह वि भणिमो न तीरइ जं जिणमयमण्णहा काउं । गाथा 247

4. मोत्तूण हेउवायं आगममेत्तावलंबिणो होउं ।

सम्ममणुचितिणज्जं कि जुत्तमजुत्तमेयं ति ।

5. यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सिद्धसेन दिवाकर ने हेतुवाद और आगमवाद के पारस्परिक विरोध का परिहार दोनों बादों के विषय को पृथक् करके किया है । (देखें-सन्मतितर्क, काण्ड 3, गाथा 43-45, गुजराती विवेचन) । हेतु-अहेतुवाद का संघर्ष मात्र एक परम्परा में ही नहीं है । ऐसा संघर्ष प्रत्येक दर्शन परम्परा में उत्पन्न होता ही है । उदाहरणतः पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों श्रुति या आगम का ही मुख्य आश्रय लेते हैं । वे तर्क का उपयोग आगम के समर्थन के लिए ही करते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं । इसके विपरीत सांख्य जैसे दर्शन मुख्यतः हेतुजीवी हैं, वे तर्क-सिद्ध वस्तु की स्थापनार्थ ही श्रुति का अवलम्बन लेते हैं, ऐसा संघर्ष अनिवार्य है, इसीलिए जैनआचार्यों ने इसका समाधान अपने-अपने ढंग से प्रदर्शित किया है; उसमें क्षमाश्रमण जिनभद्र का पहला स्थान है और सिद्धसेन का दूसरा ।

अथवा निराधार तो नहीं है, अतः हेतु से आगम का समर्थन करना चाहिए, किन्तु हेतु से आगम-विरोधी वस्तु का प्रतिपादन कदापि न करना चाहिए¹। इसी विषय को अन्य प्रसंग पर और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि आप ऐसा अभिनिवेश क्यों रखते हैं कि आपको जो तर्क-संगत प्रतीत हो वही जिनमत होना चाहिए ? तर्क में सर्वज्ञ अथवा जिन के मत का निवेदन करने का सामर्थ्य नहीं है, अतः तर्क को आगम का अनुसरण करना चाहिए, आगम को तर्क का नहीं²।

इस छोटे से प्रकरण ग्रन्थ में जिन अनेक आगम और आगमेतर प्रकरणों के मतों का समन्वय किया गया है, वे आगम और आगमेतर ग्रन्थ ये हैं :—

आगम—

प्रजापना³, स्थानांग⁴, प्रज्ञप्ति (भगवती)⁵, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति⁶, जीवाभिगम-प्रज्ञप्ति⁷, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति⁸, सूर्य प्रज्ञप्ति⁹, आवश्यक¹⁰, सामायिक¹¹, चूर्ण आचारप्रणिधि¹², सोमिल पृच्छा (भगवती)।

आगमेतर—

कर्मप्रकृति¹³, सयरी¹⁴, वसुदेव चरित्र¹⁵

(6) जीतकल्प सूत्र :

आचार्य जिनभद्र ने इस ग्रन्थ की रचना 103 गाथाओं में की है और उसमें जीत-व्यवहार के आधार पर दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त वर्णन है (गा० 1)। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध मोक्ष के कारणभूत चारित्र से है, क्योंकि चारित्र की शुद्धि का मुख्य आधार

1. गाथा 249
2. गाथा 274
3. गाथा 220, 275
4. गाथा 18
5. गाथा 13, 18, 254, 220, 172
6. गाथा 9
7. गाथा 13, 242
8. गाथा 13
9. गाथा 17 का उत्थान
10. गाथा 253
11. गाथा 31
12. गाथा 252
13. गाथा 83, 85, 104, 126
14. गाथा 90-92
15. गाथा 31

प्रायश्चित्त है, अतः मोक्षार्थियों के लिए प्रायश्चित्त का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बताकर (गा० 2-3) आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचनादि दस भेद बताये हैं (गा० 4) और तदनन्तर उन्होंने प्रत्येक प्रायश्चित्त के योग्य अपराध-स्थानों का निर्देश किया है—अर्थात् कौन-सा अपराध होने पर क्या प्रायश्चित्त लेना चाहिए, इसका निर्देश किया है (गा० 5-101)। अन्त में उन्होंने कहा है कि अनवस्थाप्य तथा पारांचिक नाम के दो प्रायश्चित्त चौदह पूर्वधारियों के सत्ता-काल पर्यन्त दिये जाते थे—अर्थात् आचार्य भद्रबाहु के समय तक इनका व्यवहार था, उसके बाद उनका विच्छेद हो गया (गा० 102)। उपसंहार करते हुए बताया गया है कि इस जीतकल्प की रचना सुविहितों पर अनुकम्पा की दृष्टि से की गई है। इस शास्त्र का उपयोग गुणों की परीक्षा कर के करना चाहिए।

(7) जीतकल्प भाष्य :

आचार्य जिनभद्र ने अपने 103 गाथा परिमाण वाले मूल जीतकल्प सूत्र पर 2606 गाथाओं का भाष्य लिखा है। इसमें मूल-सम्बद्ध अनेक विषयों की चर्चा करके आचार्य ने जीत-व्यवहार शास्त्र का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण छेदशास्त्र का रहस्य प्रकट किया है।

मूल-सूत्र के एक-एक शब्द की व्याख्या प्रथम पर्याय बताकर और तत्पश्चात् भावार्थ का प्रदर्शन कर की गई है। आचार्य को इससे भी सन्तोष न हुआ, अतः अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बताकर भी इष्टार्थ की सिद्धि की है। भाष्य का उद्देश्य केवल अर्थ-प्रदर्शन नहीं अपितु उसमें प्रतिपादित विषयों से सम्बद्ध अनेक उपयोगी विषयों का स्पष्टीकरण करने में भी आचार्य ने संकोच का अनुभव नहीं किया और इस प्रकार इस ग्रन्थ को उन्होंने एक शास्त्र का रूप प्रदान कर दिया।

आचार्य ने मूल में (गा० 1) प्रवचन को नमस्कार किया है, अतः भाष्य में सर्वप्रथम प्रवचन शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है (गा० 1-3) और फिर प्रायश्चित्त शब्द की व्याख्या की है कि—

पावं छिवति जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णते तेणं ।

पायेण वा वि चित्तं सोहयई तेण पच्छित्तं ॥ गा० 5 ॥

संस्कृत शब्द प्रायश्चित्त के प्राकृत में दो रूप प्रचलित हैं—पायच्छित्त और पच्छित्त। अतः दोनों शब्दों की स्वतन्त्र व्युत्पत्ति दी गई है—जो पाप का छेद करे वह पायच्छित्त और जिसके द्वारा प्रायः चित्त शुद्ध होता है वह पच्छित्त। ये दोनों व्युत्पत्तियाँ शब्द रूपानुसारी हैं। इन शब्दों के मूल में कौन-सी धातु थी, इसको लक्ष्य में रखकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति करने में टीकाकार कितने स्वतन्त्र हैं। प्रथम गाथा-गत जीत-व्यवहार शब्द की व्याख्या के प्रसंग में (गा० 7) आगम, श्रुत आदि सब मिलाकर पाँच व्यवहारों की विस्तार से विवेचना की है (गा० 8-705)। जीत-व्यवहार की व्याख्या यह की है कि, जो व्यवहार परम्परा प्राप्त हो, महाजन सम्मत हो और बहुश्रुतों ने जिसका बार-बार सेवन किया हो, परन्तु उनके द्वारा जिसका निवारण न किया गया हो, वह जीत-व्यवहार कहलाता है (गा० 675-677)। आगम, श्रुत, आज्ञा अथवा धारणा में से जिस व्यवहार का एक भी आधार न हो, वह जीत-व्यवहार कहलाता है, क्योंकि उसके मूल में

आगमादि कोई व्यवहार नहीं, अपितु केवल परम्परा ही होती है (गा० 678)। जो जीत-व्यवहार चारित्र्य की शुद्धि करता है, उसी का आचरण करना चाहिए और जो जीत आचार-शुद्धि का कारण न हो उसका आचरण नहीं करना चाहिए (गा० 692)। यह भी सम्भव है कि ऐसा भी कोई जीत-व्यवहार हो जिसका आचरण केवल एक व्यक्ति ने किया हो, फिर भी यदि वह व्यक्ति संवेग-परायण हो, संयमी हो और वह आचार-शुद्धि कर सिद्ध हुआ हो, तो ऐसा जीत-व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए (गा० 694)। इस प्रकार प्रथम मूल गाथा की व्याख्या के प्रसंग पर पाँच व्यवहारों की व्याख्या करने में ही 705 भाष्य गाथाओं की रचना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने पाँच व्यवहारों की ही व्याख्या नहीं की, किन्तु अनेक प्रासंगिक विषयों का विशद विवेचन किया है। आगम व्यवहार के स्पष्टीकरण में पाँच ज्ञानों का संक्षेप में विवेचन है (गा० 11-106)। उसमें विशेषतः 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति में नैयायिकादि अन्य दर्शन-सम्मत 'अक्ष' शब्द के इन्द्रिय अर्थ का निराकरण किया है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को आचार्य ने प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्युत लैंगिक¹ कहा है (गा० 14-18)

केवलज्ञान के प्रसंग में :—

सव्वेहि जियपदेसेहि जुगवं जाणति पासई ।
 वंसणेण य णाणेणं पईवो अब्भमस्स वा । 92 ।
 अंबरे व कतो संतो तं सव्वं तु पगासतो ।
 एवं तु उवणतो हो त्ति संभिण्णं तु ज वयं । 93 ।

इन गाथाओं से वाचकों को सहसा यह प्रतीत हो सकता है कि आचार्य युगपदुपयोगवादी हैं, परन्तु वस्तुतः वे अपने विशेषावश्यक भाष्य² तथा विशेषणवती ग्रन्थों के आधार पर क्रमक्रियोपयोगवादी ही हैं। अतः इन गाथाओं के 'जुगवं' शब्द का सम्बन्ध 'जुगवं जाणई, जुगवं पासई' इस प्रकार प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए, जिससे आचार्य का तात्पर्य सुगृहीत हो सके। पूज्य मुनि श्री पुण्यविजयजी ने जीतकल्प की गाथा 60 के आधार पर यह बात सिद्ध³ की है कि आचार्य ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना इस ग्रन्थ से पहले की थी। यदि विशेषावश्यक भाष्य की रचना के उपरान्त उनके मत में परिवर्तन हुआ होता, तो वे प्रस्तुत जीतकल्प भाष्य में इस प्रसंग पर विस्तार से इस विषय की चर्चा करते तथा विशेषावश्यक भाष्य में दी गई युक्तियों का खण्डन कर केवली के युगपदुपयोग की सिद्धि करते। आचार्य ने ऐसा नहीं किया, अतः उक्त गाथाओं में 'जुगवं' शब्द का सम्बन्ध पूर्वोक्त प्रकार से करना उचित है।

ज्ञान विवेचन के अनन्तर प्रायश्चित्त देने वाले की योग्यता तथा अयोग्यता का विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है (गा० 149-256)।

1. विशेषावश्यक के प्रारम्भ में पाँचों ज्ञानों की चर्चा अति विस्तार-पूर्वक की गई है। गाथा 91 से
2. विशेषावश्यक भाष्य गाथा 3089 से
3. जीतकल्प भाष्य की प्रस्तावना देखें

वर्तमान काल में ऐसी योग्यता वाले महापुरुष नहीं हैं, तो प्रायश्चित्त कैसे दिया जाए ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यह सत्य है कि अधुना केवली ओर 14 पूर्वधारी नहीं हैं, परन्तु प्रायश्चित्त की विधि का मूल प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में है और उसके आधार¹ पर कल्प प्रकल्प तथा व्यवहार इन तीन ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। वे आज भी विद्यमान हैं और उनके ज्ञाता भी; अतः इन ग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त का व्यवहार अत्यन्त सरलता से हो सकता है। इससे चारित्र्य की शुद्धि भी हो सकती है फिर उसका आचरण क्यों न किया जाए ? (गा० 254-273)

प्रायश्चित्त देते हुए, देने वाले को दया-भाव रखना चाहिए और जिसको प्रायश्चित्त देना हो, उसकी शक्ति का भी विचार करना चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रायश्चित्त करने वाला संयम में स्थिर होता है, अन्यथा प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह शुद्धि के स्थान पर संयम का ही सर्वथा त्याग कर देता है। किन्तु दया-भाव इतना महान् न होना चाहिए कि प्रायश्चित्त देने का विचार ही छोड़ दिया जाए। ऐसा करने से दोष-परम्परा की वृद्धि होती है और चारित्र्य-शुद्धि नहीं हो पाती (गा० 307)। प्रायश्चित्त न देने से चारित्र्य स्थिर नहीं रहता और उसके अभाव में तीर्थ, चारित्र्य-शून्य हो जाता है। तीर्थ में चारित्र्य न हो तो निर्वाण की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? निर्वाण-लाभ के अभाव में कोई दीक्षा ही क्यों लेगा ? यदि कोई दीक्षित साधु ही न होगा, तो तीर्थ का व्यवहार ही शक्य नहीं, अतः तीर्थ की स्थिति-पर्यन्त प्रायश्चित्त की परम्परा जारी रखनी ही चाहिए। (315-317)

प्रसंगवश भक्त-परिज्ञा (322-511), इंगिनीमरण (512-515) और पादपोषमन (516-559) नामक तीन प्रकार की मारणान्तिक साधना का विवेचन इसलिए किया गया है कि वर्तमान काल में भी ऐसी कठिन तपस्या का आचरण करने वाले विद्यमान हैं। सामान्य प्रायश्चित्तों का आचरण तो उसकी अपेक्षा अत्यन्त सरल है, अतः उसका अवलम्बन विच्छिन्न क्यों माना जाए ?

मूल की प्रथम गाथा के भाष्य में आचार्य ने इसके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ प्रासंगिक विषयों की विशद चर्चा की है। इसके बाद मूलानुसारी भाष्य है अर्थात् मूल में जहाँ साधुओं से होने वाले दोष गिनाए हैं और उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तों का विधान है, वहाँ सर्वत्र मूल के एक-एक शब्द की व्याख्या के पश्चात् आवश्यक-सम्बद्ध विषयों की चर्चा भी आचार्य ने भाष्य में की है और भाष्य को एक सुविस्तृत एवं विशद ग्रन्थ का रूप दिया है।

मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने भाष्य सहित जीतकल्प का सम्पादन किया है और उसे श्री बबलचन्द केसवलाल मोदी ने अहमदाबाद से प्रकाशित किया है।

1. कल्प, बृहत्कल्प के नाम से ज्ञात ग्रन्थ है; प्रकल्प अर्थात् निशीथ; तथा व्यवहार यह व्यवहार-सूत्र नाम का ग्रन्थ है, ये तीनों आज भी विद्यमान हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने जीतकल्प भाष्य की चूर्णि¹ लिखी है। यह सिद्धसेन प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं, क्योंकि दिवाकर आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। इस चूर्णि की विषम-पद-व्याख्या श्रीचन्द्रसूरि ने वि० 1227 में पूर्ण की थी, अतः सिद्धसेनसूरि का समय वि० 1227 से पूर्व होना चाहिए।

आचार्य जिनभद्र के बाद होने वाले तत्त्वार्थ-भाष्य-व्याख्याकार सिद्धसेन गणि तथा उपमिति भवप्रपंचा कथा के लेखक सिद्धर्षि अथवा सिद्ध-व्याख्यातिक ये दो प्रसिद्ध आचार्य तो इस चूर्णि के लेखक ज्ञात नहीं होते, क्योंकि चूर्णि अत्यन्त सरल भाषा में लिखी हुई है तथा उक्त दोनों आचार्यों की शैली अत्यन्त क्लिष्ट है, फिर इन दोनों आचार्यों की कृतियों में इस चूर्णि की गिनती भी नहीं की जाती, अतः प्रस्तुत सिद्धसेन इनसे भिन्न ही होने चाहिए। मेरा अनुमान है कि सम्भवतः आचार्य जिनभद्र के बृहत् क्षेत्रसमास की वृत्ति के रचयिता जो सिद्धसेनसूरि हैं वही इस चूर्णि के कर्ता हैं। कारण यह है कि उन्होंने उक्त वृत्ति वि० सं० 1192 में पूर्ण की थी²। अतः इस चूर्णि की जो व्याख्या 1227 में पूरी हुई, उससे पहले वे इस चूर्णि की रचना करने में समर्थ हुए। इस सिद्धसेन के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धसेन का इस समय के लगभग पता भी नहीं चलता, अतः इस बात की सम्भावना है कि बृहत् क्षेत्रसमास के वृत्तिकार तथा चूर्णकार एक ही सिद्धसेन हों, यदि ऐसा हो तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चूर्णकार सिद्धसेन उपकेश गच्छ के थे और देवगुप्तसूरि के शिष्य तथा यशोदेवसूरि के गुरु भाई थे। इन्हीं यशोदेवसूरि ने उन्हें शास्त्रार्थ सिखाया था³।

सिद्धसेन-कृत चूर्णि के विषम-पदों की व्याख्या श्रीचन्द्रसूरि ने की है। प्रशस्ति के लेखानुसार यह व्याख्या वि० 1227 में पूर्ण हुई। प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि श्रीचन्द्र के गुरु का नाम धनेश्वरसूरि था।

सिद्धसेन ने स्वयं यह उल्लेख⁴ किया है कि जीतकल्प सूत्र की एक अन्य भी चूर्णि थी, किन्तु आचार्य जिनविजयजी ने प्रस्तावना में कहा है कि वह उपलब्ध नहीं है।

जिनरत्नकोष से ज्ञात होता है कि जीतकल्प का एक विवरण प्राकृत में उपलब्ध है। प्रोफेसर बेलणकर का अनुमान है कि तिलकाचार्य ने अपनी वृत्ति का आधार इस विवरण को बनाया होगा।

जीतकल्प की 1700 श्लोक प्रमाण एक अन्य वृत्ति श्री तिलकाचार्य ने भी लिखी थी, वह संवत् 1275 में पूरी हुई। ये शिवप्रभसूरि के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त जिनरत्नकोष में एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि का भी उल्लेख है।

1. आचार्य जिनविजयजी ने 'जीतकल्पसूत्र' नाम से जो ग्रन्थ छपवाया है, उसमें यह चूर्णि और उसकी व्याख्या भी है। प्रकाशक : जैनसाहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद।
2. जिनरत्नकोष, जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास-पृ० 240
3. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास पृ० 240
4. जीतकल्प चूर्णि पृ० 23, पं० 23—'अहवा कितियचुन्निकाराभिप्पाएण'

आचार्य जिनभद्र के जीतकल्प के आधार पर सोमप्रभसूरि ने यति-जीतकल्प की रचना की और मेस्तुंग ने जीतकल्पसार लिखा ।

8. ध्यानशतक

इस नाम का प्राकृत-गाथा-बद्ध ग्रन्थ आचार्य जिनभद्र के नाम से विख्यात है । उसे शतक कहते हैं किन्तु वस्तुतः उसकी 105 गाथाएँ हैं । यह शतक आवश्यक निर्युक्ति में समाविष्ट है । आचार्य हरिभद्र ने उसकी सभी गाथाओं की व्याख्या भी की है¹, किन्तु उसमें उन्होंने इस ग्रन्थ को 'शास्त्रान्तर², कहकर भी यह नहीं बताया कि वह किसकी रचना है ? आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने भी अपनी टिप्पणी में रचयिता के विषय में कोई संकेत नहीं किया, अतः इस कृति का आचार्य जिनभद्र द्वारा लिखा जाना संदिग्ध है । आचार्य हरिभद्र के उल्लेख के अर्थानुसार यह ध्यानशतक शास्त्रान्तर है, यह बात तो निश्चित ही है, किन्तु उससे यह अर्थ फलित नहीं होता कि यह आचार्य भद्रबाहु की कृति नहीं है ।

वस्तुतः आवश्यक निर्युक्ति में अनेक बार तीर्थकरों को नमस्कार किया गया है, विशेषतः जहाँ नवीन प्रकरण शुरु होता है, वहाँ नमस्कार किया गया है । इसके अनुसार ध्यान प्रकरण के प्रारम्भ में भी आचार्य ने नमस्कार किया है । मध्य में आये हुए इस नमस्कार के औचित्य को सिद्ध करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने यह लिखा है कि अब ध्यानशतक में बहुत कुछ कहना है, अथवा यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अतः वास्तव में यह प्रकरण शास्त्रान्तर का स्थान ग्रहण करता है । इसीलिए आचार्य ने प्रारम्भ में नमस्कार किया है, इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हरिभद्र ने ध्यानशतक में प्रतिपादित विषय की महत्ता के कारण ही इसे शास्त्रान्तर कहा है । इस उल्लेख से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि आचार्य हरिभद्र ने आचार्य जिनभद्र के इस ध्यानशतक को उपयोगी समझ कर आवश्यक निर्युक्ति में समाविष्ट कर लिया और उसकी व्याख्या भी कर दी । यदि यह कृति भद्रबाहु की न होती तो हरिभद्र स्पष्टतः इस बात को लिखते और यह भी बताते कि यह किसकी रचना है ? ऐसी किसी भी सूचना के अभाव में इस प्रकरण को आवश्यक निर्युक्ति का अंश ही समझना चाहिए ।

ध्यानशतक को श्री विनय-भक्ति-सुन्दर-चरण ग्रन्थमाला के तीसरे पुष्प के रूप में आचार्य जिनभद्र की कृति बताकर पृथक् भी प्रकाशित किया गया है ।

7. मलधारी हेमचन्द्राचार्य

गुजरात के इतिहास का स्वर्णयुग, सिद्धराज जयसिंह और राजषि कुमारपाल का राज्य-काल है । इस युग में गुजरात की राजनैतिक दृष्टि से उन्नति हुई, किन्तु इससे भी बढ़कर उन्नति संस्कार निर्माण की दृष्टि से हुई । इसमें जैन अमात्य, महामात्य और दण्डनायकों की

1. आवश्यक निर्युक्ति की गाथा 1267 के बाद ध्यानशतक का समावेश है ।
2. ध्यानशतकस्य च महार्थत्वादवस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्ग्लार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह ।

जो देन है, उसके मूल में महान् जैनाचार्य विराजमान हैं। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य को उक्त दोनों राजाओं की राजसभा में जो सम्मान प्राप्त हुआ, वह सहसा नहीं मिला; किन्तु वि० 802 में अणहिल्लपुर पाटन की स्थापना से लेकर इस नगर में उत्तरोत्तर जैनाचार्यों और महामात्यों का सम्बन्ध बढ़ता ही गया था और उसी के फलस्वरूप राजा कुमारपाल के समय में जैनाचार्यों के प्रभाव की पराकाष्ठा का दिग्दर्शन आचार्य हेमचन्द्र में हुआ। सिद्धराज की सभा में आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिष्ठा वि० 1181 के बाद ही स्थापित हुई होगी, क्योंकि प्रबन्ध-चिन्तामणि के उल्लेखानुसार दिगम्बर कुमुदचन्द्र के साथ वादी देवसूरि के शास्त्रार्थ के समय आचार्य हेमचन्द्र वहाँ दर्शक के रूप में उपस्थित थे; किन्तु वि० 1191 में मालव विजय के उपरान्त वापिस आए हुए सिद्धराज को आचार्य हेमचन्द्र ने जनों के प्रतिनिधि के रूप में आशीर्वाद दिया था। इससे प्रतीत होता है कि वि० 1181 से 1191 की अवधि में आचार्य हेमचन्द्र का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया था और 1191 में वे जनों के प्रतिनिधि के रूप में सिद्धराज की सभा में उपस्थित थे।

आचार्य हेमचन्द्र के इस प्रभाव की भूमिका में जो पूर्ववर्ती आचार्य थे, उनमें आचार्य अभयदेवसूरि मलधारी का स्थान सर्वोच्च प्रतीत होता है। उनके इस स्थान की रक्षा उनके ही पट्टधर आचार्य हेमचन्द्र मलधारी ने की है। इन दोनों मलधारी आचार्यों ने राजा सिद्धराज के मन में अपने तप एवं शील के बल पर जो भक्ति उत्पन्न की थी, उसी का लाभ उनकी मृत्यु के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र को मिला और उससे वे अपनी साहित्यिक-साधना के आधार पर कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में तथा कुमारपाल के समय में जैन शासन के महाप्रभावक पुरुष के रूप में इतिहास में प्रकाशमान हुए।

उक्त आचार्य अभयदेवसूरि की परम्परा में होने वाले पद्मदेवसूरि और राजशेखर ने यह प्रतिपादित किया है कि आचार्य अभयदेव को राजा 'कर्णदेव' ने मलधारी की पदवी प्रदान की थी। इससे स्पष्ट है कि राजा कर्णदेव पर भी आचार्य अभयदेव का प्रभाव था। कर्ण के बाद राजा सिद्धराज पर उनका जो प्रभाव था उसका साँखों देखा वर्णन उनके प्रशिष्य श्रीचन्द्र ने बिना अतिशयोक्ति के किया है। उससे ज्ञात होता है कि राजा आचार्य के परमभक्त थे। इसका मुख्य कारण राजा तथा आचार्य की परम-सहिष्णुता थी। आचार्य की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य मलधारी हेमचन्द्र ने सिद्धराज पर अभयदेव के प्रभाव को स्थिर रखा। राजा को उपदेश देकर उन्होंने अनेक प्रकार से जैनधर्म की प्रभावना में वृद्धि की। सिद्धराज पर मलधारी हेमचन्द्र के प्रभाव का कारण उनका त्याग और तप ती था ही, परन्तु, संभव है कि उनके पूर्व-जीवन के प्रभाव का भी इसमें यथेष्ट भाग हो।

मलधारी हेमचन्द्र की परम्परा में होने वाले राजशेखर ने प्राकृत द्याश्रय की वृत्ति 1387 वि० में पूर्ण की थी। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि—“मलधारी हेमचन्द्र का

1. पद्मदेव-कृत सद्गुरुरूपद्विति और राजशेखर-कृत प्राकृत द्याश्रय की वृत्ति की प्रशस्ति देखें; किन्तु विविधतीर्थकल्प में लिखा है कि राजा सिद्धराज ने यह सम्मान दिया पृ० 77; यदि राजा सिद्धराज ने ऐसा किया होता तो श्रीचन्द्रसूरि इसका उल्लेख अवश्य करते, अतः अधिक सम्भावना यही है कि यह पदवी राजा कर्णदेव ने दी हो।

गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था और वं राजमन्त्री थे । उन्होंने अपनी चार स्त्रियों को छोड़कर आचार्य अभयदेव मलधारी के पास दीक्षा ली थी¹ ।” इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी राजमन्त्री थे और सम्भव है कि इसके कारण उनका अनेक राजाओं पर प्रभाव पड़ा हो । मुनिसुव्रत चरित्र की प्रशस्ति² में श्रीचन्द्रसूरि ने उक्त दोनों आचार्यों का जो प्रभाव-शाली जीवन लिखा है, वह इतना रोचक और वास्तविक है कि उसके विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रहती; अतः वहीं से उसे उद्धृत करता हूँ :—

71-73. भगवान् पार्ष्वनाथ के 250 वर्ष बाद तीर्थंकर महावीर हुए जिनका तीर्थ आज भी प्रवर्तमान है । इन अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में, श्री प्रश्नवाहन कुल में, हर्षपुर गच्छ में, शाकंभरी मण्डल में श्री जयसिंहसूरि एक प्रसिद्ध आचार्य हुए । वे गुणों के भण्डार थे और आचार परायण थे ।

74-76. उनके शिष्य गुणरत्न की खान के समान अभयदेवसूरि हुए । उन्होंने अपने उपशम गुण द्वारा सुरगुरु (?) का मन आकर्षित कर लिया । उनके गुणगान की शक्ति सुरगुरु में भी नहीं है, फिर मुझ में यह सामर्थ्य कहाँ ? फिर भी उनके असाधारण गुणों की भक्ति के अधीन होकर उनके गुण माहात्म्य का गान करता हूँ ।

77. ऐसा प्रतीत होता है कि उनके उच्च गुणों का अनुसरण करने के निमित्त ही उनका शरीर-परिमाण भी ऊँचा था अर्थात् आचार्य लम्बे और बलिष्ठ थे ।

78. उनका रूप देखकर कामदेव भी पराजित हो गया । इसीलिए वह कभी उनके समीप नहीं आया अर्थात् आचार्य सुन्दर भी थे और काम-विजेता भी ।

79-81. तीर्थंकर-रूपी सूर्य के अस्त होने पर भारतवर्ष में लोग संयम-मार्ग के विषय में प्रमादी हो गए, किन्तु उन्होंने तप, नियमादि द्वारा धर्मदीप को प्रदीप्त किया, अर्थात् उन्होंने क्रियोद्धार किया ।

82. उनके किसी भी अनुष्ठान में कषाय का अल्पांश भी नहीं रहता था । स्वपक्ष तथा परपक्ष के विषय में उनका व्यवहार माध्यस्थपूर्ण था, अर्थात् वे सर्व-धर्म-सहिष्णु थे ।

83. वे आचार्य, मात्र एक चोलपट्ट (कटिबन्ध) तथा एक चादर का ही उपयोग निरीह भाव से करते थे, अर्थात् वे अपरिग्रही जैसे थे ।

84. यशस्वी आचार्य वस्त्र एवं देह में मलधारण करते थे, ऐसा ज्ञात होता था कि आभ्यन्तरमल भयभीत होकर बाहर आ गया था ।

85. आचार्य रसगृद्धि से भी रहित थे, घी के अतिरिक्त उन्होंने शेष सभी विषयों (विकृतियों) का जीवन पर्यन्त त्याग किया था ।

86. वे अपने कर्मों की निर्जरा के लिए ग्रीष्म ऋतु में ठीक मध्याह्न के समय मिथ्या-दृष्टि के घर भिक्षार्थ जाया करते थे ।

1. जैन साहित्य सं० इ० पृ० 245.

2. पाटन जैन भण्डार ग्रन्थ सूची देखें --पृ० 314 (भायकवाड सिरीज)

87-90. जब वे भिक्षा लेने के लिए निकलते, तब श्रावक अपने-अपने घर में भिक्षा देने का लाभ लेने की अभिलाषा से तैयार रहते और आमण सेठ जैसे भी उन्हें अपने हाथ से भिक्षा देते। वे जिस गाँव में विराजमान होते, वहाँ के भक्तजन प्रायः उनका वर्षान किए बिना भोजन नहीं करते थे। श्री वीरदेव के पुत्र ठाकुर श्री जज्जभ्र जैसे व्यक्ति तो आचार्यश्री के पाँच कोस तक दूर रहने पर भी उनका दर्शन करके ही भोजन करते थे।

91-93. वे ऐसे वन्दनीय थे कि, अणहिलपुर घाटन में यदि किसी एक व्यक्ति को जिनायतन में बुलाया जाता तो शेष सभी श्रावक बिना बुलाए ही एकत्रित हो जाते। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने उनकी भूति अमृत-रस से निमित्त की थी। उनके दर्शन से जीवों का कषाय-विष उतर जाता था।

94. अन्य मतावलम्बी भी उनका दर्शन कर आनन्दित होते और उन्हें अपने देवता के अवतार स्वरूप मानते।

95-99. उनके मुख से सदैव ऐसे वचन निकलते जिनका श्रवणकर श्रोताओं का मन शान्त हो जाता। जिन मन्दिर में दर्शनार्थ जाने के नियम को लेकर रोष के कारण श्रावकों में जो कलह¹ हुआ था, उसे उन्होंने शान्त किया था। जहाँ दो भाई आपस में नहीं बोलते थे, उन्हें उपदेश देकर वे उनमें सन्धि करवाते। जो लोग राज-कृपा के कारण अभिमानी हो गए थे, जो लोग अपने गच्छ के अतिरिक्त अन्य साधुओं को नमस्कार नहीं करते थे, अथवा जो राजा के मन्त्री थे, उन्हें भी उन्होंने सामान्य मुनियों के प्रति आदरशील बनाया।

100-101. भोपगिरि (ग्वालियर) के शिखर पर स्थित भगवान् महावीर के मन्दिर के द्वार को वहाँ के अधिकारियों ने बन्द करवा दिया था। इस कार्य के लिए ये आचार्य स्वयं राजा भुवनपाल के पास गए और उसे समझा कर उस मन्दिर के द्वार खुलवा दिए।

102. उन्होंने गरणग के पुत्र शान्तु मन्त्री को कह कर भरुच में स्थित श्री समलिका विहार के ऊपर सुवर्ण कलश चढ़वाया।

103. राजा जयसिंहदेव को कह कर समस्त देश में पर्युषणादि पर्व दिनों में अमारी की घोषणा करवाई।

104. शाकम्भरी (अजमेर के निकट साँभर) के राजा पृथ्वीराज को पत्र लिख कर रणथम्भोर के जिनमन्दिर पर सुवर्ण कलश चढ़वाया।

105-106. उपवास या बेला करने पर भी जोनों समय की धर्मदेशना देने का काम उन्होंने कभी बन्द नहीं किया। वे श्रावकों को अष्टाह्निका जैसे उत्सवों में प्रवृत्त रहने को प्रेरित करते थे।

107-111. जब उन्हें अपने ज्ञान के बल पर यह मालूम हुआ कि, उनका अन्त अब निकट है, तब शरीर के नीरोग रहने पर भी उन्होंने एक-एक ग्रास का आहार क्रमशः कम

1. पहले दर्शन कौन करे? इस विषय में श्रावकों में झगड़ा हुआ होगा ऐसा प्रतीत होता है।

करते हुए अन्त में भोजन का सर्वथा त्याग कर दिया। उनके इस उत्तम व्रत की बात ज्ञात कर परतीर्थिक लोग भी अश्रुपूर्णा नेत्रों से उनका दर्शन करने आने लगे। गूर्जुरनरेन्द्र-नगर में ऐसा कोई भी व्यक्ति न था, जो उस समय उनका दर्शन करने न आया हो। शालिभद्रादि अनेक सूरि भी शोक सहित उनके पास गए थे।

112-116. भादों के महीने में 13वाँ उपवास होने पर भी किसी की सहायता लिए बिना स्वयं पैदल चल कर राजमान्य तथा निकटस्थ सभी प्रदेशों में सम्मानित सीयभ्र (श्रीयक) सेठ की अन्तिमकालीन दर्शन की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए सोहित्र (शोभित) श्रावक के घर से निकल कर वे उस सेठ के पास गए और दर्शन देकर उसकी मृत्यु को सफल किया। इससे ज्ञात होता है कि, आचार्य वस्तुतः दाक्षिण्य के समुद्र और परोपकार-रसिक थे। इस सेठ ने आचार्यश्री के उपदेश से धर्मव्रत (कार्य) में बीस हजार द्रम खर्च किये।

117. आचार्य की सलेखना का समाचार सुनकर प्रायः समस्त गुजरात के नगरों और गाँवों के लोग उनके दर्शनार्थ आए थे।

118. आचार्य ने 47 दिन के समाधि-पूर्वक अनशन के पश्चात् धर्म-ध्यान-परायण रहते हुए शरीर का त्याग किया। चन्दन की पालकी में प्रतिष्ठित कर उनका शरीर बाहर लाया गया। उस समय घर की रक्षा के लिए एक-एक आदमी को रखकर सभी लोग उनकी शवयात्रा में भक्ति तथा कौतुक से सम्मिलित हुए। अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि से आकाश गूँज उठा था।

119. स्वयं राजा जयसिंह भी अपने परिवार सहित पश्चिम अट्टालिका में आकर इस शवयात्रा का दृश्य देख रहे थे। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर राजा के नौकर परस्पर बात करते थे कि, यद्यपि मृत्यु अनिष्ट है, तथापि ऐसी विभूति मिले तो वह भी इष्ट ही है।

120-130. शवयात्रा का विमान प्रातः सूर्योदय के समय निकला था और वह मध्याह्न में यथास्थान पहुँचा। वहाँ लोगों ने उसका सत्कार करने के लिए उस पर अनेक प्रकार के वस्त्रों का ढेर लगा दिया। चन्दन की पालकी और इन वस्त्रों सहित ही उनकी देह का दाह संस्कार किया गया। लोगों ने चन्दन और कपूर की ऊपर से वर्षा भी की। आग बुझने पर लोगों ने राख लेली और राख समाप्त होने पर उस स्थान की मिट्टी भी उठा ली; अतः उस जगह पर शरीर परिमाण गढ़वा पड़ गया। इस राख और मिट्टी से मस्तक-शूल जैसे अनेक प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

131. मैंने भक्तिवश होकर भी इसमें लेश मात्र भी मिथ्या कथन नहीं किया, जो कुछ मैंने उनके जीवन में प्रत्यक्ष देखा, उसी के एक-मात्र अंश का वर्णन किया है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ऐसे प्रभावशाली गुरु के शिष्य थे। उनके ही शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने उनका जो परिचय दिया है, वह उनके जीवन पर प्रकाश डालता है, अतः यहाँ उसे उद्धृत किया जाता है। यह परिचय उक्त प्रशस्ति में ही आचार्य अभयदेव के परिचय के अनन्तर वर्णित है।

132. अपने तेजस्वी स्वभाव से उत्तम पुरुषों के हृदयों को आनन्द देने वाले कौस्तुभ-मणि के समान श्री हेमचन्द्रसूरि आचार्य अभयदेव के बाद हुए ।

133. वे अपने युग में प्रवचन के पारगामी और वचनशक्ति सम्पन्न थे । 'भगवती' जैसा शास्त्र तो अपने नाम के समान उनके जिह्वाग्र पर स्थित था ।

134. उन्होंने मूल-ग्रन्थ, विशेषावश्यक, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र आदि अन्य विषयों के हजारों ग्रन्थों का अध्ययन किया था ।

135. वे राजा और मन्त्री जैसे लोगों में जिनशासन की प्रभावना करने में परायण और तत्पर तथा परम कारुणिक थे ।

136-137. जब वे मेघ के समान गम्भीर ध्वनि से उपदेश देते, तब लोग जिनभवन के बाहर खड़े रह कर भी उनके उपदेश का रसपान करते । वे व्याख्यानलब्धि सम्पन्न थे, अतः शास्त्र-व्याख्यान के समय जड़ बुद्धि मनुष्य भी सरलता से बोध प्राप्त कर लेते थे ।

138-141. सिद्धव्याख्यानिक ने वैराग्य उत्पन्न करने वाली उपमिति भव-प्रपंचा कथा बनाई तो थी, किन्तु उसका समझना अत्यन्त कठिन था, अतः कितने ही समय से कोई व्यक्ति सभा में उसका व्याख्यान नहीं करता था; किन्तु जब आचार्य ने उस कथा का व्याख्यान किया तो मुग्धजन भी उस कथा को समझने लगे और लोग आचार्य से यह विनती करने लगे कि बारम्बार उस कथा को ही सुनाया जाए, इस प्रकार निरन्तर तीन वर्ष तक आचार्य ने उस कथा का व्याख्यान किया । इसके बाद उस कथा का खूब प्रचार हुआ । आचार्य ने जिन ग्रन्थों की रचना की, वे इस प्रकार हैं :—

142-145. आचार्य ने सर्वप्रथम उपदेशमाला मूल तथा भव-भावना मूल की रचना की । तत्पश्चात् दोनों की क्रमशः 14 हजार और 13 हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी । तदनन्तर अनुयोगद्वार, जीव-समास और शतक (बन्ध-शतक) की क्रमशः छह, सात और चार हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी । मूल आवश्यक वृत्ति (हरिभद्र कृत) का टिप्पण पाँच हजार श्लोक प्रमाण लिखा । इस टिप्पण की रचना उक्त वृत्ति के विषम स्थानों का बोध करवाने के लिए की गई थी । विशेषावश्यक सूत्र की विस्तृत वृत्ति 28000 श्लोक प्रमाण लिखी ।

146-154. उनके व्याख्यान की प्रसिद्धि सुनकर गुर्जरेन्द्र जयसिंहदेव स्वयं अपने परिवार सहित जिनमन्दिर में आकर धर्म-कथा सुनते थे । कई बार दर्शन की उत्कण्ठा से वे स्वयं उपाश्रय में आकर दर्शन करते और काफी समय तक बातचीत करते रहते । एक बार वे अत्यन्त मान-पूर्वक आचार्य को अपने घर ले गए और दूब, फल, फूल, जल आदि द्रव्यों से उनकी आरती कर तथा उनके चरण-क्रमलों के निकट ये सब द्रव्य रख कर उन्होंने पंचांग प्रणाम किया और अपने लिए परोसी गई थाली में से अपने ही हाथों से चार प्रकार के आहार का दान दिया । तदनन्तर हाथ जोड़ कर कहने लगे, 'आज मैं कृतार्थ हुआ हूँ, आज मेरा घर आपके पादस्पर्श से कल्याण स्थान बन गया है । मुझे ऐसे आनन्द का अनुभव हो रहा है कि, मानो स्वयं भगवान् महावीर मेरे घर पधारे हैं ।'

155-162 आचार्य ने राजा जयसिंह को कह कर जैन मन्दिरों पर सुवर्ण कलश

चढ़वाए तथा धंधुका और सन्चउर (सत्यपुर-साचौर) में परतीथिक-कृत पीड़ा का निवारण करवा कर जयसिंह की आज्ञा से उन स्थानों में तथा ग्रन्थत्र रथयात्रा चालू करवाई। पुनश्च, जैनमन्दिर के भाग की जो आय बन्द हो गई थी, उसे चालू करवायी और जो आय राज-भण्डार में जमा हो चुकी थी, उसे भी राजा को समझा कर वापिस दिलवाई। अधिक क्या कहा जाए ! जहाँ-जहाँ जैन धर्म का पराभव हुआ था, वहाँ-वहाँ सैकड़ों उपाय कर पुनः जैन धर्म की प्रतिष्ठा की। जैनशासन की प्रभावना के लिए ऐसे-ऐसे काम किए कि, दूसरे जिनकी कल्पना भी न कर सकें। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध करवाया कि कहीं भी कभी किसी साधु का अनादर न हो सके।

163-177. अणहिलपुर नगर से तीर्थ यात्रा के निमित्त निकले हुए संघ ने प्रार्थना कर आचार्यश्री को अपने साथ लिया। इस संघ में विविध प्रकार के 1100 तो वाहन थे और घोड़े आदि जानवरों की संख्या का तो पार ही न था। इस संघ ने वामणथली (वंथली) में पड़ाव किया। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि, मानो राजा की बहुत बड़ी सेना ने पड़ाव किया हो। श्रावकों ने सोने के बहुमूल्य आभूषण पहन रखे थे। यह सब समृद्धि देख कर सोरठ के राजा खेंगार के मन में दुर्भावना उत्पन्न हुई। दूसरों ने भी उसे भड़काया कि, सम्पूर्ण अणहिलवाड़ नगर की समृद्धि पुण्य प्रताप से तुम्हारे आँगन में आई है, इसलिए इस पर अधिकार कर अपना भण्डार भर लेना चाहिए, तुम्हें एक करोड़ का द्रव्य मिलेगा। लोभवश ही उस राजा ने संघ से सारा धन छीन लेने का निश्चय किया; किन्तु दूसरी ओर यह कार्य लोक-मर्यादा के विरुद्ध था, अतः लज्जावश उसने अपने उक्त निर्णय को दबाए रखा। लू या न लू, इस दुविधा में पड़ कर किसी न किसी बहाने वह संघ को आपे नहीं बढ़ने देता था। कहने पर भी वह संघ के किसी भी व्यक्ति से मिलता नहीं था। इस अवधि में उसके किसी स्वजन की मृत्यु हो गई। इस निमित्त आचार्य हेमचन्द्र शोक निवारण के बहाने से राजा के पास गए और उसे समझा कर संघ को मुक्त करवाया। बाद में संघ ने ऋमशः गिरनार तथा शत्रुंजय में नेमिनाथ और ऋषभदेव के दर्शन किए। उस अवसर पर गिरनार तीर्थ में पचास हजार और शत्रुंजय में तीस हजार पारुत्यय (सिक्का) की आय हुई। आचार्य के उपदेश को ग्रहण कर भव्य-जन भाविक श्रावक बन जाते और यथाशक्ति देश-विरति अथवा सर्व-विरति आचार को ग्रहण करते।

178-179. अन्त में उन्होंने अपने गुरुदेव अभयदेव के समान ही मृत्यु समय में आराधना की। अन्तर यह था कि, इन्होंने सात दिन का अनशन किया था तथा राजा सिद्धराज स्वयं इनकी श्रवयात्रा में सम्मिलित हुए थे।

180. उनके तीन गणधर थे—विजयसिंह, श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र, उनमें से श्रीचन्द्रसूरि उनके पटुधर हुए।

इन श्रीचन्द्र आचार्य ने गुरु के स्वर्गवास के उपरान्त थोड़े ही समय में 'मुनिसुव्रत चरित' लिखा था, वह संवत् 1193 में पूर्ण हुआ था¹।

1. समय सूचक प्रशस्ति गाथा अशुद्ध है, किन्तु बृहट्टिप्पनिका में सम्वत् 1193 का निर्देश है। पाटन भण्डार की सूची की प्रस्तावना देखें—पृष्ठ 22.

मलधारी राजशेखर ने उपर्युक्त तथ्यों में यह बात और कही है कि आचार्य ने वर्ष में 80 दिन की अमारी घोषणा राजा सिद्धराज से करवाई थी¹ ।

विविध-तीर्थ-कल्प में आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि, कोका वसति के निर्माण में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र का मुख्य हाथ था² ।

आचार्य विजयसिंह ने धर्मोपदेशमाला की बृहद्वृत्ति लिखी है, उसकी समाप्ति वि० सं० 1191 में हुई थी । उसकी प्रशस्ति में भी आचार्य विजयसिंह ने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र मलधारी तथा उनके गुरु आचार्य अभयदेव का परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि वि० सं० 1191 में आचार्य हेमचन्द्र मलधारी का स्वर्गवास हुए बहुत वर्ष हो चुके थे³; अतः इस बात को स्वीकार करने में कोई असंगति दृग्गोचर नहीं होती कि, अपने गुरु अभयदेव की वि० सं० 1168 में मृत्यु उपरान्त वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और लगभग वि० सं० 1180 तक उस पद को मुशोभित करते रहे । इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि, उनके ग्रन्थ के अन्त में कथित प्रशस्ति में वि० सं० 1177 के बाद के वर्ष का उल्लेख नहीं मिलता ।

आचार्य हेमचन्द्र के अपने हाथ से लिखी हुई जीवसमास-वृत्ति की प्रति के अन्त में उन्होंने अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार वे यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान के अनुष्ठान में रत तथा परम नैष्ठिक, अद्वितीय षण्डित और श्वेताम्बराचार्य भट्टारक थे । यह प्रशस्ति उन्होंने सम्वत् 1164 में लिखी थी । प्रशस्ति इस प्रकार है :—

“ग्रन्थाग्रं 6627 । सम्वत् 1164 चैत्र सुदि 4 सोमेऽद्येह श्रीमदणहिलपाटके समस्त-राजावलिविराजितमहाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीमज्जयसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये एवं काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायानुष्ठानरतपरमनैष्ठिकषण्डित-श्वेताम्बराचार्य-भट्टारक-श्रीहेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि० श्री”

— श्री शांतिनाथजी ज्ञान भण्डार की प्रति—श्रीप्रशस्ति संग्रह अहमदाबाद—पृष्ठ 49.

8. आचार्य मलधारी हेमचन्द्र के ग्रन्थ

जिस विशेषावश्यक-भाष्य-विवरण के आधार पर गणधरवाद का प्रस्तुत अनुवाद किया गया है, उसके अन्त में आचार्य ने एक आध्यात्मिक रूपक में इस बात का निर्देश किया है कि, उन्होंने किस उद्देश्य से किस क्रम से ग्रन्थों की रचना की है । इस रूपक का सार इस प्रकार है—

मैं जन्म, जरा आदि दुःखों से परिपूर्ण संसार समुद्र में डूबा हुआ था, इतने में एक

1. कदली पञ्जिका और प्राकृत द्वायाश्रय की वृत्ति की प्रशस्ति । जैन सा० सं० इ० पृष्ठ 246 देखें ।
2. विविधतीर्थकल्प पृष्ठ 77
3. श्रीहेमचन्द्र इति सूरिरभूदमुष्य शिष्यः शिरोमणिरघोषमुनीश्वराणाम् ।
यस्याधुनापि चगितानि शरच्छशांक्छायोज्ज्वलानि बिलसन्ति दिशां मुखेषु ॥13॥
पाटन भण्डार ग्रन्थ सूची देखें—पृष्ठ 313.

महापुरुष ने मुझे संसार समुद्र पार करने के लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूप विशाल नौका में बिठा दिया, जिससे मैं उसकी सहायता से शिवरत्नद्वीप (मोक्ष) को सरलता से प्रयाण कर सकूँ ।

नौका में बिठाने के बाद इस महापुरुष ने सद्भावना की मंजूषा में रखकर मुझे शुभ मनोरूप एक महान् रत्न दिया । उन्होंने साथ ही यह कहा कि, जब तक तुम इस शुभ मन-रूपी रत्न की रक्षा कर सकोगे, तब तक तुम्हारी नौका सुरक्षित रूपेण आगे बढ़कर निर्विघ्न रूप से तुम्हें यथेष्ट स्थान पर ले जाएगी; यदि इस शुभ मन की रक्षा नहीं कर सकोगे तो तुम्हारी नौका टूट जाएगी । फिर तुम्हारे पास यह शुभ मनोरूप रत्न है, इसलिए मोहराज के सैनिक चोर इसकी चोरी करने के लिए तुम्हारा पीछा करेंगे । तब सम्भव है कि, मंजूषा के पटिये टूट जाएँ; उस समय उस मंजूषा को किसी भी प्रकार से उसके नवीन अंगों का निर्माण कर उस को सुरक्षित रखने की विधि भी गुरु ने मुझे समझा दी । कुछ समय तक मेरे साथ नौका विहार कर वे अन्तर्धान हो गए । यह समाचार प्रमाद नगरी में रहने वाले मोहराज के कानों में पहुँचा । उसी समय उसने अपने सैनिकों को सावधान कर दिया कि, अपने शत्रु ने अमुक संसारी जीव को शिवरत्नद्वीप का मार्ग बता दिया है और वह उस मार्ग को ज्ञात कर यात्रा करने के लिए आगे बढ़ रहा है; यही नहीं, उसने अपने आदर्श को मानने वाले अनेक अनेक साधियों को भी अपने साथ लिया है, इसलिए वे हमारे इस संसार नाटक को समाप्त न कर दें, इस उद्देश्य से तुम लोग शीघ्र ही उनके पीछे दौड़ो; ऐसा कह कर वह दुर्बुद्धि-नाथ में सवार हुआ और उसके साथी कुवासना-नावों में सवार हो गए । मेरी नौका के समीप आने पर तो आसुरी तथा दैवी वृत्तियों का युद्ध प्रारम्भ हुआ । उस समय उन्होंने मेरी सद्भावना मंजूषा के अंग जर्जरित कर दिये, अतः उस महापुरुष के उपदेश का अनुसरण करते हुए मैंने उस मंजूषा के नूतन अंगों के निर्माण का संकल्प करके सर्वप्रथम (1) आवश्यक टिप्पण की नई पट्टी उस मंजूषा में जड़ दी और तत्पश्चात् क्रमेण मंजूषा के जो नवीन-नवीन अंग जड़ित किए वे ये हैं—2. शतक विवरण, 3. अनुयोगद्वार वृत्ति, 4. उपदेशमाला सूत्र, 5. उपदेश-माला वृत्ति, 6. जीवसमास विवरण, 7. भव-भावना सूत्र, 8. भव-भावना विवरण, 9. नन्दि टिप्पण 10. विशेषावश्यक विवरण (विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति)

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि मलधारी हेमचन्द्र ने अपने गुरु की आज्ञा से उक्त दस ग्रन्थ लिखे थे । लिखते में उनका मुख्य उद्देश्य अपने शुभाध्यवसाय को स्थिर रखना था, गौण उद्देश्य यह था कि, उनके ग्रन्थों को पढ़ कर दूसरे व्यक्ति भी मोक्ष-मार्ग की शुद्धि कर शिवनगरी की ओर प्रयाण करें ।

उनके ग्रन्थों में जैन सिद्धान्त-प्रसिद्ध चारों अनुयोगों का समावेश हो जाता है । उनके ग्रन्थ जैन धर्म के आचार और जैन दर्शनों के विचार इन दोनों क्षेत्रों को आच्छादित कर लेते हैं । उन्होंने केवल विद्वद्भोग्य ग्रन्थ ही नहीं लिखे, प्रत्युत ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें सामान्य व्यक्ति भी अपनी भाषा में समझ सके, अर्थात् उनकी ग्रन्थ-रचना संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में है । अनुयोगद्वार वृत्ति और विशेषावश्यक-भाष्य-वृत्ति जैसे गम्भीर ग्रन्थों का भी उन्होंने निर्माण किया तथा साथ ही उपदेशमाला और भव-भावना जैसे लोक-भोग्य ग्रन्थों का भी स्वोपज्ञ टीका सहित निर्माण किया ।

विस्तार की दृष्टि से देखा जाये तो उनके उपलब्ध ग्रन्थों का परिमाण 75 हजार श्लोकों से अधिक है। सभी ग्रन्थ विषय की दृष्टि से प्रायः स्वतन्त्र हैं, अतः पुनरावृत्ति का भी विशेष अवकाश नहीं रहता¹। यह बात माननी पड़ेगी कि उनकी लेखन प्रवृत्ति निरन्तर जारी रही होगी। 1164 में उनका छठा ग्रन्थ लिखा गया तथा 1177 में अन्तिम, अतः हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उनका साक्षर-जीवन कम से कम पच्चीस वर्ष का अवश्य रहा होगा।

1. आवश्यक टिप्पण :

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विशेषावश्यक-भाष्य-विवरण के अन्त में और इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में, इस ग्रन्थ का नाम स्वयं मलधारी ने 'आवश्यक टिप्पण' सूचित किया है, तदपि इसका पूरा और सार्थक नाम तो 'आवश्यक वृत्ति प्रदेश व्याख्यानक' है। इसकी सूचना उन्होंने इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में दी है²। इसका कारण यह कि यह ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित आवश्यक सूत्र की लघुवृत्ति के अंश का टिप्पण है, टिप्पण होने पर भी यह पूर्णतः छोटा ग्रन्थ नहीं, इसका परिमाण 4600 श्लोक का है। यह ग्रन्थ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड की पुस्तक माला के 53वें पुष्प रूप में प्रकाशित हो चुका है।

आचार्य हरिभद्र की वृत्ति में जहाँ-जहाँ स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी, वहाँ-वहाँ आचार्य ने इस ग्रन्थ में अपनी प्राञ्जल शैली में विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, प्रथम शब्दार्थ लिखकर तत्पश्चात् भावार्थ लिखने की शैली में इस टिप्पण की रचना हुई है।

2. बन्धशतक वृत्ति विनयहिता :

उक्त विशेषावश्यक टीका के अन्त में जिस ग्रन्थ का उल्लेख शतक विवरण के नाम से किया गया है, वही यह बन्धशतक वृत्ति है। वृत्ति के प्रारम्भ में स्वयं आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि शिवशर्मसूरि ने शतक नाम के कर्म-ग्रन्थ की रचना की थी। कर्ता ने स्वयं प्रथम गाथा में इस ग्रन्थ का नाम बन्धशतक लिखा है। कर्ता ने यह बात स्वयं स्वीकार की है कि इस ग्रन्थ की रचना दृष्टिवाद के आधार पर की गई है, अतः इस ग्रन्थ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। प्रारम्भ में यह भी बताया गया है कि इस ग्रन्थ में निम्नलिखित विषयों का सक्षिप्त वर्णन है : चौदह गुण-स्थानों और चौदह जीव-स्थानों में उपयोग और योग कितने हैं, किस गुण-स्थान में किन बन्ध-हेतुओं के कारण बन्ध होता है, गुण-स्थानों में बन्ध, उदय तथा उदीरणा कितनी कर्म-प्रकृतियों की होती है, अमुक प्रकृति के बन्ध के समय किन किन प्रकृतियों की उदय और उदीरणा होती है। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुमान ये चार भेद हैं, इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि इस ग्रन्थ में आचार्य ने कर्म-शास्त्र के महत्वपूर्ण विषयों का संक्षेप में निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है।

ऐसे महत्वपूर्ण सर्वसंग्राही ग्रन्थ की 'विनयहिता' नामक वृत्ति लिखकर आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ को सुबोध बना दिया है। इसमें मूल में (गा० 9) तो चौदह गुणस्थानों का

1. 'संक्षेपादावश्यकविषय टिप्पणमहं वच्मि।'

2. श्रीमदभयदेवसूरिचरणाम्बुजचञ्चरीकश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितमावश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्यानकं समाप्तम्।

नाम् निवेदन भी पुरा नहीं दिया गया है, किन्तु आचार्य ने टीका में इन सब का मनोरंजक निरूपण किया है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ विशेष विवरण की आवश्यकता थी, वहाँ-वहाँ आचार्य ने विस्मयक होकर विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस समस्त विवरण से जात होता है, कि कर्म-शास्त्र जैसे अति गहन माने जाते वाले विषय को भी ब्रह्मन्त सरलता से उपस्थित कर सकते थे। इससे सिद्ध होता है कि वे इस विषय में निष्णात थे। मूल की केवल 106 पायात्राओं की इन्होंने 3740 श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी है।

इस ग्रन्थ के अन्त में जी प्रणसित है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः उसे यहाँ उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है :—

श्रीप्रश्नवाहनकुजाम्बुनिधिप्रसूतः, श्रीगीतलप्रथितश्रीतिरुदीर्गशाखः ।

विश्वप्रसाधितविकल्पितवस्तुरुच्चैरध्यायश्रितप्रचुरनिर्वृतभयजन्तुः ।।

ज्ञानादिकुमुमनिचिंतः फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवन्दैः ।

कल्पद्रुम इव मच्छः श्रीहर्षपुरीयतामास्ति ।2।

एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गोभोयंपार्थोनिधिस्तुङ्गस्वप्रकृतिक्रमाधरपतिः सौम्यस्वतारापतिः ।

सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमतपस्त्राचारचर्यानिधिः, शान्तः श्रीजयसिंहसूरिरभवत्सिःसंगच्छामणिः ।3।

रत्नाकरादिवैतस्माच्छिष्यरत्नं बभूव तत् ।

स वागीशोऽपि नो मध्ये यद्गुणग्रहणे प्रभुः ।4।

श्रीवीरद्वेषविबुधैः सम्मन्त्रार्थातिशयप्रचुरतोयैः ।

द्रुम इव यः संसिक्तः कस्तद्गुणकीर्तने विबुधः ।5।

आज्ञा यस्य नरेश्वरैरपि शिरस्यारोप्यते सादरं,

यं दृष्ट्वापि मुदं व्रजन्ति परमां प्रायोऽतिदुष्टा अपि ।

यद्वक्त्राम्बुधिनिर्यदुज्ज्वलवचःपीयूषपानोद्यतं—

गोर्वाणोरिव दुग्धसिन्धुमयतां तृप्तिर्न लेभे जनैः ।6।

कृत्वा येन तपः सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोध्य प्रभो—

स्तोत्रं सर्वविदः प्रसावितमिदं तैस्तैः स्वकीयेगुणैः ।

शुबलीकुर्वदशेषविश्वकुहरं भव्यनिबद्धस्पृहं,

यस्याशास्वनिवारितं विचरति श्वेतांशुगौरं यशः ।7।

यमुनाप्रवाहविमलश्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसम्पर्कान् ।

अमरसरितेभ सकलं पवित्रितं येन भुवनतलम् ।8।

विस्फूर्ज्जन्कलिकालदुस्तरतमःसंतानलुप्तस्थितिः,

सूर्येणैव विवेकभूधरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।

सम्यग्ज्ञानकरेशिचरन्तनमुनिशुण्णः समुद्धोतितो,

मार्गः सोऽभयदेवसूरिरभवत्तेभ्यः प्रसिद्धो भुवि ।9।

तच्छिष्यत्वप्रार्थरगीतार्थैरपि शिष्टजननुष्टयै ।

श्रीहेमचन्द्रसूरिभिरियमनुरचिता शतकवृत्तिः ।10।

इस प्रशस्ति का भावार्थ यह है कि, प्रश्नवाहन-कुल के हर्षपुरीय गच्छ में, आचार्य जयसिंहसूरि हुए, उनके शिष्य महाप्रभावक आचार्य अभयदेवसूरि हुए, उनके शिष्य हेमचन्द्रसूरि ने इस वृत्ति की रचना की।

इस वन्ध शतक प्रकरण को अहमदाबाद के वीर-समाज ने श्रीचक्रेश्वरसूरि के भाष्य तथा आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की वृत्ति के साथ प्रकाशित किया है। उसके अन्त में एक लघु भाष्य भी दिया हुआ है।

3. अनुयोगद्वार वृत्ति :

अनुयोगद्वार की प्रथम टीका 'चूर्णि' प्राकृत में थी। वह संक्षिप्त भी थी। आचार्य हरिभद्र जैसे समर्थ विद्वान् ने संस्कृत टीका का निर्माण किया था, किन्तु वह भी अधिकतर चूर्णा के अनुवाद रूप और संक्षिप्त थी, अतः अत्यन्त कठिन समझे जाने वाले इस ग्रन्थ की सरल एवं विस्तृत टीका आवश्यक थी। आवश्यक सूत्र की हरिभद्र्रीय व्याख्या पर आचार्य मलधारी ने पहले टिप्पण लिखा था; उस अनुभव ने उन्हें प्रेरित किया कि, अनुयोगद्वार की हरिभद्र्रीय व्याख्या का टिप्पण नहीं, वरन् स्वतन्त्र व्याख्या लिखी जाए। स्वतन्त्र व्याख्या लिखने में पारतन्त्र्य कम होता है, अतः इसमें जो विषय आक्षेपक प्रतीत हों, उसकी स्वतन्त्रता-पूर्वक चर्चा करने का अवकाश रहता है। टीका का टिप्पण लिखते हुए यह अवकाश नहीं मिलता। आचार्य की यह कृति क्रम से तीसरी है, किन्तु उनकी लेखनी-प्रौढ़ता और गहन विषय को भी अति सरल कर उपस्थित करने की पद्धति किसी भी पाठक के हृदय में उनकी विद्वत्ता के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। यह टीका अनेक उद्धरणों से व्याप्त है। इससे उनके विशाल अध्ययन का पता चलता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि केवल विशाल अध्ययन से इस ग्रन्थ की टीका लिखने की शक्ति प्राप्त होती है। जैन आगम में प्रतिपादित तत्त्वों के मर्म को हृदयंगम किये बिना और उन तत्त्वों को स्पष्ट कर मन्दमति शिष्यों के हृदय में अंकित करने की कला तथा शक्ति के बिना इस ग्रन्थ की टीका करने लगना कठिन वस्तु को और भी कठिनतर करना है। इस टीका का अध्ययन करने वाले से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि आचार्य आगमों के मर्मज्ञ थे; यही नहीं, उस मर्म को सुव्यक्त करने की शक्ति भी उनमें विद्यमान थी। यह बात सत्य है कि अनुयोगद्वार सूत्र आगमों को समझने की कुञ्जी है, किन्तु इस कुञ्जी के प्रयोक्ता आचार्य मलधारी जैसे समर्थ विद्वान् इस प्रकार की टीका न लिखते तो इस चाबी को जंग लग जाता और समय आने पर आगम का ताला खोलने में यह चाबी असमर्थ रहती।

इस टीका का परिमाण 5900 श्लोक जितना है। वह देवचन्द लालभाई पुस्तकालय के 37वें ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हुई है।

4. उपदेशमाला सूत्र :

505 प्राकृत गाथाओं में लिखित इस प्रकरण का दूसरा नाम सम्पादक ने पुष्पमाला लिखा है, किन्तु स्वयं ग्रन्थकार ने इस का गौण नाम कुसुममाला सूचित किया है।

इस ग्रन्थ में दान, शील (ब्रह्मचर्य), तप तथा भाव धर्म का सदृष्टान्त विवेचन किया गया है।

आवश्यक, शतक तथा अनुयोग का विवेचन शास्त्रीय अभ्यासियों के लिए उपयोगी है, किन्तु यह उपदेशमाला सामान्य कोटि के जिज्ञासुओं को धर्म का रहस्य समझाती है। आवश्यक

तथा अनुयोग मुख्यतः संयमी के लिए लाभदायक ग्रन्थ है, जब कि यह उपदेशमाला धर्म के जिज्ञासुओं को यह बात सिखाती है कि उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर आगे कैसे बढ़ना चाहिए। इस उपदेशमाला को वस्तुतः आचार-शास्त्र की बाल-पोथी कहना चाहिए।

5. उपदेशमाला विवरण :

उपदेशमाला की यह टीका संस्कृत में लिखी गई है, किन्तु उसका अधिकतर भाग प्राकृत गद्य और पद्य की कथाओं द्वारा भरा हुआ है। मूल में आचार्य ने दृष्टान्त का संकेत किया है, परन्तु विवरण में उसके सम्पूर्ण कथानकों को कथाकार के ढंग से वर्णित कर दिया है; अतः इस विवरण का परिमाण खूब बढ़ा हो गया है और वह परिमाण 13868 श्लोक का है। जैन कथा-साहित्य के अभ्यासी के लिए यह ग्रन्थ कथा-कोष का काम देता है।

आचार्य ने अधिकतर कथानक अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं और कुछ को अपनी भाषा में प्रतिपादित किया है, अतः इस ग्रन्थ से अधिकतर कथाओं को उनके प्राचीन रूप में ही सुरक्षित रखने का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

आचार्य सिद्धिषि की रूपक-कथा उपमिति-भव-प्रपंचा से मलधारी हेमचन्द्र बहुत प्रभावित हुए, अतः उन्होंने उससे आध्यात्मिक अर्थ गभित कथानक भी इस ग्रन्थ में लिए हैं और प्रारम्भ में ही उसका आभार माना है। विवरण सहित उपदेशमाला रत्नलाम की श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढी से प्रकाशित हुई है।

6. जीवसमास विवरण :

अथवा जीवसमास वृत्ति नाम का ग्रन्थ आचार्य ने वि० 1164 से पूर्व लिखा होगा। इसका कारण यह है कि उनके हस्ताक्षर वाली वि० 1164 की लिखी हुई एक प्रति खम्भात के शान्तिनाथ भण्डार में विद्यमान¹ है। जीवसमास का कर्ता कौन है? यह ज्ञात नहीं हो सका। इसका लेखक कोई प्राचीन आचार्य होना चाहिए। इससे पहले शीलाकाचार्य ने भी जीवसमास की टीका लिखी थी², इससे उनके समय में भी इस ग्रन्थ का महत्व सिद्ध होता है। आगमोदय समिति ने मूल सहित यह विवरण मुद्रित किया है और उसका गुजराती भावार्थ मास्टर चन्दुलाल नानाचन्द ने प्रकाशित किया है।

जीवसमास—अर्थात् जीवों का चौदह गुण-स्थानों में संग्रह। अनुयोग के सत्पद प्ररूपणा आदि आठ द्वारों से जीवसमास का विचार इस ग्रन्थ में मुख्यतः किया गया है। प्रसंगवश अजीव के विषय में भी कुछ वर्णन है, तदपि ग्रन्थ रचना का मुख्य प्रयोजन जीवों के गुणस्थान-कृत भेदों पर विचार करना है, अतः इसका जीवसमास नाम सार्थक है। आचार्य मलधारी ने पूर्वाचार्य-कृत टीकाओं के विद्यमान होने पर भी अपनी प्रकृति के अनुसार नई टीका लिखी, इसमें उनका प्रधान लक्ष्य सम्पूर्ण विषय को हस्तामलकवत् स्पष्ट कर देना था। पाठक यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि आचार्य को इसमें पूर्ण सफलता मिली। इस वृत्ति के बहाने आचार्य ने जीव-तत्त्व का सर्वग्राही विवेचन कर दिया है।

1. जैन साहित्य सं० इ० पृष्ठ 247

2. जिनरत्नकोश देखें।

इस ग्रन्थ की मूल गाथाएँ 286 हैं और उसकी वृत्ति का परिमाण 6627 श्लोक जितना है। इससे प्रकट है कि टीकाकार ने विवेचन में कितना विस्तार किया है।

7. भवभावना सूत्र

इस ग्रन्थ की रचना 531 प्राकृत गाथाओं में हुई है। इस का गौण नाम 'मुक्ताफल-माला' अथवा 'रत्नमालिका' अथवा 'रत्नावलि' भी सूचित किया है। इस ग्रन्थ में बारह भावनाओं में से भव-भावना अथवा संसार-भावना का मुख्यरूपेण वर्णन है, अतः उसका नाम भव-भावना रखा गया। प्रसंगवश आचार्य ने बाह्य भावनाओं का भी वर्णन कर दिया है, तथापि 531 में से 322 गाथाएँ तो केवल एक भव-भावना के विवरण की ही हैं, अतः इसका यह नाम सर्वथा उचित है। इसमें जीव की चारों गति के भवों और उनके दुःखों का वर्णन तो है ही, इसके प्रतिरिक्त एक भव में भी बाल्यादि जो विविध अवस्थाएँ हैं, उनका भी विशेषरूपेण वर्णन है।

8. भवभावना विवरण

पूर्वोक्त ग्रन्थ का विवरण वृत्ति के नाम से स्वयं आचार्य ने लिखा है। उसका परिमाण 12950 श्लोक जितना है। इस विवरण का अधिकतर भाग जमिनाथ तथा भवनभानु के चरित्रों से परिपूर्ण है। विवरण संस्कृत में लिखा गया है, किन्तु उपदेशमाला विवरण के समान उद्धृत कथाएँ प्राकृत में ही हैं। सामान्यतः इसमें उन कथाओं का समावेश नहीं है जो उपदेशमाला विवरण में आ चुकी हैं, अतः ये दोनों ग्रन्थ कथा-साहित्य की दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक हैं। विषय की दृष्टि से भी दोनों के सम्बन्ध में यही बात है। यह सावना होगा कि, ये दोनों ग्रन्थ-मिथ्याकर्म, जैन-धर्म का आचार्य विषयक समस्त उपदेश दृष्टान्त सहित उपस्थित करते हैं। उपदेशमाला के विवरण की भांति इनमें भी आध्यात्मिक-रूपकों की योजना की गई है और उसका आधार सिद्धि की उपमिति-भव-प्रपञ्चा कथा है, यह बात आचार्य ने भी स्पष्ट कर दी है।

इस वृत्ति का निर्माण आचार्य ने वि० सं० 1177 के श्रावण मास की पंचमी के दिन रविवार को पूर्ण किया, इस बात का उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में है। वह उल्लेख इस प्रकार है :-

सप्तत्यधिकैकदशवर्षशतैकमादतिक्रान्ते ।

निष्पन्ना वृत्तिरियं श्रावणरविपञ्चमीदिनसे ॥

विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति के अन्त में उसका रचना-काल बताया गया है, वह विक्रम 1175 है और इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि० 1177 निर्दिष्ट है। उन्होंने ग्रन्थ-रचना का जो क्रम बताया था, उसमें विशेषावश्यक वृत्ति का निर्देश सब के अन्त में था, उसके स्थान पर प्रस्तुत ग्रन्थ की अन्तिम स्थान मिलना चाहिए, किन्तु आचार्य ने विशेषावश्यक वृत्ति को सब के अन्त में क्यों रखा? इसका कारण ज्ञात करने का कोई साधन नहीं है। विवरण सहित भव-भावना ग्रन्थ श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पीढ़ी ने रत्नलाम से प्रकाशित किया है।

9. नन्द टिप्पण--

इस ग्रन्थ की किसी प्रति का अब तक कहीं निर्देश नहीं किया गया है, अतः इसकी प्रति का उल्लेख जिनरत्न-कोश में भी नहीं मिलता। श्री देसाई ने भी इस ग्रन्थ की प्रति के

विषय में कुछ नहीं लिखा। अधिकतर यह टिप्पण भी आवश्यक के समान आचार्य हरिभद्र की नन्द टीका पर होना चाहिए। नन्दसूत्र में पांच ज्ञानों की विवेचना है, अतः इस टिप्पण का भी यही विषय होना चाहिए।

10. विशेषावश्यक विवरण :

यह वही ग्रन्थ है जिसके एक प्रकरण के आधार पर प्रस्तुत अनुवाद किया गया है। आवश्यक सूत्र के सामायिक-प्रथम-तक का भाष्य आचार्य जिनभद्र ने लिखा था। इस भाष्य की स्वोपज्ञ आदि अनेक टीकाएँ थीं, किन्तु आचार्य मलधारी की टीका की रचना के बाद ये सभी टीकाएँ उपेक्षित हो गईं। यही कारण है कि इसकी प्रति अनेक भण्डारों में उपलब्ध है। यह टीका विनय और सरल है और दार्शनिक विषयों को अत्यन्त स्पष्ट करती है। अतः अन्य टीकाओं की अपेक्षा इसका महत्त्व बढ़ गया है। अन्य टीकाएँ अत्यन्त संक्षिप्त हैं और यह प्रति विस्तृत है, इसलिए इसका 'वृहद्वृत्ति' यह साथक नाम प्रसिद्ध हुआ, किन्तु ग्रन्थकार ने तो इसे वृत्ति ही कहा है।

वि० सं० 1175 की कार्तिक सुदि पंचमी के दिन आचार्य ने इस वृत्ति को पूर्ण किया। उसका परिमाण 28000 श्लोक जितना है।

यह वृत्ति यशोविजय ग्रन्थ माला में प्रकाशित हुई है और इसका गुजराती भाषान्तर प्रागमोदय समिति ने दो भागों में प्रकाशित किया है।

इस वृत्ति के लेखनकार्यों में जिन व्यक्तियों ने आचार्य मलधारी की सहायता प्रदान की थी, उनके नामों का निर्देश आचार्य ने ग्रन्थ के अन्त में किया है, वह इस प्रकार है :—

1. अभयकुमारगणि, 2. धनदेवगणि, 3. जिनभद्रगणि, 4. लक्ष्मणगणि तथा
5. विबुधचन्द्र नाम के मुनि और 1. श्री. महानन्दा तथा 2. महत्तरा श्री वीरमति गणिनी नाम की साध्वियाँ।

इस ग्रन्थ के अन्त में भी वही प्रशस्ति दी गई है जो बन्धशतक-वृत्ति के अन्त में है, केवल उपान्त्य श्लोक में शतकवृत्ति के स्थान पर 'प्रकृतवृत्ति' लिखा है और अन्तिम श्लोक तथा रत्ना के निम्नलिखितकाल वि० सं० 1175 दिया गया है।

9. गणधरों का परिचय

आगमों में गणधरों के सम्बन्ध में बहुत ही कम उल्लेख है। समवायांग सूत्र में गणधरों के नामों तथा आयु के विषय में बिखरी हुई बातें उपलब्ध हैं। कल्पसूत्र में भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र वर्णित है, किन्तु उसमें गणधरवाद का कोई भी उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र की टीकाओं में गणधरवाद के प्रसंग का वर्णन है। कल्पसूत्र में स्वविराचिन' के प्रकरण में कहा है कि भगवान् महावीर के नव गण और ग्यारह गणधर थे। उसके स्पष्टीकरण में कल्पसूत्र में 11 गणधरों के नाम, गोत्र तथा प्रत्येक की शिष्य संख्या

1. समवायांग-11, 74, 78, 92, इत्यादि।
2. कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० 215.

का निर्देश है। साथ ही इनकी योग्यता के विषय में लिखा है कि सभी गणधर द्वादशांगी तथा चौदह पूर्व के धारक थे। यह भी कहा है कि सभी गणधर राजगृह में मुक्त हुए; उनमें से स्थविर इन्द्रभूति तथा सुधर्मा के अतिरिक्त सभी ने भगवान् महावीर के जीवन-काल में ही मोक्ष प्राप्त किया था। इस समय जो श्रमण संघ है, वह आर्य सुधर्मा की परम्परा में है, शेष गणधरों का परिवार विच्छिन्न है¹। स्थविर सुधर्मा के शिष्य आर्य जम्बूस्वामी थे और उनके शिष्य आर्य प्रभव, इस प्रकार आगे स्थविरावलि का वर्णन किया गया है²। सभी गणधरों के विषय में उपर्युक्त सामान्य बातें उक्त आगम में वर्णित हैं।

कल्पसूत्र में प्रधान गणधर इन्द्रभूति के विषय में लिखा है कि जिस रात्रि में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात को भगवान् के ज्येष्ठ-अन्तेवासी गौतम इन्द्रभूति गणधर का भगवान् महावीर सम्बन्धी प्रीति-बन्धन टूट गया और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई³। एक जगह यह भी लिखा है कि भगवान् महावीर के इन्द्रभूति प्रमुख 14000 शिष्य⁴ थे। इससे ज्ञात होता है कि सभी गणधरों में इन्द्रभूति प्रमुख थे और उन्हें भगवान् से अपार प्रेम था। भगवान् के जीवन-काल में उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ था, इस बात का समर्थन भगवती सूत्र के एक प्रसंग से भी होता है⁵।

भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था और वह चिरकालीन भी था। भगवान् के प्रति गौतम का अपार स्नेह था, इन बातों का उल्लेख भगवती के एक संवाद में दृष्टिगोचर होता है। भगवान् गौतम से कहते हैं, हे गौतम! तू मेरे साथ बहुत समय से स्नेह से बद्ध है। हे गौतम! तूने बहुत समय से मेरी प्रशंसा की है। हे गौतम! हम दोनों का परिचय दीर्घकालीन है। हे गौतम! तूने दीर्घकाल से मेरी सेवा की है, मेरा अनुसरण किया है, मेरे साथ अनुकूल व्यवहार किया है। हे गौतम! अनन्तर देवभव में और तुरंत के मनुष्य भव में इस प्रकार तुम्हारे साथ सम्बन्ध है) अधिक क्या? मृत्यु के बाद शरीर का नाश हो जाने पर, यहाँ से चलकर हम दोनों समान, एकार्थ (एक प्रयोजन अथवा एक सिद्धि-क्षेत्र में रहने वाले), विशेषता तथा भेदरहित हो जायेंगे⁶।

इस प्रसंग का टीकाकार अभयदेव ने यह स्पष्टीकरण किया है कि गौतम के शिष्यों को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, फिर भी गौतम को नहीं हुई। गौतम इस बात से खिन्न थे, अतः भगवान् ने उक्त प्रकारेण उन्हें आश्वासन दिया।

गणधरों के जो प्रश्न उपलब्ध होते हैं, उनसे इतना तो ज्ञात होता है कि उनका स्वभाव शंका (जिज्ञासा) करने का था। गौतम इन्द्रभूति तो भगवान् से बारीक से बारीक प्रश्न पूछकर तीनों

1. कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० 215
2. वही पृ० 217
3. वही-सूत्र 120
4. वही-सूत्र 134
5. भगवती 14.7
6. भगवती अनुवाद 14,7, पृ० 354 भाग 3.

लोक की बातें जानने के लिए उत्सुक हैं, अतः उनके अधिकतर प्रश्नों की पृष्ठभूमि में जिज्ञासा का तत्व है, किन्तु कुछ ऐसे भी प्रश्न हैं जिनसे उनकी जिज्ञासा के अतिरिक्त पूर्ण तुष्टि हुए बिना कोई भी बात स्वीकार न करने की उनके स्वभाव की विशेषता विदित होती है; इसके उदाहरण स्वरूप आनन्द श्रावक के अवधिज्ञान के प्रसंग का उल्लेख किया जा सकता है¹। आनन्द श्रावक को अमुक मर्यादा में अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई थी, यह जानकर भी गौतम ने कहा, गृहस्थ को अवधिज्ञान होता तो है किन्तु इतना अधिक नहीं; अतः तू आलोचना कर और और प्रायश्चित्त ले, किन्तु आनन्द ने प्रत्युत्तर में उन्हें कहा कि आलोचना मुझे नहीं, अपितु आपकी ही करनी है। यह सुनकर इन्द्रभूति शंका, कांक्षा और विचिकित्सा में पड़ गए और भगवान् के पास जाकर सारी बात उनसे कही। भगवान् ने गौतम से कहा कि जो कुछ आनन्द ने कहा है, वही तथ्य है, अतः तुम्हें उससे क्षमा माँगनी चाहिए। गौतम सरल स्वभाव के थे, अतः उन्होंने जाकर आनन्द से क्षमा माँगी², इससे गौतम की नम्रता भी स्पष्ट होती है।

इसी प्रकार किसी भी परनीतिक की बात सुनकर गौतम तत्काल भगवान् के पास आते हैं और स्पष्टीकरण करते हैं तब ही उन्हें सन्तोष होता है³। यदि कोई नई बात प्रत्यक्ष हुई हो, तो वे उसका भी शीघ्र ही समाधान कर लेते थे, उदाहरणतः वह प्रश्न लिया जा सकता है जो उन्होंने नन्दा के स्तन में से दूध की धारा बहने पर किया था⁴।

आगमों में जैसे गौतम के भगवान् महावीर के साथ हुए संवादों का उल्लेख है, उसी प्रकार उनके अन्य स्थविरों के साथ हुए संवाद भी निर्दिष्ट हैं। दृष्टान्त के रूप में केशी-गौतम संवाद लिया जा सकता है। उसमें गौतम, केशी श्रमण को महावीर और पार्श्वनाथ के शासन-भेद का रहस्य समझाते हैं और अन्त में उन्हें महावीर के शासन में दीक्षित करते हैं⁵।

‘समयं गोयम मा पमायए’—इस प्रतिद्व पद्यांश वाला अद्ययन अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह गौतम के बहाने सर्व जन-साधारण को भगवान् द्वारा दिए गए अप्रमाद के उपदेश का सुन्दर उदाहरण है⁶। गौतम की समय-सूचकता का परिचय देने वाले कुछ प्रसंग आगम में उल्लिखित हैं। अन्यतीर्थिक स्कंदक के आगमन का समाचार भगवान् से सुनकर वे उसके पास गए और उसे बता दिया कि वह भगवान् के पास क्यों आया है? और उसके मन में क्या शंकाएँ हैं? इससे स्कंदक परिव्राजक भगवान् का श्रद्धालु बन जाता है⁷।

आगम में हम इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के सन्देशवाहक का कार्य करते हुए भी देखते हैं। महाशतक की मारणान्तिक संलेखना के समय भगवान् से प्रायश्चित्त करने की प्रेरणा

1. उपासकदशांग अ० 1
2. उपासकदशांग अ० 1
3. भगवती 2.5 इत्यादि
4. भगवती 9.33 गुज० अनुवाद भाग 3, पृ० 164
5. उत्तराध्ययन अ० 23
6. उत्तराध्ययन अ० 10
7. भगवती शतक 2, उ० 1

लेकर वे उसके घाम जाते हैं और उसे कहते हैं कि तुमने अपनी पत्नी रेवती को सत्य होते हुए भी जो कठु वचन कहे हैं, उनका प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। इन्द्रभूति का गण-वर्णन भगवती में तथा अत्यन्त एक समान मिलता है, वह इस प्रकार है—“उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पास (बहुत दूर नहीं और बहुत निकट भी नहीं) ऊर्ध्वजानु खड़े होकर अधःगिर (गिर झुकाकर) और ध्यानरूप कोष्ठ में प्रविष्ट होकर उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नाम के श्रमणार साधु, संयम और तप द्वारा आत्मा को शुद्ध करते हुए विचरते रहने थे। वे गौतम गोत्र वाले, सात हाथ ऊँचे, समचौरस संस्थान वाले, बद्धश्रेयभनाराच संहनन धारण करने वाले, सोने के कड़े की रेखा के समान और पद्मकेसर के समान धवल वर्ण वाले, उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, अतिशय सुण वाले, अतिशय तप वाले धोर ब्रह्मचर्य के पालन के स्वभाव वाले, शरीर के संस्कारों का त्याग करने वाले, शरीर में रहने पर संक्षिप्त एवं दूरगामी होने पर विपुल ऐसी तेजोलक्ष्या वाले, पूर्व के ज्ञाता, चार जान सम्पन्न और सर्वाक्षर सन्निपाती थे।”

विद्यमान आगमों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उनमें से कोई का निर्माण इन्द्रभूति गौतम के प्रश्नों के आधार पर ही है, ऐसे आगमों में उववाइ सूत्र, रायपसेणइय, जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति को गिना जा सकता है। भगवती सूत्र का अधिकतर भाग भी इन्द्रभूति के प्रश्नों का आभारी है, ऐसा हम कह सकते हैं। जेष आगमों में भी कहीं-कहीं गौतम के प्रश्न हैं।

आगमों में इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त यदि किसी दूसरे गणधर के कुछ उल्लेख हैं तो वे आर्य सुधर्मा के सम्बन्ध में हैं, किन्तु उनकी जीवन-घटनाओं का आगमों में कोई उल्लेख नहीं है, केवल यही उपलब्ध होता है कि जम्बू के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने श्रमक आगम का अर्थ कहा।

केवल भगवती सूत्र ही प्रश्न-बटुल है और उसमें भी गौतम इन्द्रभूति के प्रश्नों की अधिकता है। यह एक महान् आश्चर्य है कि सुधर्मा की परम्परा के सञ्च के विद्यमान होने पर भी और प्रस्तुत आगमों की वाचना, परम्परा से सुधर्मा से प्राप्त होने की मान्यता होते हुए भी तथा कई आगमों की प्रथम वाचना सुधर्मा द्वारा जम्बू को दिये जाने पर भी और इस बात के उन आगमों से सिद्ध होने पर भी, समस्त आगमों में सुधर्मा द्वारा भगवान् से पूछे गए किसी भी प्रश्न का निर्देश नहीं है। इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त केवल अभिनभूति¹, वायुभूति² तथा मडियपुत्त³ द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नों का उल्लेख भगवती में है।

इन्हें छोड़कर किसी और गणधर द्वारा किया गया प्रश्न आगमों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

1. उपासकदशांग अ० 8
2. भगवती शतक 1 (विद्यापीठ, प्रथम भाग पृ० 33)
3. ज्ञातार्थमकथांग, अनुत्तरोपपातिक, विपाक, निर्यावालिंका सूत्रा के प्रारम्भिक वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनकी प्रथम वाचना आर्य सुधर्मा ने जम्बू को दी।
4. 5. भगवती 3.1
6. भगवती 3.3

'सुखं भे आउसं तेसं भगवया एवम्वखायं' इस वाक्य से आगमों का जो प्रारम्भ होता है, उसकी व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने यह स्पष्ट मत प्रकट किया है कि इससे भगवान् के मुख से सुनने वाले आर्य सुधर्मा अभिप्रेत हैं और वे अपने शिष्य जम्बू को इस श्रुत का अर्थ सम्बन्धित आगमों में बताते हैं। उक्त वाक्य से शुरु होने वाले आगमों में आचारांग, स्थानांग, सम्वादांग का निर्देश किया जा सकता है। कुछ ऐसे भी आगम हैं जिनके अर्थ की प्ररूपणा जम्बू के प्रश्न के आधार पर सुधर्मा ने की है, किन्तु उस विषय का ज्ञान भगवान् महावीर से ही प्राप्त हुआ था; ऐसे आगम ये हैं—जाताधर्म कथा, अनुत्तरोपपातिक, विपाक, निरयावलिका।

आर्य सुधर्मा का गुण-वर्णन भी इन्द्रभूति गौतम जैसा ही है, भेद केवल यह है कि उन्हें ज्येष्ठ नहीं कहा है।

गणधरों के सम्बन्ध में इतनी बातें मूल आगमों में मिलती हैं। इनमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि गणधरवाद में प्रत्येक गणधर के मन की जिन शंकाओं की कल्पना की गई है, उन्हें उन्होंने भगवान् के सम्मुख पहले व्यक्त किया अथवा भगवान् ने उनकी शंकाएँ पहले ही बतादी, इस विषय में कुछ भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कल्पसूत्र से इस बात की आशा की जा सकती थी किन्तु उसमें भी इस सम्बन्ध में निर्देश नहीं है। गणधरवाद का मूल सर्वप्रथम आवश्यक निर्युक्ति की ही एक गाथा में मिलता है। इस गाथा में 11 गणधरों के संशयों को क्रमशः इस प्रकार गिनाया गया है :—

जीवे¹ कर्मे² तज्जीव³ भूय⁴ तारिसय⁵ बंधमोक्षे⁶ य ।

देवा⁷ शेरइय⁸ या पुण्णे⁹ परलो¹⁰ सेव्वारो¹¹ ॥

आव० नि० गाथा 596

1. जीव है या नहीं ?
2. कर्म है या नहीं ?
3. शरीर ही जीव है अथवा अन्य ?
4. भूत हैं या नहीं ?
5. इस भव में जीव जैसा है, परभव में भी वैसा ही होता है या नहीं ?
6. बन्ध-मोक्ष है या नहीं ?
7. देव हैं अथवा नहीं ?
8. नारक हैं अथवा नहीं ?
9. पुण्य-पाप है या नहीं ?
10. परलोक है या नहीं ?
11. निर्वाण है अथवा नहीं ?

इसके अतिरिक्त निर्युक्ति में गणधरों के विषय में जो व्यवस्थित बातें उपलब्ध होती हैं, उन्हें अगले पृष्ठ पर कोष्ठक के रूप में प्रतिपादित किया गया है¹।

1. इसी प्रकार का एक कोष्ठक कल्पसूत्रार्थ-प्रबोधिनी में आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि ने दिया है (पृ० 255)। उनमें कुछ और बातें मिलाकर मैंने इसे तैयार किया है। देखें—आ० नि० गा० 593-659

संख्या	नाम	पिता	माता	जाति	गोत्र	धन्धा	जन्म नगर	जन्म नक्षत्र	गृहवास पर्याय
1.	इन्द्रभूति	वसुभूति	पृथ्वी	ब्राह्मण	गौतम	अश्वत्थक	मगधदेश गोठबर	ज्येष्ठा	50
2.	अग्निभूति	"	"	"	"	"	"	कृत्तिका	46
3.	वायुभूति	"	"	"	"	"	"	स्वाति	42
4.	व्यक्त	धनमित्र	वारुणी	"	भारद्वाज	"	कोल्लाग सन्नवेश	श्रवण	50
5.	सुधर्मा	धम्मिल	भद्रिला	"	अग्नि- वैश्यायन	"	"	हस्तोत्तर	50
6.	मंडिक (त)	धनदेव	विजयदेवा	"	वाशिष्ठ	"	भोरीय सन्नवेश	मघा	53
7.	मौर्य-पुत्र	मौर्य	"	"	काश्यप	"	"	रोहिणी	65
8.	अकम्पित	देव	जयन्ती	"	गौतम	"	मिथिला	उत्तरा- पादा	48
9.	अचलभ्राता	वसु	नन्दा	"	हरित	"	कोसला	मृगशिर	46
10.	मेतार्य	दत्त	वरुणादेवा	"	कौण्डिन्य	"	वत्सभूमि तुंगिय सनि०	अश्विनी	36
11.	प्रभास	बल	अतिभद्रा	"	"	"	राजगृह	पुष्य	16

छद्मस्थ-पर्याय	केवल-पर्याय	सर्वायु	शिष्य	शिष्य-परम्परा	निर्वाण भूमि	संस्थान	संघयण	निर्वाण समय	शास्त्र
30	12	92	500	×	राजगृह	समचतुरस्र	वज्र ऋषभ नाराच	महावीर के बाद	वारह अंग चौदह पूर्व
12	16	74	500	×	"	"	"	महावीर से पहले	"
10	18	70	500	×	"	"	"	"	"
12	18	80	500	×	"	"	"	"	"
42	8	100	500	जम्बू आदि	"	"	"	महावीर के बाद	"
14	16	83	350	×	"	"	"	महावीर से पहले	"
14	16	95	350	×	"	"	"	"	"
9	21	78	300	×	"	"	"	"	"
12	14	72	300	×	"	"	"	"	"
10	16	62	300	×	"	"	"	"	"
8	16	40	300	×	"	"	"	"	"

ये तीनों सगे भाई थे ।

ये दोनों एक ही माता परन्तु भिन्न-भिन्न पिता के पुत्र थे ।

भगवान् के गणधर ग्यारह थे, परन्तु गण नव ही थे, यह बात कल्पसूत्र में निर्दिष्ट है¹ और इसका वहाँ स्पष्टीकरण भी किया गया है। गण-भेद का आधार वाचना-भेद है। अर्थ का अभेद होने पर भी शब्द-भेद के कारण वाचना में भेद पड़ता है। भगवान् के उपदेश को प्राप्त कर, गणधरों ने जिन आगमों की रचना की, उनमें शब्द-भेद के कारण नौ वाचनाएँ थीं। एक ही प्रकार की वाचना लेने वाला साधु-समुदाय गण कहलाता है। ऐसे गण नौ थे, अतः 11 गणधर होने पर भी गण 9 ही थे। अन्तिम चार गणधरों में आर्य अकम्पित और आर्य अचलभ्रात² दोनों की मिलकर 600 शिष्यों की एक ही वाचना थी, अतः उनके दो गणों के स्थान पर एक ही गण गिना जाता है। इसी प्रकार आर्य मत्तार्य और प्रभास दोनों की 600 शिष्यों की एक ही वाचना थी, अतः उन दो गणों के स्थान पर भी एक ही गण गिना जाता है; अतः ग्यारह गणधरों के ग्यारह गणों के स्थान पर नव गण गिने गये हैं³।

आवश्यक निर्युक्ति में भगवान् के साथ इन्द्रभूति आदि के प्रथम परिचय का वर्णन है। उसमें लिखा है कि जिनवरेन्द्र⁴ की देवकृत महिमा सुनकर, अभिमानी इन्द्रभूति मात्सर्य युक्त होकर भगवान् के पास आया। जाति, जरा, मरण से रहित जिन भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे, अतः उन्होंने उसे उसके नाम और गोत्र से बुलाया और कहा कि तू वेद-पदों का यथार्थ अर्थ नहीं जानता, इसीलिए तुझे यह संशय है कि जीव है अथवा नहीं। वेद-पदों का वास्तविक अर्थ तो यह है। जब उसका संशय दूर हो गया तब उसने अपने 500 शिष्यों सहित दीक्षा ले ली। उसे दीक्षित हुये सुनकर अग्निभूति भी मात्सर्यवश होकर और यह विचार कर कि भगवान् के पास जाकर इन्द्रभूति को वापस ले आऊँ, भगवान् के पास आया। उसे भी भगवान् ने उसके मन में स्थित कर्म-विषयक सन्देह बता दिए। वह भी अपनी शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गया। शेष गणधर मात्सर्य से नहा, अपितु भगवान् के महत्व को समझकर उनके पास क्रमशः उनकी वन्दना और सेवा करने के उद्देश्य से आते हैं और सभी दीक्षा ग्रहण करते हैं। यह सामान्य उल्लेख निर्युक्तिकार ने किया है।

इन सामान्य तथ्यों के आधार पर कल्पसूत्र के अनेक टीकाकारों ने इस प्रसंग का आलंकारिक भाषा में विविध रीति से वर्णन किया है, किन्तु भाषा के अलंकार हटा दें तो उनमें विशेष नई बातें ज्ञात नहीं होती। विशेषावश्यक भाष्यकार ने गणधरों की शंकाओं से

1. कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० 215

2. " " "

3. श्री विजयरज्जेन्द्रसूरि ने स्मृति-अंश से कल्पसूत्रार्थ-प्रबोधिनी में अकंपित और अचल-भ्राता की माता एक तथा पिता भिन्न बताकर गोत्र-भेद लिखा है, वस्तुतः यह विधान मंडिक-मौर्य पुत्र के लिए होना चाहिये। आ० नि० हरि० टीका माथा 648 देखें।

4. आ० नि० गा० 589-641.

संकेत लेकर उन्हें वाद का रूप प्रदान किया है। उसी का अनुसरण कर आवश्यक निर्युक्ति तथा कल्पसूत्र के टीकाकारों ने भी उस प्रसंग पर वाद की रचना की है। यह समस्त वाद प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया ही गया है अतः उसका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

गणधरों के जीवन के सम्बन्ध में जो नई बातें वाद के साहित्य में उपलब्ध होती हैं, उनका निर्देश कर यह प्रकरण पूरा करूँगा।

आचार्य हैमचन्द्र ने उस समय में सुख्यात कथानुयोग का दोहन कर त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र लिखा था। अतः उसमें वर्णित तथ्यों के आधार पर ही यहाँ कुछ लिखना उचित है। उसमें भी इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त अन्य गणधरों के विषय में कोई विशेष बात दृग्गोचर नहीं होती, अतः इन्द्रभूति गौतम के जीवन की वर्णनीय बातों का ही यहाँ प्रतिपादन किया जाता है।

छायावस्था में सुदंष्ट्र नामक नागकुमार ने भगवान् को उपसर्ग किया था। वह वहाँ से मरकर एक किसान बना था। उसे सुलभ-बोधि जीव देखकर भगवान् ने गौतम इन्द्रभूति को उस किसान के पास उपदेश देने के लिए भेजा। गौतम ने उसे उपदेश देकर दीक्षा दी। तत्पश्चात् गौतम अपने गुरु भगवान् महावीर के अतिशयों का वर्णन करके उसे उनके पास ले जाने लगे। भगवान् महावीर को देखते ही किसान के मन में पूर्वभव के वर के कारण उनके प्रति घृणा उत्पन्न हुई और वह यह कहकर चलता बना कि “यदि यही तुम्हारे गुरु हैं, तो मुझे आगे कोई प्रयोजन नहीं।” इसका कारण पूछने पर भगवान् ने गौतम को अपने पूर्वभव का सम्बन्ध बताते हुए कहा, “मैंने त्रिपृष्ठ के भव में जिस सिंह को मारा था, उसी का जीव यह किसान है। उस समय क्रोध से उद्दीप्त उस सिंह को तुमने मेरे सारथि के रूप में आश्वासन दिया था, इसी से वह सिंह तब से तुम्हारे प्रति स्नेहशील और मेरे प्रति द्वेष-युक्त बना।” पर्व 10, सर्ग 9.

इस घटना का मूल मालूम करना हो तो वह भगवती सूत्र में मिल जाता है। वहाँ भगवान् ने गौतम से स्वयं कहा है कि हमारा सम्बन्ध कोई नया नहीं, किन्तु पूर्वजन्म से चला आता है। सम्भव है कि इसे या अन्य किसी ऐसे उद्गार को आधार बनाकर कथाकारों ने महावीर और गौतम का उक्त कथा में निर्दिष्ट सम्बन्ध जोड़ा हो।

इसी प्रकार अभयदेव आदि टीकाकार भगवती के इसी प्रसंग को गौतम के लिए आश्वासन रूप समझते हैं। उसके अनुसन्धान में जिस कथा की रचना की गई है वह यह है— गौतम ने पृष्ठ-चम्पा के गागली राजा को उसके माता-पिता के साथ दीक्षा दी थी और वे सब भगवान् को वन्दना करने के लिए पृष्ठ-चम्पा से चम्पा जा रहे थे। इसी अवधि में उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई, किन्तु गौतम को इस बात का पता न था, अतः जब भगवान् की प्रदक्षिणा करके वे केवली परिषद् में बैठने लगे तब गौतम कहने लगे, “प्रभु को वन्दना तो करो।” यह सुनकर भगवान् ने गौतम से कहा, “तुमने केवली की आशातना की है”, तब गौतम ने प्रायश्चित्त किया; किन्तु उनके मन में दुःख हुआ कि जब मेरे शिष्यों को केवलज्ञान हो जाता है, तो मुझे क्यों नहीं होता?।

1. त्रिषष्टि० पर्व 10, सर्ग 9

ऐसे ही एक अन्य प्रसंग का वहाँ वर्णन है। गौतम ने अपने ऋद्धि बल से अष्टापद का आरोहण किया और वापिस लौटते हुए तापसों को दीक्षा देकर, ऋद्धिबल से अष्टापदा-रोहण करवाकर तथा तीर्थकरों का दर्शन करवाकर ऋद्धिबल से ही पारणा करवाया। इन सब तापसों को भी गौतम के प्रति भक्ति के अतिरेक से, उनके गुरुओं का चिन्तन करते-करते तथा भगवान् के मात्र मुख-दर्शन से केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान् के समवसरण में गागली के समान ही घटना-घटित हुई। इससे भी गौतम को विशेष रूप से दुःख हुआ कि उन्हें केवलज्ञान क्यों नहीं होता? इस प्रसंग पर भगवान् ने गौतम को आश्वासन दिया कि धैर्य रखो, हम दोनों समान बनेंगे।

कथाकार की तथा प्रायः सभी आचार्यों की मान्यता है कि गौतम के हृदय में भगवान् के प्रति जो दृढ़-राग था, वही उनके केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक था। जिस क्षण वह दूर हुआ, उसी क्षण उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। यह क्षण भगवान् के निर्वाण के बाद का था। उस प्रसंग का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि, उसी रात को अपना मोक्ष ज्ञात कर प्रभु ने विचार किया कि मेरे प्रति गाढ़-राग के कारण ही गौतम को केवलज्ञान नहीं होता, अतः इस राग के उच्छेद का उपाय करना चाहिए। यह सोचकर उन्होंने गौतम को एक निकटस्थ गाँव में देवशर्मा को प्रतिबोधित करने के निमित्त भेज दिया। उनके वापिस आने से पूर्व ही भगवान् का निर्वाण हो गया। भगवान् के निर्वाण का सुनकर गौतम को पहले तो दुःख हुआ कि अन्तिम समय में भगवान् ने मुझे अपने से दूर क्यों किया, किन्तु अन्त में उन्होंने विचार किया कि मैं ही अब तक भ्रंति में अस्त था। निर्मम तथा वीतराग प्रभु में मैंने राग और ममता रखी, मेरा राग और मेरी ममता ही बाधक है, इस विचार-श्रेणी पर चढ़ते-चढ़ते उन्हें केवलज्ञान हो गया¹।

वस्तुतः उक्त सभी कथाओं की उत्पत्ति भगवती सूत्र के उक्त एक ही प्रसंग के आधार पर हुई ज्ञात होती है। कारण यह है कि उसमें विशेषरूपेण यह बात कही गई है कि गौतम का भगवान् के प्रति दृढ़ अनुराग था, उन दोनों का पूर्व-जन्म में भी सम्बन्ध था और वे दोनों भविष्य में भी एक सदृश होने वाले थे²।

10. विषय प्रवेश

शैली—

प्राचीन उपनिषदों में अथवा भगवद्गीता में जिस प्रकार की संवादात्मक शैली दिखाई देती है, अथवा जैन आगमों एवं बौद्ध त्रिपिटक में जिन विविध संवादों की रचना की गई है, उसी प्रकार के संवाद की रचना कर आचार्य जिनभद्र ने 'गणधरवाद' के प्रकरण की रचना नहीं की, परन्तु उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में जिस शैली से दर्शन के विविध विषयों की चर्चा की जाती थी, उसी शैली का आश्रय प्रस्तुत 'गणधरवाद' के लिखने में लिया गया

1. त्रिषष्टि० पर्व 10, सर्ग 13
2. भगवती सूत्र 14.7

था। इस शैली की यह विशेषता है कि ग्रन्थकर्ता स्वयं अपने मन्तव्य को तो उपस्थित करता ही है, किन्तु साथ ही प्रतिस्पर्धी के मन में उसके विरोध में जिन युक्तियों के दिये जाने की सम्भावना हो, उनका भी स्वयं ही प्रतिवादी की ओर से उल्लेख कर, ग्रन्थकर्ता द्वारा निराकरण कर दिया जाता है। संवाद-शैली में दोनों व्यक्ति अपने-अपने मन्तव्य को स्वयमेव उपस्थित करते हैं, किन्तु प्रस्तुत शैली में एक ही व्यक्ति वक्ता होता है, और वही अपनी और विरोधी की बात स्वयं कहता है। प्रस्तुत प्रकरण में आचार्य जिनभद्र ने भगवान् महावीर को मुख्य वक्ता बनाया है, अतः वही उन युक्तियों का उल्लेख करते हैं जो गणधरों के मन में उठ सकती हैं, साथ ही उनका खण्डन करते जाते हैं। ग्यारह ही गणधरों के साथ होने वाले वाद में इसी शैली को अपनाया गया है।

समस्त वाद की भूमिका यह है कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ थे और वे सभी के संशयों को ज्ञात कर उन सब का निवारण करने में समर्थ थे, अतः गणधरों के मुख से उनकी अपनी शंकाओं को कहलवाने के स्थान पर यह अधिक संगत है कि भगवान् महावीर गणधरों के मन में स्थित शंकाओं को बताकर उनका निवारण करें। इसीलिए भगवद्गीता के कृष्णार्जुन संवाद की शैली का अनुसरण करने की अपेक्षा प्रतिवादी के मन में रही हुई शंका का उल्लेख कर उसके निराकरण करने की शैली प्रस्तुत प्रकरण के अधिक अनुकूल है; अतः आचार्य ने संवाद को न अपना कर इसी शैली का अनुसरण किया है। इसलिए प्रत्येक वाद के प्रारम्भ में जब इन्द्रभूति आदि भगवान् के सन्मुख उपस्थित होते हैं, तब वे कुछ कहना शुरू करें, इससे पहले ही भगवान् उन्हें नाम-गोत्र से सम्बोधित कर उनके मन की शंका को ही नहीं, प्रत्युत उस शंका की आधारभूत युक्तियों का भी कथन कर देते हैं¹।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि आचार्य जिनभद्र ने प्रस्तुत गणधरवाद की रचना निर्युक्ति के आधार पर की है, अतः उनके लिए निर्युक्ति की शैली का अनुसरण करना उचित था। निर्युक्ति की प्रस्तुत वाद की व्यवस्था को देखते हुए आचार्य जिनभद्र के सन्मुख संवादात्मक शैली का आश्रय लेने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भगवान् की सर्वज्ञता को लक्ष्य में रखकर प्रत्येक वाद की चर्चा का प्रारम्भ करना अनिवार्य था, अतः आचार्य जिनभद्र ने निर्युक्ति की मूल रूपरेखा को सन्मुख रख और अपनी ओर से केवल पूर्वोत्तर पक्ष की युक्तियाँ उपस्थित कर विविध वादों की चर्चा करना उचित समझा।

यद्यपि भगवान् की सर्वज्ञता को आधार बनाकर चर्चा की गई है, तथापि सम्पूर्ण चर्चा श्रद्धा-प्रधान नहीं अपितु तर्क-प्रधान बन गई है। यह बात सहज ही विद्वानों के ध्यान में आ जाती है। जिज्ञासु के मन की शंकाओं का तर्क के बल से समाधान करके ही कुछ स्थलों पर अपनी सर्वज्ञता का कथन² कर भगवान् महावीर उन सिद्धान्तों को स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि केवल आगम-वाक्य को नहीं, प्रत्युत तर्क शुद्ध

1. देखें—गा० 1549-1553; 1609 इत्यादि; 1648 इत्यादि

2. गाथा 1563, 1577 इत्यादि

आगम-वाक्य को प्रमाण मानना चाहिए, अतः समस्त चर्चा आगम-मूलक होने पर भी तर्क द्वारा शुद्ध किये जाने के कारण आगमिक के स्थान में तार्किक ही हो गई है और इस प्रकार आगम गौण बन गये हैं। जिस प्रकार कृष्ण स्वयं भगवान् होकर भी अर्जुन को केवल श्रद्धा से नहीं परन्तु तर्क-पुरस्सर युक्तियों से पृष्ठ करने के लिए प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार भगवान् महावीर ने दलीलें देकर अपना मन्तव्य प्रकट किया है तथा गणधरों की शंकाओं का निवारण किया है। तर्क-पुरस्सर युक्तियों के अतिरिक्त जैसे गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने विराट रूप का भी साक्षात्कार करवाना उचित समझा, वैसे ही भगवान् महावीर ने भी अनेक बार अपनी सर्वज्ञता का कथन किया है। गीताकार ने लिखा है कि अर्जुन ने भगवान् कृष्ण के विराट रूप का साक्षात्कार किया। फिर भी आधुनिक विद्वान् जैसे इस बात को केवल श्रद्धा-प्रधान मानते हैं, उसी प्रकार अपनी सभा में उपस्थित देवों को भगवान् महावीर द्वारा कराया गया साक्षात्कार¹ और वंसी अन्य अनेक बातें श्रद्धा-प्रधान किंवा श्रद्धागम्य अथवा प्रत्यक्ष प्रतीति से परे ही माननी चाहिए।

आचार्य जिनभद्र और टीकाकार हेमचन्द्र के समक्ष जो दार्शनिक ग्रन्थ थे, उन सब की शैली का प्रभाव इन दोनों लेखकों पर पड़ा है। शंका उपस्थित करते हुए दोनों पक्षों की सबलता बताना आवश्यक है, अन्यथा शंका का उत्थान ही सम्भव नहीं। प्राचीन दार्शनिक सूत्र-भाष्य ग्रन्थों में दो विरोधी पक्षों की सम-बलता का उल्लेख कर शंका उपस्थित करने की परम्परा थी²। वहीं से ही प्रेरणा प्राप्त कर प्रस्तुत प्रकरण में भी गणधरों की शंकाओं को उसी प्रकार उपस्थित किया गया है। तदनन्तर जैसे सूत्रों में समाधान किया जाता था, वैसे ही यहाँ आचार्य जिनभद्र महावीर द्वारा शंका का समाधान करवाते हैं।

मूल, भाष्य और टीका की शैली इसी प्रकार की है, किन्तु प्रस्तुत गुजराती भाषान्तर में इस शैली का रूपान्तर संवादात्मक शैली में कर दिया गया है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

शंका का आधार :

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि भगवान् महावीर से प्रथम परिचय के समय प्रत्येक गणधर के मन में जीवादि विषयक संशय होने की बात का सर्वप्रथम कथन हमें आवश्यक निर्युक्ति में ही उपलब्ध होता है। आगम में तत्सम्बन्धी कोई निर्देश नहीं है। आचार्य भद्रबाहु ने गणधरों के मन की शंकाओं का निर्माण किया है अथवा इस विषय में उन्हें भी परम्परा से कुछ प्राप्ति हुई है, इस बात का निश्चित निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ में यह बात स्वीकार करते हैं कि उन्हें सामायिक की निर्युक्ति आचार्य-परम्परा से जिस प्रकार³ प्राप्त हुई है, उसी प्रकार वे करेंगे,

1. गाथा 1869
2. न्याय-सूत्र व भाष्य 2.2.40; 2.2.58; 3.1.19; 3.1.33; 2.2.13; 3.1.1; ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य 1.1.28 आदि।
2. आ० नि० गाथा 87

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें जो कुछ लिखा गया है, वह सब अक्षरशः गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत गणधरों की शंकाओं के विषय में सबसे बड़ा बाधक प्रमाण तो यह है कि चौदह पूर्वधर भद्रबाहु-कृत माने गये कल्पसूत्र में इस विषय में संकेत तक भी नहीं है, अतः इस सम्बन्ध में जो सम्भावना प्रतीत होती है, उसका निर्देश आवश्यक है। बहुत सम्भव है कि आगम के गम्भीर अभ्यास के परिणाम-स्वरूप उस समय चर्चा-ग्रस्त दार्शनिक विषयों को उन्होंने गणधरों की शंका के बहाने व्यवस्थित कर लिया हो। सामान्यतः दार्शनिक चर्चा ब्राह्मणों में हुआ करती थी। ब्राह्मणों के मुख्य शास्त्र वेद थे, अतः आचार्य भद्रबाहु ने इन शंकाओं का सम्बन्ध भी वेद के वाक्यों से स्थापित करने का कौशल दिखाया है, यह बात मानने में औचित्य को क्षति नहीं पहुँचती।

आचार्य भद्रबाहु के परवर्ती दिगम्बर ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं गणधरों की जीवादि सम्बन्धी शंकाओं का उल्लेख मिलता है। इससे भी यह बात कही जा सकती है कि आचार्य भद्रबाहु के समय तथा उसके उपरान्त भी इन मान्यताओं ने गहरी जड़ें जमा दी थी¹।

कुछ भी हो, किन्तु एक बात निश्चित है कि गणधरों के मन की शंका वेदों के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्यों के आधार पर ही बताई गई है और भगवान् महावीर पहले तर्क द्वारा और तत्पश्चात् वेदवाक्यों का ही यथार्थ अर्थ करके उनका समाधान करते हैं, यह बात महत्वपूर्ण है। इस में हम उस भावना का दर्शन कर सकते हैं जो जैन धर्म की सर्व-समन्वय-शील भावना है। सामान्यतः दार्शनिकों के विषय में यह बात देखी जाती है कि जब उन्हें अपनी मान्यता की बात का प्रतिपादन करना श्रेयस्कर होता है तो वे प्रतिपक्षी के मत के खण्डन की ओर ही दृष्टि रखते हैं और अपने सन्मुख अपनी परम्परा के ही प्रमाण रखते हैं। ऐसी स्थिति में चर्चा के अन्त में दोनों वहाँ के वहाँ रहते हैं, क्योंकि दोनों में अपने मत का कदाग्रह होता है। भारतीय सभी दर्शनों के विषय में अधिकतर यही बात दिखाई देती है, किन्तु यहाँ इससे विपरीत मार्ग का आश्रय लिया गया है। इसमें दोनों पक्ष वेद के आधार पर ही लिए गये हैं और कथा भी वीतराग कथा है। प्रतिपक्षी को पराजित कर विजय प्राप्त करने की भावना के स्थान पर प्रतिपक्षी को सद्बुद्धि प्रदान करने की भावना यहाँ मुख्य है, अतः भगवान् महावीर वेद-वाक्यों का ही यथार्थ अर्थ बताते हैं और उसके समर्थन में भी अन्य वेद-वाक्य ही उपस्थित करते हैं। प्रतिपक्षी अपनी वेद-भक्ति के कारण भी शीघ्र ही भगवान् महावीर की बात मानले, इस योजना से इस व्यवहार-कुशलता का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें भगवान् महावीर को पूर्ण सफलता भी मिली है। इससे एक और बात भी सिद्ध होती है, वह यह है कि किसी भी शास्त्र का सर्वथा तिरस्कार करने की अपेक्षा उस शास्त्र का युक्ति-युक्त अर्थ निकाल कर उपयोग करने की भावना का प्रचार करना चाहिए। आचार्य की यह अभिरुचि जैन-दृष्टि का ही अनुसरण करने वाली है। नन्दी सूत्र में कहा है कि महाभारत जैसे शास्त्र एकान्त मिथ्या अथवा एकान्त-सम्यक् नहीं, किन्तु जो मनुष्य उसे पढ़ता है उसकी दृष्टि के अनुसार उसका परिणाम होता है, अर्थात् जो वाचक सम्यग्-दृष्टि है, वह स्वयं उस शास्त्र को पढ़कर उसका उपयोग निर्वाण-मार्ग में करता है, अतः उसके लिये वह शास्त्र सम्यक् है। किन्तु यदि मिथ्या-दृष्टि

1. महापुराण (पुष्पदन्त) 97,6; त्रिलोक प्रज्ञप्ति 1.76-79

वाला श्रावक उस शास्त्र को पढ़ता है तो वह अपनी दृष्टि के कारण उसका उपयोग संसार-वृद्धि के लिए करता है, अतः उसके लिए वह शास्त्र मिथ्या है¹।

निर्युक्तिकार ने शंका का आधार वेद-वाक्य बताया है, किन्तु आचार्य जिनभद्र तथा टीकाकारों ने जिन वाक्यों के आधार पर शंकाओं की उत्पत्ति बताई है, वे प्रायः उपनिषदों के ही हैं। भगवान् महावीर के समय में उपनिषदों का निर्माण हो गया था, अतः इन शंका-स्थानों अथवा शंका के विषयों की चर्चा उपनिषदों में है या नहीं, इस विषय पर प्रकाश डाला जायेगा। उपनिषद् वेदों के ही परिशिष्ट हैं, अतः उन्हें वेद कहना अनुचित नहीं।

शंका-स्थान :

गणधरों के मन में जिन विषयों के सम्बन्ध में सन्देह था, वे क्रमशः ये हैं :—

- | | |
|---|---------------------------|
| 1. जीव का अस्तित्व | 2. कर्म का अस्तित्व |
| 3. तज्जीव-तच्छरीर अर्थात् जीव और शरीर एक ही हैं | |
| 4. भूतों का अस्तित्व | |
| 5. इस भव और पर भव का सादृश्य | 6. बन्ध-मोक्ष का अस्तित्व |
| 7. देवों का अस्तित्व | 8. नारकों का अस्तित्व |
| 9. पुण्य-पाप का अस्तित्व | 10. परलोक का अस्तित्व |
| 11. निर्वाण का अस्तित्व | |

इन 11 शंका स्थानों को यदि हम गौण-मुख्य भाव से विभाजित करें तो उनमें 1. भूतों का अस्तित्व, 2. जीव का अस्तित्व, 3. कर्म का अस्तित्व, 4. बन्ध का अस्तित्व, 5. निर्वाण का अस्तित्व और 'परलोक का अस्तित्व' ये छह शंका स्थान मुख्य हैं और शेष सब इनके ही अवान्तर शंका-स्थान हैं।

उक्त छह शंका स्थानों का भी संक्षेप करना हो तो जीव, भूत और कर्म इन तीन में हो सकता है और इनका भी संक्षेप जीव तथा कर्म में हो सकता है। कारण यह है कि कर्म भौतिक भी है। तात्पर्य यह है कि जीव और कर्म के सम्बन्ध के आधार पर ही बन्ध-विश्व-प्रपञ्च है और उनके वियोग से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। बन्ध की तरतमता के आधार पर ही देव-नारक की कल्पना है, परलोक की कल्पना है, पुण्य-पाप की कल्पना है। इस भव का परभव से सादृश्य है या नहीं? इस शंका का आधार भी जीव और कर्म का सम्बन्ध ही है। संक्षेप में संसार और मोक्ष की कल्पना भी जीव और कर्म की कल्पना पर आधारित है। अतः मुख्य प्रश्न यही है कि जीव और कर्म का अस्तित्व है या नहीं? इस मुख्य प्रश्न के साथ परलोक का विचार सम्बन्धित है, अतः इस विषय प्रवेश में आत्मा, कर्म और परलोक इन तीन समस्याओं के अन्तर्गत समस्त चर्चा को प्रतिपादित करने की विचारणा ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से आगे की गई है।

1. नन्दी सूत्र 40, 41; देखें 'जैनागम' पत्रिका पृ० 3

(अ) आत्म-विचारणा

1. अस्तित्व

प्रथम गणधर इन्द्रभूति ने जीव के अस्तित्व के विषय में शंका उपस्थित की है और तृतीय गणधर वायुभूति ने 'जीव शरीर से भिन्न है अथवा नहीं' इस सम्बन्ध में सन्देह प्रस्तुत किया है। इसलिए स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, इन दोनों शंकाओं में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर हमें दोनों गणधरों के साथ होने वाले वाद से मिल जाता है। जब हम किसी भी विषय पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं, तब सर्वप्रथम उसके अस्तित्व का प्रश्न विचारणीय होता है, तत्पश्चात् ही उसके स्वरूप का प्रश्न सामने आता है। इसी नियम के अनुसार यहाँ भी 'जीव का अस्तित्व है या नहीं' इस विषय पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। इन्द्रभूति का कथन था कि, किसी भी प्रमाण से जीव को सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु भगवान् महावीर ने बताया कि, प्रमाण द्वारा जीव की सिद्धि शक्य है। इस प्रकार जीव का अस्तित्व सिद्ध हुआ, परन्तु जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न विद्यमान रहता है कि, उसका स्वरूप कैसा माना जाए? शरीर को ही जीव क्यों न मान लिया जाए? तृतीय गणधर वायुभूति ने इस विवाद का प्रारम्भ किया। तात्पर्य यह है कि, प्रथम और तृतीय गणधरों की चर्चा का विषय प्रधानतः जीव का अस्तित्व एवं उसका स्वरूप रहा है। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि, हम जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों की विचारणा पर दृष्टिपात कर लें।

ब्राह्मणों एवं श्रमणों की बढ़ती हुई आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण आत्मवाद के विरोधी लोगों का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। ब्राह्मणों ने अनात्मवादियों के सम्बन्ध में जो भी उल्लेख किए हैं, वे केवल प्रासंगिक हैं और उनके आधार पर ही वैदिक-काल से लेकर उपनिषद्-काल तक की उनकी मान्यताओं के विषय में कल्पनाएँ की जा सकती हैं। उसके बाद हम जैन-आगम और बौद्ध-त्रिपिटकों के आधार पर यह मालूम कर सकते हैं कि, भगवान् महावीर और बुद्ध के समय तक अनात्मवादियों की क्या मान्यताएँ थीं। दार्शनिक टीका-ग्रन्थों के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि, दार्शनिक सूत्रों के रचना-काल में अनात्मवादियों ने अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन बृहस्पति सूत्र में किया, किन्तु दुर्भाग्यवश वह मूल-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अनात्मवादियों से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री का आधार मुख्यतः विरोधियों का साहित्य ही है, अतः उसका उपयोग करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि विरोधियों द्वारा किए गए वर्णन में न्यून या अधिक मात्रा में एकाङ्गीपन की सम्भावना रहती ही है।

अनात्मवादी चार्वाक यह नहीं कहते कि 'आत्मा का सर्वथा अभाव है।' किन्तु उनकी मान्यता का सार यह है कि, जगत् के मूलभूत एक या अनेक जितने भी तत्त्व हैं, उनमें आत्मा कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार आत्मा मौलिक तत्त्व नहीं है। इसी तथ्य को दृष्टि-सन्मुख रखते हुए न्यायवातिककार उद्योतकर ने कहा है कि, आत्मा के अस्तित्व

के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः विवाद ही नहीं है, यदि विवाद है तो उसका सम्बन्ध आत्मा के विशेष स्वरूप से है। अर्थात् कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं¹।

जब तक मनुष्य में विचार-शक्ति का समुचित विकास नहीं होता, वह बाह्य-दृष्टि बना रहता है और जब तक उसकी दृष्टि बाह्य विषयों तक सीमित रहती है, वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य तत्त्वों को ही मौलिक तत्त्व मानने के लिए उत्सुक रहता है। यही कारण है कि, हमें उपनिषदों में ऐसे अनेक विचारक दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके मत में जल² अथवा वायु³ जैसे इन्द्रिय-ग्राह्य भूत विश्व के मूलरूप तत्त्व है। उन्होंने आत्मा जैसे किसी पदार्थ को मूल तत्त्वों में स्थान प्रदान नहीं किया, किन्तु इन भौतिक मूल तत्त्वों से ही आत्मा अथवा चैतन्य जैसी वस्तु की सृष्टि को स्वीकृत किया है। इस बात की विशेष सम्भावना है कि, जब बाह्य दृष्टि का त्याग कर मनुष्य ने विचार-क्षेत्र में पदार्पण किया, तब इन्द्रिय-ग्राह्य तत्त्वों को मौलिक तत्त्व न मान कर उसने असत्⁴, सत्⁵ अथवा आकाश⁶ जैसे तत्त्वों को मौलिक तत्त्व के रूप में मान्य किया जो बुद्धि-ग्राह्य होने पर भी बाह्य थे; और यह भी सम्भव है कि, उसने इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्वों से ही आत्मा की उपपत्ति की हो।

जब विचारक की दृष्टि बाह्य तत्त्वों से हट कर आत्माभिमुख हुई—अर्थात् जब वह विश्व के मूल को बाहर न देख कर अपने अन्तर में ही ढूँढने लगा—तब उसने प्राण तत्त्व को मौलिक मानना शुरू किया⁷। इस प्राण तत्त्व के विचार से ही वह ब्रह्म अथवा आत्माद्वैत तक पहुँच गया।

आत्मा के लिए प्रयुक्त होने वाले विविध नामों से भी आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति के उपर्युक्त इतिहास का समर्थन होता है। आचारांग सूत्र में जीव के लिए भूत, सत्व, प्राण जैसे शब्दों का प्रयोग आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति का सूचक है।

हमारे पास ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे यह ज्ञात हो सके कि इस उत्क्रान्ति में कितना समय लगा होगा? कारण यह है कि, उपनिषदों में जिन विविध मतों का उल्लेख है, वे उसी काल में आविर्भूत हुए, ऐसा कथन शक्य नहीं है। हाँ, हम यह मान सकते हैं कि, इन मतों की परम्परा दीर्घकाल से चली आ रही थी और उपनिषदों में उसका संग्रह कर दिया गया।

1. न्यायवार्तिक पृष्ठ 366
2. बृहदारण्यक 5.5.1
3. छान्दोग्य 4.3
4. छान्दोग्य 3.19.1, तैत्तिरीय 2.7
5. छान्दोग्य 6.2
6. छान्दोग्य 1.9.1; 7.12
7. छान्दोग्य 1.11.5; 4.3.3; 3.15.4

उपनिषदों के आधार पर हमने यह देखा कि प्राचीन काल के अनात्मवादी जघत् के मूल में केवल किसी एक तत्त्व को ही मानते थे। हम उन्हें अद्वैतवाद की श्रेणी में रख सकते हैं और उनकी मान्यता को 'अनात्म-द्वैत' का सार्थक नाम भी दे सकते हैं; क्योंकि उनके मतानुसार आत्मा को छोड़कर अन्य कोई एक ही पदार्थ विश्व के मूल में विद्यमान है। यह कहा जा चुका है कि, अनात्माद्वैत की इस परम्परा से ही क्रमशः आत्माद्वैत की मान्यता का विकास हुआ।

प्राचीन जैन आगम, पालि त्रिपिटक और सांख्यदर्शन आदि इस बात के साक्षी हैं कि दार्शनिक विचार की इस अद्वैत-धारा के समानान्तर द्वैत-धारा भी प्रवाहित थी। जैन, बौद्ध और सांख्य-दर्शन के मत में विश्व के मूल में केवल एक चेतन अथवा अचेतन तत्त्व नहीं अपितु चेतन एवं अचेतन ऐसे दो तत्त्व हैं, यह बात इन दर्शनों ने स्वीकृत की है। जैनों ने उन्हें जीव और अजीव का नाम दिया, सांख्यों ने पुरुष और प्रकृति कहा तथा बौद्धों ने उसे नाम और रूप कहा।

उक्त द्वैत विचार-धारा में चेतन और उसका विरोधी अचेतन, इस प्रकार दो तत्त्व माने गए, इसीलिए उसे 'द्वैत-परम्परा' का नाम दिया गया है, किन्तु वस्तुतः सांख्यों और जैनों के मत में व्यक्ति-भेद से चेतन अनेक हैं, वे सब प्रकृति के समान मूलरूप में एक तत्त्व नहीं हैं। जैनों की मान्यतानुसार केवल चेतन ही नहीं, प्रत्युत अचेतन तत्त्व भी अनेक हैं। जड़ और चेतन इन दो तत्त्वों को स्वीकृत करने के कारण न्याय दर्शन तथा वंशेषिक दर्शन भी द्वैत विचार-धारा के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं; किन्तु उनके मत में भी चेतन एवं अचेतन ये दोनों सांख्य-सम्मत प्रकृति के समान एक मौलिक तत्त्व नहीं; परन्तु जैनों द्वारा मान्य चेतन-अचेतन के समान अनेक तत्त्व हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में इस समस्त परम्परा को बहुवादी अथवा नानावादी कहना चाहिए। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि बहुवादी विचार-धारा में पूर्वोक्त सभी दर्शन आत्मवादी हैं; किन्तु जैन आगम और पालि त्रिपिटक इस बात की भी साक्षी प्रदान करते हैं कि इस बहुवादी विचार-धारा में अनात्मवादी भी हुए हैं। उनमें ऐसे भूतवादियों का वर्णन उपलब्ध होता है जो विश्व के मूल में चार या पाँच भूतों को मानते थे¹। उनके मत में चार या पाँच भूतों से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है, आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र मौलिक पदार्थ नहीं है। दार्शनिक-सूत्रों के टीका-ग्रन्थों के समय में जहाँ चार्वाक, नास्तिक, बार्हस्पत्य अथवा लोकायत मत का खण्डन किया गया है, वहाँ पर भी चार भूत अथवा पाँच भूतवाद का ही खण्डन है। अतः हम यह कह सकते हैं कि दार्शनिक-सूत्रों की व्यवस्था के समय में उपनिषदों के प्राचीन स्तर के अद्वैती अनात्मवादी नहीं थे, मगर उनका स्थान नाना भूतवादियों ने ले लिया था। ये नाना भूतवादी विश्वास रखते थे कि, चार अथवा पाँच भूतों के एक विशिष्ट समुदाय-सम्मिश्रण होने पर आत्मा अर्थात् चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा के समान अनादि, अनन्त किसी शाश्वत वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि इस भूत-समुदाय का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

1. सूत्रकृतांग 1.1.1.7-8; 2.1.10; ब्रह्मजाल सूत्र

इस प्रकार इन दोनों धाराओं के विषय में विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैतमार्ग में किसी समय अनात्मा की मान्यता मुख्य थी और धीरे-धीरे आत्माद्वैत की मान्यता ने दृढ़ता प्राप्त की। दूसरी ओर नानावादियों में भी चार्वाक जैसे दार्शनिक हुए हैं जिनके मत में आत्म-सदृश वस्तु का मौलिक-तत्त्वों में स्थान नहीं था, जब कि उनके विरोधी जैन, बौद्ध, सांख्य इत्यादि आत्मा एवं अनात्मा दोनों को मौलिक-तत्त्वों में स्थान प्रदान करते थे।

2. आत्मा का स्वरूप—चैतन्य

ऋग्वेद के एक ऋषि के उद्गार से प्रतीत होता है कि उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, किन्तु उसकी इस जिज्ञासा में उत्कट वेदना का अनुभव स्पष्ट मालूम होता है। वह ऋषि पुकार कर कहता है—‘यह मैं कौन हूँ अथवा कंसा हूँ, मुझे इसका पता नहीं चलता’¹। आत्मा के सम्बन्ध में ही नहीं, प्रत्युत विश्वात्मा के स्वरूप के विषय में भी ऋग्वेद के ऋषि को संशय है। विश्व का वह मूल तत्त्व सत् है अथवा असत् है, इन दोनों में से वह उसे किसी भी नाम से कहने के लिए तैयार नहीं है²। शायद उसे यह प्रतीत हुआ हो कि यह मूल तत्त्व ऐसा नहीं है जिसे वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सके, ऋग्वेद (10.90) और यजुर्वेद के पुरुषसूक्त (अ. 31) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समस्त विश्व के मूल में पुरुष की सत्ता है। इस बात का उल्लेख करने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि यह पुरुष चेतन है। ब्राह्मण-काल में प्रजापति ने इसी पुरुष का स्थान ग्रहण किया। इस प्रजापति को सम्पूर्ण विश्व का स्रष्टा माना गया है³।

ब्राह्मण-काल तक बाह्य जगत् के मूल की खोज का प्रयत्न किया गया है और उसके मूल में पुरुष अथवा प्रजापति की कल्पना की गई है, किन्तु उपनिषदों में विचार की दिशा में परिवर्तन हो गया है; मुख्यतः आत्म-विचारणा ने विश्व-विचार का स्थान ग्रहण कर लिया है, अतएव आत्म-विचार की क्रमिक प्रगति के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपनिषद् प्राचीन साधन हैं।

उपनिषदों में दृग्गोचर होने वाली आत्म-स्वरूप की विचारणा का और उपनिषदों की रचना का काल एक ही है—यह बात नहीं मानी जा सकती, परन्तु उपनिषद् की रचना से से भी पूर्व दीर्घकाल से जो विचार-प्रवाह चले आ रहे थे उनका उल्लेख उपनिषदों में सम्मिलित है, यह मानना उचित है; क्योंकि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग माने जाते हैं, इसलिए कोई व्यक्ति यह अनुमान भी कर सकता है कि केवल वैदिक-परम्परा के ऋषियों ने ही आत्म-विचारणा की है और उसमें किसी अन्य परम्परा की देन नहीं है।

किन्तु उपनिषदों के पूर्व की वैदिक-विचारधारा तथा उसके बाद की मानी जाने वाली औपनिषदिक वैदिक-विचारधारा की तुलना करने वालों को दोनों में जो मुख्य भेद

1. न वा जानामि यदिव इदमस्मि । ऋग्वेद 1. 164.37
2. नाऽसदासीत् नो सदासीत् तदानीम् । ऋग्वेद 10.129
3. The Creative Period pp.—67, 342.

दिखाई देता है, विद्वानों ने उसके कारण की खोज की है और उन्होंने यह सिद्ध किया है कि, वेद-भिन्न, अर्बुदिक विचार-धारा का प्रभाव ही इस भेद का कारण है। इस प्रकार की अर्बुदिक विचारधारा में जैन परम्परा के पूर्वजों की देन कम महत्त्व नहीं रखती। हम इन पूर्वजों को परिव्राजक श्रमण के रूप में जान सकते हैं।

(1) देहात्मवाद-भूतात्मवाद

आत्मविचारणा के क्रमिक सोपान का चित्र हमें उपनिषदों में उपलब्ध होता है। उपनिषदों में मुख्य-रूपेण इस बात पर विचार किया गया है कि बाह्य विश्व को गीण कर, अपने भीतर जिस चैतन्य अर्थात् विज्ञान की स्फूर्ति का अनुभव होता है, वह क्या वस्तु है? अन्य सब जड़ पदार्थों की अपेक्षा अपने समस्त शरीर में ही इस स्फूर्ति का विशेष रूप से अनुभव होता है, अतः यह स्वाभाविक है कि विचारक का मन सर्वप्रथम स्वदेह को ही आत्मा अथवा जीव मानने के लिए आकृष्ट हो। उपनिषद् में इस कथा का उल्लेख है कि, आसुरों में से वैरोचन और देवों में से इन्द्र आत्म-विज्ञान की शिक्षा लेने प्रजापति के पास गए। पानी के पात्र में उन दोनों के प्रतिबिम्ब दिखाकर प्रजापति ने पूछा कि, तुम्हें क्या दिखाई देता है? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि, पानी में नख से लेकर झिखा तक हमारा प्रतिबिम्ब दृग्गोचर हो रहा है। प्रजापति ने कहा कि, जिसे तुम देख रहे हो, वही आत्मा है। यह सुनकर दोनों चले गए। वैरोचन ने आसुरों में इस बात का प्रचार किया कि देह ही आत्मा है¹, किन्तु इन्द्र का इस बात से समाधान नहीं हुआ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी जहाँ स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर आत्म-स्वरूप का क्रमशः वर्णन किया गया है, वहाँ सबसे पहले अन्नमय आत्मा का परिचय दिया गया है और यह बताया गया है कि अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई है, उसकी वृद्धि भी अन्न से होती है और वह अन्न में ही विलीन होता है, अतः यह पुरुष अन्न-रस-मय है²। देह को आत्मा मानकर यह विचारणा हुई है।

प्राकृत एवं पालि के ग्रन्थों में इस मन्तव्य को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' के रूप में प्रतिपादित किया गया है और दार्शनिक सूत्रकाल में इसी का निर्देश 'देहात्मवाद' द्वारा किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तीसरे गणधर ने इसी विषय में शंका की है कि, देह ही आत्मा है या आत्मा देह से भिन्न है।

जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक में इस बात का भी निर्देश है कि इस देहात्मवाद से मिलता-जुलता चतुर्भूत अथवा पंचभूत को आत्मा मानने वालों का सिद्धान्त भी प्रचलित था। ऐसा मालूम होता है कि विचारक गण जब देहत्व का विश्लेषण करने लगे होंगे तब किसी ने उसे चारभूतात्मक³ और किसी ने उसे पंचभूतात्मक⁴ माना होगा। ये भूतात्मवादी अथवा देहात्मवादी अपने पक्ष के समर्थन में जो युक्तियाँ देते थे, उनमें मुख्य ये थीं :—

1. छान्दोग्य 8.8
2. तैत्तिरीय 2.1, 2
3. ब्रह्मजाल सुत्त (हिन्दी) पृ० 12; सूत्रकृतांग
4. सूत्रकृतांग 1.1.1.7-8

जिस प्रकार कोई पुरुष म्यान से तलवार बाहर खींचकर उसे अलग दिखा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को शरीर से निकालकर कोई भी पृथक्-रूपेण नहीं बता सकता। अथवा जिस प्रकार तिलों में से तेल निकालकर बताया जा सकता है, या दही से मक्खन निकालकर दिखाया जा सकता है, उसी प्रकार जीव को शरीर से पृथक् निकाल कर नहीं बताया जा सकता। जब तक शरीर स्थिर रहता है, तभी तक आत्मा की स्थिरता है, शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है¹।

बौद्धों के दीर्घनिकायान्तर्गत पायासी मुत्त में और जैनों के रायपसेणइय सूत्र में उन प्रयोगों का समान रूप से विस्तृत वर्णन है जिन्हें नास्तिक राजा पायासी-पएसी ने 'जीव शरीर से पृथक् नहीं है' इस बात को सिद्ध करने के लिए किये थे। उनसे पता चलता है कि उसने मरने वालों से कहा हुआ था कि, तुम मर कर जिस लोक में जाओ, वहाँ से मुझे समाचार बताने के लिए अवश्य आना, किन्तु उनमें से एक भी व्यक्ति उसे मृत्यूपरान्त की स्थिति के विषय में समाचार देने नहीं आया, अतः उसे यह विश्वास हो गया कि मृत्यु के समय ही आत्मा का नाश हो जाता है, शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। 'शरीर ही आत्मा है' इस बात को प्रमाणित करने के उद्देश्य से राजा ने जीवित मनुष्य को लोहे की पेट्टी में अथवा हाँडी में बन्द करके यह देखने का प्रयत्न किया कि, मृत्यु के समय उसका जीव बाहर निकलता है या नहीं। परीक्षण के अन्त में उसने निश्चय किया कि, मृत्यु के समय शरीर से कोई जीव बाहर नहीं निकलता। जीवित और मृत व्यक्ति को तोलकर उसने यह परीक्षा भी की कि, यदि मृत्यु के समय जीव चला जाता हो तो वजन में कमी हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं हुआ, प्रत्युत इसके विपरीत उसे यह पता चला कि मृत व्यक्ति का वजन बढ़ जाता है। मनुष्य के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर क्रमशः हड्डियों, मांस आदि में जीव की खोज की, किन्तु वह उनमें भी नहीं मिला। इसके अतिरिक्त राजा यह युक्ति दिया करता था कि, यदि शरीर और जीव अलग-अलग हैं तो क्या कारण है कि एक बालक अनेक बाण नहीं चला सकता और एक युवक यह काम कर सकता है; अतः शक्ति आत्मा की नहीं, अपितु शरीर की है और शरीर के नाश के साथ ही उसका नाश हो जाता है।

पायासी राजा की भिन्न-भिन्न परीक्षाओं एवं युक्तियों से ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतों के समान ही इन्द्रियों का विषय मानकर आत्मा सम्बन्धी शोध में लीन था और आत्मा को एक भौतिक तत्त्व मानकर ही उसने तद्विषयक खोज जारी रखी। इसीलिए उसे निराशा का मुख देखना पड़ा। यदि वह आत्मा को एक अमूर्त तत्त्व मानकर उसे ढूँढने का प्रयत्न करता तो उसकी शोध की प्रक्रिया और ही होती। रायपसेणइय के वर्णन के अनुसार पएसी का दादा भी उसी की भाँति नास्तिक था। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा को भौतिक समझकर उसके विषय में विचार करने वाले व्यक्ति अति प्राचीनकाल में भी थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त तैत्तिरीय उपनिषद् से भी होता है, जहाँ आत्मा को अन्नमय² कहा गया है।

1. सूत्रकृतांग 2.1.9; 2.1.10

2. तैत्तिरीय 2.1.2

इसके अतिरिक्त उपनिषद् से भी प्राचीन ऐतरेय-आरण्यक में आत्मा के विकास के प्रदर्शक जो सोपान दिखाये गये हैं, उनमें भी यह बात प्रमाणित होती है कि आत्म-विचारणा में आत्मा को भौतिक मानना उसका प्रथम सोपान है। उस आरण्यक¹ में वनस्पति, पशु एवं मनुष्य के चैतन्य के पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण किया गया है और यह बताया गया है कि औषधि, वनस्पति और ये जो समस्त पशु एवं मनुष्य हैं, उनमें आत्मा का विकास उत्तरोत्तर होता है। कारण यह है कि औषधि और वनस्पति में तो वह केवल रस-रूप में ही दिखाई देता है किन्तु पशुओं में चित्त भी दृष्टिगोचर होता है और मनुष्य में वह विकास करते-करते तीनों कालों का विचारक बन जाता है।

(2) प्राणात्मवाद—इन्द्रियात्मवाद

उपनिषद् में उपलब्ध वैरोचन और इन्द्र की कथा का एक अंश देहात्मवाद की चर्चा में लिखा जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि इन्द्र को प्रजापति के इस स्पष्टीकरण से सन्तोष भी नहीं हुआ था कि देह ही आत्मा है, अतः हम यह मान सकते हैं कि उस युग में केवल इन्द्र ही नहीं अपितु उन जैसे कई विचारकों के मन में इस प्रश्न के विषय में उलझनें हुई होंगी और उनकी इस उलझन ने ही आत्मतत्त्व के विषय में अधिक विचार करने के लिए उन्हें प्रेरित किया होगा। चिन्तनशील व्यक्तियों ने जब शरीर की आध्यात्मिक क्रियाओं का निरीक्षण-परीक्षण प्रारम्भ किया होगा, तब सर्वप्रथम उनका ध्यान प्राण की ओर आकृष्ट हुआ हो, यह स्वाभाविक है। उन्होंने अनुभव किया होगा कि निद्रा की अवस्था में जब समस्त इन्द्रियाँ अपनी-अपनी प्रवृत्ति स्थिति कर देती हैं, तब भी श्वासोच्छ्वास जारी रहता है। केवल मृत्यु के पश्चात् ही इस श्वासोच्छ्वास के दर्शन नहीं होते। इस बात से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन में प्राण का ही सर्वाधिक महत्व है, अतः उन्होंने इस प्राण तत्त्व को ही जीवन की समस्त क्रियाओं का कारण माना²। जिस समय विचारकों ने शरीर में स्फुरित होने वाले तत्त्व की प्राणरूप से पहिचान की, उस समय उसका महत्व बहुत बढ़ गया और उस विषय में अधिक से अधिक विचार होने लगा। परिणाम-स्वरूप प्राण के सम्बन्ध में छान्दोग्य³ उपनिषद् में कहा गया कि, इस विश्व में जो कुछ है वह प्राण है। बृहदारण्यक⁴ में तो उसे देवों के भी देव का पद प्रदान किया गया है।

प्राण अर्थात् वायु को आत्मा मानने वालों का खण्डन नागसेन ने मिलिन्दप्रश्न⁵ में किया है।

शरीर में होने वाली क्रियाओं के जो भी साधन हैं, उनमें इन्द्रियों का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अतः यह स्वाभाविक है कि विचारकों का ध्यान उस ओर प्रवृत्त हो और वे

1. ऐतरेय आरण्यक 2.3 2
2. तैत्तिरीय 2.2, 3; कौषीतकी 3.2
3. छान्दोग्य 3.15.4
4. बृहदारण्यक 1.5.22-23
5. मिलिन्दप्रश्न 2.10

इन्द्रियों को ही आत्मा मानने लगे। बृहदारण्यक उपनिषद् में इन्द्रियों की प्रतियोगिता का उल्लेख है और उनके इस दृढ़ निर्णय का भी वर्णन है कि वे स्वयं ही समर्थ हैं¹, अतः हम यह भी मान सकते हैं कि कुछ लोगों की प्रवृत्ति इन्द्रियों को आत्मा समझने की रही होगी। वाश-निक-सूत्र-टीका-काल में इस प्रकार के इन्द्रियात्मवादियों का खण्डन भी किया गया है, अतः यह निश्चित है कि किसी न किसी व्यक्ति ने इस सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार किया होगा। प्राणात्मवाद के समर्थकों ने इस इन्द्रियात्मवाद के विरुद्ध जो युक्तियाँ दीं; वे हमें बृहदारण्यक में दृष्टिगोचर होती हैं। उनमें कहा गया है कि, मृत्यु समस्त इन्द्रियों को थका देती है किन्तु उनके बीच रहने वाले प्राण को वह कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकती, अतः इन्द्रियों ने प्राण का रूप ग्रहण किया, इसीलिए इन्द्रियों को भी प्राण कहते हैं²।

प्राचीन जैन ग्रामों में जिन दस प्राणों का वर्णन है, उनमें इन्द्रियों को भी प्राण गिना गया है। इससे भी उपर्युक्त बात का समर्थन होता है। इस प्रकार इन्द्रियात्मवाद का समावेश प्राणात्मवाद में हो जाता है।

सांख्य-सम्मत वैकृतिक बन्ध की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों को पुरुष मानने वालों का उल्लेख किया है, वह भी इन्द्रियात्मवादियों के विषय में समझा जाना चाहिए³।

इस प्रकार आत्मा को यदि देहरूप अथवा भूतात्मक अथवा प्राणरूप अथवा इन्द्रिय-रूप माना जाए, तब भी इन सब मतों में आत्मा अपने भौतिक रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होती है। इनसे उसका अभौतिक रूप प्रकट नहीं होता, अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि इन सब मतों के अनुसार हमें आत्मा अपने व्यक्त-रूप में दृष्टिगोचर होती है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य है, यह बात सामान्यतः इन सब मतों में मानी गई है। आत्मा के इस रूप को सन्मुख रखते हुए ही उसका विश्लेषण किया गया है। इसीलिए उसके अव्यक्त अथवा अभौतिक स्वरूप की ओर इनमें से किसी का ध्यान नहीं गया।

परन्तु ऋषियों ने जिस प्रकार विश्व के भौतिक रूप के पार जाकर एक अव्यक्त तत्त्व को माना⁴, उसी प्रकार उन्होंने आत्मा के विषय में यह स्वीकार किया कि वह भी अपने पूर्ण रूप में ऐसा नहीं है जिसे आँखों द्वारा देखा जा सके। जब से उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई, तब से आत्म-विचारणा ने नया रूप धारण किया।

जब तक आत्मा का भौतिक रूप ही स्वीकार किया जाए तब तक इस लोक को छोड़कर उसके परलोक-गमन की मान्यता, अथवा परलोक-गमन में कारण-भूत कर्म की मान्यता या पुण्य-पाप की मान्यता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, किन्तु जब आत्मा को एक स्थायी तत्त्व के रूप में मान लिया जाए, तब इन सब प्रश्नों पर विचार करने का अवसर स्वयमेव उपस्थित

1. बृहदारण्यक 1.5.21
2. बृहदारण्यक 1.5.21
3. सांख्य का० 44
4. ऋग्वेद 10.129

हो जाता है, अतः आत्मवाद के साथ सम्बद्ध परलोक और कर्मवाद का विचार इसके बाद ही होना प्रारम्भ हुआ ।

(3) मनोमय आत्मा :

विचारकों ने अनुभव किया कि प्राण-रूप कही जाने वाली इन्द्रियाँ भी मन के बिना सार्थक नहीं हैं, मन का सम्पर्क होने पर ही इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं, अन्यथा नहीं; और फिर विचारणा के विषय में तो इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर सकतीं। इन्द्रिय-व्यापार के अभाव में भी विचारणा का क्रम चलता रहता है। सुप्त मनुष्य की इन्द्रियाँ कुछ भी व्यापार नहीं करतीं, उस समय भी मन कहीं का कहीं पहुँच जाता है, अतः सम्भव है कि, उन्होंने इन्द्रियों से आगे बढ़कर मन को आत्मा मानना शुरु कर दिया हो। जिस प्रकार उपनिषत् काल में प्राणमय आत्मा को अन्नमय आत्मा का अन्तरात्मा माना गया, उसी प्रकार मनोमय आत्मा को प्राणमय आत्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया गया। इससे पता चलता है कि विचार-प्रगति के इतिहास में प्राणमय आत्मा के पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गई होगी¹।

प्राण और इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, किन्तु मन भौतिक है या अभौतिक? इस विषय में दार्शनिकों का मत एक नहीं है²। किन्तु यह बात निश्चित है कि प्राचीन काल में मन को अभौतिक भी माना जाता था। इसीलिए न्याय-बैशेषिक³ आदि दार्शनिकों ने मन को अणुरूप मानकर भी पृथ्वी आदि भूतों के सभी परमाणुओं से उसे विलक्षण माना है। इसके अतिरिक्त सांख्य-मत में भी यह माना गया है कि भूतों की उत्पत्ति होने से पूर्व ही प्राकृतिक अहंकार से मन की उत्पत्ति हो जाती है। इससे भी यह संकेत मिलता है कि मन भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म है। पुनश्च वैभाषिक बौद्धों ने मन को विज्ञान का समनन्तर कारण माना है, अतः मन विज्ञान रूप है⁴। इस प्रकार प्राचीनकाल में मन को अभौतिक मानने की एक प्रवृत्ति स्पष्ट दृग्गोचर होती है, अतः हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस विचारक ने आत्म-विचारणा के विषय में प्राण को छोड़कर मन को आत्मा मानने की सर्वप्रथम कल्पना की होगी, उसने ही सबसे पहले आत्मा को भौतिक श्रेणी से निकाल कर अभौतिक श्रेणी में रखा होगा।

दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थों और उनकी टीकाओं से ज्ञात होता है कि मन को आत्मा मानने वाले दार्शनिक सूत्र-काल में भी विद्यमान थे⁵। मन को आत्मा मानने वालों का कथन था कि, जिन हेतुओं द्वारा आत्मा को देह से भिन्न सिद्ध किया जाता है, उनसे वह मनोमय सिद्ध होती है, अर्थात् मन सर्वग्राही है, अतः वह ऐसा प्रतिसन्धान कर सकता है कि एक इन्द्रिय द्वारा देखा गया और दूसरी इन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया गया विषय एक ही है, फलतः मन को ही आत्मा मान लेना चाहिए। मन से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है।

1. तैत्तिरीय 2.3

2. मन के विषय में दार्शनिक मतभेद का विवरण 'प्रमाणमीमांसा' की टिप्पणी पृ० 42 पर देखें।

3. न्यायसू० 3.2.11; बैशेषिक सू० 7.1.23

4. षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः—अभिधर्मकोष 1.17

5. न्यायसूत्र 3.1.16; न्यायवार्तिक पृ० 336

सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के 'अन्योन्तरात्मा मनोमयः' (2.3) वाक्य के आधार पर चार्वाक मन को आत्मा मानते हैं। सांख्यों द्वारा मान्य विकृत के उपासकों में मन को आत्मा मानने वालों का समावेश है¹।

'मन क्या है' इस विषय में बृहदारण्यक में अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। उसमें बताया गया है कि 'मेरा मन दूसरी ओर था अतः मैं देख नहीं सका' 'मेरा मन दूसरी ओर था अतः मैं सुन नहीं सका'—अर्थात् वस्तुतः देखा जाए तो मनुष्य मन के द्वारा देखता है और उसके द्वारा ही सुनता है। काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—यह सब मन ही है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति किसी मनुष्य की पीठ का स्पर्श करता है, तो वह मनुष्य मन से इस बात का ज्ञान कर लेता है²। पुनश्च वहाँ मन को परम ब्रह्मसम्प्राप्त³ भी कहा गया है। छान्दोग्य में भी उसे ब्रह्म⁴ कहा है।

मन के कारण जो भी विश्व-प्रपंच है, उसका निरूपण तेजोबिन्दु उपनिषद् में किया गया है। उससे भी मन की महिमा का परिचय मिलता है। उसमें बताया गया है कि 'मन ही समस्त जगत् है, मन ही महान् शत्रु है, मन संसार है, मन ही त्रिलोक है, मन ही महान् दुःख है...मन ही काल है, मन ही संकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अहंकार है, मन ही अन्तःकरण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही अग्नि है, मन ही महान् वायु है, मन ही आकाश है, मन ही शब्द है, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और पाँच कोष मन से उत्पन्न हुए हैं, जागरण स्वप्न सुषुप्ति इत्यादि मनोमय हैं, दिक्पाल, वसु, रुद्र, आदित्य भी मनोमय हैं⁵।'।

(4) प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा :

कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राण संज्ञा दी गई है। उससे विदित होता है कि प्राणात्मा के बाद जब प्रज्ञात्मा का अन्वेषण हुआ, तब प्राचीन और नवीन का समन्वय आवश्यक था⁶। इन्द्रियाँ और मन ये दोनों प्रज्ञा के बिना सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं, यह बात कह कर कौषीतकी⁷ में बताया गया है कि, प्रज्ञा का महत्त्व इन्द्रियों और मन की अपेक्षा से भी अधिक है। इससे प्रतीत होता है कि प्रज्ञात्मा मनोमय आत्मा की भी अन्तरात्मा है। इसी बात का संकेत तैत्तिरीय उपनिषद् में (2.4) विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा बताकर किया गया है। अतः प्रज्ञा और विज्ञान को पर्यायवाची स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान-ब्रह्म के जो पर्याय दिये गये हैं, उनमें मन भी है⁸। इससे ज्ञात

1. सांख्यकारिका 44
2. बृहदारण्यक 1.5.3
3. बृहदारण्यक 4.1.6
4. छान्दोग्य 7.3.1
5. तेजोबिन्दु उपनिषद् 5.98, 104;
6. 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' कौषीतकी 3.2; 3.3; यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राणः कौषी० 3.3; 3.4
7. कौषी० 3.6.7. गुजराती अनुवाद देखो—पृ० 892
8. ऐतरेय 3.2

होता है कि पूर्वकल्पित मनोमय आत्मा के साथ प्रज्ञानात्मा का समन्वय है। उसी उपनिषद् में प्रज्ञा और प्रज्ञान को एक ही माना¹ है और प्रज्ञान के पर्याय के रूप में विज्ञान भी लिखा है²।

सारांश यह है कि विज्ञान, प्रज्ञा, प्रज्ञान ये समस्त शब्द एकार्थक माने गए और उसी अर्थ के अनुसार आत्मा को विज्ञानात्मा, प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा स्वीकार किया गया। मनोमय आत्मा सूक्ष्म है, किन्तु मन किसी के मतानुसार भौतिक और किसी के मतानुसार अभौतिक है। किन्तु जब विज्ञान को आत्मा की संज्ञा प्रदान की गई, तब उसके बाद ही इस विचारणा को बल मिला कि आत्मा एक अभौतिक तत्त्व है। आत्म-विचारणा के क्षेत्र में विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान को आत्मा कह कर विचारकों ने आत्म-विचार की दिशा में ही परिवर्तन कर दिया। अब उन्होंने इस मान्यता की और अग्रसर होना प्रारम्भ किया कि, आत्मा मौलिक रूपेण चेतन तत्त्व है। प्रज्ञान की प्रतिष्ठा इतनी अधिक बढ़ी कि आन्तरिक और बाह्य सभी पदार्थों को प्रज्ञान का नाम दिया गया³।

अब प्रज्ञा तत्त्व का विश्लेषण अनिवार्य था, अतः उसके विषय में विचार प्रारम्भ हुआ। समस्त इन्द्रियों और मन को प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठित माना गया। जिस समय मनुष्य सुप्त अथवा भृतावस्था में होता है, उस समय इन्द्रियाँ प्राण रूप प्रज्ञा में अन्तर्हित हो जाती हैं, अतः किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। जब मनुष्य नींद से जागता है या पुनः जन्म ग्रहण करता है, तब जिस प्रकार चिनगारी में से अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार प्रज्ञा में से इन्द्रियाँ पुनः बाहर आती⁴ हैं और मनुष्य को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अंश के समान⁵ हैं, इसलिए ये प्रज्ञा के बिना अपना काम करने में असमर्थ⁶ हैं, अतः इन्द्रियों और मन से भी भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात की भी प्रेरणा की गई है कि, इन्द्रियों के विषयों का नहीं, परन्तु इन्द्रियों के विषयों के ज्ञाता प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त किया जाए। मन का ज्ञान आवश्यक नहीं है, किन्तु मनन करने वाले का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कौषीतकी उपनिषद् में इस बात पर जोर दिया गया है कि, इन्द्रियादि साधनों से भी उच्च प्रज्ञात्मा⁷-साधक को जानना चाहिए।

कौषीतकी उपनिषद् के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, इस उपनिषद् में प्रज्ञा को इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है। किन्तु अभी प्रज्ञा के स्वतः प्रकाशित रूप की ओर विचारकों का ध्यान नहीं गया था। अतः सुप्तावस्था में इन्द्रियों के

1. ऐतरेय 3.3
2. ऐतरेय 3.2
3. ऐतरेय 3.1.2-3
4. कौषीतकी 3.2
5. कौषीतकी 3.5
6. कौषीतकी 3.7
7. कौषीतकी 3.8

व्यापार के अभाव में उनमें स्व या पर का किसी भी प्रकार का ज्ञान स्वीकृत नहीं किया गया¹। उसी प्रकार मृत्युपरान्त जब तक नई इन्द्रियों का निर्माण नहीं होता, तब तक प्रज्ञा भी अकिञ्चित्कर ही रहती है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के अधीन हैं, इस बात को मानकर भी यह स्वीकार किया गया है कि, प्रज्ञा भी इन्द्रियों के बिना कुछ नहीं कर सकती। चूँकि अभी प्रज्ञा और प्राण को एक ही समझा जाता था, अतः प्राण से भी परे स्वतः प्रकाशक प्रज्ञा का स्वरूप किसी के ध्यान में न आए, यह स्वाभाविक है।

कठोपनिषद्² में जहाँ उत्तरोत्तर उच्चतर तत्त्वों की गणना की गई है वहाँ मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त-प्रकृति और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्चतर माना गया है। यही बात गीता में भी कही गई है। यह प्रक्रिया सांख्य-सम्मत है। इस मान्यता से ज्ञात होता है कि, प्राचीन मत यह था कि, विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नहीं, अपितु अचेतन प्रकृति का धर्म है। इस मत की उपस्थिति में यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि, विज्ञानात्मा की शोध पूरी हो जाने पर आत्मा सर्वतः चेतन-स्वरूप किंवा अजड़-रूप सिद्ध हो गया, किन्तु जब विचारक प्रज्ञात्मा की सीमा तक उड़ान कर चुके, तब उनका भावी मार्ग स्पष्ट था। अतएव अब ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि, आत्मा से भौतिक गन्ध को सर्वथा निर्मूल करने में विलम्ब हो।

(5) आनन्दात्मा

यदि मनुष्य के अनुभव का विश्लेषण किया जाए, तो उससे उस अनुभव के दो रूप स्पष्ट दृग्गोचर होते हैं। पहला तो पदार्थ की विज्ञप्ति सम्बन्धी है—अर्थात् हमें पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह अनुभव का एक रूप है और दूसरा रूप वेदना सम्बन्धी है। एक का हम संवेदन कह सकते हैं और दूसरे को वेदन। पदार्थ को जानना एक रूप है और उसका भोग करना दूसरा। ज्ञान का सम्बन्ध जानने से है और वेदना का भोग से। ज्ञान का स्थान पहला है और भोग का दूसरा। यह वेदना भी अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रतिकूल वेदना किसी के लिए भी रुचिकर नहीं होती, परन्तु अनुकूल वेदना सब को इष्ट है। इसी का दूसरा नाम सुख है और सुख की पराकाष्ठा को आनन्द की संज्ञा दी गई है। बाह्य पदार्थों के भोग से सर्वथा निरपेक्ष अनुकूल वेदना आत्मा का स्वरूप है और विचारक पुरुषों ने उसे ही आनन्दात्मा कहा है। इस बात की अधिक सम्भावना है कि, अनुभव के संवेदन रूप को प्रधान मान कर प्रज्ञात्मा अथवा विज्ञानात्मा की कल्पना ने जन्म लिया, तो उसके वेदन रूप की प्राधान्यता से आनन्दात्मा की कल्पना को बल मिला। यह स्वाभाविक है कि, जब आत्मा जैसे एक अखण्ड पदार्थ को खण्ड-खण्ड कर देखा जाए, तो विचारकों के सम्मुख उसके विज्ञानात्मा और आनन्दात्मा जैसे रूप उपस्थित हो जाते हैं।

1. ऐसे आत्मा के ज्ञान से इन्द्र को संतोष नहीं हुआ था और उसने प्रजापति से सुप्तावस्था की आत्मा से भी पर आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया था, यह उल्लेख छान्दोग्य में है—8.11. इस विषय में बृहदा० 1.15.20 भी देखने योग्य है।
2. कठोपनिषद् 1.3.10-11.

विज्ञान का लक्ष्य भी आनन्द ही है, अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि, विचारकों ने आनन्दात्मा को विज्ञानात्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया¹। पुनश्च, मनुष्य में दो भावनाएँ हैं—दार्शनिक और धार्मिक। दार्शनिक विज्ञानात्मा को मुख्य मानते हैं, किन्तु दार्शनिकों के अन्तर में ही स्थित धार्मिक-आत्मा आनन्दात्मा की कल्पना कर सन्तोष का अनुभव करे, तो यह कोई नई या आश्चर्य की बात नहीं²।

(6) पुरुष, चेतन आत्मा—चिदात्मा—ब्रह्म

विचारकों ने आत्मा के विषय में अन्वय आत्मा से लेकर आनन्दात्मा पर्यन्त प्रगति की, किन्तु उनकी यह प्रगति अभी तक आत्म-तत्त्व के भिन्न-भिन्न आवरणों को आत्मा समझ कर ही हो रही थी। इन सब आत्माओं की भी जो मूल-रूप आत्मा थी, उसका अन्वेषण अभी बाकी था। जब उस आत्मा की शोध होने लगी, तब यह कहा जाने लगा कि, अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है, रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है³। आत्मा से रहित शरीर कुछ भी करने में असमर्थ है। शरीर की संचालक शक्ति ही आत्मा है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट कर दी गई कि शरीर और आत्मा ये दोनों तत्त्व पृथक् हैं। आत्मा से स्वतन्त्र होकर प्राण कुछ भी क्रिया नहीं करता। आत्मा प्राण का भी प्राण⁴ है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि, प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है। मनुष्य की छाया का आधार स्वयं मनुष्य है, उसी प्रकार प्राण आत्मा पर अवलम्बित⁵ है। इस प्रकार प्राण और आत्मा का भेद सामने आया।

केनोपनिषद्⁶ में यह सूचित किया गया है कि, यह आत्मा इन्द्रिय और मन से भी भिन्न है। वहाँ बताया गया है कि इन्द्रियाँ और मन ब्रह्म-आत्मा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ हैं। आत्मा का अस्तित्व होने पर ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मन अपना-अपना कार्य करते हैं। जिस प्रकार विज्ञानात्मा की अन्तरात्मा आनन्दात्मा है, उसी प्रकार आनन्दात्मा की अन्तरात्मा सत्-रूप ब्रह्म है। इस बात का प्रतिपादन करके विज्ञान और आनन्द से भी परे ऐसे ब्रह्म की कल्पना⁷ की गई।

ब्रह्म और आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं, किन्तु एक ही तत्त्व के दो नाम हैं⁸। इसी आत्मा को समस्त तत्त्वों से परे ऐसा पुरुष भी माना गया है और सब भूतों में गूढ़ात्मा भी कहा

1. तैत्तिरीय 2,5.
2. Nature of Consciousness in Hindu Philosophy p. 29.
3. छागलेय उपनिषत् का सार देखें—History of Indian Philosophy, vol. 2, p 131
मंत्रेयी उपनिषद् 2.3.4; कठोपनिषद् 1.3.3
4. केनोपनिषद् 1-2.
5. प्रश्नोपनिषद् 3-3.
6. केनोपनिषद् 1.4-6.
7. तैत्तिरीय 2-6.
8. सर्वं हि एतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म—माण्डुक्य 2; बृहदा० 2-5-19.

गया है¹। कठोपनिषद् में बुद्धि-विज्ञान को प्राकृत-जड़ बताया गया है। अतः यह बात स्वाभाविक है कि, विज्ञानात्मा की कल्पना से विचारक सन्तुष्ट न हों, अतः उससे भी आगे चिदात्मा-पुरुष-चेतन आत्मा की शोध आवश्यक थी और वह ब्रह्म अथवा चेतनात्मा की कल्पना से पूर्ण हुई। इस प्रकार चिन्तकों ने अभौतिक तत्त्व के रूप में आत्मा का निश्चय किया। इस क्रम से भूत से लेकर चेतन तक की आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति का इतिहास यहाँ पूर्ण हो जाता है।

विज्ञानात्मा का वर्णन करते हुए पहले यह लिखा जा चुका है कि, उसे स्वतः प्रकाशित नहीं माना गया। सुप्तावस्था में वह अचेतन हो जाता है। वह स्वप्रकाशक नहीं है, किन्तु इस पुरुष-चेतन आत्मा अथवा चिदात्मा के विषय में यह बात नहीं है। वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है, स्वतः प्रकाशित होता है²। वह विज्ञान का भी अन्तर्धामी है³। इस सर्वान्तरात्मा के विषय में कहा गया है कि, “वह साक्षात् है, अपरोक्ष है, प्राण का ग्रहण करने वाला वही है, आँख का देखने वाला वही है, कान का सुनने वाला वही है, मन का विचार करने वाला वही है, ज्ञान का जानने वाला वही है⁴। यही द्रष्टा है, यही श्रोता है, यही मनन करने वाला है, यही विज्ञाता⁵ है। यह नित्य चिन्मात्र रूप है, सर्व प्रकाश रूप है, चिन्मात्र ज्योति-स्वरूप है⁶।”

इस पुरुष अथवा चिदात्मा को अजर, अक्षर, अमृत, अमर, अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अनन्त माना गया है⁷। इस विषय में कठोपनिषद् (1-3-15) में लिखा है कि, “वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्, अनादि, अनन्त, महत् तत्त्व से पर, ध्रुव ऐसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।”

(7) भगवान् बुद्ध का अनात्म-वाद

हम यह देख चुके हैं कि विचारक सबसे पहले बाह्य दृष्टि से ग्राह्य भूत को ही मौलिक तत्त्व मानते थे, किन्तु कालक्रम से उन्होंने आत्मतत्त्व को स्वीकार किया। वह तत्त्व इन्द्रिय-ग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था। जब उन्हें इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्व का बोध हुआ, तब यह स्वाभाविक था कि वे उस के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने लगे। जिस समय प्राण, मन, और प्रज्ञा से भी पर आत्मा की कल्पना का जन्म हुआ, तब चिन्तकों के समक्ष नये-नये प्रश्न उपस्थित होने लगे। प्राण, मन और प्रज्ञा ऐसे पदार्थ थे जिन का ज्ञान सरल था, किन्तु आत्मा तो इन सब से पर माना गया। अतः उस का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाए? वह कैसा है? उस का स्वरूप क्या है? ये प्रश्न उठे। वास्तविक आत्म-विद्या का श्रीभरोश इसी समय हुआ और लोगों को इस विद्या का ऐसा व्यसन लगा कि उन्होंने आत्मा की शोध में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। उन्हें आत्म-सुख की अपेक्षा इस संसार के भोग अथवा स्वर्ग के सुख

1. कठोपनिषद् 1.3.10-12.
2. बृहदा० 4.3.6 तथा 9. विज्ञानात्मा व प्रज्ञानघन (बृहदा० 4-5-13) आत्मा में अन्तर है। पहला प्राकृत है जब कि, दूसरा पुरुष-चेतन है।
3. बृहदा 3-7-22.
4. बृहदा० 3.4.1-2.
5. बृहदा० 37.23; 3.8.11
6. मंत्रेयुपनिषद् 3-16-21.
7. कठ 3-2; बृहदा० 4-4-20; 3-8-8; 4-4-25; श्वेता० 1-9 इत्यादि।

तुच्छ प्रतीत हुए और उन्होंने त्याग एवं तपश्चर्या की कठिन यातनाओं को सहर्ष सहन किया¹। नचिकेता जैसे बालक भी मृत्यु के उपरान्त आत्मा की दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतने उत्सुक हो गए कि उन्हें ऐहिक अथवा स्वर्ग के सुख-साधन हेतु दिखाई दिए। मैत्रेयी² जैसी महिलाएँ अपने पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार लेने की अपेक्षा आत्मविद्या की शोध में तल्लीन हो गईं और पतिदेव से कहने लगीं कि, जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँ? अतः भगवन् ! यदि आप अमर होने का उपाय जानते हैं तो मुझे बताइए। कुछ लोग तो पुकार-पुकार कर कहने लगे कि, जिसमें द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी तथा सर्व प्राणी सहित मन ओत-प्रोत है, ऐसे एक-मात्र आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करो, शेष सब अज्ञात छोड़ दो। अमरता प्राप्त करने के लिए यह आत्मा सेतु के समान है³। याज्ञवल्क्य तो सब से आगे बढ़ कर यह घोषणा करते हैं कि, पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु ये सब बीजें आत्मा के निमित्त ही प्रिय मालूम होती हैं, अतः इस आत्मा को ही देखना चाहिए, उस के विषय में ही सुनना चाहिए, विचार करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, ऐसा करने से सब कुछ ज्ञात हो जाएगा⁴।

इस प्रवृत्ति का एक शुभ फल यह हुआ कि विचारकों के मन में वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति विरोध की भावना जागरित हो गई, किन्तु आत्म-विद्या का भी अतिरेक हुआ और अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में प्रत्येक व्यक्ति मनमानी कल्पना करने लगा। ऐसी परिस्थिति में औपनिषद्-आत्मविद्या के विषय में प्रतिक्रिया का सूत्रपात होना स्वाभाविक था। भगवान् बुद्ध के उपदेशों में हमें वही प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सभी उपनिषदों का अन्तिम निष्कर्ष तो यही है कि, विश्व के मूल में मात्र एक ही शाश्वत आत्मा-ब्रह्म-तत्त्व है और इसे छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं है। उपनिषद् के ऋषियों ने अन्त में यहाँ तक कह दिया कि, अद्वैत तत्त्व के होते हुए भी जो व्यक्ति संसार में भेद की कल्पना करते हैं वे अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देते हैं⁵। इस प्रकार उस समय आत्मवाद की भीषण बाढ़ आई थी, अतः उस बाढ़ को रोकने के लिए बाँध बाँधने का काम भगवान् बुद्ध ने किया। इस कार्य में उन्हें स्थायी सफलता कितनी मिली, यह एक पृथक् प्रश्न है। हमें केवल यह बताना है कि, भगवान् बुद्ध ने उस बाढ़ को अनात्मवाद की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न किया।

जब हम यह कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया, तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि, उन्होंने आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध किया है। उस निषेध का अभिप्राय इतना ही है कि, उपनिषदों में जिस प्रकार के शाश्वत अद्वैत आत्मा का

1. कठोपनिषद् 1.1, 23-29.
2. बृहदा० 2-4-3.
3. मुण्डक 2-2-5.
4. बृहदा० 4-5-6.
5. मनसैवानुद्वेष्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदा० 4.4.19; कठ 4,11

प्रतिपादन किया गया है और उसे विश्व का एक-मात्र मौलिक तत्त्व माना गया है, भगवान् बुद्ध ने उसका विरोध किया।

उपनिषत् के पूर्वोक्त भूतवादी और दार्शनिक सूत्र-काल के नास्तिक अथवा चार्वाक भी अनात्मवादी हैं और भगवान् बुद्ध भी अनात्मवादी हैं। दोनों इस बात से सहमत हैं कि, आत्मा एक सर्वथा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है और वह नित्य या शाश्वत भी नहीं है। अर्थात् दोनों के मत में आत्मा एक उत्पन्न होने वाली वस्तु है। किन्तु चार्वाक और भगवान् बुद्ध में मत-भेद यह है कि, भगवान् बुद्ध यह स्वीकार करते हैं कि, पुद्गल, आत्मा, जीव, चित्त, नाम की एक स्वतन्त्र वस्तु है, जबकि भूतवादी उसे चार या पाँच भूतों से उत्पन्न होने वाली एक परतन्त्र वस्तु मात्र मानते हैं। भगवान् बुद्ध भी जीव, पुद्गल अथवा चित्त को अनेक कारणों द्वारा उत्पन्न तो मानते हैं और इस अर्थ में वह परतन्त्र भी है। किन्तु इस उत्पत्ति के जो कारण हैं उनमें विज्ञान और विज्ञानेतर दोनों प्रकार के कारण विद्यमान होते हैं; जबकि चार्वाक मत में चैतन्य की उत्पत्ति में चैतन्य से व्यतिरिक्त भूत ही कारण हैं, चैतन्य कारण है ही नहीं। तात्पर्य यह है कि, भूतों के समान विज्ञान भी एक मूल तत्त्व है जो जन्य और अनित्य है। यह भगवान् बुद्ध की मान्यता है और चार्वाक भूतों को ही मूल तत्त्व मानते हैं। बुद्ध चैतन्य-विज्ञान की सन्तति-धारा को अनादि मानते हैं किन्तु चार्वाक-मत में चैतन्य-धारा जैसी कोई चीज नहीं है। नदी का प्रवाह धाराबद्ध जलबिन्दुओं द्वारा निर्मित होता है और उसमें एकता की प्रतीति होती है। उसी प्रकार विज्ञान की सन्तति-परम्परा से विज्ञान-धारा का निर्माण होता है और उसमें भी एकत्व की झलक नजर आती है। वस्तुतः जल-बिन्दुओं के समान ही प्रत्येक देश और काल में विज्ञान-क्षण भिन्न ही होते हैं। ऐसी विज्ञान-धारा भगवान् बुद्ध को मान्य थी, किन्तु चार्वाक उसे भी स्वीकार नहीं करते।

भगवान् बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, उनके विषय, उनसे होने वाले ज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान इन सब पर एक-एक करके विचार किया है और सब को अनित्य, दुःख एवं अनात्म घोषित किया है। इन सब के सम्बन्ध में वे प्रश्न करते कि, ये नित्य हैं अथवा अनित्य? उन्हें उत्तर दिया जाता कि, ये अनित्य हैं। वे पुनः पूछते कि, यदि अनित्य हैं तो सुखरूप हैं अथवा दुःखरूप? उत्तर मिलता कि, ये दुःख-रूप हैं। वे फिर पूछने लगते कि, जो वस्तु अनित्य हो, दुःख हो, विपरिणामी हो, क्या उसके विषय में 'यह मेरी है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है' ऐसे विकल्प किए जा सकते हैं? उत्तर में नकारात्मक ध्वनि सुनाई देती। इस प्रकार वे श्रोताओं को इस बात का विश्वास करा देते कि, सब कुछ अनात्म है, आत्मा जैसी वस्तु ढूँढने पर भी नहीं मिलती¹।

भगवान् बुद्ध ने रूपादि सभी वस्तुओं को जन्य माना है और यह व्याप्ति बनाई है कि, जो जन्य है, उसका निरोध आवश्यक² है। अतः बुद्ध-मत में अनादि अनन्त आत्म-तत्त्व का

1. संयुक्तनिकाय 12.70.32-37; दीघनिकाय-महानिदान सुत्त 15; विनयपिटक-महावग्ग 1.6. 38-46.
2. 'यं किंचि समुदयधम्मं सव्वं तं निरोधधम्मं'—महावग्ग 1.6.29; 'सव्वे संखारा अनिच्चा-दुक्खा-अनत्ता' अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात् 134.

स्थान नहीं है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति इस बात के लिये उत्सुक हो कि, पूर्वोक्त मनोमय आत्मा के साथ बौद्ध-सम्मत पुद्गल अर्थात् देहधारी जीव जिसे चित्त भी कहा गया है, की तुलना की जाए। किन्तु वस्तुतः इन दोनों में भेद है। बौद्ध-मत में मन को अन्तःकरण माना गया है और इन्द्रियों की भाँति चित्तोत्पाद में यह भी एक कारण है। अतः मनोमय आत्मा से उसकी तुलना शक्य नहीं है, परन्तु विज्ञानात्मा से उसकी आंशिक तुलना सम्भव है। विज्ञानात्मा सतत जागरित नहीं होता, न ही सतत संवेदक होता है। मगर सुप्तावस्था में अथवा मृत्यु के समय में वह लीन हो जाता है और बाद में पुनः संवेदक बन जाता है। पुद्गल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सुप्तावस्था अथवा मृत्यु के समय उसका भी निरोध होता है। इस तुलना को आंशिक इसलिए कहा गया है कि, विज्ञानात्मा ही पुनः जागरित होता है, यह बात मानली गई थी। किन्तु बौद्ध ने तो जागरित होने वाले पुद्गल अथवा मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने वाले पुद्गल के विषय में यह 'वही है' या 'भिन्न है' इन दोनों विधानों में से किसी को भी उचित स्वीकार नहीं किया। यदि वे यह कहें कि, उन्हीं पुद्गलों ने पुनः जन्म ग्रहण किया तो उपनिषत् सम्मत शाश्वतवाद का समर्थन हो जाता है जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं है और यदि वे यह बात कहें कि 'भिन्न है' तो भौतिकवादियों के उच्छेदवाद को समर्थन प्राप्त होता है, वह भी बौद्ध के लिए इष्ट नहीं। अतः बौद्ध केवल इतना ही प्रतिपादन करते हैं कि, प्रथम चित्त था, इसीलिए दूसरा उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने वाला वही नहीं है और उससे भिन्न भी नहीं है किन्तु वह उसकी धारा में ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि, बौद्ध का उपदेश था कि, जन्म, जरा, मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के नहीं होते किन्तु वे सब अमुक कारणों से उत्पन्न होते हैं। बौद्ध-मत में जन्म, जरा, मरण इन सब का अस्तित्व तो है, किन्तु बौद्ध यह स्वीकार नहीं करते कि, इन सबका कोई स्थायी आधार¹ भी है। तात्पर्य यह है कि, बौद्ध को जहाँ चार्वाक का देहात्मवाद अमान्य है वहाँ उपनिषत्-सम्मत सर्वान्तर्यामी, नित्य, ध्रुव, शाश्वत-स्वरूप आत्मा भी अमान्य है। उनके मत में आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न भी नहीं है और शरीर से अभिन्न भी नहीं है। उन्हें चार्वाक-सम्मत भौतिकवाद एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदों का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त दिखाई देता है। उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है जिसे वे 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु उत्पन्न हुई, कहते हैं। वह वाद न तो शाश्वतवाद है और न ही उच्छेदवाद, उसे अशाश्वतानुच्छेदवाद का नाम दिया जा सकता है।

बौद्धमत के अनुसार संसार में सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ हैं, कर्म है, जन्म है, मरण है, बन्ध है, मुक्ति भी है—ये सब कुछ है, किन्तु इन सबका कोई स्थिर आधार नहीं है, नित्य नहीं है। ये समस्त अवस्थाएँ अपने पूर्ववर्ती कारणों से उत्पन्न होती रहती हैं और एक नवीन कार्य को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती हैं। इस प्रकार संसार का चक्र चलता रहता है। पूर्व का सर्वथा उच्छेद अथवा उसका धीव्य दोनों ही उन्हें मान्य नहीं हैं। उत्तरावस्था पूर्वावस्था से नितान्त असम्बद्ध है, अपूर्व है, यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि दोनों कार्य-कारण

1. संयुत्तनिकाय 12-36; अंगुत्तरनिकाय 3; दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त, संयुत्तनिकाय 12.17,24; विसुद्धिमग्ग 17.161-174.

की शृंखला में बद्ध हैं। पूर्ववस्था के सब संस्कार उत्तरवस्था में आ जाते हैं, अतः इस समय जो पूर्व है वही उत्तर रूप में अस्तित्व में आता है। उत्तर पूर्व से न तो सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु वह अव्याकृत है। भिन्न मानने से उच्छेदवाद और अभिन्न कहने से शाश्वतवाद मानना पड़ता है। भगवान् बुद्ध को ये दोनों ही वाद इष्ट नहीं थे, अतः ऐसे विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने अव्याकृतवाद की शरण ली¹।

बुद्धघोष ने इसी विषय को पौराणिकों का वचन कह कर प्रतिपादित किया है :—

कम्मस्स कारको तत्थि विपाकस्स च वेदको ।
 सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं ॥
 एवं कम्मे विपाके च वत्तमाने सहेतुके ।
 बीजरुक्खाकानं च पुब्बा कोटि न नायति ॥
 अनागते पि संसारे अप्पवत्तं न दिस्सति ।
 एतमत्थं अनञ्जाय तित्थिया असयंवली ॥
 सत्तसञ्जं गहेत्वान सस्सतुच्छेदवसिनो ।
 द्वासट्ठिदिट्ठि गण्हन्ति अञ्जमञ्ज विरोधिता ॥
 दिट्ठिबन्धन-बद्धा ते तण्हासोतेन वुत्थरे ।
 तण्हासोतेन-वुत्थन्ता न ते दुक्खा पमुच्चरे ॥
 एवमेतं अभिञ्जाय भिक्खु बुद्धस्स सावको ।
 गम्भोरं निपुणं सुञ्जं पच्चयं पटिविञ्जति ॥
 कम्मं तत्थि विपाकम्हि पाको कम्मे न विञ्जति ।
 अञ्जमञ्जं उभो सुञ्जा न च कम्मं विना फलं ॥
 यथा न सुरिये अग्निं न मण्णिम्हि न गोमये ।
 न तेसिं बहिं सो अत्थि सम्भारेहि च जायति ॥
 तथा न अन्ते कम्मस्स विपाको उपलभति ।
 बहिद्धावि न कम्मस्स न कम्मं तत्थि विञ्जति ॥
 फलेन सुञ्जं तं कम्मं फलं कम्मे न विञ्जति ।
 कम्मं च खो उपादाय ततो निव्वत्तती फलं ॥
 न हेत्थ वेवो ब्रह्मा वा संसारस्सत्थिकारको ।
 सुद्धधम्मा पवत्तन्ति हेतुसंभारपच्चया ॥

इसका तात्पर्य यह है कि:-

कर्म को करने वाला कोई नहीं है, विपाक (कर्म के फल) का अनुभव करने वाला कोई नहीं है, किन्तु शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है, यही सम्यग्दर्शन है।

1. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखें—पृष्ठ 6; मिलिन्दप्रश्न 2.25-33, पृष्ठ 41-52.

इस प्रकार कर्म और विपाक अपने-अपने हेतुओं पर आश्रित होकर प्रवृत्त होते हैं। उनमें पहला स्थान किसका है, यह बीज और वृक्ष के प्रश्न की भाँति नहीं बताया जा सकता। अर्थात् बीज और वृक्ष के समान कर्म एवं विपाक अनादि-काल से एक दूसरे पर आश्रित चले आ रहे हैं।

पुनश्च, यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म और विपाक को यह परस्पर कब निरुद्ध होगी। इस बात को न जानने से तैथिक पराधीन होते हैं।

तत्त्व-जीव के विषय में कुछ लोग शाश्वतवाद का और कुछ उच्छेदवाद का अवलम्बन लेते हैं और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं।

भिन्न-भिन्न दृष्टियों के बन्धन में बद्ध होकर वे तृष्णारूपी स्रोत में फँस जाते हैं और उसमें फँस जाने के कारण वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकते।

इस तत्त्व को समझ कर बुद्ध-भावक गम्भीर, निपुण और शून्यरूप प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करता है।

विपाक में कर्म नहीं है और कर्म में विपाक नहीं है, ये दोनों एक दूसरे से रहित हैं, फिर भी कर्म के बिना फल या विपाक होता ही नहीं।

जिस प्रकार सूर्य में अग्नि नहीं है; मणि में नहीं है, उपलों (गोबर) में भी नहीं है और वह इनसे भिन्न पदार्थों में भी नहीं है, किन्तु जब इन सबका समुदाय होता है तब वह उत्पन्न होता है उसी प्रकार कर्म का विपाक कर्म में उपलब्ध नहीं होता और कर्म के बाहर भी नहीं मिलता तथा विपाक में भी कर्म नहीं है। इस प्रकार कर्म फलशून्य है, कर्म में फल का अभाव है, फिर भी कर्म के आधार पर ही फल मिलता है।

कोई देव या ब्रह्म इस संसार का कर्ता नहीं है। हेतु समुदाय का आश्रय ले कर शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है। विशुद्धिमार्ग 19.0

अदन्त नामसेन ने रथ की उपमा देकर बताया है कि, पुद्गल का अस्तित्व केश, दान्त आदि शरीर के अवयवों तथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इन सब की अपेक्षा से है, किन्तु कोई परनाथिक तत्त्व नहीं। मिलिन्दप्रश्न 2.4. सू० 298

स्वयं बुद्ध घोष ने भी कहा है:-

यथेव चक्षुर्विज्जाणं मनोधातु अनन्तरं ।
न चेव आगतं नापि न निव्वतं अनन्तरं ॥
तथेव परिसधिम्हि वत्तते चित्तसंतति ।
पुरिमं भिज्जति चित्तं पच्छिमं जायते ततो ॥

जिस प्रकार मनोधातु के पश्चात् चक्षुर्विज्ञान होता है-वह कहीं से आया तो नहीं, फिर भी यह बात नहीं कि वह उत्पन्न नहीं हुआ; उसी प्रकार जन्मान्तर में चित्त-सन्तति के विषय में समझना चाहिए कि, पूर्व-चित्त का नाश हुआ है और उस से नये चित्त की उत्पत्ति हुई है। विशुद्धिमार्ग 19.23

भगवान् बुद्ध ने इस पुद्गल को क्षणिक और नाना-अनेक कहा है। यह चेतन तो है किन्तु मात्र चेतन ही है, ऐसी बात नहीं। वह नाम और रूप इन दोनों का समुदाय रूप है,

अर्थात् उसे भौतिक और अर्भौतिक का मिश्र रूप कहना चाहिए । इस प्रकार बौद्ध-सम्मत पुद्गल उपनिषद् की भांति केवल चेतन अथवा भौतिक-वादियों की मान्यता के समान केवल अचेतन नहीं है । इस विषय में भी भगवान् बुद्ध का मध्यम मार्ग है । मिलिन्दप्रश्न 2.35, त्रिशुद्धिमार्ग 18.25-35, संयुक्तनिकाय 1.135

(8) दार्शनिकों का आत्मवाद

उपनिषद् काल के पश्चात् भारतीय विविध वैदिक-दर्शनों की व्यवस्था हुई है, अतः अब इस विषय का निर्देश करना भी आवश्यक है । उपनिषद् चाहे दीर्घ-काल की विचार-परम्परा को व्यक्त करते हों, किन्तु उनमें एक सूत्र सामान्य है । भूतवाद की प्रधानता मानी जाय या आत्मवाद की, किन्तु यह बात निश्चित है कि विश्व के मूल में किसी एक ही वस्तु की सत्ता है, अनेक वस्तुओं की नहीं । यह एक-भूतता समस्त उपनिषदों में दृष्टिगोचर होती है । ऋग्वेद (10.129) में उसे 'तदेकं' कहा गया था, किन्तु उसका नाम नहीं बताया गया था । ब्राह्मणकाल में उस एक तत्त्व को प्रजापति की संज्ञा दी गई । उपनिषदों में उसे सत्, असत्, आकाश, जल, वायु, प्राण, मन, प्रज्ञा, आत्मा, ब्रह्म आदि विविध नामों से प्रकट किया गया, किन्तु उनमें विश्व के मूल में अनेक तत्त्वों को स्वीकार करने वाली विचारधारा को स्थान नहीं मिला । जब दार्शनिक-सूत्रों की रचना हुई, तब वेदान्त-दर्शन के अतिरिक्त किसी भी भारतीय वैदिक अथवा अवैदिक दर्शन में अद्वैतवाद को आश्रय मिला ही, यह ज्ञात नहीं होता । अतः हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चाहे उपनिषदों के पहले की अवैदिक-परम्परा का साहित्य उपलब्ध न हुआ हो, परन्तु अद्वैत-विरोधि परम्परा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से अवश्य था । इस परम्परा के अस्तित्व के आधार पर ही वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित वैदिक कर्म-काण्ड के स्थान पर स्वयं वेदानुयायियों (वैदिकों) ने भी ज्ञान-मार्ग और आध्यात्मिक-मार्ग को ग्रहण किया और इसी परम्परा की विद्यमानता के कारण वैदिक-दर्शनों ने अद्वैत-मार्ग को त्याग कर द्वैत-मार्ग अथवा बहुतत्त्ववादी-परम्परा को स्थान दिया । वेद-विरोधी श्रमण-परम्परा में जैन परम्परा, आजीवक-परम्परा, बौद्ध-परम्परा, चार्वाक-परम्परा आदि अनेक परम्पराएँ अस्तित्व में आईं, किन्तु वर्तमानकाल में जैन और बौद्ध-परम्परा ही विद्यमान हैं । हम यह देख चुके हैं कि, अद्वैत चेतन आत्मा अथवा ब्रह्म तत्त्व को स्वीकार कर उपनिषद् विचारधारा पराकाष्ठा को पहुँची । किन्तु वैदिक-दर्शनों में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व ऋषीमांसा केवल अद्वैत आत्मा को ही नहीं अपितु जड़-चेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों को मौलिक मानते हैं । यही नहीं, उन्होंने आत्म-तत्त्व को भी एक न मान कर बहुसंख्यक स्वीकार किया है । उक्त सभी दर्शनों ने आत्मा को उपनिषदों की भाँति चेतन प्रतिपादित किया है, अर्थात् आत्मा को उन्होंने भौतिक नहीं माना है ।

(9) जैन मत :

इन सब वैदिक-दर्शनों के समान जैन-दर्शन में भी आत्मा को चेतन तत्त्व स्वीकार किया गया है और उसे अनेक माना गया है, किन्तु यह चेतन तत्त्व अपनी संसारी अवस्था में बौद्ध-दर्शन के पुद्गल के समान भूर्त्ताभूर्त्त है । वह ज्ञानादि गुण की अपेक्षा से श्रमूर्त्त है और कर्म

के साथ सम्बन्धित होने के कारण मूर्त है। इसके विपरीत अन्य सब दर्शनों ने चेतन को अमूर्त माना है।

उपसंहार :

समस्त भारतीय दर्शनों ने यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध चार्वाक-दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसमें और दूसरे दर्शनों में मतभेद यह है कि, चार्वाक के अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी शाश्वत तत्त्व नहीं, वह भूतो से उत्पन्न होता है। बौद्ध भी चेतन तत्त्व को अन्य दर्शनों की भाँति नित्य नहीं मानते, अपितु चार्वाकों के समान जन्य मानते हैं। फिर भी बौद्धों और चार्वाकों में एक महत्वपूर्ण भेद है। बौद्धों की मान्यता के अनुसार चेतन तो जन्य है परन्तु चेतन-सन्तति अनादि है। चार्वाक प्रत्येक जन्य चेतन को सर्वथा भिन्न या अपूर्व ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्येक जन्य चैतन्य-क्षण के पूर्व-जनक क्षण से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न होने का निषेध करते हैं। बौद्ध-दर्शन में चार्वाक का उच्छेदवाद किंवा उपनिषदों और अन्य दर्शनों का आत्म शाश्वतवाद मान्य नहूँ, अतः वे आत्म-सन्तति को अनादि मानते हैं, आत्मा को अनादि नहीं मानते। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा और जैन ये समस्त दर्शन आत्मा को अनादि स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन और पूर्व मीमांसा दर्शन का भाट्ट-सम्प्रदाय आत्मा को परिणामी नित्य मानते हैं। शेष सभी दर्शन उसे कूटस्थ नित्य मानते हैं।

आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले, उसमें किसी भी प्रकार के परिणाम का निषेध करने वाले, संसार और मोक्ष को तो मानते ही हैं और आत्मा को परिणामी नित्य मानने वाले भी संसार व मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, अतः आत्मा को कूटस्थ या परिणामी मानने पर भी संसार और मोक्ष के विषय में किसी भी प्रकार का मत-भेद नहीं है। वे दोनों ही। यह एक अलग प्रश्न है कि उन दोनों की उपपत्ति कैसे की जाए।

आत्मा के सामान्य स्वरूप चैतन्य का विचार करने के उपरान्त उसके विशेष स्वरूप का विचार करना अब सरल है।

3. जीव अनेक हैं

इस ग्रन्थ में (गा० 1581-85) यह पक्ष स्वीकार किया गया है कि जीव अनेक हैं और 'आत्माद्वैत' अर्थात् 'आत्मा एक ही है', इस पक्ष का निराकरण किया गया है। हम यह देख चुके हैं कि वेद से लेकर उपनिषदों तक की विचारधारा में मुख्यतः अद्वैत पक्ष का ही अवलम्बन लिया गया है, अतः उपनिषदों के आधार पर जब ब्रह्म-सूत्र में वेदान्त-दर्शन की व्यवस्था की गई, तब भी उसमें अद्वैत के सिद्धान्त को ही पुष्ट किया गया। किन्तु संसार में जो अनेक जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनका निषेध करना सरल नहीं था, अतः हम देखते हैं कि कि तत्त्वतः एक आत्मा मानकर भी उस एक अद्वैत आत्मा अथवा ब्रह्म के साथ संसार में प्रत्यक्ष दृग्गोचर होने वाले अनेक जीवों का क्या सम्बन्ध है, इस बात की व्याख्या करना आवश्यक था। ब्रह्म-सूत्र के टीकाकारों ने यह स्पष्टीकरण किया भी है, किन्तु इसमें एक मत स्थिर नहीं हो सका, अतः व्याख्या-भेद के कारण वेदान्त-दर्शन की अनेक परम्पराएँ बन गई हैं।

वेदान्त-दर्शन के समान अन्य भी वैदिक-दर्शन हैं किन्तु उन्होंने वेदान्त की भाँति उपनिषदों को ही आधारभूत मानकर अपने दर्शन की रचना नहीं की। रुढ़ि के कारण शास्त्र अथवा आगम के स्थान पर वेद और उपनिषदों को मानते हुए भी उन दर्शनों में उपनिषदों के अद्वैत पक्ष को आदर नहीं मिला, परन्तु वहाँ वेदेतर जैन-दर्शन के समान आत्मा को तत्त्वतः अनेक माना गया है। ऐसे वैदिक दर्शन न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व मीमांसा हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस द्वितीय पक्ष को ही महत्त्व देकर जीव को नाना या अनेक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यह पक्ष जैनों को भी मान्य है।

वेदान्त पक्ष और वेदान्तेतर पक्ष में मौलिक भेद यह है कि, वेदान्त-मत में एक आत्मा ही मौलिक तत्त्व है और संसार में दिखाई देने वाली अनेक आत्माएँ उस एक मौलिक आत्मा के ही कारण से हैं, वे सब स्वतन्त्र नहीं हैं। इसके विपरीत इतर पक्ष का कथन है कि, संसार में दृष्टिगोचर होने वाली अनेक आत्माओं में प्रत्येक स्वतन्त्र आत्मा है, वे अपने अस्तित्व के लिए तत्त्वतः किसी अन्य आत्मा पर आश्रित नहीं हैं।

वेद और उपनिषदों के अनुयायियों को इन ग्रन्थों की विचार-धारा स्वीकार करनी चाहिए अर्थात् अद्वैत पक्ष को मान्यता देनी चाहिए, किन्तु वेदान्त के अतिरिक्त अन्य वैदिक-दर्शन ऐसा नहीं करते। उन्होंने तत्त्वतः अनेक आत्माएँ स्वीकार कीं, इससे उन पर वेद-बाह्य विचार-धारा का प्रभाव सूचित होता है। इसमें आश्चर्य नहीं कि प्राचीन सांख्य-परम्परा और जैन-परम्परा ने इस विषय में मुख्य भाग लिया होगा। इतिहासकार इस तथ्य से अच्छी तरह से परिचित हैं कि प्राचीन काल में सांख्य भी अवैदिक दर्शन माना जाता था परन्तु बाद में उसे वैदिक रूप दे दिया गया।

इस प्रासंगिक चर्चा के उपरान्त अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि ब्रह्म-सूत्र की व्याख्या करते हुए अद्वैत-ब्रह्म के साथ अनेक जीवों की उपपत्ति करने में कौन-कौन से मत-भेद हुए।

(अ) वेदान्तियों के मत-भेद¹

(1) शंकराचार्य का विवर्तवाद :

शंकराचार्य का कथन है कि मूल रूप में ब्रह्म एक होने पर भी अनादि अविद्या के कारण वह अनेक जीवों के रूप में दृग्गोचर होता है। जैसे अज्ञान के कारण रस्ती में सर्प की प्रतीति होती है वैसे ही अज्ञान के कारण ब्रह्म में अनेक जीवों की प्रतीति होती है। रस्ती सर्प रूप में उत्पन्न नहीं होती, न ही वह सर्प को उत्पन्न करती है, फिर भी उसमें सर्प का भान होता है। इसी प्रकार ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में उत्पन्न नहीं होता, अनेक जीवों को उत्पन्न भी नहीं करता, तथापि अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण अविद्या या माया है,

1. इन मतभेदों का प्रदर्शन श्री गो० ह० भट्ट-कृत ब्रह्मसूत्राणुभाष्य के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना का मुख्य आधार लेकर किया गया है। उनका आभार मानता हूँ।

अतः अनेक जीव माया रूप ह, मिथ्या ह । इसलिये उन्हें ब्रह्म का विवर्त कहा जाता है । यदि जीव का यह अज्ञान दूर हो जाए तो ब्रह्मतावात्म्य की अनुभूति हो, अर्थात् जीव-भाव दूर होकर ब्रह्मभाव का अनुभव हो । शंकर के इस मत को 'केवलाद्वैतवाद' इसलिए कहा जाता है कि, वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म-आत्मा को ही सत्य मानते हैं, शेष समस्त पदार्थों को 'माया-रूप अथवा मिथ्या मानते हैं । जगत् को मिथ्या स्वीकार करने के कारण उस मत को 'मायावाद' भी कहा गया है जिसका दूसरा नाम 'विवर्तवाद' भी है ।

(2) भास्कराचार्य का सत्योपाधिवाद :

भास्कराचार्य यह मानते हैं कि अनादिकालीन सत्य उपाधि के कारण निरुपाधिक ब्रह्म जीव-रूप में प्रकट होता है । जिस क्रिया के वश नित्य, शुद्ध, मुक्त, कूटस्थ ब्रह्म मूर्त पदार्थों में प्रवेश कर अनेक जीवों के रूप में प्रकट होता है और उन जीवों का आधार बनता है, उस क्रिया को 'उपाधि' कहते हैं । इस उपाधि के सम्बन्ध के कारण ब्रह्म जीव-रूप में प्रकट होता है, अतः यह जीव ब्रह्म का औपाधिक स्वरूप है, यह बात स्वीकार करनी पड़ती है । इस प्रकार जीव और ब्रह्म में वस्तुतः अभेद होते हुए भी जो भेद है, वह उपाधि मूलक है, किन्तु जीव ब्रह्म का विकार नहीं है । जब वह निरुपाधिक होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं और सोपाधिक होने पर उसे जीव कहते हैं । ब्रह्म के सोपाधिक रूप अनेक होते हैं, अतः अनेक जीवों की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं आती । उपाधि को सत्य रूप मानने के कारण और इसी उपाधि से जगत् तथा अनेक जीवों की उपपत्ति सिद्ध करने के कारण भास्कराचार्य के मत को 'सत्योपाधि-वाद' कहते हैं । इससे विपरीत शंकराचार्य उपाधि को मिथ्या मानते हैं, उनका मत 'मायावाद' कहलाता है । भास्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अपनी परिणाम-शक्ति अथवा भोग्यशक्ति के कारण जगत् रूप में परिणत होता है, अतः जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं । इस प्रकार भास्कराचार्य ने जगत् के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विवर्तवाद के स्थान पर प्राचीन परिणामवाद का समर्थन किया और उसके पश्चात् रामानुजाचार्य आदि अन्य आचार्यों ने भी उसी का अनुसरण किया ।

(3) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद :

रामानुज के मतानुसार परमात्मा ब्रह्म कारण भी है और कार्य भी । सूक्ष्म चित् तथा अचित् से विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट ब्रह्म कार्य है । इन दोनों विशिष्टों का ऐक्य स्वीकृत करने के कारण रामानुज का मत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है । कारण-रूप ब्रह्म परमात्मा के सूक्ष्म चिद्रूप के विविध स्थूल परिणाम ही अनेक जीव हैं और परमात्मा का सूक्ष्म अचिद्रूप स्थूल जगत् के रूप में परिणमन करता है । रामानुज के अनुसार जीव अनेक हैं, नित्य हैं और अणु-परिमाण हैं । जीव और जगत् दोनों ही परमात्मा के कार्य-परिणाम हैं, अतः वे मिथ्या नहीं प्रत्युत सत्य हैं । मुक्ति में जीव परमात्मा के समान होकर उस के ही निकट रहता है । रामानुज की मान्यता है कि, जीव और परमात्मा दोनों पृथक् हैं, एक कारण है और दूसरा कार्य; किन्तु कार्य कारण का ही परिणाम है, अतः इन दोनों में अद्वैत है ।

(4) निम्बार्क-सम्मत द्वैताद्वैत-भेदाभेदवाद :

आचार्य निम्बार्क के मत में परमात्मा के दो स्वरूप हैं : चित् और अचित् । ये दोनों ही परमात्मा से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी । जिस प्रकार वृक्ष और उसके पत्र, दीपक और उसके प्रकाश में भेदाभेद है, उसी प्रकार परमात्मा में भी चित् और अचित् इन दोनों का भेदाभेद है । जगत् सत्य है, क्योंकि यह परमात्मा की शक्ति का परिणाम है । जीव परमात्मा का अंश है और अंश तथा अंशी में भेदाभेद होता है । ऐसे जीव अनेक हैं, नित्य हैं, अणु-परिमाण हैं । अविद्या और कर्म के कारण जीव के लिए संसार का अस्तित्व है । रामानुज की मान्यता के समान मुक्ति में भी जीव और परमात्मा में भेद है, फिर भी जीव अपने को परमात्मा से अभिन्न समझता है ।

(5) मध्वाचार्य का भेदवाद :

वेदान्त-दर्शन में समाविष्ट होने पर भी मध्वाचार्य का दर्शन वस्तुतः अद्वैती न होकर द्वैती ही है । रामानुज आदि आचार्यों ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना है, अर्थात् ब्रह्म को उपादान कारण स्वीकार किया है और इस प्रकार अद्वैतवाद की रक्षा की है, किन्तु मध्वाचार्य ने परमात्मा को निमित्त कारण मानकर प्रकृति को उपादान कारण प्रतिपादित किया है । रामानुज आदि आचार्यों ने जीव को भी परमात्मा का ही कार्य, परिणाम, अंश आदि माना है और इस प्रकार दोनों में अभेद बताया है, परन्तु मध्वाचार्य ने अनेक जीव मानकर उन में परस्पर भेद माना है और साथ ही ईश्वर से भी उन सबका भेद स्वीकार किया है । इस तरह मध्वाचार्य ने समस्त उपनिषदों की अद्वैत-प्रवृत्ति को बदल डाला है । उनके मत में जीव अनेक हैं, नित्य हैं और अणु-परिमाण हैं । जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी प्रकार जीव भी सत्य है, परन्तु वे परमात्मा के अधीन हैं ।

(6) विज्ञानभिक्षु का अविभागाद्वैत :

विज्ञानभिक्षु का मत है कि, प्रकृति और पुरुष (जीव) ये दोनों ब्रह्म से भिन्न होकर विभक्त नहीं रह सकते, किन्तु वे उसमें अन्तर्हित-गुप्त-अविभक्त हैं, अतः उनके मत का नाम 'अविभागाद्वैत' है । पुरुष या जीव अनेक हैं, नित्य हैं, व्यापक हैं । जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है । वह अंशांशि-भाव युक्त है । जन्म से पूर्व पुत्र पिता में ही था, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म में था, ब्रह्म से ही वह प्रकट होता है तथा प्रलय के समय ब्रह्म में ही लीन हो जाता है । ईश्वर की इच्छा से जीव और प्रकृति में सम्बन्ध स्थापित होता है और जगत् की उत्पत्ति होती है ।

(7) चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेदवाद :

श्री चैतन्य के मत में श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं । उनकी अनन्त शक्तियों में जीव-शक्ति भी सम्मिलित है और उस शक्ति से अनेक जीवों का आविर्भाव होता है । ये जीव अणु-परिमाण हैं, ब्रह्म के अंश रूप हैं और ब्रह्म के अधीन हैं । जीव और जगत् परम-ब्रह्म से भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं, यह एक अचिन्त्य विषय है, इसीलिए चैतन्य के मत का नाम 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' है । भक्त के जीवन का परम ध्येय यह माना गया है कि, जीव परम-ब्रह्म-रूप कृष्ण से भिन्न होने पर भी उसकी भक्ति में तल्लीन होकर यह मानने लग जाए कि वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर कृष्ण-स्वरूप हो रहा है ।

(8) बल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत मार्ग :

आचार्य बल्लभ के मतानुसार यद्यपि जगत् ब्रह्म का परिणाम है तथापि ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। स्वयं शुद्ध ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणमित हुआ है। इस से न तो माया का सम्बन्ध है और न अविद्या का, अतः वह शुद्ध कहलाता है और यह शुद्ध ब्रह्म ही कारण तथा कार्य इन दोनों रूपों वाला है। फलतः इस वाद को 'शुद्धाद्वैतवाद' कहते हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि, कारण-ब्रह्म के समान कार्य-ब्रह्म अर्थात् जगत् भी सत्य है, मिथ्या नहीं। "ब्रह्म से जीव का उद्गम अग्नि से स्फुलिंग की उत्पत्ति के समान है। जीव में ब्रह्म के सत् और चित् ये दो अंश प्रकट होते हैं, आनन्द अंश अप्रकट रहता है। जीव नित्य है और अणु-परिमाण है, ब्रह्म का अंश है तथा ब्रह्म से अभिन्न है।" जीव की अविद्या से उसके अहंता अथवा ममतात्मक संसार का निर्माण होता है। विद्या से अविद्या का नाश होने पर उक्त संसार भी नष्ट हो जाता है।

(आ) शैवों का मत

हम यह वर्णन कर चुके हैं कि वेद और उपनिषदों को प्रमाण मानकर अद्वैत ब्रह्म परमात्मा को मानने वाले वेदान्तियों ने जीवों के अनेक होने की उपपत्ति किस प्रकार सिद्ध की है। अब हम शिव के अनुयायी उन शैवों के मत पर विचार करेंगे जो वेद और उपनिषदों को प्रमाणभूत न मानते हुए और वैदिकों द्वारा उपदिष्ट वर्णाश्रमधर्म को अस्वीकार करते हुए भी अद्वैतमार्ग का आश्रय लेते हैं और उस के आधार पर अनेक जीवों की सिद्धि करते हैं। इस मत का दूसरा नाम 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' भी है।

शैवों के मत में परमब्रह्म के स्थान पर अनुत्तर नाम का एक तत्त्व है। यह तत्त्व सर्वशक्तिमान् नित्य पदार्थ है। उसे शिव और महेश्वर भी कहते हैं। जीव और जगत् ये दोनों शिव की इच्छा से शिव से ही प्रकट होते हैं। अतः ये दोनों पदार्थ मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जीव को तत्त्वतः अनेक सिद्ध करने के लिए उक्त सभी अद्वैत पक्षों से विरुद्ध मत उपस्थित किया गया है। इसमें वेदान्त-सूत्र के व्याख्याकार मध्वाचार्य एक अपवाद हैं। उसने अन्य वैदिक-दर्शनों के समान जीवों को तत्त्वतः अनेक मानकर ही ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि, प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता के समक्ष उक्त सभी वेदान्त के मत विद्यमान ही थे। हमारा अभिप्राय इतना ही है कि इन, सभी व्याख्या-भेदों के अनुसार जो मन्तव्य हैं, उनसे सर्वथा भिन्न मत इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है।

4. आत्मा का परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण के विषय में अनेक कल्पनाएँ उपबन्ध होती हैं, किन्तु इन सब कल्पनाओं के अन्त में ऋषियों की प्रवृत्ति आत्मा को व्यापक मानने की ओर विशेष रूप से हुई¹। यही कारण है कि लगभग सभी वैदिक-दर्शनों ने आत्मा को व्यापक माना है। इस विषय में शंकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज आदि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार अपवाद मात्र हैं। उन्होंने ब्रह्मात्मा को व्यापक तथा जीवात्मा को अणु-परिमाण माना है। चार्वाक ने चैतन्य

1. मुण्डक० 1.1.6; वंशे० 7.1.22; न्यायमंजरी पृष्ठ 468 (विजय०); प्रकरण पं० पृष्ठ 158.

को देह-परिमाण माना और बौद्धों ने भी पुद्गल को देह-परिमाण स्वीकार किया, ऐसी कल्पना की जा सकती है। जैनों ने तो आत्मा को देह-परिमाण स्वीकार किया ही है। आत्मा को देह परिमाण मानने की मान्यता उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि, जैसे तलवार अपनी म्यान में और अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है, उसी तरह आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है¹। तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन सब आत्माओं को शरीर-प्रमाण बताया गया है²।

उपनिषदों में इस बात का भी प्रमाण है कि, आत्मा को शरीर से भी सूक्ष्म परिमाण मानने वाले ऋषि विद्यमान थे। बृहदारण्यक में लिखा है कि, आत्मा चाबल या जौ के दाने के परिमाण की है³। कुछ लोगों के मतानुसार वह अंगुष्ठ-परिमाण⁴ है और कुछ की मान्यता के अनुसार वह बालिस्त-परिमाण⁵ है। मंत्री उपनिषद् (6.38) में तो उसे अणु से भी अणु माना गया है। बाद में जब आत्मा को अवर्ण्य माना गया तब ऋषियों ने उसे अणु से भी अणु और महान् से भी महान् मानकर सन्तोष किया⁶।

जब सभी दर्शनों ने आत्मा की व्यापकता को स्वीकार किया, तब जैनों ने उसे देह-परिमाण मानते हुए भी केवलज्ञान की अपेक्षा से व्यापक कहना शुरु किया⁷। अथवा समुद्धान्त की अवस्था में आत्मा के प्रदेशों का जो विस्तार होता है, उसकी अपेक्षा से उसे लोकव्याप्त कहा जाने लगा (न्यायखण्डखाद्य)।

आत्मा को देह-परिमाण मानने वालों की युक्तियों का सार प्रस्तुत ग्रन्थ (गा० 1585-87) में दिया गया है, अतः इस विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है, किन्तु एक बात का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है। जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत में भी संसारी आत्मा के ज्ञान, सुख, दुःख इत्यादि गुण शरीर-मर्यादित आत्मा में ही अनुभूत होते हैं, शरीर के बाहर के आत्म-प्रदेशों में नहीं। इस प्रकार संसारी आत्मा के अनुरूप आत्मा को व्यापक माना जाए अथवा शरीर-प्रमाण, किन्तु संसारावस्था तो शरीर-मर्यादित आत्मा में ही है।

आत्मा को व्यापक स्वीकार करने वालों के मत में जीव की भिन्न-भिन्न नारकादि गति सम्भव है, किन्तु उनके अनुसार गति का अर्थ जीव का गमन नहीं है। वे मानते हैं कि, वहाँ लिग-शरीर का गमन होता है और उसके बाद वहाँ व्यापक आत्मा से नवीन शरीर का सम्बन्ध होता है। इसी को जीव की गति कहते हैं। इससे विपरीत देह-परिमाणवादी जैनों की मान्यता के अनुसार जीव अपने कार्मण शरीर के साथ उन-उन स्थानों में गमन करता है और नए शरीर

1. कौषीतकी 4.20.
2. तैत्तिरीय 1.2.
3. बृहदा० 5.6.1
4. कठ० 2.2.12
5. छान्दोग्य 5.18.1.
6. कठ० 1.2.20; छान्दो० 3.14.3; श्वेता० 3.20
7. ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसं० टी० 10

की रचना करता है। जो व्यक्ति जीव को अणु-परिमाण मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार भी जीव लिंग-शरीर को साथ ले कर गमन करता है और नए शरीर का निर्माण करता है। बौद्धों के मत में गति का अर्थ यह है कि, मृत्यु के समय एक पुद्गल का निरोध होता है और उसी के कारण अन्यत्र नवीन पुद्गल उत्पन्न होता है। इसी को पुद्गल की गति कहते हैं।

उपनिषदों में भी क्वचित् मृत्यु के समय जीव की गति अथवा गमन का वर्णन आता है। इससे ज्ञात होता है कि, जीव की गति की मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है¹।

5. जीव की नित्यानित्यता

(अ) जैन और मीमांसक

उपनिषद् के 'विज्ञानघन' इत्यादि वाक्य की व्याख्या (मा० 1593-96) और बौद्ध सम्मत 'क्षणिक-विज्ञान' का निराकरण (मा० 1631) करते हुए तथा अन्यत्र (मा० 1843, 1961) आत्मा को नित्यानित्य कहा गया है। चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है, अर्थात् आत्मा कभी भी अनात्मा से उत्पन्न नहीं होती और न ही आत्मा किसी भी अवस्था में अनात्मा बनती है। इस दृष्टि से उसे नित्य कहते हैं। परन्तु आत्मा में ज्ञान-विज्ञान की पर्याय अथवा अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः वह अनित्य भी है। यह स्पष्टीकरण जैन-दृष्टि के अनुसार है और मीमांसक कुमारिल को भी यह दृष्टि मान्य है²।

(आ) सांख्य का कूटस्थवाद

इस विषय में दार्शनिकों की परम्पराओं पर कुछ विचार करना आवश्यक है। सांख्य-योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार इष्ट नहीं है। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नहीं प्रत्युत प्रकृति के माने गए हैं (सां०का० 62)। सुख, दुःख, ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं (सां० का० 11)। इस तरह वह आत्मा को सर्वथा अपरिणामी स्वीकार करता है। कर्तृत्व न होने पर भी भोग आत्मा में ही माना गया है³। इस भोग के आधार पर भी आत्मा में परिणाम की सम्भावना है, अतः कुछ सांख्य भोग को भी वस्तुतः आत्मा का धर्म मानना उचित नहीं समझते⁴। इस प्रकार उन्होंने आत्मा के कूटस्थ होने की मान्यता की रक्षा का प्रयत्न किया है। सांख्य के इस वाद को कतिपय उपनिषद्-वाक्यों का आधार भी प्राप्त⁵ है। अतः हम कह सकते हैं कि, आत्म-कूटस्थवाद प्राचीन है।

(इ) नैयायिक-वैशेषिकों का नित्यवाद

नैयायिक और वैशेषिक द्रव्य व गुणों को भिन्न मानते हैं। अतः उनके मत के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आत्म-द्रव्य में ज्ञानादि गुणों को मानकर भी गुणों की अनित्यता के

1. छान्दोग्य 8.6.5.
2. तत्त्वसं० का० 23-27; श्लोकवा० आत्मवाद 23-30
3. सांख्यका० 17
4. सांख्यत० 17
5. कठ० 12. 18-19

आधार पर आत्मा को अनित्य माना जाए। इसके विपरीत जैन आत्म-द्रव्य से ज्ञानादि गुणों का अभेद मानते हैं, अतः गुणों की अस्थिरता के कारण वे आत्मा को भी अस्थिर या अनित्य कहते हैं।

(ई) बौद्ध-सम्मत अनित्यवाद

बौद्ध के मत में जीव अथवा पुद्गल अनित्य हैं। प्रत्येक क्षण में विज्ञान आदि चित्त-क्षण नए-नए उत्पन्न होते हैं और पुद्गल इन विज्ञान-क्षणों से भिन्न नहीं है, अतः उनके मत में पुद्गल या जीव अनित्य है। किन्तु एक पुद्गल की सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और भविष्य में भी वह चालू रहेगी, अतः द्रव्य-नित्यता के स्थान पर सन्तति-नित्यता तो बौद्धों को भी अभीष्ट है, ऐसा मानना चाहिए। कार्य-कारण की परम्परा को सन्तति कहते हैं। इस परम्परा का कभी उच्छेद नहीं हुआ और भविष्य में भी उसका क्रम विद्यमान रहेगा। कुछ बौद्ध विद्वानों के अनुसार निर्वाण के समय यह परम्परा समाप्त हो जाती है, किन्तु कुछ अन्य बौद्धों के मत से विशुद्ध चित्त-परम्परा कायम रहती है, अतः इस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि, बौद्धों को सन्तति-नित्यता मान्य है।

(उ) वेदान्त-सम्मत जीव की परिणामी नित्यता

वेदान्त में ब्रह्मात्मा-परमात्मा को एकान्त नित्य माना गया है। किन्तु जीवात्मा के विषय में जो अनेक मन्तव्य हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है। उसके अनुसार शंकराचार्य के मत में जीवात्मा मायिक है, वह अनादिकालीन अज्ञान के कारण अनादि तो है, किन्तु अज्ञान का नाश होने पर वह ब्रह्मत्व का अनुभव करती है। उस समय जीव-भाव नष्ट हो जाता है, अतः यह कल्पना की जा सकती है कि, मायिक जीव ब्रह्म रूप में नित्य है और मायारूप में अनित्य।

शंकराचार्य को छोड़कर लगभग समस्त वेदान्ती ब्रह्म का विवर्तन मानकर परिणाम स्वीकार करते हैं, इस दृष्टि से जीवात्मा को परिणामी नित्य कहना चाहिए। जैन व मीमांसकों के परिणामी नित्यवाद तथा वेदान्तियों के परिणामी नित्यवाद में यह अन्तर है कि, जैन व मीमांसकों के मत में जीव स्वतन्त्र है और उसका परिणामन हुआ करता है, किन्तु वेदान्तियों के परिणामी नित्यवाद में जीव और ब्रह्म की अपेक्षा से परिणामवाद समझने का है, अर्थात् ब्रह्म के विविध परिणाम ही जीव हैं।

जीव को सर्वथा नित्य माना जाए अथवा अनित्य? किन्तु सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी पद्धति से संसार और मोक्ष की उपपत्ति तर्कों की ही है। इससे नित्य मानने वालों के मत में उसकी सर्वथा एकरूपता और अनित्य मानने वालों के मत में उसका सर्वथा भेद स्थिर नहीं रह सकता। अतः संसार और मोक्ष की कल्पना के साथ परिणामी नित्यवाद अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जैन, मीमांसक और वेदान्त के शंकरातिरिक्त टीकाकारों ने इसी वाद को मान्यता दी है।

6. जीव का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व

प्रथम गणधर इन्द्रभूति (गा० 1567-68) तथा पुनः दसवें गणधर मेतार्य के साथ हुई चर्चा (गा० 1957) में जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का उल्लेख है। अतः इस विषय में विशेष

विचार किया जाय तो असंगत नहीं है। आत्मवादी समस्त दर्शनों ने भोक्तृत्व तो स्वीकार किया ही है, किन्तु कर्तृत्व के विषय में केवल सांख्य का मत दूसरों से भिन्न है। उसके अनुसार आत्मा कर्ता नहीं किन्तु भोक्ता है और यह भोक्तृत्व भी औपचारिक है¹।

(अ) उपनिषदों का मत

उपनिषदों में जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि, यह जीवात्मा फल के लिए कर्मों का कर्ता है और किए हुए कर्मों का भोक्ता² भी है। वहाँ यह भी बताया गया है कि, जीव वस्तुतः न स्त्री है, न पुरुष और न ही नपुंसक। अपने कर्मों के अनुसार वह जिस-जिस शरीर को धारण करता है, उससे उसका सम्बन्ध हो जाता है। शरीर की वृद्धि और जन्म-संकल्प, विषय के स्पर्श, दृष्टि, मोह, अन्न और जल से होते हैं। देह युक्त जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीरों को भिन्न-भिन्न स्थानों में क्रम-पूर्वक प्राप्त करता है और वह कर्म तथा शरीर के गुणानुसार प्रत्येक जन्म में पृथक्-पृथक् भी दृष्टिगोचर होता है³। बृहदारण्यक के निम्नलिखित वाक्य भी जीवात्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को प्रकट करते हैं :—‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन’ (3.2.13) ‘शुभ काम करने वाला शुभ बनता है और अशुभ काम करने वाला अशुभ’। ‘यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवामं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्कर्तुं भवति, यत्कर्तुं भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।’ (4.4.5) ‘मनुष्य जैसे काम व आचरण करता है, वैसे ही वह बन जाता है। अच्छे काम करने वाला अच्छा बनता है और बुरे काम करने वाला बुरा। पुण्य कार्य से पुण्यशाली और पाप कर्म से पापी बनता है। इसीलिए कहा है कि मनुष्य कामनाओं का बना हुआ है। जैसी उसकी कामना होती है, उसी के अनुसार वह निश्चय करता है, जैसा निश्चय करता है वैसा ही काम करता है और जैसे काम करता है वैसे ही फल पाता है।’

किन्तु यह जीवात्मा जिस ब्रह्म या परमात्मा का अंश है, उसे उपनिषदों में अकर्ता और अभोक्ता कहा गया है। उसे केवल अपनी लीला का द्रष्टा माना गया है। यह बात इस कथन से स्पष्ट हो जाती है:—‘यह आत्मा शरीर के वश हो कर अथवा शुभाशुभ कर्म के बन्धनों में बद्ध होकर भिन्न-भिन्न शरीरों में संचार करता है।’ किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो यह ग्रन्थक्त, सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य और ममता रहित है, अतः वह सब अवस्थाओं से शून्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कर्तृत्व से विहीन होकर भी कर्तारूप में दिखाई देता है। यह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, आसक्ति रहित, दुःख रहित, इच्छा रहित, द्रष्टा के समान है और अपने कर्मों का भोग करते हुए दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार तीन गुणरूपी वस्त्र से अपने स्वरूप को आच्छादित किए हुए ज्ञात होता है⁴।

1. इस वाद के सदृश उपनिषदों में भी कथन है—मंत्रायणी 2.10-11; सां० का० 19.
2. श्वेताश्वतर 5.7.
3. श्वेताश्वतर 5. 10-12.
4. मंत्रायणी 2. 10. 11

(अ) दार्शनिकों का मत

उपनिषदों के इस परमात्मा के वर्णन को निरीश्वर सांख्यों ने पुरुष में स्वीकार किया है और परमात्मा की तरह जीवात्मा-पुरुष को अकर्ता और अभोक्ता माना है। सांख्य-मत में पुरुष-व्यतिरिक्त किसी परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं था, अतः परमात्मा के धर्मों का पुरुष में आरोप कर और पुरुष को अकर्ता व अभोक्ता कह कर उसे मात्र द्रष्टारूप में स्वीकार किया गया।

इसके विपरीत नैयायिक-वैशेषिकों ने आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों धर्म स्वीकार किए हैं। यही नहीं, परमात्मा में भी जगत्-कर्तृत्व माना गया है। उपनिषदों ने प्रजापति¹ में जगत्-कर्तृत्व स्वीकार किया था, नैयायिक-वैशेषिकों ने उसे परमात्मा का धर्म मान लिया।

नैयायिक-वैशेषिक मत में आत्मा एकरूप नित्य है, अतः उस में कर्तृत्व और भोक्तृत्व जैसे क्रमिक-धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं? यदि वह कर्ता हो तो कर्ता ही रहेगा और भोक्ता हो तो भोक्ता ही रह सकता है। किंतु एकरूप वस्तु में यह कैसे सम्भव है कि वह पहले कर्ता हो और फिर भोक्ता? इस प्रश्न के उत्तर में नैयायिक और वैशेषिक कर्तृत्व और भोक्तृत्व की यह व्याख्या करते हैं:—“आत्म-द्रव्य के नित्य होने पर भी उसमें ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का जो समवाय है, उसी का नाम कर्तृत्व है², अर्थात् आत्मा में ज्ञानादि का समवाय सम्बन्ध होना ही कर्तृत्व है। दूसरे शब्दों में आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति ही आत्मा का कर्तृत्व है। आत्मा स्थिर है परन्तु उससे ज्ञान का सम्बन्ध होता है और वह नष्ट भी होता है। अर्थात् ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न व नष्ट होता है। आत्मा पूर्ववत् स्थिर ही रहती है।” इसी प्रकार उन्होंने भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण किया है:—‘सुख और दुःख के संवेदन का समवाय होना भोक्तृत्व³ है। आत्मा में सुख और दुःख का जो अनुभव होता है, उसे भोक्तृत्व कहते हैं, यह अनुभव भी ज्ञानरूप होता है, अतः वह आत्मा में उत्पन्न और नष्ट होता है। फिर भी आत्मा विकृत नहीं होती। उत्पत्ति और विनाश अनुभव के हैं, आत्मा के नहीं। क्योंकि इस अनुभव का समवाय सम्बन्ध आत्मा से होता है, अतः आत्मा भोक्ता कहलाती है। उस सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर वह भोक्ता नहीं रहती।” इनके मत में द्रव्य और गुण में भेद है, अतः गुण में उत्पत्ति और विनाश होने पर भी द्रव्य नित्य रह सकता है। इसमें विपरीत जैन आदि जो दर्शन जीव को परिणामी मानते हैं उन सब के मत में आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होने के कारण उसमें सर्वदा एकरूपता नहीं हो सकती। वही आत्मा कर्तारूप में परिणत होकर फिर भोक्तरूप में परिणत हो जाती है। यद्यपि कर्तारूप परिणाम और भोक्तरूप परिणाम भिन्न-भिन्न हैं तथापि दोनों में आत्मा का अन्वय है, अतः एक ही आत्मा कर्ता और भोक्ता कहलाती है। इसी बात को नैयायिक इस ढंग से कहते हैं कि, एक ही आत्मा में वस्तु-ज्ञान का पहले समवाय होता है, अतः उसे कर्ता कहते हैं और उसी आत्मा में बाद में सुखादि के संवेदक का समवाय होता है, अतः उसे भोक्ता कहते हैं।

1. मैत्रायणी 2.6.

2. ‘ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानां समवायः कर्तृत्वम्’ न्यायवार्तिक 3.1.6; न्यायमंजरी पृ. 469.

3. सुखदुःखसंवित्समवायो भोक्तृत्वम्—न्यायबा० 3.1.6.

(इ) बौद्ध-मत

अनात्मवादी-प्रशाश्वतात्मवादी बौद्ध भी पुद्गल को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। उनके मत में नाम-रूप का समुदाय पुद्गल या जीव है। एक नाम-रूप से दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम-रूप ने कर्म किया, वह तो नष्ट हो जाता है, किंतु उससे दूसरे नाम-रूप की उत्पत्ति होती है और वह पूर्वोक्त कर्म का भोक्ता होता है। इस प्रकार सन्तति की अपेक्षा से पुद्गल में कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाए जाते हैं।

काश्यप ने संयुक्तनिकाय में भगवान् बुद्ध से इस विषय में चर्चा की है। उसने भगवान् से पूछा, 'दुःख स्वकृत है? परकृत है? स्वपरकृत है? या अस्वपरकृत है?' इन सब प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने नकारात्मक दिया। तब काश्यप ने भगवान् से प्रार्थना की कि, वे इसका स्पष्टीकरण करें। भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा कि, दुःख स्वकृत है, इस कथन का अर्थ यह होगा कि जिसने किया, वही उसे भोगेगा, किंतु इससे आत्मा को शाश्वत मानना पड़ेगा। यदि दुःख को स्वकृत न मानकर परकृत माना जाए अर्थात् कर्म का कर्ता कोई और है तथा भोक्ता अन्य है यह कहा जाए, तो इससे आत्मा का उच्छेद मानना पड़ेगा। किन्तु तथागत के लिए शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही अनिष्ट हैं। उसे प्रतीत्यसमुत्पादवाद मान्य है, अर्थात् पूर्वकालीन नाम-रूप था अतः उत्तरकालीन नाम-रूप की उत्पत्ति हुई। दूसरा पहले से उत्पन्न हुआ है, अतः पहले द्वारा किए गए कर्म को भोगता है'।

यही बात राजा मिलिन्द को अनेक दृष्टान्तों द्वारा भदन्त नागसेन ने समझायी। उनमें एक दृष्टान्त यह था—एक व्यक्ति दीपक जलाकर घासफूस की झोंपड़ी में भोजन करने बैठा। अकस्मात् उस दीपक से झोंपड़ी में आग लग गई। वह आग क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारे गाँव में फैल गई और उससे सारा गाँव जल गया। भोजन करने वाले व्यक्ति के दीपक से केवल झोंपड़ी ही जली थी, किंतु उससे उत्तरोत्तर अग्नि का जो प्रवाह प्रारम्भ हुआ, उसने सारे गाँव को भस्म कर दिया। यद्यपि दीपक की अग्नि से परम्परा-बद्ध उत्पन्न होने वाली अन्य अग्नियाँ भिन्न थीं, तथापि यह माना जाएगा कि दीपक ने गाँव जला डाला। अतः दीपक जलाने वाला व्यक्ति अपराधी माना जाएगा। यही बात पुद्गल के विषय में है। जिस पूर्व पुद्गल ने काम किया, वह पुद्गल चाहे नष्ट हो जाय, किन्तु उसी पुद्गल के कारण नये पुद्गल का जन्म होता है और वह फल भोगता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व सन्तति में सिद्ध हो जाते हैं और कोई कर्म अभुक्त नहीं रहता। जिसने कार्य किया, उसी को सन्तति की दृष्टि से उसका फल मिल जाता² है। बौद्धों की यह कारिका सुप्रसिद्ध है :—

‘यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।

फलं तत्रैव संधत्ते कापांसे रक्तता यथा ॥’³

‘जिस सन्तान में कर्म की वासना का पुट दिया जाता है उसी में ही कपास की लाली के समान फल प्राप्त होता है।’

1. संयुक्तनिकाय 12.17, 12. 24; विसुद्धिमग्ग 17. 168-174.
2. मिलिन्दप्रश्न 2.31 पृ० 48; न्यायमंजरी पृ. 443.
3. स्याद्वादमंजरी में उद्धृत कारिका 18; न्यायमंजरी पृ. 443

धम्मपद का निम्न कथन भी सन्तति की अपेक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यता के अनुसार ही है, अर्थात् नहीं। “जो पाप है, उसे आत्मा ने ही किया है, वह आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है¹। [पाप करने वाले को ही उस का फल भोगना पड़ता है²। इस संसार में कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ चले जाने से मनुष्य पाप के फल से बच जाए³ इत्यादि।” बुद्ध ने अपने विषय में कहा है :—

‘इत एकमवति कल्मे शक्त्या मे पुश्वो हतः ।

तेन कर्मविपाकेन पावे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥

‘आज से पूर्व 91वें कल्प में मैंने अपने बल से एक मनुष्य का वध किया था, उस कर्म के विपाक के कारण आज मेरा पाँव घायल हुआ है।’ बुद्ध का यह कथन भी शाश्वत आत्मा की अपेक्षा से नहीं, अपितु सन्तान की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

बौद्धों के मत के अनुसार कर्तृत्व का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। कुशल अथवा अकुशल चित्त की उत्पत्ति ही कुशल या अकुशल कर्म का भी कर्तृत्व है। उनके मत में कर्ता और क्रिया भिन्न नहीं हैं, ये दोनों एक ही हैं। क्रिया ही कर्ता है और कर्ता ही क्रिया है। चित्त और उसकी उत्पत्ति में कुछ भी भेद नहीं है। यही बात भोक्तृत्व के विषय में भी है। भोग और भोक्ता भिन्न नहीं हैं। दुःख-वेदना के रूप में चित्त की उत्पत्ति ही चित्त का भोक्तृत्व है। इसीलिये बुद्धघोष ने कहा है कि, कर्म का कोई कर्ता नहीं और विपाक का कोई अनुभव करने वाला (वेदक) नहीं, केवल शुद्ध धर्मों की प्रवृत्ति है⁴।

(ई) जैन मत

जैन आगमों में भी जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन है। उत्तराध्ययन के ‘कम्मा एवासाविहा कट्टु’ (3.2)—अनेक प्रकार के कर्म करके, ‘कड्ढाए कम्माण न मोबल्ल अस्थि’ (4.3; 12,10)—किए हुए कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं; ‘कत्तारमेव अणुजाइ कम्म’ (13.23)—कर्म कर्ता का अनुसरण करता है, इत्यादि वाक्य असंदिग्ध रूपेण जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन करते हैं। किन्तु जिस प्रकार उपनिषदों में जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता मान कर भी परमात्मा को दोनों से रहित माना गया है, उसी प्रकार जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के कर्म-कर्तृत्व और कर्म-भोक्तृत्व को व्यावहारिक दृष्टि में माना है और यह भी स्पष्टीकरण किया है कि, निश्चय दृष्टि से जीव कर्म का कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं⁵। इस

1. अत्तनाव कर्त पापं अत्तजं अत्तसम्भवं—धम्मपद 161.

2. धम्मपद 66

3. धम्मपद 127

4. विसुद्धिमग्न 19,20; इस विषय में विशेष विचार ‘भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद’ इस शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। ‘न्यायावतार’ टि० पृ० 152 देखें।

5. समयसार 93; 98 से आगे।

विषय को उपनिषद् की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—संसारी जीव कर्म का कर्ता है किन्तु शुद्ध जीव कर्म का कर्ता नहीं है ।

उपनिषदों के मतानुसार भी संसारी आत्मा और परमात्मा एक ही हैं और जैनमत में भी संसारी जीव तथा शुद्ध जीव एक ही हैं । दोनों में यदि भेद है तो वह यही है कि, उपनिषदों के अनुसार परमात्मा एक ही है और जैनमत में शुद्ध जीव अनेक हैं, किन्तु जनों द्वारा सम्मत संग्रहनय की अपेक्षा से यह भेद रेखा भी दूर हो जाती है । संग्रहनय का मत है कि, शुद्ध जीव चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से एक ही है । जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि, भगवान् महावीर ने गौतम गणधर से कहा था कि, भविष्य में हम एक सदृश होने वाले हैं, तब निर्वाण अवस्था में अनेक जीवों का अस्तित्व मान कर भी अद्वैत और द्वैत दोनों बहुत निकट हैं ऐसा प्रतीत होता है¹ ।

नैयायिक आदि आत्मा को एकान्त नित्य मान कर, बौद्ध अनित्य मान कर तथा जैन, मीमांसक और अधिकतर वेदान्ती उसे परिणामी नित्य मान कर उसमें कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि करते हैं, किन्तु इन सब के मतानुसार मोक्षावस्था में इन दोनों में से किसी का भी अस्तित्व नहीं है । जब हम इस बात को अपने ध्यान में रखते हैं तब ज्ञात होता कि, सभी दर्शन एक ही उद्देश्य को सन्मुख रख कर प्रवृत्त हुए हैं और वह है—जीव को कर्मपाश से कैसे मुक्त किया जाए ?

जिस प्रकार नित्यवादियों के समक्ष यह प्रश्न था कि, कर्म-कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उत्पत्ति कैसे की जाए ? उसी प्रकार यह भी समस्या थी कि, नित्य आत्मा में जन्म-मरण किस तरह होते हैं ? उन्होंने इस समस्या का यह समाधान किया है कि, आत्मा के जन्म का तात्पर्य उसकी उत्पत्ति नहीं है । शरीरेन्द्रिय आदि से सम्बन्ध का नाम जन्म है और उन से वियोग का नाम मृत्यु । इस प्रकार आत्मा के नित्य होने पर भी उसमें जन्म-मरण होते² हैं ।

7. जीव का बन्ध और मोक्ष

छट्टे गणधर के साथ हुई चर्चा में बन्ध और मोक्ष तथा गयारहवें गणधर के साथ हुई चर्चा में निर्वाण पर ऊहापोह हुआ है । यद्यपि मोक्ष का ही दूसरा नाम निर्वाण है, तथापि उसकी चर्चा दो बार हुई है । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि, छट्टे गणधर के साथ हुए प्रश्नोत्तर में बन्ध-सापेक्ष मोक्ष की चर्चा है और मोक्ष सम्भव है या नहीं ? मुख्यतः इस पर विचार किया गया है, परन्तु निर्वाण सम्बन्धी चर्चा में निर्वाण के अस्तित्व के अतिरिक्त उसके स्वरूप पर मुख्यतः विचार किया गया है ।

(अ) मोक्ष का कारण

जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले सभी भारतीय दर्शनों ने बन्ध और मोक्ष को स्वीकार किया ही है । इतना ही नहीं, अपितु अनात्मवादी बौद्धों ने भी बन्ध-मोक्ष को

1. भगवती 14.7

2. न्यायभाष्य 1.1.19; 4.1.10; न्यायवा० 3.1.4; 3.1.19

मान्यता प्रदान की है। समस्त दर्शनों ने अविद्या, मोह, अज्ञान, मिथ्याज्ञान को बन्ध अथवा संसार का कारण और विद्या अथवा तत्त्वज्ञान को मोक्ष का हेतु माना है। यह बात भी सर्वसम्मत है कि, नृषणा बन्ध की कारणभूत अविद्या की सहयोगिनी है, किन्तु मोक्ष के कारणभूत तत्त्वज्ञान के गौण-मुख्य भाव के सम्बन्ध में विवाद है। उपनिषदों के ऋषियों ने मुख्यतः तत्त्वज्ञान को कारण माना है और कर्म-उपासना को गौण स्थान दिया है। यही बात बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन, शांकर-वेदान्त आदि दर्शनों को भी मान्य है। मीमांसा-दर्शन के अनुसार कर्म प्रधान है और तत्त्वज्ञान गौण। भक्ति-सम्प्रदाय के मुख्य प्रणेता रामानुज, निम्बार्क, मध्व और बल्लभ इन सबके मत में भक्ति ही श्रेष्ठ उपाय है, ज्ञान व कर्म गौण हैं। भास्करानुयायी वेदान्ती और शैव ज्ञान-कर्म के समुच्चय को मोक्ष का कारण मानते हैं और जैन भी ज्ञान-कर्म अर्थात् ज्ञान-चारित्र्य के समुच्चय को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं।

(आ) बन्ध का कारण

समस्त दर्शन इस बात से सहमत हैं कि, अनात्मा में आत्माभिमान करना ही मिथ्या-ज्ञान अथवा मोह है। अनात्मवादी बौद्ध तक यह बात स्वीकार करते हैं। भेद यह है कि, आत्मवादियों के मत में आत्मा एक स्वतन्त्र, शाश्वत वस्तु के रूप में सत् है और पृथ्वी आदि तत्त्वों से निर्मित शरीर आदि से पृथक् है। फिर भी शरीरादि को आत्मा मानने का कारण मिथ्याज्ञान है, जबकि बौद्धों के मत में आत्मा जैसी किसी स्वतन्त्र शाश्वत वस्तु का अस्तित्व नहीं है। ऐसा होने पर भी शरीरादि अनात्मा में जो अत्म-बुद्धि होती है, वह मिथ्याज्ञान अथवा मोह¹ है। छान्दोग्य² में कहा है कि, अनात्म-देहादि को आत्मा मानना अमुरों का ज्ञान है और उससे आत्मा परवश हो जाती है। इसी का नाम बन्ध है। सर्वसारोपनिषद्³ में तो स्पष्टतः कहा है कि, अनात्म-देहादि में आत्मत्व का अभिमान करना बन्ध है और उससे निवृत्ति मोक्ष है। न्यायदर्शन के भाष्य में बताया गया है कि, मिथ्याज्ञान ही मोह है और वह केवल तत्त्व-ज्ञान की अनुत्पत्ति रूप ही नहीं है, परन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना और बुद्धि इन सबके अनात्मा होने पर भी इनमें आत्मग्रह अर्थात् अहंकार—यह मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान, मिथ्याज्ञान अथवा मोह है। यह बात वैशेषिकों को भी मान्य⁴ है। सांख्य-दर्शन में बन्ध विपर्यय पर आधारित⁵ है और विपर्यय ही मिथ्याज्ञान है⁶। सांख्य मानते हैं कि, इस विपर्यय से होने वाला बन्ध तीन प्रकार का है। प्रकृति को आत्मा मान कर उसकी उपासना करना प्राकृतिक बन्ध है, भूत, इन्द्रिय, अहंकार, बुद्धि इन विकारों को आत्मा समझ कर उपासना करना वैकारिक बन्ध

1. सुत्तनिपात 3.12.33; विसुद्धिमग्ग 17.302
2. छान्दोग्य 8.8.4-5.
3. 'अनात्मना देहादीनामात्मत्वेनाभिमान्यते सोऽभिमानः आत्मनो बन्धः । तन्निवृत्तिर्मोक्षः ।' सर्वसारोपनिषद् ।
4. न्यायभाष्य 4 2.1; प्रश्नस्तपाद पृष्ठ 538 (विपर्यय निरूपण)
5. सांख्यका० 44
6. ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम्—माठरवृत्ति 44

है और इष्ट-आपूर्त में संलग्न होना दाक्षिणक बन्ध है¹। सारांश यह है कि, सांख्यो के अनुसार भी अनात्मा में आत्म-बुद्धि करना ही मिथ्या ज्ञान है। योगदर्शन के अनुसार क्लेश संसार के मूल हैं, अर्थात् बन्ध के कारण हैं और सब क्लेशों का मूल अविद्या है। सांख्य जिसे विपर्यय कहते हैं, योगदर्शन² उसे क्लेश भानता है। योगदर्शन में अविद्या का लक्षण है—अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म वस्तु में नित्य, शुचि, शुभ और आत्मबुद्धि करना³।

जैन दर्शन में बन्ध-कारण की चर्चा दो प्रकार से की गई है—शास्त्रीय और लौकिक। कर्मशास्त्र में बन्ध के कारणों की जो चर्चा है, वह शास्त्रीय प्रकार है। वहाँ कषाय और योग ये दोनों बन्ध के कारण माने गए हैं। इनका ही विस्तार कर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार और कहीं उनमें प्रमाद को भी सम्मिलित कर पाँच कारण गिनाए गए हैं⁴। इनमें से मिथ्यात्व दूसरे दर्शनों में अविद्या, मिथ्याज्ञान, अज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है।

लोकानुसरण करते हुए जैनागमों में राग, द्वेष और मोह को भी संसार का कारण माना गया है⁵। पूर्वोक्त कषाय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। राग और द्वेष इन दोनों में भी उन चारों का समन्वय हो जाता है। राग में माया और लोभ तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश है⁶। इस राग व द्वेष के मूल में भी मोह है, यह बात अन्य दार्शनिकों के समान जैनागमों में भी स्वीकार की गई है⁷।

इस प्रकार सब दर्शन इस विषय में सहमत हैं कि मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान, मोह, विपर्यय, अविद्या आदि विविध नामों से विख्यात अनात्म में आत्मबुद्धि ही बन्ध का कारण है। सब की मान्यतानुसार इन कारणों का नाश होने से ही आत्मा में मोक्ष की सम्भावना है, अन्यथा नहीं। मुमुक्षु के लिए सर्वप्रथम कार्य यही है कि, अनात्म में आत्म-बुद्धि का निराकरण किया जाए। (इ) बन्ध क्या है ?

आत्मा या जीव तत्त्व तथा अनात्मा अथवा अजीव तत्त्व ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी इन दोनों का जो विशिष्ट संयोग होता है, वही बन्ध है, अर्थात् जीव का शरीर के साथ संयोग ही आत्मा का बन्ध है। जब तक शरीर का नाश न हो जाए तब तक जीव का सर्वथा मोक्ष नहीं हो सकता। मुक्त जीवों का भी अजीव या जड़ पदार्थों के साथ—पुद्गल परमाणुओं के साथ संयोग तो है, किन्तु वह संयोग बन्ध की कोटि में नहीं आता, क्योंकि मुक्त जीवों में बन्धों के कारणभूत मोह, अविद्या, मिथ्यात्व का अभाव है। अर्थात् उनका जड़ से संयोग होने पर भी वे इन जड़ पदार्थों को अपने शरीरादि रूप से ग्रहण नहीं करते। किन्तु जिस जीव में

1. सांख्यतत्त्वकौ० का० 44

2. योगदर्शन 2.3; 2.4

3. योगदर्शन 2.5.

4. तत्त्वार्थ सूत्र त्रिवेचन (पं. सुखलालजी) 8.1.

5. उत्तराध्ययन 21.19, 23.43, 28.20; 29.71.

6. 'दोहि ठाणेहि पावकम्मा बंधति....रागेण य दोसेण य । रागे दुविहे पणते ।...माया लोभे य । दोसे दुविहे...कोहे य माणे य' स्थानांग 2.2.

7. उत्तरा० 32.7

अविद्या विद्यमान है, वह जड़ पदार्थों को अपने शरीरादि रूप से ग्रहण करता है, अतः जड़ और जीव का विशिष्ट संयोग ही बन्ध कहलाता है। जीव को मानने वाले सब मतों में सामान्यतः बन्ध की ऐसी ही व्याख्या है।

आत्म और अनात्म इन दोनों का बन्ध कब से हुआ ? इस प्रश्न का विचार कर्म-तत्त्व विषयक विचार से संकलित है। उपनिषदों में कर्म-तत्त्व विषयक मात्र इस सामान्य विचार का उल्लेख है कि, शुभ कर्मों का शुभ तथा अशुभ कर्मों का अशुभ फल मिलता है। किन्तु कर्म-तत्त्व क्या है ? वह अपना फल किस प्रकार देता है ? इसका आत्मा के साथ कब सम्बन्ध हुआ ? इन सब विषयों का विचार उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के साथ ग्रोत-प्रोत हो, यह बात प्राचीन उपनिषदों में प्राप्त नहीं होती। यह तथ्य प्राचीन उपनिषदों के किसी भी ग्रन्थिता को अज्ञात नहीं है। यह भी विदित होता है कि, कर्म सम्बन्धी ये विचार उपनिषद् भिन्न-परम्परा से उपनिषदों में आए और औपनिषद् तत्त्व-ज्ञान के साथ उनकी संगति बिठाने का प्रयत्न किया जाता रहा, किन्तु वह अधूरा ही रहा। इस विषय में विशेष विचार कर्म-विषयक प्रकरण में किया जाएगा। यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि, जगत् को ईश्वर-कृत मान कर भी न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने ससार को अनादि माना है और चेतन तथा शरीर के सम्बन्ध को भी अनादि ही माना है¹। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, उनके मत में आत्म और अनात्म का बन्ध अनादि है। किन्तु उपनिषद्-सम्मत विविध सृष्टि-प्रक्रिया में जीव की सत्ता ही सर्वत्र अनादि सिद्ध नहीं होती तो फिर आत्म और अनात्म के सम्बन्ध को अनादि कहने का अवसर ही कैसे प्राप्त हो सकता है ? कर्म-सिद्धान्त के अनुसार तो आत्म-अनात्म के सम्बन्ध को अनादि मानना अनिवार्य है। यदि ऐसा न माना जाए तो कर्म-सिद्धान्त की मान्यता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि, उपनिषदों के टीकाकारों में शंकर को ब्रह्म और माया का सम्बन्ध अनादि मानना पड़ा। भास्कराचार्य के लिए सत्यरूप उपाधि का ब्रह्म के साथ अनादि सम्बन्ध मानने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था, रामानुज ने भी बद्ध जीव को अनादिकाल से बद्ध स्वीकार किया। निम्बार्क और मध्व ने भी अविद्या तथा कर्म के कारण जीव के लिए ससार माना है और यह अविद्या व कर्म भी अनादि हैं। वल्लभ के मतानुसार भी जिस प्रकार ब्रह्म अनादि है, उसी प्रकार उसका कार्य जीव भी अनादि है। अतः जीव तथा अविद्या का सम्बन्ध भी अनादि है।

सांख्य-मत में भी प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्ध है और वह अनादि काल से चला आ रहा है। प्रकृति निष्पन्न लिङ्ग-शरीर अनादि है और वह अनादि काल से ही पुरुष के साथ सम्बद्ध है²। दूसरे दार्शनिकों की मान्यता है कि, बन्ध और मोक्ष पुरुष के होते हैं, परन्तु सांख्य-मत में बन्ध तथा मोक्ष प्रकृति के होते हैं, पुरुष के नहीं³। इसी प्रकार योग-दर्शन के मत

1. अनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः, अनादिश्च रागानुबन्ध इति-न्यायभा० 3.1.25; एवं च अनादिः संसारोऽपवर्गान्तः-न्यायवा० 3.1.27; अनादिः चेतनस्य शरीरयोगः-न्यायवा० 3.1.28

2. सांख्यकारिका 52

3. ,, 62

में भी द्रष्टा-पुरुष और दृश्य-प्रकृति का संयोग अनादिकालीन है, उसे ही बन्ध समझना चाहिए¹ ।

बौद्ध-दर्शन में नाम और रूप का अनादि सम्बन्ध ही संसार या बन्ध है और उस का वियोग ही मोक्ष है ।

जैन-मत में भी जीव और कर्म पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध बन्ध है और उसका वियोग मोक्ष ।

इस प्रकार सांख्य, जैन, बौद्ध तथा पूर्वोक्त न्याय-वैशेषिक आदि सबने जीव व जड़ के संयोग को अनादिकालीन मान्य किया है और उसी का नाम संसार या बन्ध है ।

जब हम यह कहते हैं कि जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि है, तब इस का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि वह परम्परा से अनादि है । जीव नए-नए शरीर ग्रहण करता है । वह किसी भी समय शरीर-रहित नहीं था । पूर्ववर्ती वासना के कारण नए-नए शरीर की उत्पत्ति होती है और शरीर के उत्पन्न होने के उपरांत नई-नई वासनाओं का जन्म होता है । यह वासना फिर नए शरीर को उत्पन्न करती है । इस प्रकार बीज व अंकुर के समान ये दोनों ही जीव के साथ अनादि काल से हैं । अनादि अविद्या के कारण अनात्म में जो आत्म-ग्रहण की बुद्धि है, उसी के कारण बाह्य विषयों में तृष्णा या राग उत्पन्न होता है और इस से ही संसार-परमारा चलती रहती है । अविद्या का निरोध हो जाने पर बन्धन कट जाता है और फिर तृष्णा के लिए कोई अवकाश नहीं रहता । अतः नया उपादान नहीं होता और संसार के मूल पर कुठाराघात हो जाने से वह नष्ट हो जाता है ।

सांख्यों ने एक लंगड़े और एक अन्धे व्यक्ति के लोक-प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध किया है कि, संसार-चक्र का प्रवर्तन जड़-चेतन इन दोनों के संयोग से होता है । एकाकी पुरुष अथवा प्रकृति में संसार के निर्माण की शक्ति नहीं है, किन्तु जिस समय ये दोनों मिलते हैं, उस समय ही संसार की प्रवृत्ति होती है । जब तक पुरुष जड़-प्रकृति को अपनी शक्ति प्रदान नहीं करता तब तक उसमें यह सामर्थ्य नहीं है कि शरीर, इन्द्रिय आदि रूप में परिणत हो सके । उसी प्रकार यदि प्रकृति की जड़-शक्ति पुरुष को प्राप्त न हो, तो वह भी अकेले शरीरादि का निर्माण करने में समर्थ नहीं है । इन दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से है, अतः संसार-चक्र भी अनादि काल से ही प्रवृत्त हुआ है² ।

बौद्धों के मतानुसार नाम और रूप के संसर्ग से संसार-चक्र अनादि काल से प्रवृत्त हुआ है । विसुद्धिमग्ग के रचयिता बुद्धघोषाचार्य ने भी सां य-शास्त्रों में प्रसिद्ध इसी लंगड़े और अन्धे का दृष्टान्त देकर बताया है कि, किस प्रकार नाम और रूप दोनों परस्पर सापेक्ष होकर उत्पन्न व प्रवृत्त होते हैं । उन्होंने यह भी लिखा है कि, एक दूसरे के बिना दोनों ही निस्तेज हैं और कुछ भी करने में असमर्थ हैं³ ।

1. योगदर्शन 2.17; योगभाष्य 2.17
2. सांख्यकारिका 21
3. विसुद्धिमग्ग 18.35

जनाचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसी रूपक के आधार पर कर्म और जीव के परस्पर बन्ध और उनकी कार्यकारिता का वर्णन किया है¹।

वस्तुतः न्याय-दंशेषिकादि भी इसी प्रकार यह बात कह सकते हैं कि, जीव तथा जड़ परस्पर मिले हुए हैं और सापेक्ष हो कर ही प्रवृत्त होते हैं। इसी कारण संसार-रूपी रथ गतिमान होता है, अन्यथा नहीं। अकेला जड़ अथवा अकेला चेतन संसार का रथ चलाने में समर्थ नहीं है। जड़ और चेतन दोनों संसार-रूपी रथ के दो चक्र हैं।

मायावादी वेदान्तियों ने अद्वैतब्रह्म मानकर भी यह स्वीकार किया है कि, अनिर्वचनीय माया के बिना संसार की घटना अशक्य है, अतः ब्रह्म और माया के योग से ही संसार-चक्र की प्रवृत्ति होती है। सभी दर्शनों की सामान्य मान्यता है कि, संसार-चक्र की प्रवृत्ति दो परस्पर विरोधी प्रकृति वाले तत्त्वों के संसर्ग से होती है। इन दोनों के नाम में भेद हो सकता है किंतु सूक्ष्मता से विचार करने पर तात्त्विक भेद प्रतीत नहीं होता।

(ई) मोक्ष का स्वरूप

बन्ध-चर्चा के समय यह बताया गया है कि, अनात्म में आत्माभिमान बन्ध कहलाता है। इससे यह फलित होता है कि, अनात्म में आत्माभिमान का दूर होना ही मोक्ष है। इस विषय में सभी दार्शनिक एकमत हैं। अब इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि मोक्ष अथवा मुक्त आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का है? सभी दार्शनिकों का मत है कि, मोक्षावस्था इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं, वचनगोचर नहीं, मनोग्राह्य नहीं तथा तर्क-ग्राह्य भी नहीं है। कठोपनिषद् में स्पष्टरूपेण कहा है कि, वाणी, मन, अथवा चक्षु से इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, केवल सूक्ष्म-बुद्धि से इसे ग्रहण किया जा सकता है²। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तर्क-प्रपञ्च सूक्ष्म-बुद्धि की कोटि में नहीं आता³। तप एवं ध्यान से एकाग्र हुआ विशुद्ध सत्त्व इसे ग्रहण कर सकता है⁴। नागसेन के कथनानुसार बौद्ध-मत में भी निर्वाण तो है किन्तु उसका स्वरूप ऐसा नहीं है कि, जिसे संस्थान, वय और प्रमाण, उपमा, कारण, हेतु अथवा नय से बताया जा सके। जिस प्रकार यह प्रश्न स्थापनीय है—इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता—कि समुद्र में कितना पानी है और उसमें कितने जीव रहते हैं? उसी प्रकार निर्वाण विषयक उक्त प्रश्न का उत्तर देना भी सम्भव नहीं है। लौकिक दृष्टि वाले पुरुष के पास इसे जानने का कोई साधन नहीं है⁵। यह न तो चक्षुर्विज्ञान का विषय है, न कान का, न नासिका का, न जिह्वा का और न ही स्पर्श का विषय है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि निर्वाण की सत्ता ही नहीं है। वह विशुद्ध मनोविज्ञान का विषय है। इस मनोविज्ञान की विशुद्धता का कारण उसका निरावरण⁶ होना है। उपनिषद् में जिसे

1. समयसार 340-341
2. कठ० 2.6,12; 1.3.12
3. कठ० 2.8.9
4. मुण्डकोपनिषद् 3.1.8
5. मिलिन्दप्रश्न 4,8.66-67; पृष्ठ 309
6. मिलिन्दप्रश्न 4.7.15, पृष्ठ 265, उदान 71

विशुद्धतत्त्व कहा गया है उसी को नागसेन ने विशुद्ध मनोविज्ञान कहा है। उपनिषदों में ब्रह्म-दशा का निरूपण 'नेति नेति' कह कर किया गया¹ है और इसी बात को पूर्वोक्त प्रकार से नागसेन ने कहा है। जो वस्तु अनुभव-ग्राह्य हो, उस का वर्णन सम्भव नहीं है और यदि किया भी जाए तो वह अधूरा रह जाता है, अतः क्षेपण मार्ग यही है कि यदि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान करना ही हो, तो स्वयं उसका साक्षात्कार किया जाए। भगवान् महावीर ने भी विशुद्ध आत्मा के विषय में कहा है कि, वहाँ वाणी की पहुँच नहीं, तर्क की गति नहीं, बुद्धि अथवा मति भी वहाँ पहुँचने में असमर्थ है; यह दीर्घ नहीं, ह्रस्व नहीं, गोल नहीं, त्रिकोण नहीं, कृष्ण नहीं, नील नहीं, स्त्री नहीं और पुरुष भी नहीं है। यह उपमा रहित है और अनिर्वचनीय है²। इस प्रकार भगवान् महावीर ने भी उपनिषदों और बुद्ध के समान 'नेति नेति' का ही आश्रय लेकर विशुद्ध अथवा मुक्त आत्मा का वर्णन किया है। इस मुक्तात्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव उसी समय होता है जब वह देह-मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त करे।

ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर भी दार्शनिकों ने अवर्णनीय का भी वर्णन करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हरिभद्र ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि, यद्यपि उन वर्णनों में परिभाषाओं का भेद है, तथापि तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने कहा है कि, संसारातीत तत्त्व जिसे निर्वाण भी कहते हैं, अनेक नामों से प्रसिद्ध है, किन्तु तत्त्वतः एक³ ही है। इसी एक तत्त्व के ही सदाशिव परमब्रह्म, सिद्धात्मा, तथता आदि नाम चाहे भिन्न-भिन्न हों, परन्तु वह तत्त्व एक ही है⁴। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है। उन्होंने कर्म-विमुक्त परमात्मा के षे पर्याय कहे हैं—ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध, परमात्मा। इससे भी ज्ञात होता है कि परम तत्त्व एक ही है, नामों में भेद हो सकता है⁵।

इस प्रकार ध्येय की दृष्टि से भले ही निर्वाण में भेद नहीं है, किन्तु दार्शनिकों ने जब उसका वर्णन किया तब उसमें अन्तर पड़ गया और उस अन्तर का कारण दार्शनिकों की पृथक्-पृथक् तत्त्व-व्यवस्था है। इस तत्त्व-व्यवस्था में जैसा भेद है, वैसा ही निर्वाण के वर्णन में दृष्टि-गोचर होना स्वाभाविक है। उदाहरणतः न्याय-वैशेषिक आत्मा और उसके ज्ञान, सुखादि गुणों को भिन्न-भिन्न मानते हैं और आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति को शरीर पर आश्रित मानते हैं। अतः यदि मुक्ति में शरीर का अभाव हो जाता हो, तो न्याय-वैशेषिकों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, मुक्तात्मा में ज्ञान, सुखादि गुणों का भी अभाव होता है। यही कारण है कि उन्होंने यह बात मानी कि, मुक्ति में आत्मा के ज्ञान, सुखादि गुणों की सत्ता नहीं रहती, केवल विशुद्ध चैतन्य तत्त्व शेष रहता है⁶। इसी का नाम मुक्ति है। जीवात्मा को मुक्ति में ज्ञान, सुखादि से

1. बृहदा० 4.5.15
2. आचारांग सू० 170
3. संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् । तद्धयेकमेव नियमात् शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ योगदृष्टिसमुच्चय 129.
4. सदाशिवः परंब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च । शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वाश्रितिकमेवैवमादिभिः ॥ योगदृष्टि० 130; षोडशक 16.1-4
5. भावप्राभृत 149
6. न्यायभाष्य 1.1,21; न्यायमंजरी पृ, 508

रहित मानकर भी उन्होंने ईश्वरात्मा को नित्य ज्ञान, सुखादि से युक्त माना है¹। इस प्रकार आत्मा के स्थान पर परमात्मा में सर्वज्ञता और आत्यन्तिक सुख-आनन्द मानकर न्याय-वैशेषिक भी उन दार्शनिकों की पंक्ति में सम्मिलित हो गए हैं जो मुक्तात्मा को ज्ञान एवं सुखादि से सम्पन्न मानते हैं।

बौद्धों ने दीपनिर्वाण की उपमा से निर्वाण का वर्णन किया है। इससे एक यह मान्यता प्रचलित हुई कि, निर्वाण में चित्त का लोप हो जाता है²। निरोध शब्द का व्यवहार ऐसा था जो दार्शनिकों को भ्रम में डाल दे³। इस से भी इस मान्यता का समर्थन प्राप्त हुआ कि मुक्ति में कुछ भी शेष नहीं रहता। किन्तु बौद्ध-दर्शन पर समग्र भाव से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि, वहाँ भी निर्वाण का स्वरूप वैसे ही बताया गया है जैसा कि उपनिषदों अथवा अन्य दर्शन-शास्त्रों में⁴। विश्व के सभी पदार्थ संस्कृत अथवा उत्पत्तिशील हैं, अतः क्षणिक हैं, किन्तु निर्वाण अप्रपञ्च स्वरूप है। निर्वाण असंस्कृत है। उस की उत्पत्ति में कोई भी हेतु नहीं है, अतः उस का विनाश भी नहीं होता। असंस्कृत होने के कारण वह अजात, अभूत और अकृत है⁵। संस्कृत अनित्य, अशुभ और दुःखरूप होता है किन्तु असंस्कृत ध्रुव, शुभ और सुखरूप है⁶। जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को आनन्द की पराकाष्ठा⁷ माना गया है, उसी प्रकार निर्वाण का आनन्द भी आनन्द की पराकाष्ठा⁸ है। इस तरह बौद्धों के मतानुसार भी निर्वाण में ज्ञान और आनन्द का अस्तित्व है। यह ज्ञान और आनन्द असंस्कृत अथवा अज कहें गए हैं, अतः नैयायिकों के ईश्वर के ज्ञान और आनन्द से वस्तुतः इनका कोई भेद नहीं है। यही नहीं, प्रत्युत वेदान्त-सम्मत ब्रह्म की नित्यता और आनन्दमयता तथा बौद्धों के निर्वाण में भी भेद नहीं है।

सांख्य-मत में भी नैयायिकों द्वारा मान्य आत्मा के समान मुक्तावस्था में विशुद्ध चैतन्य ही शेष रहता है। नैयायिक-मत में ज्ञान, सुखादि आत्मा के गुण हैं किन्तु उन की उत्पत्ति अरीराधित है। अतः शरीर के अभाव में उन्होंने जैसे उन गुणों का अभाव स्वीकार किया, वैसे ही सांख्य-मत को यह स्वीकार करना पड़ा कि ज्ञान, सुखादि प्राकृतिक धर्म होने के कारण प्रकृति का वियोग होने पर मुक्तात्मा में विद्यमान नहीं रहते और पुरुष मात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्थिर रहता है। सांख्य लोग मानते हैं कि, पुरुष को जब कैवल्य की प्राप्ति होती है तब वह मात्र शुद्ध चैतन्य रूप होता है। गणधरवाद के पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि

1. न्यायमञ्जरी पृ. 200-201
2. इसी का खंडन प्रस्तुत गणधरवाद में किया गया है, गाथा 1975
3. निरोध का वास्तविक अर्थ तृष्णाक्षय अथवा विराग है-विसुद्धिमग्न 8.247;16.64
4. निर्वाण अभावरूप नहीं, इसका समर्थन विसुद्धिमग्न 16.67 में देखें।
5. उदान 73; विसुद्धिमग्न 16.74
6. उदान 80; विसुद्धिमग्न 16.71; 16.90
7. तैत्तिरीय 2.8
8. मज्झिमनिकाय 57 (बहुवेदनीय सुत्तं)

मुक्तात्मा के विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने की मान्यता के विषय में जहाँ सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एकमत हैं वहाँ जैन भी इस मत से सहमत हैं ।

इस सामान्य मान्यता के विषय में सबका एकमत है कि, मुक्तात्मा विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है, किन्तु विचारों में जो किंचित् मतभेद है, उसका उल्लेख भी आदश्यक है । उपनिषदों में ब्रह्म को चैतन्यरूप के साथ-साथ आनन्द रूप भी माना है । नैयायिकों ने ईश्वर में तो आनन्द का अस्तित्व स्वीकार किया है, किन्तु मुक्तात्मा में नहीं । बौद्धों ने निर्वाण में आनन्द की सत्ता स्वीकृत की है । जैनों ने आनन्द के अतिरिक्त नैयायिकों के ईश्वर के समान शक्ति अथवा वीर्य भी स्वीकार किया है । जैनों ने चैतन्य का अर्थ ज्ञान, दर्शन, शक्ति किया है, किन्तु नैयायिक-वैशेषिक मत में मुक्तात्मा में ज्ञान, दर्शन नहीं होते । सांख्य-मत में चित्शक्ति पुरुष में है, फिर भी उसमें ज्ञान नहीं होता; किन्तु द्रष्टृत्व होता है । इन सभी मतभेदों का समन्वय असम्भव नहीं है ।

जब हम इस विषय पर विचार करते हैं कि, मुक्तात्मा में आनन्द का ज्ञान से पृथक् क्या स्वरूप है ? तब यही निष्कर्ष निकलता है कि, आनन्द भी ज्ञान का ही एक पर्याय है । जैनाचार्यों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया¹ है । बौद्ध-दार्शनिकों ने भी ज्ञान और सुख को सर्वथा भिन्न नहीं माना है । वेदान्त-मत में भी एक अखण्ड ब्रह्म-तत्त्व में ज्ञान, आनन्द, चैतन्य इन सबका वस्तुतः भेद करना अद्वैत के विरोध के समान ही है । नैयायिक चैतन्य और ज्ञान में भेद का वर्णन करते हैं, परन्तु जब हम यह देखते हैं कि, उन्होंने नित्य मुक्त ईश्वर में नित्य-ज्ञान स्वीकार किया है, तब हमें यह मानना पड़ता है कि, वे इस भेद को सर्वथा अभिन्न नहीं रख सके । पुनश्च, मुक्तात्मा चेतन होकर भी ज्ञानहीन हो, तो इस चैतन्य का स्वरूप भी एक समस्या का रूप धारण कर लेता है । यहाँ यदि हम याज्ञवल्क्य द्वारा मंत्रेयो के प्रति कहे गए इस कथन पर कि, 'न तस्य प्रेत्य संज्ञा अस्ति'—मृत्युपरान्त उसकी कोई संज्ञा नहीं होती—सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इसका समाधान हो जाता है । यह ऐसी अवस्था है, जिसका नामकरण नहीं किया जा सकता । यदि इसे ज्ञान कहा जाए तो ज्ञान के विषय में साधारण जन का जो विचार है, वही उनके मन में स्थान प्राप्त करेगा, अर्थात् इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा होने वाला ज्ञान । परन्तु मुक्तात्मा में इन साधनों का अभाव होता है, अतः उसके ज्ञान को ज्ञान कैसे माना जाए ? आत्मा स्वयं प्रतिष्ठित है, वह बाहर क्यों देखे ? बहिर्वृत्ति क्यों बने ? और यदि आत्मा बहिर्वृत्ति नहीं होता तो उसे ज्ञानी कहने की अपेक्षा चैतन्यघन कहना अधिक उपयुक्त है । नैयायिकों ने ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की है :—आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष होता है और फिर इन्द्रिय के साथ तथा उस के द्वारा बाह्य पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है । ज्ञान की इस व्याख्या के अनुसार यह बात स्वाभाविक है कि नैयायिक मुक्तावस्था में ज्ञान की सत्ता न मानें । अर्थात् उनकी ज्ञान की परिभाषा ही भिन्न है । परिभाषा के भेद के कारण तत्त्वों में कुछ भी भेद नहीं पड़ता । अन्यथा नैयायिकों के मत में जड़-पदार्थ और चैतन्य-पदार्थ में क्या भेद रह जाएगा ? अतः यह बात माननी पड़ेगी कि, जड़ से भेद

1. सर्वार्थसिद्धि 10.4.

कराने वाला आत्मा में कोई तत्त्व अवश्य है जिसके आधार पर नैयायिकों ने उसे चेतन माना है। उस तत्त्व का नाम चैतन्य है। आत्मा को चेतन मानने के विषय में उनका किसी भी दार्शनिक से मतभेद ही नहीं है, केवल उनकी ज्ञान की परिभाषा अलग है, अतः उन्होंने ज्ञान शब्द से चैतन्य का बोध कराना उचित नहीं समझा। वेदान्ती जब अधिक सूक्ष्म विचार करने लगे तब वे 'चैतन्य' को चैतन्य शब्द से प्रतिपादित करने के लिए उद्यत न हुए और 'नेति नेति' कह कर उसका वर्णन करने लगे। यह बात लिखी जा चुकी है कि अन्य दार्शनिकों ने भी ऐसा ही किया। भाषा की शक्ति इतनी सीमित है कि वह परम तत्त्व के स्वरूप का यथार्थ वर्णन कर ही नहीं सकती, क्योंकि विचारकों ने उन भिन्न-भिन्न शब्दों की परिभाषा अनेक प्रकार से की है, अतः उन-उन शब्दों का प्रयोग करने से वस्तु का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इसके विपरीत कई बार अधिक उलझनें पैदा हो जाती हैं।

मुक्तात्मा में शक्ति को पृथक् रूप से स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि शक्ति, क्या है? इस पर विचार करते हुए आचार्यों ने कह दिया कि, शक्ति के अभाव में अनन्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, अतः ज्ञान में ही उसका समावेश कर लेना चाहिए¹।

(उ) मुक्ति-स्थान

जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत में मुक्ति-स्थान की कल्पना अनावश्यक थी। आत्मा जहाँ है, वहीं है, केवल उसका मल दूर हो जाता है। उसे अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। फिर प्रश्न यह है कि, जब वह सर्व व्यापक है तब उसका गमन कहाँ हो? किन्तु जैनदर्शन, बौद्धदर्शन और जीवात्मा को अणुरूप मानने वाले भक्तिमार्गी वेदान्त-दर्शन के सम्मुख मुक्ति-स्थान विषयक समस्या का उपस्थित होना स्वाभाविक था। जैनों ने यह बात मानी है कि, ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में मुक्तात्मा का गमन होता है और सिद्धशिला नामक भाग में हमेशा के लिए उसकी अवस्थिति रहती है। भक्तिमार्गी वेदान्ती मानते हैं कि, विष्णु भगवान् के विष्णुलोक में जो ऊर्ध्वलोक है, वहाँ मुक्त जीवात्मा का गमन होता है और उसे परब्रह्मरूप भगवान् विष्णु का हमेशा के लिए सान्निध्य प्राप्त होता है। बौद्धों ने इस प्रश्न का निराकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके मत में जीव या पुद्गल कोई शाश्वत द्रव्य नहीं है। अतः वे पुनर्जन्म के समय एक जीव का अन्यत्र गमन नहीं मानते, किन्तु वे एक स्थान में एक चित्त का निरोध और उसकी अपेक्षा से अन्यत्र नए चित्त की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, इसी सिद्धान्त के अनुरूप मुक्त चित्त के विषय में भी सिद्धान्त निश्चित किया जाय।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि, पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौनसा स्थान है जिसके निकट निर्वाण की स्थिति है? आचार्य ने उत्तर दिया कि, निर्वाण-स्थान कहाँ किसी दिशा में अवस्थित नहीं है जहाँ जा कर मुक्तात्मा निवास करे। तो फिर निर्वाण कहाँ प्राप्त होता है? जिस प्रकार समुद्र में रत्न, फूल में गंध, खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है, उसी

1. सर्वार्थसिद्धि 10.4

प्रकार निर्वाण का भी कोई निश्चित स्थान होना चाहिए। यदि उसका कोई ऐसा स्थान नहीं है, तो फिर यह क्यों नहीं कहते कि, निर्वाण भी नहीं है? इस आक्षेप का उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा कि, निर्वाण का कोई नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं बाहर नहीं है, अपने विशुद्ध मन से इसका साक्षात्कार करना पड़ता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि, जलने से पहले अग्नि कहाँ है? तो उसे अग्नि का स्थान नहीं बताया जा सकता, किन्तु जब दो लकड़ियाँ मिलती हैं तब अग्नि प्रकट होती है। उसी प्रकार विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है, किन्तु उसका स्थान बताना शक्य नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाए कि, निर्वाण का नियत स्थान नहीं है तो भी ऐसा कोई निश्चित स्थान अवश्य होना चाहिए जहाँ अवस्थित रह कर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके। इस प्रश्न के उत्तर में नागसेन ने कहा कि, पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है¹।

(ऊ) जीवन्मुक्ति—विदेहमुक्ति :

आत्मा से मोह दूर हो जाए और वह वीतराग बन जाए तब शरीर तत्काल अलग हो जाता है अथवा नहीं? इस प्रश्न के उत्तर के फलस्वरूप मुक्ति की कल्पना दो प्रकार से की गई—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। राग-द्वेष का अभाव हो जाने पर भी जब तक आयुकर्म का विपाक-फल पूर्ण न हुआ हो तब तक जीव शरीर में रहता है अथवा उसके साथ शरीर सम्बद्ध रहता है। किन्तु संसार या पुनर्जन्म के कारणभूत अविद्या और राग-द्वेष के नष्ट हो जाने पर आत्मा में नये शरीर को ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती, अतः ऐसी आत्मा का प्राणधारण-रूप जीवन जारी रहने पर भी वह मोह, राग, द्वेष से मुक्त होने के कारण 'जीवन्मुक्त' कहलाती है। जब उसका शरीर भी पृथक् हो जाता है तब उसे 'विदेहमुक्त' अथवा केवल 'मुक्त' कहते हैं।

विद्वानों की मान्यता है कि, उपनिषदों में जीवन्मुक्ति के उपरान्त क्रममुक्ति का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है। इस बात का दृष्टान्त कठोपनिषद्² से दिया जाता है। उसमें लिखा है कि, उत्तरोत्तर उन्नतलोक में आत्म-प्रत्यक्ष क्रमशः विशद और विशदतर होता जाता है। इससे ज्ञात होता है कि इस उपनिषद् में क्रममुक्ति का उल्लेख है—अर्थात् आत्म-साक्षात्कार क्रमिक होता है। दूसरे दर्शनों में मान्य आत्म-विकास के क्रम की इससे तुलना की जा सकती है। जैनों ने उसे गुणस्थान-क्रमारोह कहा है और बौद्धों ने उसे योगचर्या की भूमि का नाम दिया है। वैदिक-दर्शन में इसी वस्तु को 'भूमिका' कहा गया है।

उपनिषदों में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त भी उपलब्ध होता है। इसी कठोपनिषद् में आगे जाकर लिखा है कि, जब मनुष्य के हृदय में रही हुई सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब वह अमर बन जाता है और यहाँ ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। जब यहाँ हृदय की सभी गठिं टूट जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है³।

1. मिलिन्दप्रश्न 4.8.92-94

2. कठ० 2.3.5

3. कठ० 2.3. 14-15; मुण्डक० 3.2.6; बृहदा० 4.4.6-7

उपनिषदों के व्याख्याकारों का जीवनमुक्ति के विषय में एक मत नहीं है। आचार्य शंकर, विज्ञानभिक्षु और बल्लभ इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु भक्ति-मार्ग के अनुयायी अन्य वेदान्ती रामानुज, निम्बार्क और मध्व इसे नहीं मानते¹।

बौद्धों के मत में 'सोपादिसेस निर्वाण' और 'अनुपादिसेस निर्वाण' क्रमशः जीवनमुक्ति और विदेह-मुक्ति के नाप हैं। उपादि का अर्थ है पाँच स्कंध। जब तक ये शेष हों तब तक 'सोपादिसेस निर्वाण' और जब इन स्कंधों का निरोध हो जाय तब 'अनुपादिसेस निर्वाण'² होता है।

न्याय-वैशेषिक³ और सांख्य-योग⁴ मत में भी जीवनमुक्ति सम्भव मानी गई है।

जो विचारकगण जीवनमुक्ति को स्वीकार नहीं करते, उनके मत में आत्म-साक्षात्कार होते ही समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा विदेह होकर मुक्त बन जाती है। इसके विपरीत जो जीवनमुक्ति मानते हैं, उनकी मान्यतानुसार आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर भी कर्म अपने समय पर ही फल देकर क्षीण होते हैं, तत्काल नहीं। इस प्रकार आत्मा पहले जीवनमुक्त बनती है और फिर कालान्तर में शेष संस्कार क्षीण होने पर विदेह-मुक्त।

(आ) कर्मविचार

समस्त गणधरवाद में कर्म का विचार कई स्थानों पर किया गया है। दूसरे गणधर अग्निभूति ने तो उसके अस्तित्व के विषय में ही प्रश्न उपस्थित किया है और भगवान् महावीर ने कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। साथ ही कर्म अदृष्ट है, मूर्त है, परिणामी है, विचित्र है, अनादिकाल से सम्बद्ध है, इत्यादि विविध विषयों की चर्चा की गई है। पाँचवें गणधर सुधर्म के साथ इस लोक और परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य की चर्चा हुई। उस अवसर पर भी यह बताया गया है कि, यही लोक हो अथवा परलोक, किन्तु उसके मूल में कर्म की सत्ता है और संसार कर्म-मूलक ही है। छठे गणधर की चर्चा का विषय बन्ध और मोक्ष है, अतः उसमें भी जीव का कर्म के साथ बन्ध और उसकी कर्म से मुक्ति की ही चर्चा है। उस समय भी कर्म की सामान्य चर्चा के उपरान्त यह विचार किया गया है कि, जीव पहले है अथवा कर्म, और दोनों को ही अनादि माना गया है। नौवें गणधर की चर्चा का मुख्य विषय पुण्य-पाप है, अतः उसमें शुभ कर्म और अशुभ कर्म के अस्तित्व की चर्चा ही प्रधान है। इस प्रसंग पर दूसरे गणधर से हुई चर्चा के कई विषयों की पुनरावृत्ति करने के पश्चात् कर्म-सम्बन्धी अनेक नई बातों की भी चर्चा हुई है, जैसे कि कर्म के संक्रम का नियम, कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया, कर्म का शुभाशुभ रूप में परिणमन, कर्म के भेद इत्यादि। दसवें गणधर ने परलोक विषयक चर्चा की है, उसमें भी यह तथ्य स्वीकृत है कि परलोक कर्माधीन है। अंतिम गणधर के साथ हुई

1. प्रो० भट्ट की पूर्वोक्त प्रस्तावना देखें।
2. विसुद्धिमग्न 16.73
3. न्याय-भाष्य 4.2.2
4. सांख्यका० 67; योग-भाष्य 4.30

निर्वाण सम्बन्धी चर्चा में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि, अनादि कर्म-संयोग का नाश ही निर्वाण है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गणधरों के साथ होने वाले वादों में कर्म-चर्चा विविध रूपा से साक्षात् सामने आई है। चौथे गणधर की चर्चा में शून्यवाद के प्रकरण में भी आनुषंगिक रूप में कर्म-चर्चा का सम्बन्ध है, क्योंकि उसमें शून्यवादी मुख्यतः भूतों का निराकरण करते हैं। जैन-मत में कर्म भौतिक हैं, अतः इस चर्चा के साथ भी कर्म-चर्चा आनुषंगिक रूप से सम्बन्धित है। सातवें व आठवें गणधरों की चर्चा में क्रमशः देवों और नारकियों की चर्चा है। उसका अभिप्राय भी यही है कि शुभ कर्म के फलरूप देवत्व और अशुभ कर्म के फलस्वरूप नारकत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रायः समस्त गणधरवाद में कर्म-चर्चा को पर्याप्त महत्त्व मिला है। अतः अब कर्म के विषय में विचार करना उचित है।

(1) कर्म-विचार का मूल :

यह तो नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल के ऋषियों को मनुष्यों में तथा अन्य अनेक प्रकार के पशु, पक्षी एवं कीट पतंगों में विद्यमान विविधता का अनुभव नहीं हुआ होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि, उन्होंने इस विविधता का कारण अन्तरात्मा में ढूँढने की अपेक्षा उसे ब्राह्म-तत्त्व में मानकर ही सन्तोष कर लिया था।

किसी ने यह कल्पना की कि, सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक अथवा अनेक भौतिक तत्त्व हैं, किंवा प्रजापति जैसा तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है, किन्तु इस सृष्टि में विविधता का आधार क्या है? इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं किया गया। जीव-सृष्टि के अन्य वर्गों की बात छोड़ भी दें, तो भी केवल मानव-सृष्टि में शरीरादि की, सुख-दुःख की, बौद्धिक शक्ति-अशक्ति की जो विविधता है, उसके कारण की विशेष प्रयत्न-पूर्वक शोध की गई हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। वैदिक काल का समस्त तत्त्व-ज्ञान क्रमशः देव और यज्ञ को केन्द्र-बिन्दु बनाकर विकसित हुआ। सर्वप्रथम अनेक देवों की और तत्पश्चात् प्रजापति के समान एक देव की कल्पना की गई। सुखी होने के लिए अथवा अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उस देव अथवा उन देवों की स्तुति करे, सजीव अथवा निर्जीव अपनी इष्ट वस्तु को यज्ञ कर उसे समर्पित करे। इससे देव सन्तुष्ट होकर मनोकामना पूरी करते हैं। यह मान्यता वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक विकसित होती रही। देवों को प्रसन्न करने के साधन-भूत यज्ञ कर्म का क्रमिक विकास हुआ और धीरे-धीरे उसका रूप इतना जटिल हो गया कि यदि साधारण व्यक्ति यज्ञ करना चाहे, तो यज्ञ कर्म में निष्णात पुरोहितों की सहायता के बिना इसकी सम्भावना ही नहीं थी। इस प्रकार वैदिक ब्राह्मणों का समस्त तत्त्वज्ञान देव तथा उसे प्रसन्न करने के साधन यज्ञ कर्म की सीमा में विकसित हुआ।

ब्राह्मण-काल के पश्चात् रचित उपनिषद् भी वेदों और ब्राह्मणों का अन्तिम भाग होने के कारण वैदिक-साहित्य के ही अंग हैं और उन्हें 'वेदास्त' कहते हैं। किन्तु इन से पता चलता है कि वेद-परम्परा अर्थात् देव तथा यज्ञ-परम्परा का अन्त निकट ही था। इनमें ऐसे नवीन विचार उपलब्ध होते हैं जो वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं थे। उनमें संसार और कर्म-ब्रह्म-विषयक नूतन विचार भी प्राप्त होते हैं। ये विचार वैदिक-परम्परा के ही उपनिषदों में कहीं

से आए, इनका उद्भव विकास के नियमानुसार वैदिक विचारों से ही हुआ अथवा अवैदिक परम्परा के विचारकों से वैदिक विचारकों ने इन्हें ग्रहण किया—इन बातों का निर्णय आधुनिक विद्वान् अभी तक नहीं कर सके। किन्तु यह बात निश्चित है कि, वैदिक-साहित्य में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही इन विचारों का दर्शन होता है। आधुनिक विद्वानों में इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि उपनिषदों के पूर्वकालीन वैदिक-साहित्य में संसार और कर्म की कल्पना का स्पष्ट-रूप दिखाई नहीं देता। 'कर्म कारण है' ऐसा वाद भी उपनिषदों का सर्वसम्मत वाद हो, यह भी नहीं कहा जा सकता¹। अतः इसे वैदिक विचारधारा का मौलिक-विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्वेताश्वतर² उपनिषद् में जहाँ अनेक कारणों का उल्लेख किया है वहाँ काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, अथवा पुरुष अथवा इन सबके संयोग का प्रतिपादन है। कालादि को कारण मानने वाले वैदिक हों या अवैदिक, किन्तु इन कारणों में भी कर्म का समावेश नहीं है।

अब इस बात की शोध करना शेष है कि, जब उपनिषद् काल में भी वैदिक-परम्परा में कर्म या अदृष्ट सर्वमान्य केन्द्रस्थ तत्त्व नहीं था तब वैदिक-परम्परा में इस विचार का आयात कौन-सी परम्परा से हुआ ? कुछ विद्वानों का मत है कि, आर्यों ने ये विचार भारत के आदिवासियों (Primitive People) से ग्रहण किये³। प्रोफेसर हिरियान्ना ने इस मान्यता का निराकरण यह लिखकर किया है कि, आदिवासियों का यह सिद्धान्त कि आत्मा मर कर वनस्पति आदि में गमन करती है केवल एक अन्ध-विश्वास अथवा मिथ्या भ्रान्ति (superstition) था। तत्त्वतः उनके इस विचार को तर्काश्रित नहीं कहा जा सकता। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का लक्ष्य तो मनुष्य की ताकिक और नैतिक चेतना को सन्तुष्ट करना है।

आदिवासियों की यह मान्यता कि, मनुष्य का जीव मर कर वनस्पति आदि के रूप में जन्म लेता है, केवल अन्ध-विश्वास कहकर त्यक्त नहीं की जा सकती। उपनिषदों से पहले जिस कर्मवाद के सिद्धान्त को वैदिक देववाद से विकसित नहीं किया जा सकता, उस कर्म-वाद का मूल आदिवासियों की पूर्वोक्त मान्यता से सरलतया सम्बद्ध है। इस तथ्य की प्रतीति उस समय होती है जब हम जैन-धर्म सम्मत जीववाद और कर्मवाद के गहन मूल को ढूँढने का प्रयास करते हैं। जैन-परम्परा का प्राचीन नाम कुछ भी हो, किन्तु यह बात असंदिग्ध है कि, वह उपनिषदों से स्वतन्त्र और प्राचीन है। अतः यह मानना निराधार है कि उपनिषदों में प्रस्फुटित होने वाले कर्मवाद विषयक नवीन विचार प्रस्फुटित हुए हैं वे जैन-सम्मत कर्मवाद के प्रभाव से रहित हैं। जो वैदिक-परम्परा देवों के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ती थी, वह कर्मवाद के इस सिद्धान्त को हस्तगत कर यह मानने लगी कि, फल देने की शक्ति देवों में नहीं प्रत्युत स्वयं यज्ञ

1. Hiriyanna : outlines of Indian Philosophy p. 80; Belvelkar : History of Indian Philosophy pt. II p. 82
2. श्वेताश्वतर 1 2
3. इसके उल्लेख और निराकरण के लिए देखें। Hiriyanna : outlines of Indian philosophy p. 790.

कर्म में है। वैदिकों ने देवों के स्थान पर यज्ञ-कर्म को आमीन कर दिया। देव और कुछ नहीं, वेद के मन्त्र ही देव हैं। इस यज्ञ-कर्म के समर्थन में ही अपने को कृत-कृत्य मानने वाली दार्शनिक-काल की मीमांसक विचारधारा ने तो यज्ञादि कर्म से उत्पन्न होने वाले अपूर्व नाम के पदार्थ की कल्पना कर वैदिक-दर्शनों के स्थान पर अदृष्ट-कर्म का ही साम्राज्य स्थापित कर दिया।

यदि हम इस समस्त इतिहास को दृष्टि-सन्मुख रखें तो वैदिकों पर जैन-परम्परा के कर्मवाद का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः प्रतीत होता है। वैदिक-परम्परा में मान्य वेद और उपनिषदों तक की सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार जड़ और चेतन-सृष्टि अनादि न होकर सादि है। यह भी माना गया था कि, वह सृष्टि किसी एक या किन्हीं अनेक जड़ अथवा चेतन-तत्त्वों से उत्पन्न हुई है। इससे विपरीत कर्म-सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि, जड़ अथवा जीव सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है। यह मान्यता जैन-परम्परा के मूल में ही विद्यमान है। उसके अनुसार किसी ऐसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती जब जड़ और चेतन का कर्म पर आश्रित अस्तित्व न रहा हो। यही नहीं, उपनिषदों के अनन्तरकालीन समस्त वैदिक-मतों में भी संसारी-जीव का अस्तित्व इसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। यह कर्म-तत्त्व की मान्यता की ही देन है। कर्म-तत्त्व की कुञ्जी इस सूत्र से प्राप्त होती है कि "जन्म का कारण कर्म है, और इसी सिद्धान्त के आधार पर संसार के अनादि होने की कल्पना की गई है। अनादि संसार के जिस सिद्धान्त को बाद में सभी वैदिक-दर्शनों ने स्वीकार किया, वह इन दर्शनों की उत्पत्ति के पूर्व ही जैन एवं बौद्ध परम्परा में विद्यमान था। किन्तु वेद अथवा उपनिषदों में इसे सर्वसम्मत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया। इसी से पता चलता है कि, इस सिद्धान्त का मूल वेद-बाह्य परम्परा में है। यह वेदेतर-परम्परा भारत में आर्यों के आगमन से पहले के निवासियों की तो है ही और उनकी इन मान्यताओं का ही सम्पूर्ण विकास वर्तमान जैन-परम्परा में उपलब्ध होता है।

जैन-परम्परा प्राचीन काल से ही कर्मवादी है, उसमें देववाद को कभी भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ, अतः कर्मवाद की जैसी व्यवस्था जैन-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक जीवों के उन्नत और अवनत जितने भी प्रकार सम्भव हैं, और एक ही जीव की, आध्यात्मिक दृष्टि से संसार की निवृत्ततम अवस्था से लेकर उसके विकास के जितने भी सोपान हैं, उन सबमें कर्म का क्या प्रभाव है तथा इस दृष्टि से कर्म की कौसी विविधता है, इन सब बातों का प्राचीन काल से ही विस्तृत शास्त्रीय निरूपण जैसा जैन-शास्त्रों में है, वैसा अन्यत्र दृग्गोचर होना शक्य नहीं है। इससे स्पष्ट है कि, कर्म-विचार का विकास जैन-परम्परा में हुआ है और इसी परम्परा में उसे व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के इन विचारों के स्फुल्लिग अन्यत्र पहुँचे और उसी के कारण दूसरों की विचारधारा में भी नूतन तेज प्रकट हुआ।

वैदिक विचारक यज्ञ की क्रिया के चारों ओर ही सारा वैचारिक आयोजन करते हैं। जैसे उन की मौलिक विचारणा का स्तम्भ यज्ञ क्रिया है वैसे ही जैन विद्वानों की समस्त विचारणा कर्म पर आधारित है, अतः उनकी मौलिक विचारणा की नींव कर्मवाद है।

जब देववादी ब्राह्मणों का कर्मवादियों से सम्पर्क हुआ, तब देववाद के स्थान पर तत्काल ही कर्मवाद को आरुढ़ नहीं किया गया होगा। जिस प्रकार पहले आत्म-विद्या को गूढ़ एवं एकान्त में विचार करने योग्य माना गया था, उसी प्रकार कर्म-विद्या को भी रहस्य-पूर्ण और एकान्त में मननीय स्वीकार किया गया होगा। जिस प्रकार आत्म-विद्या के कारण यज्ञों से लोगों की श्रद्धा हटने लगी थी, उसी प्रकार कर्म-विद्या के कारण देवों सम्बन्धी श्रद्धा भी क्षीण होने लगी। इसी प्रकार के किसी कारणवश याज्ञवल्क्य जैसे दार्शनिक आर्तभाग को एकान्त में ले जाते हैं और उसे कर्म का रहस्य समझाते हैं। उस समय कर्म की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि, पुण्य करने से मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और पाप करने से निकृष्ट।

वैदिक-परम्परा में यज्ञ-कर्म तथा देव दोनों की मान्यता थी। जब देव की अपेक्षा कर्म का महत्व अधिक माना जाने लगा, तब यज्ञ का समर्थन करने वालों ने यज्ञ और कर्मवाद का समन्वय कर यज्ञ को ही देव बना दिया और वे यह मानने लगे कि, यज्ञ ही कर्म है तथा इसी से सब फल मिलते हैं। दार्शनिक व्यवस्था-काल में इन लोगों की परम्परा का नाम मीमांसक-दर्शन पड़ा। किन्तु वैदिक-परम्परा में यज्ञ के विकास के साथ-साथ देवों की विचारणा का भी विकास हुआ था। ब्राह्मण-काल में प्राचीन अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति को देवाधि-देव माना जाने लगा। जिन लोगों की श्रद्धा इस देवाधिदेव पर अटल रही, उनकी परम्परा में भी कर्मवाद को स्थान प्राप्त हुआ और उन्होंने भी प्रजापति तथा कर्मवाद का समन्वय अपने ढंग से किया है। वे मानते हैं कि, जीव को अपने कर्मानुसार फल तो मिलता है किन्तु इस फल को देने वाला देवाधिदेव ईश्वर है। ईश्वर जीवों के कर्मानुसार उन्हें फल देता है, अपनी इच्छा से नहीं। इस समन्वय को स्वीकार करने वाले वैदिक-दर्शनों में न्याय-वैशेषिक, वेदान्त और उत्तरकालीन शेष्वर सांख्य-दर्शन का समावेश है।

वैदिक-परम्परा के लिए अदृष्ट अथवा कर्म-विचार नवीन है और बाहर से उसका आयात हुआ है। इस बात का एक प्रमाण यह भी है कि, वैदिक लोग पहले आत्मा की शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं को ही कर्म मानते थे। तत्पश्चात् वे यज्ञादि बाह्य अनुष्ठानों को भी कर्म कहने लगे। किन्तु ये अस्थायी अनुष्ठान स्वयमेव फल कैसे दे सकते हैं? उनका तो उसी समय नाश हो जाता है, अतः किसी माध्यम की कल्पना करनी चाहिए। इस आधार पर मीमांसा-दर्शन में 'अपूर्व' नाम के पदार्थ की कल्पना की गई। यह कल्पना वेद में अथवा ब्राह्मणों में नहीं है। यह दार्शनिक-काल में ही दिखाई देती है। इससे भी सिद्ध होता है कि अपूर्व के समान अदृष्ट पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की मौलिक देन नहीं, परन्तु वेदोत्तर प्रभाव का परिणाम है।

इसी प्रकार वैशेषिक-सूत्रकार ने अदृष्ट (धर्माधर्म) के विषय में सूत्र में उल्लेख अवश्य किया है किन्तु उस अदृष्ट की व्यवस्था उसके टीकाकारों ने ही की है। वैशेषिक-सूत्रकार ने यह नहीं बताया कि अदृष्ट—धर्माधर्म क्या वस्तु है? इसीलिए प्रशस्तपाद को उसकी व्यवस्था करनी पड़ी और उन्होंने उस का समावेश गुण पदार्थ में किया। सूत्रकार ने अदृष्ट को

स्पष्टतः गुणरूपेण प्रतिपादित नहीं किया, फिर भी इसे आत्मा का गुण क्यों माना जाए ? इस बात का स्पष्टीकरण प्रशस्तपाद ने किया है¹। इससे प्रमाणित होता है कि वैशेषिकों की पदार्थ-व्यवस्था में अदृष्ट एक नवीन तत्त्व है।

इस प्रकार वैदिकों ने यज्ञ अथवा देवाधिदेव के साथ अदृष्ट-कर्मवाद का समन्वय किया है। किन्तु याज्ञिक विद्वान् यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्मों के विषय में विचार नहीं कर सके और ईश्वरवादी भी ईश्वर की सिद्धि के लिए जितनी शक्ति का व्यय करते रहे उतनी वे कर्मवाद के रहस्य का उद्घाटन करने में नहीं लगा सके। अतः कर्मवाद मूल-रूप में जिस परम्परा का था, उसी ने उस वाद पर यथाशक्य विचार कर उसकी शास्त्रीय व्यवस्था की। यही कारण है कि कर्म की जैसी शास्त्रीय व्यवस्था जैनशास्त्रों में है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि कर्मवाद का मूल जैन-परम्परा में और उससे पूर्वकालीन आदिवासियों में है।

अब कर्म के स्वरूप का विशेष वर्णन करने से पहले यह उचित होगा कि कर्म के स्थान में जिन विविध कारणों की कल्पना की गई है, उन पर किंचित् विचार कर लिया जाए। उसके बाद उसी के आलोक में कर्म का विवेचन किया जाए।

(2) कालवाद

विश्व-सृष्टि का कोई न कोई कारण होना चाहिए, इस बात का विचार वेद-परम्परा में विविध रूप में हुआ है। किन्तु प्राचीन ऋग्वेद से यह प्रकट नहीं होता कि, उस समय विश्व की विचित्रता—जीव सृष्टि की विचित्रता के निमित्त कारण पर भी विचार किया गया हो। इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर (1.2.) में उपलब्ध होता है। उसमें काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, और पुरुष इन में से किसी एक को मानने अथवा सबके समुदाय को मानने वाले वादों का प्रतिपादन है। इससे ज्ञात होता है कि, उस समय चिन्तक कारण की खोज में तत्पर हो गए थे और विश्व की विचित्रता की व्याख्या विविधरूप से करते थे। इन वादों में कालवाद का मूल प्राचीन मालूम होता है। अथर्ववेद में एक कालमूक्त है जिसमें कहा है कि :—

‘काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं, काल के कारण ही अँखें देखती हैं, काल ही ईश्वर है, वह प्रजापति का भी पिता है, इत्यादि²।’ इसमें काल को सृष्टि का मूल कारण मानने का सिद्धान्त है। किन्तु महाभारत में मनुष्यों की तो बात ही क्या, समस्त जीव-सृष्टि के सुख-दुःख, जीवन-मरण इन सब का आधार काल माना गया है। इस प्रकार महाभारत में भी एक ऐसे पक्ष का उल्लेख मिलता है जो काल को विश्व की विचित्रता का मूल कारण मानता था। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि, कर्म अथवा यज्ञ-यागादि अथवा किसी पुरुष द्वारा मनुष्यों को सुख-दुःख नहीं मिलता, किन्तु मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। समस्त कार्यों में समानरूप से

1. प्रशस्तपाद पृ. 47,637,643.

2. अथर्ववेद 19.53-54.

काल ही कारण है, इत्यादि¹। प्राचीन-काल में काल का इतना महत्त्व होने के कारण ही दार्शनिक-काल में तैयायिक आदि चिन्तकों को इसके लिये प्रेरित किया कि अन्य ईश्वरादि कारणों के साथ काल को भी साधारण कारण माना जाए²।

(3) स्वभाववाद

उपनिषद् में स्वभाववाद का उल्लेख है³। जो कुछ होता है, वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म या ईश्वर रूप कोई कारण नहीं है, यह बात स्वभाववादी कहा करते थे। बुद्ध-चरित में स्वभाववाद का निम्न उल्लेख है। “कौन काँटे को तीक्ष्ण करता है? अथवा पशु पक्षियों की विचित्रता क्यों है?” इन सब बातों की प्रवृत्ति स्वभाव के कारण ही है। इसमें किसी की इच्छा अथवा प्रयत्न का अवकाश ही नहीं है⁴। गीता और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख है⁵। माठर और न्यायकुसुमांजलिकार ने स्वभाववाद⁶ का खंडन किया है और अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी स्वभाववाद⁷ का निषेध किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी अनेक बार इस वाद का निराकरण किया गया है।

(4) यदृच्छावाद

श्वेताश्वतर में यदृच्छा को कारण मानने वालों का भी उल्लेख है। इससे विदित होता है कि यह वाद भी प्राचीन काल से प्रचलित था। इस वाद का मन्तव्य यह है कि, किसी भी नियत कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। यदृच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात् है⁸। अर्थात् किसी भी कारण के बिना। महाभारत में भी यदृच्छावाद का उल्लेख⁹ है। न्यायसूत्रकार ने इसी वाद का उल्लेख यह लिख कर दिया है कि, अनिमित्त—निमित्त के

1. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 25, 28, 32, 33 आदि।
2. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः। न्यायसिद्धांतमुक्तावलीका० 45; कालवाद के निराकरण के लिए शास्त्र-वार्ता-समुच्चय देखें 252-5; माठरवृत्तिका० 61.
3. श्वेता० 1.2.
4. बुद्ध-चरित 52,
5. भगवद्गीता 5. 14; महाभारत शान्तिपर्व 25.16.
6. माठरवृत्तिका० 61; न्यायकुसुमांजलि 1.5.
7. स्वभाववाद के बोधक निम्न श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध हैं :—
नित्य सत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन ।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः ॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्द्वयवस्थितिः ॥
3. न्याय-भाष्य 3.2.31.
9. महाभारत शान्ति पर्व 33.23

जिना ही काँटे की तीक्ष्णता के समान भावों की उत्पत्ति होती¹ है। उन्होंने इस वाद का निराकरण भी किया है। अतः अनिमित्तवाद, अकस्मात्वाद और यदृच्छावाद एक ही अर्थ के द्योतक हैं, ऐसा मानना चाहिए। कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। इन दोनों में यह भेद है कि, स्वभाववादी स्वभाव को कारण रूप मानते हैं, किन्तु यदृच्छावादी कारण की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं²।

(5) नियतिवाद

इस वाद का सर्वप्रथम उल्लेख भी श्वेताश्वतर में है, किन्तु वहाँ अथवा अन्य उपनिषदों में इस वाद का विशेष विवरण नहीं मिलता। जैनागम और बौद्ध-त्रिपिटक में नियतिवाद सम्बन्धी बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं। जब भगवान् बुद्ध ने उपदेश देना प्रारम्भ किया तब नियतिवादी जगह-जगह अपने मत का प्रचार कर रहे थे। भगवान् महावीर को भी नियतिवादियों से वाद-विवाद करना पड़ा था। उनकी मान्यता थी कि, आत्मा और परलोक का अस्तित्व है, परन्तु संसार में दृष्टिगोचर होने वाली जीवों की विचित्रता का कोई भी अन्य कारण नहीं है, सब कुछ एक निश्चित प्रकार से नियत है और नियत रहेगा। सभी जीव नियति-चक्र में फँसे हुए हैं। जीव में यह शक्ति नहीं कि इस चक्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सके। यह नियति-चक्र स्वयं ही घूमता रहता है और जीवों को एक नियत क्रम के अनुसार इधर-उधर ले जाता है। जब यह चक्र पूर्ण हो जाता है तो जीव स्वतः ही मुक्त हो जाता है। ऐसे वाद का प्रादुर्भाव उसी समय होता है जब मानव-बुद्धि पराजित हो जाती है।

त्रिपिटक में पूरण काश्यप और मंखली गोशालक³ के मतों का वर्णन आया है। एक के वाद का नाम 'अक्रियावाद' तथा दूसरे के वाद का नाम 'नियतिवाद' रखा गया है, किन्तु इन दोनों में सिद्धान्ततः विशेष भेद नहीं है। यही कारण है कि कुछ समय बाद पूरण काश्यप के अनुयायी आजीवकों अर्थात् गोशालक के अनुयायियों में मिल गये थे⁴। आजीवकों और जैनो में आचार तथा तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी बहुत सी बातों में समानता थी, किन्तु मुख्य भेद नियतिवाद तथा पुरुषार्थवाद⁵ में था। जैनागमों में ऐसे कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे प्रकट है कि, भगवान् महावीर ने अनेक विख्यात नियतिवादियों के मत में परिवर्तन कराया था⁶। संभव है कि धीरे-धीरे आजीवक जैन में सम्मिलित होकर लुप्त हो गए हों। पकुध का मत भी अक्रियावादी है, अतः वह नियतिवाद में समाविष्ट हो जाता है।

सामञ्जाफलसुत्त में गोशालक के नियतिवाद का निम्नलिखित वर्णन है :—

1. न्याय-सूत्र 4.1.22.
2. पं० फणिभूषण-कृत न्याय-भाष्य का अनुवाद 4.1.24 देखें।
3. दीघनिकाय-सामञ्जाफलसुत्त
4. बुद्धचरित (कोशांबी) पृ. 179
5. नियतिवाद का विस्तृत वर्णन 'उत्थान' महावीराङ्क में देखें पृ० 74
6. उवासकदशांग अ० 7

“प्राणियों की अपवित्रता का कुछ भी कारण नहीं है ; कारण के बिना ही वे अपवित्र होते हैं । उन के अपवित्र होने में न कोई कारण है, न हेतु । प्राणियों की शुद्धता का भी कोई कारण अथवा हेतु नहीं है । हेतु और कारण के बिना ही वे शुद्ध होते हैं । अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ नहीं होता । पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है । न बल है, न वीर्य, न ही पुरुष की शक्ति अथवा पराक्रम, सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी जीव अवश हैं, दुर्बल हैं, वीर्यविहीन हैं । उन में भाग्य (नियति) जाति, वैशिष्ट्य और स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है । छह जातियों में से किसी भी एक जाति में रहकर सब दुखों का उपभोग किया जाता है । चौरासी लाख महाकल्प के चक्र में घूमने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के ही दुःख का नाश हो जाता है । यदि कोई कहे कि, 'मैं शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूँगा, अथवा परिपक्व हुए कर्मों का भोग कर उन्हें नामशेष कर दूँगा' तो ऐसी बात कभी भी होने वाली नहीं है । इस संसार में सुख-दुःख इस प्रकार अवस्थित हैं कि उन्हें परिमित पानी से नापा जा सकता है । उनमें वृद्धि या हानि नहीं हो सकती । जिस प्रकार सूत की गोली (मैंद) उतनी ही दूर जाती है जितना लम्बा उसमें धागा होता है उसी प्रकार बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के दुःख (संसार) का नाश उसके चक्कर में पड़ने पर ही होता है ।”

इसी प्रकार का ही किन्तु जरा आकर्षक ढँग का वर्णन जैनों के उपासकदशांग³ और भगवती सूत्र³ में है । इनके अतिरिक्त सूत्रकृतांग⁴ में भी अनेक स्थलों पर इस वाद के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें मिलती हैं ।

बौद्ध पिटक में पकुथ कात्यायन के मत का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—“सात पदार्थ ऐसे हैं जो किसी ने बनाए नहीं, बनवाए नहीं । उनका न तो निर्माण किया गया और न कराया गया । वे बन्ध हैं, कूटस्थ हैं और स्तम्भ के समान अचल हैं । वे हिलते नहीं; बदलते नहीं और एक दूसरे के लिए त्रासदायक नहीं । वे एक दूसरे के दुःख को, सुख को या दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकते । वे सात तत्व ये हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, सुख, दुःख और जीव । इनका नाश करने वाला, करवाने वाला, इनको सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला अथवा इनका वर्णन करने वाला कोई भी नहीं है ।” यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी के मस्तक का छेदन करता है तो वह उसके जीवन का हरण नहीं करता । इससे केवल यही समझना चाहिए कि इन सात पदार्थों के अन्तर-स्थित स्थल में शस्त्रों का प्रवेश⁵ हुआ । पकुथ के इस मत को नियतिवाद ही कहना चाहिए ।

त्रिपिटक में अक्रियावादी पूरण काश्यप के मत का वर्णन इन शब्दों में किया गया है:—
“किसी ने कुछ भी किया ही अथवा कराया हो, काटा हो या कटवाया हो, त्रास दिया हो या

1. बुद्ध-चरित पृ० 171
2. अष्टाध्यायन 6 व 7
3. शतक 15
4. 2.1.12; 2,6
5. सामञ्जस्यफलमुत्त-दीर्घनिकाय 2, बुद्धचरित पृ. 173

दिलाया हो,.... प्राणी का वध किया हो; चोरी की हो, घर में सेंध लगाई हो, डाका डाला हो, व्यभिचार किया हो, झूठ बोला हो, तो भी उसे पाप नहीं लगता। यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण धार वाले चक्र से पृथ्वी पर मांस का बड़ा डेर लगा दे तो भी इसमें लेशमात्र पाप नहीं है। गंगा नदी के दक्षिण तट पर जाकर कोई मरपीट करे, कत्ल करे या कराए, त्रास दे या दिलाए तो भी रत्ती भर पाप नहीं है। गंगा नदी के उत्तर तट पर जाकर कोई दान करे या कराए, यज्ञ करे या कराए तो इसमें कुछ भी पुण्य नहीं है। दान, धर्म, संयम, सत्य भाषण इन सबसे कुछ भी पुण्य नहीं होता¹। इसमें तनिक भी पुण्य नहीं है।” जैन सूत्रकृतांग² में भी अक्रियावाद का ऐसा ही वर्णन है। पूरण का यह अक्रियावाद भी नियतिवाद के तुल्य है।

(6) अज्ञानवादी

हम संजय बेलट्टी पुत्र के मत को न तो नास्तिक कह सकते हैं और न ही उसे आस्तिक की कोटि में रखा जा सकता है। वस्तुतः उसे ताकिक श्रेणी में रखना चाहिए। उसने परलोक, देव, नारक, कर्म, निर्वाण जैसे अदृश्यपदार्थों के विषय में स्पष्ट रूप से घोषणा की कि, इनके सम्बन्ध में विधिरूप, निषेधरूप, उभयरूप अथवा अनुभयरूप निर्णय करना शक्य ही नहीं है।³ जिस समय ऐसे अदृश्य पदार्थों के विषय में अनेक कल्पनाओं का साम्राज्य स्थापित हो रहा हो, तब एक ओर नास्तिक उनका निषेध करते हैं और दूसरी ओर विचारशील पुरुष दोनों पक्षों के बलाबल पर विचार करने में तत्पर हो जाते हैं। इस विचारणा की एक भूमिका ऐसी भी होती है, जहाँ मनुष्य किसी बात को निश्चित रूप से मानने अथवा प्रतिपादित करने में समर्थ नहीं होता उस समय या तो वह संशय-वादी बन कर प्रत्येक विषय में सन्देह करने लग जाता है अथवा वह अज्ञानवाद की ओर झुक जाता है और कहने लगता है कि, सभी पदार्थों का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। ऐसे अज्ञानवादियों के विषय में जैनागमों में कहा है कि, ये अज्ञानवादी तर्ककुशल होते हैं परन्तु असंबद्ध प्रलाप करते हैं, उनकी अपनी शंकाओं का ही निवारण नहीं हुआ है। वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञानों में मिथ्या प्रचार करते हैं⁴।

(7) कालादि का समन्वय

जिस प्रकार वैदिक दार्शनिकों ने वैदिक-परम्परा-सम्मत यज्ञकर्म और देवाधिदेव के साथ पूर्वोक्त प्रकार से कर्म का समन्वय किया, उसी प्रकार जैनाचार्यों ने जैन-परम्परा के दार्शनिक-काल में कर्म के साथ कालादि कारणों के समन्वय करने का प्रयत्न किया। किसी भी

1. बुद्धचरित पृ. 170, दीघनिकाय-सामञ्जससुत्त
2. सूत्रकृतांग 1,1,1, 13
3. बुद्धचरित पृ. 178; इस मत के विरुद्ध भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की योजना द्वारा वस्तु का अनेकरूपेण वर्णन किया है। न्यायावतारवातिकवृत्ति की प्रस्तावना देखें पृ. 39 से आगे।
4. सूत्रकृतांग 1.12.2; महावीर स्वामीनो संयम धर्म (गु०) पृ. 135; सूत्रकृतांग चूणि पृ० 255, इसका विशेष वर्णन creative period में देखें। पृ. 454

कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर आश्रित नहीं, परन्तु उसका आधार कारण सामग्री पर है। इस सिद्धान्त के बल पर जैनाचार्यों ने कहा कि केवल कर्म ही कारण नहीं है, कालादि भी सहकारी कारण हैं। इस प्रकार सामग्रीवाद के आधार पर कर्म और कालादि का समन्वय हुआ।

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस बात को मिथ्या धारणा माना है कि काल, स्वभाव नियति, पूर्वकृत-कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणों में किसी एक को ही कारण माना जाय और शेष कारणों की अवहेलना की जाए। उनके मतानुसार सम्यक् धारणा यह है कि, कार्य-निष्पत्ति में उक्त पाँचों कारणों का समन्वय किया जाए¹। आचार्य हरिभद्र ने भी शास्त्रवार्ता-समुच्चय में इसी बात का समर्थन किया² है। इससे ज्ञात होता है कि जैन भी कर्म को एकमात्र कारण नहीं मानते, परन्तु, गौण-मुख्य भाव की अपेक्षा से कालादि सभी कारणों को मानते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि, दैव (कर्म) और पुरुषार्थ के विषय में एकान्त दृष्टि का त्याग कर अनेकान्त दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए। जहाँ मनुष्य ने बुद्धि पूर्वक प्रयत्न न किया हो और उसे इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो, वहाँ मुख्यतः दैव को मानना चाहिए; क्योंकि यहाँ पुरुष-प्रयत्न गौण है और दैव प्रधान है। वे दोनों एक दूसरे के सहायक बनकर ही कार्य को पूर्ण करते हैं। परन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति हो, वहाँ अपने पुरुषार्थ को प्रधानता प्रदान करनी चाहिए और दैव अथवा कर्म को गौण मानना चाहिए। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने दैव और पुरुषार्थ का समन्वय किया³ है।

(8) कर्म का स्वरूप

कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है और वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक वैदिक परम्परा में यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। इस परम्परा में यज्ञयागादि नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म की संज्ञा दी गई है। यह माना जाता था कि, इन कर्मों का आचरण देवों को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है और देव इन्हें करने वाले व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण करते हैं। जैन परम्परा को कर्म का क्रिया रूप अर्थ मान्य है, किन्तु जैन इसका केवल यही अर्थ स्वीकार नहीं करते। संसारी जीव की प्रत्येक क्रिया अथवा प्रवृत्ति तो कर्म है ही, किन्तु जैन परिभाषा में इसे भाव-कर्म कहते हैं। इसी भाव-कर्म अर्थात् जीव की क्रिया द्वारा जो अजीव द्रव्य (पुद्गल द्रव्य) आत्मा के तत्सर्ग में आकर आत्मा को बन्धन में बाँध देता है, उसे द्रव्य-कर्म कहते हैं। द्रव्य-कर्म पुद्गल द्रव्य है, उसकी संज्ञा औपचारिक है क्योंकि वह आत्मा की क्रिया या उसके कर्म से उत्पन्न होता है, अतः उसे भी कर्म कहते हैं। यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया गया है। अर्थात् जैन परिभाषा के अनुसार कर्म दो प्रकार का है:—भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म जीव की क्रिया भाव-कर्म है और उसका फल द्रव्य-कर्म। इन दोनों में कार्य-कारण भाव है:—भाव-कर्म कारण है और द्रव्य-कर्म कार्य। किन्तु यह कार्य-कारण भाव

1. कालो सहाय णियई पुव्वकम्म पुरिसकारणोगंता । मिच्छत्तं तं चैव उ समासओ हुंति सम्मत्तं ।
2. अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम् । गभदिः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः । न चैकेकत एकेह क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते । तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका भता ।
3. आप्तमीमांसा का० 88.91 शास्त्रवार्ता० 2, 79 80

मुर्गी और उसके अंडे के कार्य-कारण भाव के सदृश है। मुर्गी से अंडा होता है, अतः मुर्गी कारण है और अंडा कार्य। यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि पहले मुर्गी थी या अंडा? तो इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह तथ्य है कि अंडा मुर्गी से होता है, परन्तु मुर्गी भी अंडे से ही उत्पन्न हुई है। अतः दोनों में कार्य-कारण भाव तो है परन्तु दोनों में पहले कौन, यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्य-कारण भाव अनादि है। इसी प्रकार भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म उत्पन्न होता है, अतः भाव-कर्म को कारण और द्रव्य-कर्म को कार्य माना जाता है। किन्तु द्रव्य-कर्म के अभाव में भाव-कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, अतः द्रव्य-कर्म भाव-कर्म का कारण है। इस प्रकार मुर्गी और अंडे के समान भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म का पारस्परिक अनादि कार्य-कारण भाव भी संतति की अपेक्षा से है।

यद्यपि संतति के दृष्टिकोण से भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म का कार्य-कारण भाव अनादि है, तथापि व्यक्तिशः विचार करने पर ज्ञात होता है कि, किसी एक द्रव्य-कर्म का कारण कोई एक भाव-कर्म ही होता होगा, अतः उनमें पूर्वापर भाव का निश्चय किया जा सकता है। कारण यह है कि, जिस एक भाव-कर्म से किसी विशेष द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति हुई है, वह उस द्रव्य-कर्म का कारण है और वह द्रव्य-कर्म उस भाव-कर्म का कार्य है, कारण नहीं। इस प्रकार हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि, व्यक्तिशः पूर्वापर भाव होने पर भी जाति की अपेक्षा से पूर्वापर भाव का अभाव होने के कारण दोनों ही अनादि हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह तो स्पष्ट है कि भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति होती है, क्योंकि अपने राग, द्वेष, मोहरूप परिणामों के कारण ही जीव द्रव्य-कर्म के बन्धन में बद्ध होता है अथवा संसार में परिभ्रमण करता है। किन्तु भाव-कर्म की उत्पत्ति में द्रव्य-कर्म को कारण क्यों माना जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि, यदि द्रव्य-कर्म के अभाव में भी भाव-कर्म की उत्पत्ति सम्भव हो, तो मुक्त जीवों में भी भाव-कर्म का प्रादुर्भाव होगा और उन्हें फिर संसार में आना होगा। यदि ऐसा होता है, तो फिर संसार और मोक्ष में कुछ भी अन्तर न रह जाएगा। जैसी बन्ध-योग्यता संसारी जीव में है, वैसी ही मुक्त जीव में माननी पड़ेगी। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति मुक्त होने के लिए क्यों प्रयत्नशील होगा? अतः हमें स्वीकार करना होगा कि, मुक्त जीव में द्रव्य-कर्म न होने के कारण भाव-कर्म भी नहीं है और द्रव्य-कर्म के होने के कारण संसारी जीव में भाव-कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म और द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म की अनादिकालीन उत्पत्ति होने के कारण जीव के लिए संसार अनादि है।

द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति भाव-कर्म से होती है, अतः द्रव्य-कर्म भाव-कर्म का कार्य है। इन दोनों में जो कार्य-कारण भाव है, उसका भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। मिट्टी का पिण्ड घटाकार में परिणत होता है, इसलिए मिट्टी को उपादान कारण माना जाता है। किन्तु कुम्हार न हो तो मिट्टी में घट-रूप बनने की योग्यता होने पर भी घट नहीं बन सकता, अतः कुम्हार निमित्त कारण है। इसी प्रकार पुद्गल में कर्म-रूप में परिणत होने का सामर्थ्य है, अतः पुद्गल द्रव्य-कर्म का उपादान कारण है, किन्तु जब तक जीव में भाव-कर्म की सत्ता न हो, पुद्गल द्रव्य-कर्म-रूप में परिणत नहीं हो सकता। इसलिए भाव-कर्म निमित्त कारण माना गया है।

इसी प्रकार द्रव्य-कर्म भी भाव-कर्म का निमित्त कारण है, अर्थात् द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म का कार्य-कारण-भाव उपादानोपादेय-रूप न होकर निमित्त-निमित्तिक-रूप है।

संसारी आत्मा की प्रवृत्ति अथवा क्रिया को भाव-कर्म कहते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि उसकी कौन-सी क्रिया को भाव-कर्म कहना चाहिए? क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय आत्मा के आभ्यन्तर परिणाम हैं, यही भाव-कर्म हैं। अथवा राग, द्वेष, मोह-रूप आत्मा के आभ्यन्तर परिणाम भाव-कर्म हैं। संसारी आत्मा सदैव शरीर-सहित होती है, अतः मन, वचन, काय के अवलम्बन के बिना उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के कषाय-रूप अथवा राग, द्वेष, मोहरूप आभ्यन्तर परिणामों का आविर्भाव मन, वचन, काय की प्रवृत्ति द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, संसारी आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति जिसे योग भी कहते हैं, राग, द्वेष, मोह अथवा कषाय के रंग से रजित होती है। वस्तुतः प्रवृत्ति एक ही है; परन्तु जैसे कपड़े और उसके रंग को भिन्न-भिन्न भी कहते हैं, वैसे ही आत्मा की इस प्रवृत्ति के भी दो नाम हैं:—योग और कषाय। रंग से हीन कोरा कपड़ा एक-रूप ही होता है। इसी प्रकार कषाय के रंग से त्रिहीन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति एक-रूप होती है। जब कपड़े में रंग होता है तब कपड़े का रंग कभी हलका और कभी गहरा होता है। इसी तरह योग-व्यापार के साथ कषाय के रंग की उपस्थिति में भाव-कर्म कभी तीव्र होता है और कभी मन्द। रंग रहित वस्त्र छोटा या बड़ा हो सकता है, कषाय के रंग से हीन योग-व्यापार भी न्यूनधिक हो सकता है, किन्तु रंग के कारण होने वाली चमक की तीव्रता अथवा मन्दता का उसमें अभाव होता है। इसलिए योग-व्यापार की अपेक्षा रंग प्रदान करने वाले कषाय का महत्व अधिक है, अतः कषाय को ही भाव-कर्म कहते हैं। द्रव्य-कर्म के बन्ध में योग एवं कषाय¹ दोनों को ही साधारणतः निमित्त कारण माना गया है, तथापि कषाय को ही भाव-कर्म मानने का कारण यही है।

सारांश यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय अथवा राग, द्वेष, मोह² ये दोष भाव-कर्म हैं। इनसे द्रव्य-कर्म को ग्रहण कर जीव बद्ध होते हैं।

अन्य दार्शनिकों ने इसी बात को दूसरे नामों से स्वीकार किया है। नैयायिकों ने राग, द्वेष और मोह रूप इन तीन दोषों को माना है। इन तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों के मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से धर्म व अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म व अधर्म को उन्होंने 'संस्कार'³ कहा है। नैयायिकों ने जिन राग, द्वेष, मोह रूप तीन दोषों का

1. जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाओ। पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 96
2. उत्तराध्ययन 32.7; 30.1; तत्त्वार्थ 8.2; स्थानांग 2.2; समयसार 94, 96, 109, 177; प्रवचनसार 1, 84, 88
3. न्यायभाष्य 1.1.2; न्यायसूत्र 4,1,3-9; न्यायसूत्र 1.1.17; न्यायमंजरी पृ० 471, 472, 500 इत्यादि।

एवं च क्षणभंगित्वात् संस्कारद्वारिका स्थितः।

स कर्मजन्यसंस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते ॥ न्यायमंजरी पृ० 472

उल्लेख किया है, वे जैनों को मान्य हैं और जैन उन्हें भाव-कर्म कहते हैं। नैयायिक जिसे दोष-जन्य प्रवृत्ति कहते हैं, उसे ही जैन योग कहते हैं। नैयायिकों ने प्रवृत्ति-जन्य धर्माधर्म को संस्कार अथवा अदृष्ट की संज्ञा प्रदान की है, जैनों में पौद्गलिक-कर्म अथवा द्रव्य-कर्म का वही स्थान है। नैयायिक-मत में धर्माधर्म-रूप संस्कार आत्मा का गुण है। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस मत में गुण व गुणी का भेद होने से केवल आत्मा ही चेतन है, उसका गुण संस्कार चेतन नहीं कहला सकता, क्योंकि संस्कार में चैतन्य का समवाय सम्बन्ध नहीं है। जैन-सम्मत द्रव्य-कर्म भी अचेतन है, अतः संस्कार कहें या द्रव्य-कर्म, दोनों अचेतन हैं। दोनों मतों में भेद इतना ही है कि संस्कार एक गुण है जब कि द्रव्य-कर्म पुद्गल-द्रव्य है। महान विचार करने पर यह भेद भी तुच्छ प्रतीत होता है। जैन यह मानते हैं कि द्रव्य-कर्म भाव-कर्म से उत्पन्न होते हैं। नैयायिक भी संस्कार की उत्पत्ति ही स्वीकार करते हैं। भाव-कर्म ने द्रव्य-कर्म को उत्पन्न किया, इस मान्यता का अर्थ यह नहीं है कि भाव-कर्म ने पुद्गल-द्रव्य को उत्पन्न किया। जैनों के मत के अनुसार पुद्गल-द्रव्य तो अनादिकाल से विद्यमान है, अतः उपर्युक्त मान्यता का भावार्थ यही है कि, भाव-कर्म ने पुद्गल का कुछ ऐसा संस्कार किया जिसके फल-स्वरूप वह पुद्गल कर्म-रूप में परिणत हुआ। इस प्रकार भाव-कर्म के कारण पुद्गल में जो विशेष संस्कार हुआ, वही जैन-मत में वास्तविक कर्म है। यह संस्कार पुद्गल-द्रव्य से अभिन्न है, अतः इसे पुद्गल कहा गया है। ऐसी परिस्थिति में नैयायिकों के संस्कार एवं जैन-सम्मत द्रव्य-कर्म में विशेष भेद नहीं रह जाता।

जैनों ने स्थूल-शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म-शरीर भी माना है। उसे वे कार्मण शरीर कहते हैं। इसी कार्मण शरीर के कारण स्थूल शरीर का आविर्भाव होता है। नैयायिक कार्मण शरीर को 'अव्यक्त-शरीर' भी कहते¹ हैं। जैन कार्मण शरीर को अतीन्द्रिय मानते हैं, इसलिए वह अव्यक्त ही है।

वैशेषिक-दर्शन की मान्यता भी नैयायिकों के समान है। प्रशस्तपाद ने जिन 24 गुणों का प्रतिपादन किया है, उनमें अदृष्ट भी एक गुण है। यह गुण संस्कार गुण से भिन्न है²। उसके दो भेद हैं—धर्म और अधर्म। इससे ज्ञात होता है कि, प्रशस्तपाद धर्माधर्म का उल्लेख संस्कार शब्द से न कर अदृष्ट शब्द से करते हैं। इसे मान्यता-भेद न मानकर केवल नाम-भेद समझना चाहिए; क्योंकि नैयायिकों के संस्कार के समान प्रशस्तपाद ने अदृष्ट को आत्मा का गुण माना है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी दोष से संस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से दोष और फिर दोष से संस्कार एवं जन्म, यह परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि मानी है। यह जैनों द्वारा मान्य भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म की पूर्वोक्त अनादि परम्परा जैसी ही है³।

1. द्वे शरीरस्य प्रकृती व्यक्ता च अव्यक्ता च । तत्र अव्यक्तायाः कर्मसमाख्यातायाः प्रकृतेरुप-भोगात् प्रक्षयः । प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति इति उपपन्नोऽपवर्गः । न्यायवा० 3.2.68
2. प्रशस्तपाद-भाष्य पृ० 47, 437, 643
3. न्यायमंजरी पृ० 513

योग-दर्शन की कर्म-प्रक्रिया से जैन-दर्शन की अत्यधिक समानता है। योग-दर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। इन पाँच क्लेशों के कारण क्लिष्टवृत्ति—चित्त-व्यापार की उत्पत्ति होती है और उससे धर्म-अधर्म-रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। इनमें क्लेशों को भाव-कर्म, वृत्ति को योग और संस्कार को द्रव्य-कर्म समझा जा सकता है; योग-दर्शन में संस्कार को वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा गया है। पुनश्च, इस मत में क्लेश और कर्म का कार्य-कारण-भाव जैनों के समान बीजांकुर की तरह अनादि माना गया है¹।

जैन और योग-प्रक्रिया में अन्तर यह है कि, योग-दर्शन की प्रक्रियानुसार क्लेश, क्लिष्ट-वृत्ति और संस्कार इन सबका सम्बन्ध आत्मा से नहीं अपितु चित्त अथवा अन्तःकरण के साथ है और यह अन्तःकरण प्रकृति का विकार-परिणाम है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि, सांख्य मान्यता भी योग-दर्शन जैसी ही है, परन्तु सांख्यकारिका व उसकी माठर-वृत्ति तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी में बन्ध-मोक्ष की चर्चा के प्रसंग में जिस प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, उसकी जैन-दर्शन की कर्म-सम्बन्धी मान्यता से जिस प्रकार की समानता है, वह विशेष रूप से ज्ञातव्य है। यह भेद ध्यान में रखना चाहिए कि, सांख्य-मतानुसार पुरुष कूटस्थ है और अपरिणामी है परन्तु जैन मतानुसार वह परिणामी है। क्योंकि सांख्यों ने आत्मा को कूटस्थ स्वीकार किया, अतः उन्होंने संसार एवं मोक्ष भी परिणामी प्रकृति में ही माने। जैनों ने आत्मा के परिणामी होने के कारण ज्ञान, मोह, क्रोध आदि आत्मा में ही स्वीकार किए। किन्तु सांख्यों ने इन सब भावों को प्रकृति का धर्म माना है, अतः उन्हें यह मानना पड़ा कि, उन भावों के कारण बन्ध-मोक्ष आत्म-स्थानीय पुरुष का नहीं होता, परन्तु प्रकृति का ही होता है। जैन और सांख्य प्रक्रिया में यही भेद है। इस भेद की उपेक्षा करने के पश्चात् यदि जैनों और सांख्य की संसार एवं मोक्ष विषयक प्रक्रिया की समानता पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि दोनों की कर्म-प्रक्रिया में कुछ भी अन्तर नहीं है।

जैन-मतानुसार मोह, राग, द्वेष इन सब भावों के कारण अनादि काल से आत्मा के साथ पौद्गलिक कामर्ण शरीर का सम्बन्ध है। भावों व कामर्ण शरीर में बीजांकुरवत् कार्य-कारण भाव है। एक की उत्पत्ति में दूसरा कारण-रूप से विद्यमान रहता है, फिर भी अनादि काल से दोनों ही आत्मा के संसर्ग में आये हुए हैं। इस बात का निर्णय अशक्य है कि दोनों में प्रथम कौन है। इसी प्रकार सांख्य-मत में लिग-शरीर अनादि काल से पुरुष के संसर्ग में है। इस लिग-शरीर की उत्पत्ति राग, द्वेष, मोह जैसे भावों से होती है और भाव तथा लिग-शरीर में भी बीजांकुर के समान ही कार्य-कारण-भाव² है। जैसे जैन औदारिक (स्थूल) शरीर को कामर्ण शरीर से पृथक् मानते हैं, वैसे ही सांख्य भी लिग (सूक्ष्म) शरीर को स्थूल शरीर से भिन्न मानते³ हैं। जैनों के मत में स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर पौद्गलिक हैं, सांख्य-मत में ये

1. योग-दर्शन भाष्य 1.5; 2.3; 2.12; 2.13 तथा उसकी तत्त्ववैशारदी, भास्वति आदि टीकाएँ।

2. सांख्यका० 52 की माठर वृत्ति तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी।

3. सांख्यका० 39

दोनों ही प्राकृतिक हैं। जैन दोनों शरीरों को पुद्गल का विकार मानकर भी दोनों की वर्गणाओं को भिन्न-भिन्न मानते हैं। सांख्यों ने एक को तान्मात्रिक तथा दूसरे को माता-पितृ-जन्य माना है। जैनों के मत में मृत्यु के समय औदारिक शरीर छलम हो जाता है और जन्म के समय नवीन उत्पन्न होता है, किन्तु कामण शरीर मृत्यु के समय एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करता है और इस प्रकार विद्यमान रहता है। सांख्य मान्यता के अनुसार भी माता-पितृ-जन्य स्थूल शरीर मृत्यु के समय साथ नहीं रहता और जन्म के अवसर पर नया उत्पन्न होता है, किन्तु लिंग-शरीर कायम रहता है और एक जगह से दूसरी जगह गति करता¹ है। जैनों के अनुसार अनादि काल से सम्बद्ध कामण शरीर मोक्ष के समय निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार सांख्य-मत में भी मोक्ष के समय लिंग-शरीर की निवृत्ति हो जाती है²। जैनों के मत में कामण शरीर और राग, द्वेष आदि भाव अनादि काल से साथ-साथ ही हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सांख्य-मत में लिंग-शरीर भी भाव के बिना नहीं होता और भाव लिंग-शरीर के बिना नहीं होते³। जैन-मत में कामण शरीर प्रतिघात-रहित है, सांख्य-मत में लिंग-शरीर अव्याहृत गति वाला है, उसे कहीं भी रुकावट का सामना नहीं करना पड़ता⁴। जैन-मतानुसार कामण शरीर में उपभोग करने की शक्ति नहीं है, किन्तु औदारिक शरीर इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता है। सांख्य-मत में भी लिंग-शरीर उपभोग-रहित⁵ है।

यद्यपि सांख्य-मत में रागादि भाव प्रकृति के विकार हैं, लिंग-शरीर भी प्रकृति का विकार है और अन्य भौतिक पदार्थ भी प्रकृति के ही विकार हैं, तथापि इन सभी विकारों में विद्यमान जातिगत भेद से सांख्य इन्कार नहीं करते। उन्होंने तीन प्रकार के सर्ग माने हैं :— प्रत्यय सर्ग, तान्मात्रिक सर्ग, भौतिक सर्ग। राग-द्वेषादि भाव प्रत्यय सर्ग में समाविष्ट⁶ हैं, और लिंग-शरीर तान्मात्रिक सर्ग⁷ में। इसी प्रकार जैनों के मत में रागादि भाव पुद्गल-कृत ही हैं, कामण शरीर भी पुद्गल कृत है, परन्तु इन दोनों में मौलिक भेद है। भावों का उपादान कारण आत्मा है और निमित्त पुद्गल, जब कि कामण शरीर का उपादान पुद्गल है और निमित्त आत्मा। सांख्य-मत में प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष-संसर्ग के कारण चेतन के समान व्यवहार⁸ करती है। इसी प्रकार जैन-मत में पुद्गल द्रव्य अचेतन होकर भी जब आत्म-संसर्ग से कर्म-रूप में

1. माठरका० 44,40; योग-दर्शन में भी यह बात मान्य है—योगसूत्र-भाष्य-भास्वती 2.13
2. माठरवृत्ति 44
3. सांख्यका० 41
4. सांख्यतत्त्वकौ० 40
5. सांख्यका० 40
6. सांख्यका० 46
7. सांख्यत० कौ० 52
8. माठर-वृत्ति पृ० 9.14.33

परिणत होता है तब चेतन के सदृश ही व्यवहार करता है। जैनों ने संसारी आत्मा और शरीर आदि जड़-पदार्थों का ऐक्य क्षीर-नीर-तुल्य स्वीकार किया है। इसी प्रकार सांख्यों ने पुरुष एवं शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि जड़-पदार्थों का ऐक्य क्षीर-नीर के समान ही माना है¹।

जैन-सम्मत भाव-कर्म की तुलना सांख्य-सम्मत भावों² से, योग की तुलना वृत्ति³ से और द्रव्य-कर्म अथवा कार्मण शरीर की तुलना लिंग-शरीर से की जा सकती है। जैन तथा सांख्य दोनों ही कर्म-फल अथवा कर्म-निष्पत्ति में ईश्वर जैसे किसी कारण को स्वीकार नहीं करते।

जैन-मतानुसार आत्मा वस्तुतः मनुष्य, पशु, देव, नारक इत्यादि रूप नहीं है, प्रत्युत आत्माधिष्ठित कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर मनुष्य, देव, नारक इत्यादि रूपों का निर्माण करता है। सांख्य-मत में भी लिंग-शरीर पुरुषाधिष्ठित होकर मनुष्य, देव, तिर्यञ्च रूप भूतसर्ग का निर्माण करता⁴ है।

जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन में भी यह बात मानी गई है कि जीवों की विचित्रता कर्म-कृत⁵ है। जैनों के सदृश ही बौद्धों ने भी लोभ (राग), द्वेष और मोह को कर्म की उत्पत्ति का कारण स्वीकार किया है। राग, द्वेष और मोह युक्त होकर प्राणी (सत्त्व) मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ करता है और राग, द्वेष, मोह को उत्पन्न करता है। इस प्रकार संसार-चक्र चलता रहता⁶ है। इस चक्र का कोई आदि काल नहीं है, यह अनादि⁷ है। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि, जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है? आचार्य ने उत्तर दिया कि, यह दिखलाया नहीं जा सकता कि कर्म कहाँ रहते⁸ हैं। विसुद्धिमग्ग में कर्म को अरूपी कहा गया है (17.110), किन्तु अभिधर्म-कोष में वह अविज्ञप्ति रूप है (1.9) और यह रूप सप्रतिष न होकर अप्रतिष है। सौत्रान्तिक-मत में कर्म का समावेश अरूप में है। वे अविज्ञप्ति⁹ नहीं मानते। इससे ज्ञात होता है कि, जैनों के समान बौद्धों ने भी कर्म को सूक्ष्म माना है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति भी कर्म कहलाती हैं किन्तु वह विज्ञप्ति-रूप अथवा प्रत्यक्ष हैं।

1. माठर-वृत्ति पृ० 29, का० 17

2. सांख्यका० 40

3. सांख्यका० 28,29,30

4. माठरका० 40,44,53

5. भासितं पेतं महाराज भगवता—कम्मस्सका माणव, सत्ता, कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्म-बन्ध, कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति, यदिदं हीनपणीततायाति ।” मिलिन्द० 3,2; कर्मजं लोकवैचित्त्यं—अभिधर्म कोष 4.1

6. अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात सूत्र 33.1, भाग 1 पृ० 134

7. संयुत्तनिकाय 15.5.6 (भाग 2) पृ० 181-82

8. न सक्का महाराज तानि कम्मामि दस्सेतुं इध वा इध वा तानि कम्मामि तिट्ठन्तीति । मिलिन्दप्रश्न 3-15 पृ० 75

9. नवमी ओरियंटल कॉन्फ्रेंस पृ० 620

अर्थात् यहाँ कर्म का अभिप्राय मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं अपितु प्रत्यक्ष कर्म-जन्य संस्कार है। बौद्ध-परिभाषा में उसे वासना और अविज्ञप्ति कहते हैं। मानसिक क्रिया-जन्य-संस्कार (कर्म) को वासना और वचन एवं काय-जन्य-संस्कार (कर्म) को अविज्ञप्ति¹ कहते हैं।

यदि तुलना करना चाहें तो कह सकते हैं कि, बौद्ध-सम्मत कर्म के कारणभूत राग, द्वेष एवं मोह जैन-सम्मत भाव-कर्म हैं, मन, वचन, काय का प्रत्यक्ष-कर्म जैन-मत में योग है और इस प्रत्यक्ष-कर्म से उत्पन्न वासना तथा अविज्ञप्ति द्रव्य-कर्म हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से प्रतिपादित करते हैं। प्रज्ञाकर का कथन है कि, जितने भी कार्य हैं, वे सब वासना-जन्य हैं। ईश्वर हो अथवा कर्म (क्रिया), प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सबका मूल वासना ही है। न्यायी ईश्वर को मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाये तो भी वासना को स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता। अर्थात् ईश्वर, प्रधान, कर्म इन सब नदियों का प्रवाह वासना-समुद्र में मिलकर एक हो जाता है²।

शून्यवादी मत में माया अथवा अनादि अविद्या का ही दूसरा नाम वासना है। वेदान्त मत में भी विश्व वैचिह्य का कारण अनादि अविद्या अथवा माया है³।

मीमांसकों ने यागादि कर्म-जन्य अपूर्व नाम के एक पदार्थ की सत्ता स्वीकार⁴ की है। उनकी वे यह युक्ति देते हैं :—मनुष्य जो कुछ अनुष्ठान करता है वह क्रिया-रूप होने के कारण क्षणिक होता है, अतः उस अनुष्ठान से अपूर्व नामक पदार्थ का जन्म होता है; जो यागादि-कर्म अनुष्ठान का फल प्रदान करता है। कुमारिल ने इस अपूर्व पदार्थ की व्याख्या करते हुए कहा है कि, अपूर्व का अर्थ है योग्यता। जब तक यागादि-कर्म का अनुष्ठान नहीं किया जाता, तब तक वे यागादि-कर्म और पुरुष दोनों ही स्वर्ग-रूप फल उत्पन्न करने में असमर्थ (अयोग्य) होते हैं, परन्तु अनुष्ठान के पश्चात् एक ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिस से कर्ता को स्वर्ग का फल मिलता है। इस विषय में आग्रह नहीं करना चाहिए कि यह योग्यता पुरुष की है अथवा यज्ञ की। इतना जानना पर्याप्त है कि वह उत्पन्न होती⁵ है।

अन्य दार्शनिक जिसे संस्कार, योग्यता, सामर्थ्य, शक्ति कहते हैं, उसे मीमांसक अपूर्व शब्द के प्रयोग से व्यक्त करते हैं परन्तु वे यह अवश्य मानते हैं कि, वेद-विहित कर्म से

1. अभिधर्मकोष चतुर्थ परिच्छेद; Keith : Buddhist philosophy p. 203.
2. प्रमाणवातिकालंकार पृ० 75, न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की टिप्पणी पृ० 177-78 में उद्धृत।
3. ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य 2.1.14
4. शाबर-भाष्य 2.1.5; तन्त्रवार्तिक 2.1.5; शास्त्रदीपिका पृ० 80
5. कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा। योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते ॥ तन्त्रवा० 2.1.5

जिस संस्कार अथवा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसी को अपूर्व कहना चाहिए, अन्य कर्म-जन्य संस्कार अपूर्व¹ नहीं हैं।

मीमांसक यह भी मानते² हैं कि, अपूर्व अथवा शक्ति का आश्रय आत्मा है और आत्मा के समान अपूर्व भी अमूर्त³ है।

मीमांसकों के इस अपूर्व की तुलना जैनों के भाव-कर्म से इस दृष्टि से की जा सकती है कि दोनों को अमूर्त माना गया⁴ है। वस्तुतः अपूर्व जैनों के द्रव्य-कर्म के स्थान पर है। मीमांसक इस क्रम को मानते हैं :—कामना-जन्य कर्म—यागादि-प्रवृत्ति और यागादि-प्रवृत्ति-जन्य अपूर्व। अतः काम या तृष्णा को भाव-कर्म, यागादि-प्रवृत्ति को जैन-सम्मत योग-व्यापार और अपूर्व को द्रव्य-कर्म कहा जा सकता है। पुनश्च, मीमांसकों के मतानुसार अपूर्व एक स्वतन्त्र पदार्थ है, अतः यही उचित प्रतीत होता है कि उसे द्रव्य-कर्म के स्थान पर माना जाए। यद्यपि द्रव्य कर्म अमूर्त नहीं है, तथापि अपूर्व के समान अतीन्द्रिय तो है ही।

कुमारिल इस अपूर्व के विषय में भी एकान्त आग्रह नहीं करते। यज्ञ-फल को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपूर्व का समर्थन तो किया है, किन्तु इस कर्म-फल की उत्पत्ति अपूर्व के बिना भी उन्होंने स्वयं की है। उनका कथन है कि, कर्म द्वारा फल ही सूक्ष्म शक्ति रूप से उत्पन्न हो जाता है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति हठात् नहीं होती, किन्तु वह शक्ति-रूप में सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म होकर बाद में स्थूल-रूप से प्रकट होता है। जिस प्रकार दूध में खटाई मिलाते ही दही नहीं बन जाता, परन्तु अनेक प्रकार के सूक्ष्म-रूपों को पारकर वह अमुक समय में स्पष्ट रूप से दही के आकार में व्यक्त होता है, उसी प्रकार यज्ञ-कर्म का स्वर्गादि फल अपने सूक्ष्म-रूप में तत्काल उत्पन्न होकर, बाद में काल का परिपाक होने पर स्थूल-रूप से प्रकट⁵ होता है।

शंकराचार्य ने मीमांसक-सम्मत इस अपूर्व की कल्पना अथवा सूक्ष्म शक्ति की कल्पना का खण्डन किया है और यह बात सिद्ध की है कि, ईश्वर कर्मानुसार फल प्रदान करता है। उन्होंने इस पक्ष का समर्थन किया है कि, फल की प्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है⁶।

कर्म के स्वरूप की इस विस्तृत विचारणा का सार यही है कि, भाव-कर्म के विषय में किसी भी दार्शनिक को आपत्ति नहीं है। सभी के मत में राग, द्वेष और मोह भाव-कर्म अथवा कर्म के कारण रूप हैं। जैन जिसे द्रव्य-कर्म कहते हैं, उसी को अन्य दार्शनिक कर्म कहते हैं। संस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, माया, अपूर्व इसी के नाम हैं। हम यह देख चुके हैं कि, वह

1. तन्त्रवातिक पृ० 395-96

2. तन्त्रवा० पृ० 398; शास्त्रदीपिका पृ० 80

3. तन्त्रवा० पृ० 398

4. न्यायावतारवातिक में मैंने इस दृष्टि से तुलना की है। टिप्पणी पृ० 181

5. सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते—तन्त्रवा० पृ० 395

6. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य 3 2.38-41

पुद्गल द्रव्य है, गुण है, धर्म है अथवा अन्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य है। इस विषय में दार्शनिकों का मतभेद तो है, परन्तु वस्तु के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं है। अब हम इस कर्म अथवा द्रव्य-कर्म के भेद आदि पर विचार करेंगे।

(9) कर्म के प्रकार :

दार्शनिकों ने विविध प्रकार से कर्म के भेद किए हैं, परन्तु पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म रूप भेद सभी दर्शनों को मान्य हैं। अतः हम कह सकते हैं कि, कर्म के पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ रूप भेद प्राचीन हैं और कर्म-विचारणा के प्रारम्भिक काल में यही दो भेद हुए होंगे। प्राणी जिस कर्म के फल का अनुकूल अनुभव करता है वह पुण्य है और जिस फल को प्रतिकूल समझता है वह पाप है। इस प्रकार के भेद उपनिषद्¹, जैन², सांख्य³, बौद्ध⁴, योग⁵, न्याय-वैशेषिक⁶ इन सब दर्शनों में दृष्टिगोचर होते हैं। फिर भी वस्तुतः सभी दर्शनों ने पुण्य एवं पाप इन दोनों ही कर्मों को बन्धन ही माना है और इन दोनों से मुक्त होना अपना ध्येय निश्चित किया है। फलतः विवेकशील व्यक्ति कर्म-जन्य अनुकूल वेदना को भी सुखरूप न मानकर दुःखरूप ही स्वीकार करते हैं⁷।

कर्म के पुण्य, पाप रूप दो भेद वेदना की दृष्टि से किये गये हैं, किन्तु वेदना के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी कर्म के भेद किये जाते हैं। वेदना के नहीं किन्तु कर्म को अच्छा और बुरा समझने की दृष्टि को सन्मुख रखकर बौद्ध और योग-दर्शन⁸ में कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण, तथा अशुक्लाकृष्ण नामक चार भेद किये गये हैं। कृष्ण पाप है, शुक्ल पुण्य है, शुक्ल कृष्ण पुण्य-पाप का मिश्रण है और अशुक्लाकृष्ण इन दोनों में से कोई भी नहीं; क्योंकि यह कर्म वीतराग पुरुषों का ही होता है। इसका विपाक न सुख है और न ही दुःख। कारण यह है कि उनमें राग-द्वेष नहीं होता⁹।

इसके अतिरिक्त कृत्य, पाकदान और पाककाल की दृष्टि से भी कर्म के भेद किये गये हैं। बौद्धों के अभिधर्मकोश और विशुद्धिमार्ग में समान¹⁰ रूप से कृत्य की दृष्टि से चार, पाकदान की दृष्टि से चार और पाककाल की दृष्टि से चार इस प्रकार बारह प्रकार के कर्म का

1. बृहदारण्यक 3.2 13; प्रश्न. 3.7
2. पंचम कर्मग्रन्थ गा० 15-77; तत्त्वार्थ 8.21
3. सांख्यका० 44
4. विसुद्धिमग्ग 17.88
5. योग-सूत्र 2.14; योग-भाष्य 2.12
6. न्यायमञ्जरी पृ० 472; प्रणस्तपाद पृ० 637, 643
7. परिणामतापसस्कारदुःखं गुणवृत्तिविरोधात् च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। योग-सूत्र 2.15
8. योग-दर्शन 4.7; दीघनिकाय 3 1.2; बुद्धचर्या पृ० 496
9. योग-दर्शन 4 7
10. अभिधर्ममत्थ संग्रह 5.19; विसुद्धिमग्ग 19.14-16 इन भेदों की चर्चा आगे की जाएगी।

वर्णन है, किन्तु अभिधर्म में पाकस्थान की दृष्टि से चार भेद अधिक प्रतिपादित किये गये हैं। योग-दर्शन¹ में भी इन दृष्टियों के आधार पर कर्म सम्बन्धी सामान्य विचारणा है, किन्तु गणना बौद्धों से भिन्न है। इन सब बातों के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि, एक प्रकार से नहीं अपितु अनेक प्रकार से कर्मों के भेद का व्यवस्थित वर्गीकरण जैसा जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

जैन-शास्त्रों में कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव की दृष्टि से कर्म के आठ मूल भेदों का वर्णन है :- ज्ञानावरण, दशनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ मूल भेदों की अनेक उत्तर-प्रकृतियों का विविध जीवों की अपेक्षा से विविध प्रकार से निरूपण भी वहाँ उपलब्ध होता है। बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि की दृष्टि से किस जीव में कितने कर्म होते हैं, उन का वर्गीकृत व्यवस्थित प्रतिपादन भी वहाँ दृग्गोचर होता है। यहाँ इन सब बातों का विस्तार अनावश्यक है, जिज्ञासु उसे अन्यत्र देख सकते हैं²।

(10) कर्म-बन्ध के प्रबल कारण :

योग और कषाय दोनों ही कर्म-बन्धन के कारण गिने गये हैं, किन्तु इन दोनों में प्रबल कारण कषाय ही है। यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। किन्तु आत्मा के इन कषायों की अभिव्यक्ति मन, वचन और काय से ही होती है। इन तीनों में से किसी एक का आश्रय लिए बिना कषायों के व्यक्त होने का अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि मन, वचन, काय इन तीनों में कौन-सा आलम्बन प्रबल है ?

मन एव मनुष्येषां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं भुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

ब्रह्मविन्दु उपनिषद् (2) के उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि, मन ही प्रबल कारण है। काय और वचन की प्रवृत्ति में मन सहायक माना गया है। यदि मन का सहयोग न हो तो वचन अथवा काय की प्रवृत्ति अव्यवस्थित होती है, अतः उपनिषद् के अनुसार मन, वचन, काय में मन की ही प्रबलता है। इसीलिए अर्जुन ने कृष्ण को कहा, 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण'³ इस चंचल मन को वश में करना सरल नहीं है। जब तक इसका सर्वथा क्षय न हो जाए, इसका निरोध जारी रहना चाहिए। जब आत्मा मन का पूर्ण निरोध कर लेती है, तब ही वह परमपद को प्राप्त करती है⁴। जैनों के समान उपनिषदों में इस मन को दो प्रकार का माना गया है—शुद्ध और अशुद्ध। काम या संकल्प रूप मन अशुद्ध है और उससे रहित शुद्ध⁵। अशुद्ध मन संसार

1. योग-सूत्र 2.12-14
2. कर्मग्रन्थ 1-6; गोमट्टसार कर्मकाण्ड
3. भगवद् गीता 6.34
4. तावदेव निरोद्धव्य यावद् हृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ब्रह्मवि० 5
5. ब्रह्मविन्दु 1

का साधन है और शुद्ध मन मोक्ष का। जैन मान्यतानुसार जब तक कषाय का नाश नहीं हो जाता, तब तक अशुद्ध मन विद्यमान रहता है। क्षीण कषाय वीतराग छद्गस्थ गुणस्थानक नामक बारहवें गुणस्थान में और बाद में शुद्ध मन होता है। केवली सर्वप्रथम इसका निरोध करता है और तत्पश्चात् वचन एवं काय का निरोध करता¹ है। इससे सिद्ध होता है कि, जब तक मन का निरोध न हो जाए, तब तक वचन और काय के निरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वचन और काय का संचालक बल मन है। इम बल के समाप्त होने पर वचन और काय निर्बल हो कर निरुद्ध हो जाते हैं। अतः मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों में जैनों ने मन की वृत्ति को प्रबल माना है। हिंसा-अहिंसा के विचार में भी काय-योग अथवा वचन-योग के स्थान पर मानसिक अध्यवसाय, राग तथा द्वेष को ही कर्म-बन्ध का मुख्य कारण माना है। इस बात की चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ में भी है², अतः यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं है। ऐसा होने पर भी बौद्धों ने जैनों पर आक्षेप किया है कि, जैन काय-कर्म अथवा काय-दण्ड को ही महत्त्व प्रदान करते हैं। यह उनका भ्रम³ है। इस भ्रम का कारण साम्प्रदायिक विद्वेष तो है ही, इम के अतिरिक्त जैनों के आचार-नियमों में बाह्याचार पर जो अधिक जोर दिया गया है, वह भी इस भ्रांति का उत्पादक है। जैनों ने इस विषय में बौद्धों का जो खण्डन किया है, उससे भी यह प्रतीति सम्भव है कि, शायद जैन बौद्धों के समान मन को प्रबल कारण नहीं मानते, अन्यथा वे बौद्धों के इस मत का खण्डन क्यों करें⁴ ?

यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि जैनों के समान बौद्ध भी मन को ही कर्म का प्रधान कारण मानते हैं। उपालि सुत्त में बौद्धों के इस मन्तव्य का स्पष्ट उल्लेख है। धम्मपद की निम्नलिखित प्रथम गाथा से भी इसी मत की पुष्टि होती है :—

‘मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोऽया ।

मनसा चे पबुद्धेन भावति वा करोति वा ।

ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ॥’

ऐसी वस्तु स्थिति में भी बौद्ध टीकाकारों ने हिंसा-अहिंसा की विचारणा करते हुए आगे जाकर जो विवेचन किया है, उसमें मन के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों का समावेश कर दिया। फलतः इस मूल मन्तव्य के विषय में उनका अन्य दार्शनिकों के साथ जो एकमत था, वह स्थिर नहीं रह सका⁵।

1. विशेषावश्यक 3059-3064

2. गाथा 1762-68

3. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त 2.2.6

4. सूत्रकृतांग 1.1.2.24-32; 2.6.26-28; विशेष जानकारी के लिए ज्ञानबिन्दु की प्रस्तावना देखें—पृ० 30-35, टिप्पण पृ० 80-7।

5. विनय की अट्टकथा में प्राणातिपात सम्बन्धी विचार देखें। बौद्धों के ये वाक्य भी विचारणीय हैं :—

प्राणी प्राणीज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा ।

प्राणंश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ।

(11) कर्मफल का क्षेत्र :

कर्म के नियम की मर्यादा क्या है ? अर्थात् यहाँ इस बात पर विचार करना भी आवश्यक है कि, जीव और जड़-रूप दोनों प्रकार की सृष्टि में कर्म का नियम सम्पूर्णतः लागू होता है अथवा उसकी कोई मर्यादा है ? एक-मात्र काल, ईश्वर, स्वभाव आदि को कारण मानने वाले जिस प्रकार समस्त कार्यों में काल या ईश्वर आदि को कारण मानते हैं, उसी प्रकार क्या कर्म भी सभी कार्यों की उत्पत्ति में कारण-रूप है अथवा उसकी कोई सीमा है ? जो वादी केवल एक चेतन तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, उनके मत में कर्म, अदृष्ट अथवा माया समस्त कार्यों में साधारण निमित्त कारण है। विश्व की विचित्रता का आधार भी यही है। नैयायिक, वैशेषिक केवल एक तत्त्व से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति नहीं मानते, फिर भी वे समस्त कार्यों में कर्म या अदृष्ट को साधारण कारण मानते हैं। अर्थात् जड़ एवं चेतन के समस्त कार्यों में अदृष्ट एक साधारण कारण है। चाहे सृष्टि जड़-चेतन की हो, परन्तु वे यह बात स्वीकार करते हैं कि वह चेतन के प्रयोजन की सिद्धि में सहायक है, अतः इसमें चेतन का अदृष्ट निमित्त कारण है।

बौद्ध-दर्शन की मान्यता है कि, कर्म का नियम जड़-सृष्टि में काम नहीं करता। यही नहीं, उनके मतानुसार जीवों की सभी प्रकार की वेदना का भी कारण कर्म नहीं है। मिलिन्दप्रश्न में जीवों की वेदना के आठ कारण बताए गये हैं :—वात, पित्त, कफ, इन तीनों का सन्निपात, ऋतु, विषमाहार, औषकमिक और कर्म। जीव इन आठ कारणों में से किसी भी एक कारण के फल-स्वरूप वेदना का अनुभव करता है। आचार्य नागसेन ने कहा है कि, वेदना के उपर्युक्त आठ कारणों के होने पर भी जीवों की सम्पूर्ण वेदना का कारण कर्म को ही मानना मिथ्या है। वस्तुतः जीवों की वेदना का अत्यन्त अल्प भाग पूर्वकृत कर्म के फल का परिणाम है, अधिकतर भाग का आधार अन्य कारण हैं। कौन-सी वेदना किस कारण का परिणाम है, इस बात का अन्तिम निर्णय भगवान् बुद्ध ही कर सकते हैं¹। जैन मतानुसार भी कर्म का नियम आध्यात्मिक-सृष्टि में लागू होता है। भौतिक-सृष्टि में यह नियम अकिञ्चित्कर है। जड़-सृष्टि का निर्माण उसके अपने ही नियमानुसार होता है। जीव-सृष्टि में विविधता का कारण कर्म का नियम है। जीवों के मनुष्य, देव, तिर्यञ्च, नारकादि विविध रूप, शरीरों की विविधता, जीवों के सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, चारित्र्य, यचारित्र्य आदि भाव-कर्म के नियमानुसार हैं। किन्तु भूकम्प जैसे भौतिक कार्यों में कर्म के नियम का लेश-मात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। जब हम जैन-शास्त्रों में प्रतिपादित कर्म की मूल और उत्तर-प्रकृतियों तथा उनके विपाक पर विचार करते हैं, तो यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है²।

(12) कर्मबन्ध और कर्मफल की प्रक्रिया :

जैन-शास्त्रों में इस बात का सुव्यवस्थित वर्णन है कि, आत्मा में कर्म-बन्ध किस प्रकार होता है और वद्व कर्मों की फल-क्रिया कैसी है। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में उपनिषद् तक के

1. मिलिन्दप्रश्न 4 : 62, पृ० 137

2. छोटे कर्मग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद में पं० फूलचन्द जी की प्रस्तावना देखें— पृ० 43

साहित्य में इस सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं है। योग-दर्शन-भाष्य में विशेष-रूप से इसका वर्णन है। अन्य दार्शनिक-टीका ग्रन्थों में इसके सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह नगण्य है, अतः यहाँ इस प्रक्रिया का वर्णन जैन-ग्रन्थों के आधार पर ही किया जाएगा। तुलना-योग्य विषयों का निर्देश भी उचित स्थान पर किया जाएगा।

लोक में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओं का अस्तित्व न हो। जब संसारी जीव अपने मन, वचन, काय से कुछ भी प्रवृत्ति करता है, तब कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओं के स्कन्धों का ग्रहण सभी दिशाओं से होता है। किन्तु इसमें क्षेत्र-मर्यादा यह है कि, जितने प्रदेश में आत्मा होती है, वह उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणु-स्कन्धों का ग्रहण करती है, दूसरों का नहीं। प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा अधिक होने पर परमाणुओं की अधिक संख्या का ग्रहण होता है और कम होने पर कम संख्या का। इसे प्रदेश-बन्ध कहते हैं। गृहीत परमाणुओं का भिन्न-भिन्न ज्ञानावरण आदि प्रकृति-रूप में परिणत होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है। इस प्रकार जीव के योग के कारण परमाणु-स्कन्धों के परिमाण और उनकी प्रकृति का निश्चय होता है। इन्हें ही क्रमशः प्रदेश-बन्ध और प्रकृति-बन्ध कहते हैं। तत्पश्चात् आत्मा अमूर्त है, परन्तु अनादि काल से परमाणु-पुद्गल के सम्पर्क में रहने के कारण वह कथञ्चित् मूर्त है। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन दूध एवं जल अथवा लोहे के गोले और अग्नि के सम्बन्ध के समान किया गया है। अर्थात् एक-दूसरे के प्रदेशों में प्रवेश कर आत्मा और पुद्गल अवस्थित रहते हैं। सांख्यों ने भी यह स्वीकार किया है कि, संसारावस्था में पुरुष और प्रकृति का बन्ध दूध और पानी के सद्भूत एकीभूत है। नैयायिक और वैशेषिकों ने आत्मा तथा धर्माधर्म का सम्बन्ध संयोगमात्र न मानकर समवाय-रूप माना है। उसका कारण भी यही है कि वे दोनों एकीभूत जैसे ही हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् कर बताया नहीं जा सकता, केवल लक्षण भेद से पृथक् समझा जा सकता है।

गृहीत परमाणुओं में कर्म-विपाक के काल और सुख-दुःख-विपाक की तीव्रता और मन्दता का निश्चय आत्मा की प्रवृत्ति अथवा योग-व्यापार में कषाय की मात्रा के अनुसार होता है। इन्हें क्रमशः स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध कहते हैं। यदि कषाय की मात्रा न हो तो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते। जिस प्रकार सूखी दीवार पर धूल चिपकती नहीं है, केवल उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है; उसी प्रकार आत्मा में कषाय की सिन्धता के अभाव में कर्म-परमाणु उससे सम्बद्ध नहीं हो सकते। सम्बद्ध न होने के कारण उनका अनुभाग अथवा विपाक भी नहीं हो सकता। योगदर्शन में भी बलेश-रहित योगी के कर्म को अशुक्लाकृष्ण माना गया है। उसका तात्पर्य भी यही है। बौद्धों ने क्रिया-चेतना के सद्भाव में अहंत् में कर्म की सत्ता अस्वीकार की है। इसका भावार्थ भी यही है कि, वीतराग नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता। जैन जिसे ईर्यापथ अथवा असाम्परायिक क्रिया मानते हैं, उसे बौद्ध क्रिया-चेतना कहते हैं।

कर्म के उक्त चार प्रकार के बन्ध हो जाने के पश्चात् तत्काल ही कर्म-फल मिलना प्रारम्भ नहीं हो जाता। कुछ समय तक फल प्रदान करने की शक्ति का सम्पादन होता रहता

है। चूल्हे पर रखते ही कोई भी चीज पक नहीं जाती, जैसी वस्तु ही उसी के अनुसार उसके पकने में मर्यादा जाता है। इसी प्रकार विविध कर्मों का पाककाल भी एक जैसा नहीं है। कर्म के इस पाक योग्यता-काल को जैन-परिभाषा में 'आबाधाकाल' कहते हैं। कर्म के इस आबाधा-काल के व्यतीत होने पर ही कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं। इसे ही कर्म का उदय कहते हैं। कर्म की जितनी स्थिति का बन्ध हुआ हो, उतनी अवधि में कर्म के परमाणु क्रमशः उदय में आते हैं और फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाते हैं। इसे कर्म की निर्जरा कहते हैं। जब आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते हैं, तब जीव मुक्त हो जाता है।

यह कर्म-बन्ध प्रक्रिया और कर्म-फल-प्रक्रिया की सामान्य रूपरेखा है। यहाँ इनकी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है।

(13) कर्म का कार्य अथवा फल :

सामूहिक रूप से कर्म का कार्य यह है कि जब तक कर्म-बन्ध का अस्तित्व है, तब तक जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। समस्त कर्मों की निर्जरा होने पर ही मोक्ष होता है। कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ ये हैं :— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र।

इनमें से प्रथम चार घाती कहलाती हैं। इसका कारण यह है कि, इन से आत्मा के गुणों का घात होता है। अन्तिम चार अघाती हैं। इनसे आत्मा के किसी गुण का घात नहीं होता, परन्तु ये आत्मा को वह स्वरूप प्रदान करते हैं जो उसका वास्तविक नहीं है। सारांश यह है कि, घाती कर्म आत्मा के स्वरूप का घात करते हैं और अघाती कर्म उसे वह रूप देते हैं जो उस का निजी नहीं है।

ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञान-गुण का घात करता है और दर्शनावरण दर्शन गुण का। दर्शन-मोहनीय से तत्त्वज्ञि अथवा सध्यक्ष्व गुण का घात होता है और चारित्र-मोहनीय से परमसुख अथवा सम्यक् चारित्र का। अन्तराय वीर्यं दिशक्ति के प्रतिघात का कारण है। इस तरह घाती कर्म आत्मा की विविध शक्तियों का घात करते हैं।

वेदनीय कर्म आत्मा में अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदना के आविर्भाव का कारण है। आयु कर्म द्वारा आत्मा नारकादि विविध भवों की प्राप्ति और स्थिति करता है। जीवों को विविध गति, जाति, शरीर आदि की उपलब्धि नाम कर्म के कारण होती है। जीवों में उच्चत्व नीचत्व गोत्र कर्म के कारण उत्पन्न होता है।

उक्त आठ मूल प्रकृतियों के उत्तर भेदों की संख्या बन्ध की अपेक्षा से 120 है। ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो, मोहनीय के छवीस, आयु के चार, नाम के सडसठ, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्ययज्ञानावरण और केवल-ज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण हैं। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्थानादि ये नव दर्शनावरण हैं। सात और असात दो प्रकार का वेदनीय होता है। मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ;

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—ये 16 कपाय, स्त्री, पुरुष, नपुंसक ये तीन वेद; तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह हास्यादि षट्क; इस प्रकार नव नोरुपाय ये सब मिलकर मोहनीय के 26 भेद हैं। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये आयु के चार प्रकार हैं। नाम कर्म के 67 भेद ये हैं :—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव ये चार गति; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय ये पाँच जाति; आहारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कर्मण ये पाँच शरीर; आहारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों के अंगोपांग; वज्रकृषभनाराच संहनन, कृषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, सेवार्त संहनन ये छह संहनन; समचतुरस्र, त्र्यग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन, हुण्ड ये छह संस्थान; वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये वर्णादि चार; नारकादि चार आनुपूर्वी; प्रशस्त एवं अप्रशस्त दो विहायोगति; परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थ, निर्माण, उपघात ये आठ प्रत्येक प्रकृति; त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति ये त्रस दशक; और इसके विपरीत स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, असुभग, दुःस्वर, अनदेय, अयशःकीर्ति ये स्थावर दशक। गोत्र के दो भेद हैं—उच्च गोत्र, नीच गोत्र। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय ये पाँच अन्तराय के भेद हैं।

मिथ्यात्व मोह का ऊपर एक भेद गिना है, यदि उसके तीन भेद गिने जाएँ तो उदय और उदीरणा की अपेक्षा से 122 प्रकृति होती है। इसका कारण यह है कि बन्ध तो एक मिथ्यात्व का होता है, किन्तु जीव अपने अद्यवसाय द्वारा उसके तीन पुञ्ज (समूह) कर लेता है—अशुद्ध, अर्ध-विशुद्ध और शुद्ध। उन्हें कम से मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व कहते हैं। अतः बन्ध एक होते हुए भी उदय तथा उदीरणा की अपेक्षा से तीन प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। अतः उदय और उदीरणा की अपेक्षा से 120 के स्थान में 122 प्रकृतियाँ हैं, किन्तु कर्म की सत्ता की दृष्टि से नाम कर्म के उत्तर भेद 67 की जगह 93 मानें तो 148 और 103 मानें तो वे 158 हो जाती हैं।

ऊपर वर्णन की गई नाम-कर्म की 67 प्रकृतियों में पाँच बन्धन, पाँच संघात ये दस और वर्ण चतुष्क की जगह उसके बीस उपभेद गिनें तो 16—इस प्रकार कुल 26 और मिलाने से 93 भेद होते हैं। यदि पाँच बन्धन के स्थान में पनरह बन्धन मानें तो 103 भेद होते हैं।

इन सब प्रकृतियों का वर्गीकरण पुण्य एवं पाप में किया गया है। इस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ में निर्देश है, अतः यहाँ उसका विवेचन अनावश्यक¹ है।

इसके अतिरिक्त इनके दो विभाग और किये गये हैं—ध्रुव-बन्धिनी और अध्रुव-बन्धिनी। जो प्रकृतियाँ बन्ध हेतु के होने पर भी आवश्यक रूप से बन्ध में नहीं आती, उन्हें अध्रुवबन्धिनी कहते हैं और जो हेतु के अस्तित्व में अवश्य ही बद्ध होती हैं उन्हें ध्रुवबन्धिनी² कहते हैं।

1. गाथा 1946

2. पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 1-4

उक्त प्रकृतियों का एक और रीति से भी विभाजन किया गया है :—ध्रुवोदया और अध्रुवोदया । जिनका उदय स्वोदय-व्यवच्छेद काल पर्यन्त कभी भी विच्छिन्न नहीं होता वे ध्रुवोदया और जिनका उदय विच्छिन्न हो जाता है और जो फिर उदय में आती हैं उन्हें अध्रुवोदया¹ कहते हैं ।

सम्यक्त्व आदि गुणों की प्राप्ति होने से पूर्व उक्त प्रकृतियों में से जो प्रकृतियाँ समस्त संसारी जीवों में विद्यमान होती हैं, उन्हें ध्रुवसत्ताका और जो नियमतः विद्यमान नहीं होतीं, उन्हें अध्रुवसत्ताका कहते हैं² ।

उक्त प्रकृतियों के दो विभाग इस प्रकार भी किये जाते हैं :—अन्य प्रकृति के बन्ध अथवा उदय किंवा इन दोनों को रोककर जिस प्रकृति का बन्ध अथवा उदय किंवा दोनों हों, उसे परावर्तमाना और जो इससे विपरीत हो वह अपरावर्तमाना कहलाती है³ ।

उक्त प्रकृतियों में से कुछ ऐसी हैं जिनका उदय उस समय ही होता है जब जीव नवीन शरीर को धारण करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रहा हो । अर्थात् उनका उदय विग्रह-गति में ही होता है । ऐसी प्रकृतियों को क्षेत्र-विपाकी कहते हैं । कुछ ऐसी प्रकृतियाँ हैं जिनका विपाक जीव में होता है, उन्हें जीव-विपाकी कहते हैं । कुछ प्रकृतियों का विपाक नर-नारकादि भव-सापेक्ष है, उन्हें भव-विपाकी कहते हैं । कुछ का विपाक जीव-सम्बद्ध शरीरादि पुद्गलों में होता है, उन्हें पुद्गल-विपाकी कहते हैं⁴ ।

जिस जन्म में कर्म का बन्धन हुआ हो उसी में ही उसका भोग हो, यह कोई नियम नहीं है, किन्तु उसी जन्म में अथवा अन्य जन्म में किंवा दोनों में कृत-कर्म को भोगना पड़ता⁵ है ।

जैन-दृष्टि के आधार पर जिस वस्तुस्थिति का ऊपर वर्णन किया गया है, उसकी तुलना में अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध मान्यताओं का भी यहाँ उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है ।

योग-दर्शन में कर्म का विपाक तीन प्रकार का बताया गया है :—जाति, आयु, और भोग⁶ । जैन-सम्मत नाम-कर्म के विपाक की तुलना योग-सम्मत जाति-विपाक से, आयु-कर्म के विपाक की तुलना आयु-विपाक से की जा सकती है । योग-दर्शन के अनुसार भोग का अर्थ है—सुख, दुःख और मोह⁷, अतः जैन-सम्मत वेदनीय-कर्म के विपाक की इस भोग से तुलना सम्भव है । योग-दर्शन में मोह का अर्थ व्यापक है, उसमें अप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति दोनों का समावेश है । अतः जैन-सम्मत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय कर्म के विपाक योग-दर्शन-सम्मत मोहनीय के सदृश हैं ।

1. पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 6-7

2. पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 8-9

3. पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 18-19

4. पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 19-21

5. स्थानांग सूत्र 77

6. योग-दर्शन 2.13

7. योगभाष्य 2.13

विपाक के सम्बन्ध में जैन-मत में जैसे प्रत्येक कर्म का विपाक नियत है, वैसे योग-दर्शन में नियत नहीं है। योग-मत के अनुसार संचित समस्त कर्म मिलकर उक्त जाति, आयु, भोग-रूप विपाक का कारण बनते हैं¹।

न्यायवातिककार ने कर्म के विपाक-काल को अनियत वर्णित किया है। यह कोई नियम नहीं है कि, कर्म का फल इसी लोक में या परलोक में अथवा जात्यन्तर में ही मिलता है। कर्म अपना फल उसी दशा में देते हैं जब सहकारी कारणों का सन्निधान हो तथा सन्निहित कारणों में भी कोई प्रतिबन्धक न हो। यह निर्णय करना कठिन है कि, यह शर्त कब पूरी हो। इस चर्चा के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि, अपने ही विपच्यमान-कर्म के अतिशय द्वारा अन्य कर्म की फल-शक्ति का प्रतिबन्ध सम्भव है। समान भोग वाले अन्य प्राणियों के विपच्यमान-कर्म द्वारा भी कर्म की फल-शक्ति के प्रतिबन्ध की सम्भावना है। ऐसी अनेक सम्भावनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् वातिककार ने लिखा है कि, कर्म की गति दुर्विज्ञेय है, मनुष्य इस प्रक्रिया के पार का पता नहीं लगा सकता²।

जयन्त ने न्यायमञ्जरी में कहा है कि, विहित कर्म के फल का काल-नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कुछ विहित कर्म ऐसे हैं जिनका फल तत्काल मिलता है—जैसे कारीरी यज्ञ का फल वृष्टि। कुछ विहित-कर्मों का फल ऐहिक होते हुए भी काल-सापेक्ष है—जैसे पुत्रेष्टि का फल पुत्र; तथा ज्योतिष्टोम आदि का फल स्वर्गादि परलोक में मिलता है। किन्तु सामान्य रूप से यह नियम निश्चित किया जा सकता है कि, निषिद्ध कर्म का फल तो परलोक में ही मिलता है³।

योग-दर्शन⁴ में कर्माशय और वासना में भेद किया गया है। एक जन्म में संचित कर्म को कर्माशय कहते हैं तथा अनेक जन्मों के कर्मों के संस्कार की परम्परा को वासना कहते हैं। कर्माशय का विपाक दो प्रकार का है—अदृष्टजन्म-वेदनीय और दृष्टजन्म-वेदनीय। जिसका विपाक दूसरे जन्म में मिले वह अदृष्टजन्म-वेदनीय तथा जिसका विपाक इस जन्म में मिल जाए वह दृष्टजन्म-वेदनीय कहलाता है। विपाक के तीन भेद हैं :—जाति अथवा जन्म, आयु और भोग। अर्थात् अदृष्टजन्म-वेदनीय के तीन फल हैं—नवीन जन्म, उस जन्म की आयु और उस जन्म का भोग। किन्तु दृष्टजन्म-वेदनीय कर्माशय का विपाक आयु व भोग अथवा केवल भोग है, जन्म नहीं। यदि यहाँ भी जन्म का विपाक स्वीकार किया जाए तो वह अदृष्टजन्म-वेदनीय

1. तस्माज्जन्मप्रापणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायेणाभिव्यक्तः एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य सन्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यते इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगतहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते।—योगभाष्य 2.13

2. न्यायवा० 3.2.61

3. न्यायमञ्जरी पृ० 505, 275

4. योगभाष्य 2 13

हो जाएगा। नहुष देव था, अर्थात् उसकी देव-रूप में जन्म और देवायु दोनों बातें जारी थीं। फिर भी कुछ समय के लिए सर्प बन कर उसने दुःख का भोग किया और तदनन्तर वह पुनः देव बन गया। यह दृष्टजन्म-वेदनीय भोग का उदाहरण है। नन्दीश्वर ने मनुष्य होते हुए भी देवायु और देव-भोग प्राप्त किए, किन्तु उसका मनुष्य जन्म जारी रहा।

वासना का विपाक असंख्य जन्म, आयु और भोग माने गये हैं। कारण यह है कि, वासना की परम्परा अनादि है।

जिस प्रकार योग-दर्शन¹ में कृष्ण-कर्म की अपेक्षा शुक्ल-कर्म को अधिक बलवान् माना गया है और कहा गया है कि, शुक्ल-कर्म का उदय होने पर कृष्ण-कर्म फल दिये बिना ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार बौद्धों ने भी अकुशल-कर्म की अपेक्षा कुशल-कर्म को अधिक बलवान् माना है, किन्तु वे कुशल-कर्म को अकुशल-कर्म का नाशक नहीं मानते। इस लोक में पापी को अनेक प्रकार के दण्ड एवं दुःख भोगने पड़ते हैं और पुण्यशाली को अपने पुण्य कार्यों का फल प्रायः इसी लोक में नहीं मिलता। बौद्धों ने इसका कारण यह बताया है कि, पाप परिमित है अतः उसके विपाक का अन्त शीघ्र ही हो जाता है, किन्तु कुशल-कर्म विपुल हैं, अतः उसका दीर्घकाल में होता है। यद्यपि कुशल और अकुशल दोनों का फल परलोक में मिलता है, तथापि अकुशल के अधिक सावय होने के कारण उसका फल यहाँ भी मिल जाता है²। पाप की अपेक्षा पुण्य विपुलतर क्यों है? इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि, पाप करने के पश्चात् मनुष्य को पश्चात्ताप होता है और वह कहता है कि, अरे ! मैंने पाप किया। इससे पाप की वृद्धि नहीं होती, किन्तु शुभ काम करने के बाद मनुष्य को पश्चात्ताप नहीं होता, बल्कि प्रमोद-आनन्द होता है, अतः उसका पुण्य उतरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता है³।

बौद्धों के मत में कृत्य के आधार पर कर्म के जो चार भेद किये गये हैं उनमें एक जनक-कर्म है और दूसरा उसका उत्थम्भक है। जनक-कर्म नए जन्म को उत्पन्न कर विपाक प्रदान करता है, किन्तु उत्थम्भक अपना विपाक प्रदान न कर दूसरों के विपाक में अनुकूल (सहायक) बन जाता है। तीसरा कर्म उपपीडक है जो दूसरे कर्मों के विपाक में बाधक बन जाता है। चौथा कर्म उपघातक है जो अन्य कर्मों के विपाक का घात कर अपना ही विपाक प्रकट करता⁴ है।

पाकदान के क्रम को लक्ष्य में रखकर बौद्धों में कर्म के ये चार प्रकार माने गए हैं— गरुक, बहुल अथवा आचिण्ण, आसन्न तथा अश्वस्त। इनमें गरुक तथा बहुल दूसरों के विपाक को रोककर पहले अपना फल प्रदान करते हैं। आसन्न का अर्थ है मृत्यु के समय किया गया, वह भी पूर्वकर्म की अपेक्षा अपना फल पहले दे देता है। पहले के कर्म कैसे भी हों, परन्तु

1. योग-दर्शन 2.13, पृ० 171

2. मिलिन्दप्रश्न 4.8.24-29, पृ० 284

1. मिलिन्दप्रश्न 3.36

4. अभिधम्मत्थसंग्रह 5.19; विसुद्धिमग्ग 19.16

मरण-काल के समय के कर्म के आधार पर ही शीघ्र नया जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् कर्म इन तीनों के अभाव में ही फल दे सकता है, ऐसा नियम है¹।

बीदों ने पाक-काल की दृष्टि से कर्म के जो चार भेद किये हैं, उनकी तुलना योग-दर्शन सम्मत वैसे ही कर्मों से की जा सकती है। दृष्टजन्म-वेदनीय—जिसका विपाक विद्यमान जन्म में मिल जाता है। उपज्ज-वेदनीय—जिसका फल नवीन जन्म में प्राप्त होता है। जिस कर्म का विपाक न हो, उसे अहो-कर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनेक भवों में मिले, उसे अपरापरवेदीय कहते हैं²।

बीदों ने पाकस्थान की अपेक्षा से कर्म के ये चार भेद किये हैं—अकुशल का विपाक नरक में, कामावचर कुशल-कर्म का विपाक काम सुगति में, रूपावचर कुशल-कर्म का विपाक रूपि-ब्रह्मलोक में तथा अरूपावचर कुशल-कर्म का विपाक अरूपलोक में उपलब्ध होता है³।

(14) कर्म की विविध अवस्थाएँ :

यह लिखा जा चुका है कि कर्म का आत्मा से बन्ध होता है, किन्तु बन्ध होने के बाद कर्म जिस रूप में बद्ध हुआ हो, उमी रूप में फल दे, ऐसा नियम नहीं है, इस विषय में अनेक अपवाद हैं। जैन-शास्त्रों में कर्म की बन्ध आदि दस दशाओं का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

1. बन्ध -- आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध होने पर उसके चार प्रकार हो जाते हैं—प्रकृति-बन्ध, प्रदेश-बन्ध, स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध। जब तक बन्ध न हो, तब तक कर्म की अन्य किसी भी अवस्था का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

2. सत्ता—बन्ध में आए हुए कर्म-पुद्गल अपनी निर्जरा होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं, इसे ही उसकी सत्ता कहते हैं। विपाक प्रदान करने के बाद कर्म-पुद्गलों की निर्जरा हो जाती है। प्रत्येक कर्म अबाधाकाल के व्यतीत हो जाने पर ही विपाक देता है। अर्थात् अमुक कर्म की सत्ता उसके अबाधाकाल तक होती है।

3. उद्वर्तन अथवा उत्कर्षण—आत्मा से बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग-बन्ध का निश्चय बन्ध के समय विद्यमान कषाय की मात्रा के अनुसार होता है, किन्तु कर्म के नवीन बन्ध के समय उस स्थिति तथा अनुभाग को बढ़ा लेना उद्वर्तन कहलाता है।

4. अपवर्तन अथवा अपकर्षण—कर्म के नवीन बन्ध के समय प्रथम-बद्ध कर्म की स्थिति और उसके अनुभाग को कम कर लेना अपवर्तन कहलाता है।

उद्वर्तन तथा अपवर्तन की मान्यता से सिद्ध होता है कि कर्म की स्थिति और उसका भोग नियत नहीं है। उनमें परिवर्तन हो सकता है। किसी समय हमने बुरा काम किया, किन्तु बाद में यदि अच्छा काम करें तो उस समय पूर्व-बद्ध कर्म की स्थिति और उसके रस में कमी

1. अभिधम्मत्थसंग्रह 5.19; विमुद्धिमग्ग 19.15

2. विमुद्धिमग्ग 19.14; अभिधम्मत्थसंग्रह 5.19

3. अभिधम्मत्थसंग्रह 5.19

हो सकती है। इसी प्रकार सत्कार्य करके बाँधे गये सत्कर्म की स्थिति को भी असत्कार्य द्वारा कम किया जा सकता है। अर्थात् संसार की वृद्धि-हानि का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा विद्यमान अर्धवसाय पर विशेषतः निर्भर है।

5. संक्रमण—इस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तार-पूर्वक वर्णन¹ है। कर्म-प्रकृति के पुद्गलों का परिणमन अन्य सजातीय प्रकृति में हो जाना संक्रमण कहलाता है। सामान्यतः उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण होता है, मूल प्रकृतियों में नहीं। इस नियम के अपवादों का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में है।

6. उदय—कर्म का अपना फल प्रदान करना उदय कहलाता है। कुछ कर्म केवल प्रदेशोदय युक्त होते हैं। उदय में आने पर उनके पुद्गलों की निर्जरा हो जाती है, उनका कुछ भी फल नहीं होता। कुछ कर्मों का प्रदेशोदय के साथ-साथ विपाकोदय भी होता है। वे अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

7. उदीरणा—नियत काल से पहले कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न-पूर्वक नियत काल से पहले ही फलों को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार नियत काल से पूर्व ही बद्ध कर्मों का भोग किया जा सकता है; सामान्यतः जिस कर्म का उदय जारी हो, उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा सम्भव है।

8. उपशमन—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा सम्भव न हो, परन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण की सम्भावना हो, उसे उपशमन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म को हँकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाय जिससे वह उस अग्नि की तरह फल न दे सके। किन्तु जिस प्रकार अग्नि से आवरण के दूर हो जाने पर वह पुनः प्रज्वलित होने में समर्थ है, उसी प्रकार कर्म की इस अवस्था के समाप्त होने पर वह पुनः उदय में आकर फल देता है।

9. निधत्ति—कर्म की उस अवस्था को निधत्ति कहते हैं जिसमें वह उदीरणा और संक्रमण में असमर्थ होता है, किन्तु इस अवस्था में उद्वर्तन और अपवर्तन सम्भव है।

10. निकाचना—कर्म की वह अवस्था निकाचना कहलाती है जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण और उदीरणा सम्भव ही न हो। अर्थात् जिस रूप में इस कर्म का बन्धन हुआ हो, उसी रूप में उसे अनिवार्य रूप से भंगना ही पड़ता है।

अन्य दर्शन-ग्रन्थों में कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन शब्दशः दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु इनमें से कुछ अवस्थाओं से मिलते-जुलते विवरण अवश्य मिलते हैं।

योगदर्शन-सम्मत² नियत-विपाकी कर्म जैन-सम्मत निकाचित कर्म के सदृश समझना चाहिए। उसकी आवापगमन प्रक्रिया जैन-सम्मत संक्रमण है। योगदर्शन में अनियत-विपाकी कुछ ऐसे भी कर्म हैं जो बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं। इनकी तुलना जैनों के प्रदेशोदय से हो सकती है। योग-दर्शन में क्लेश की चार अवस्थाएँ मान्य हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार³।

1. गाथा 1938 से

2. योगदर्शन-भाष्य 2.13

3. योगदर्शन 2.4

उपाध्याय यशोविजयजी ने उनकी तुलना जैन-सम्मत मोहनीय-कर्म की सत्ता, उपसम (क्षयोपशम), विरोधी प्रकृति के उदय से व्यवधान और उदय से ऋपशः की है¹।

(15) कर्म-फल का संविभाग :

अब इस विषय पर विचार करने का अवसर है कि एक व्यक्ति अपने किये हुए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं? वैदिकों में श्राद्धादि क्रिया का जो प्रचार है, उसे देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि, स्मार्तधर्मानुसार एक के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है। बौद्ध भी इस मान्यता से सहमत हैं। हिन्दुओं के समान बौद्ध भी प्रेतयोनि को मानते हैं। अर्थात् प्रेत के निमित्त जो दान, पुण्यादि क्रिया जाता है, प्रेत को उसका फल मिलता है। मनुष्य मर कर तिर्यञ्च, नरक अथवा देवयोनि में उत्पन्न हुआ हो, तो उसके उद्देश्य से किये गये पुण्य-कर्म का फल उसे नहीं मिलता, किन्तु चार प्रकार के प्रेतों में केवल परदत्तोपजीवी प्रेतों को ही फल मिलता है। यदि जीव परदत्तोपजीवी प्रेतावस्था में न हो, तो पुण्य-कर्म के करने वाले को ही उसका फल मिलता है, अन्य किसी को भी नहीं मिलता। पुनश्च, कोई पाप-कर्म करके यदि यह अभिलाषा करे कि, उसका फल प्रेत को मिल जाए, तो ऐसा कभी नहीं होता। बौद्धों का सिद्धान्त है कि, कुशल-कर्म का ही संविभाग हो सकता है, अकुशल का नहीं। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि, क्या कारण है कि कुशल का ही संविभाग हो सकता है, अकुशल का नहीं? आचार्य ने पहले तो यह उत्तर दिया कि, आपको ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। फिर यह बताया कि, पाप-कर्म में प्रेत की अनुमति नहीं, अतः उसे उसका फल नहीं मिलता। इस उत्तर से भी राजा मन्तुष्ट न हुआ। तब नागसेन ने कहा कि, अकुशल परिमित होता है अतः उसका संविभाग सम्भव नहीं है, किन्तु कुशल विपुल होता है अतः उसका संविभाग हो सकता है²। महायान बौद्ध बोधिसत्त्व का यह आदर्श मानते हैं कि, वे सदा ऐसी कामना करते हैं कि उनके कुशल-कर्म का फल विश्व के समस्त जीवों को प्राप्त हो। अतः महायान मत के प्रचार के बाद भारत के समस्त धर्मों में इस भावना को समर्थन प्राप्त हुआ कि, कुशल कर्मों का फल समस्त जीवों को मिले।

किन्तु जैनागम में इस विचार अथवा इस भावना को स्थान नहीं मिला। जैन-धर्म में प्रेतयोनि नहीं मानी गई है। सम्भव है कि कर्म-फल के असंविभाग की जैन-मान्यता का यह भी एक आधार हो। जैन-शास्त्रीय दृष्टि तो यही है कि, जो जीव कर्म करे, उसे ही उसका फल भोगना पड़ता³ है। कोई दूसरा उसमें भागीदार नहीं बन सकता। किन्तु लौकिक दृष्टि का

1. योगदर्शन (पं० सुखलालजी) प्रस्तावना पृ० 54
2. मिलिन्दप्रश्न 4.8, 30-35, पृ० 288; कथावत्थु 7.6.3, पृ० 348; प्रेतों की कथाओं के संग्रह के लिए पेतवत्थु तथा विमलाचरण लॉ कृत Buddhist conception of spirits देखे।
3. संसारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ देयकाले ण बंधवा बंधवयं उवेति ॥—उत्तरा० 4.4
माया पिया ण्हुसा भाता भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥
—उत्तरा० 6.3; उत्तरा० 14.12; 20.23-37

अनुसरण करते हुए आचार्य हरिभद्र आदि ने यह भावना अवश्य व्यक्त की है कि, मैंने जो कुशल-कर्म किया हो, तो उसका लाभ अन्य जीवों को भी मिले और वे सुखी हों।

(इ) परलोक विचार

गणधरवाद में पाँचवें गणधर सुधर्मा ने इस भव तथा परभव के सादृश्य-वैसादृश्य की चर्चा की है। सातवें गणधर मौर्य-पुत्र ने देवों के विषय में सन्देह उपस्थित किया है। आठवें गणधर अकंपित ने नारकों के विषय में शंका की है। दसवें गणधर मेतार्य ने पूछा है कि, परलोक है अथवा नहीं ? इस तरह अनेक प्रकार से परलोक के प्रश्न की चर्चा हुई है, अतः यहाँ परलोक के सम्बन्ध में भी विचार करना उचित है। परलोक का अर्थ है मृत्यु के बाद का लोक। मृत्युपरान्त जीव की जो विविध गतियाँ होती हैं, उनमें देव, प्रेत, और नारक ये तीनों अप्रत्यक्ष हैं, अतः सामान्यतः परलोक की चर्चा में इन पर ही विशेष विचार किया जाएगा। वेदिकों, जैनों और बौद्धों की देव, प्रेत एवं नारकियों सम्बन्धी कल्पनाओं का यहाँ निरूपण किया जाएगा। मनुष्य और तिर्यञ्च योनियाँ तो सबको प्रत्यक्ष हैं, अतः इनके विषय में विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। भिन्न-भिन्न परम्पराओं में इस सम्बन्ध में जो वर्गीकरण किया गया है, वह भी ज्ञातव्य तो है, किन्तु यहाँ उसकी चर्चा धर्मसांगिक होने के कारण नहीं की गई है।

कर्म और परलोक-विचार ये दोनों परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि, एक के अभाव में दूसरे की सम्भावना नहीं। जब तक कर्म का अर्थ केवल प्रत्यक्ष क्रिया ही किया जाता था, तब तक उसका फल भी प्रत्यक्ष ही समझा जाता था। किसी ने कपड़े सीने का कार्य किया और उसे उसके फल-स्वरूप सिला हुआ कपड़ा मिल गया। किसी ने भोजन बनाने का काम किया और उसे रसोई तैयार मिली। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि प्रत्यक्ष क्रिया का फल साक्षात् और तत्काल माना जाए। किन्तु एक समय ऐसा आया कि, मनुष्य ने देखा कि उसकी सभी क्रियाओं का फल साक्षात् नहीं मिलता और न ही तत्काल प्राप्त होता है। किसान खेती करता है, परिश्रम भी करता है, किन्तु यदि ठीक समय पर वर्षा न हो तो उसका सारा श्रम धूल में मिल जाता है। फिर यह भी देखा जाता है कि, नैतिक नियमों का पालन करने पर भी संसार में एक व्यक्ति दुःखी रहता है और दूसरा दुराचारी होने पर भी सुखी। यदि सदाचार से सुख की प्राप्ति होती हो, तो सदाचारी को सदाचार के फल-स्वरूप सुख तथा दुराचारी को दुराचार का फल दुःख साक्षात् और तत्काल क्यों नहीं मिलता ? नवजात शिशु ने ऐसा क्या किया है कि, वह जन्म लेते ही सुखी या दुःखी हो जाता है ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करते हुए जब मनुष्य ने कर्म के सम्बन्ध में अधिक गहन विचार किया तब इस कल्पना ने जन्म लिया कि कर्म केवल साक्षात् क्रिया नहीं, अपितु अदृष्ट-संस्कार-रूप भी है। इसके साथ ही परलोक-चिन्ता सम्बद्ध थी। यह माना जाने लगा कि, मनुष्य के सुख-दुःख का आधार केवल उसकी प्रत्यक्ष क्रिया नहीं, परन्तु इसमें परलोक या पूर्वजन्म की क्रिया का जो संस्कार से अथवा अदृष्ट-रूप से उसकी आत्मा से बद्ध है, भी एक महत्वपूर्ण भाग है। यही कारण है कि, प्रत्यक्ष सदाचार के अस्तित्व में भी मनुष्य पूर्वजन्म के दुराचार का फल दुःख-रूपेण भोगता है और प्रत्यक्ष दुराचारी होने पर भी पूर्वजन्म के सदाचार का फल सुख-रूपेण भोगता है। बालक पूर्वजन्म के संस्कार अथवा कर्म अपने साथ लेकर आता है, अतः इस जन्म में कोई कर्म न करने पर भी वह सुख-दुःख का भागी

चनता है। इस कल्पना के बल पर प्राचीन काल से लेकर आज तक के धार्मिक गिने जाने वाले पुरुषों ने अपने सदाचार में निष्ठा और दुराचार की हेयता स्वीकार की है। उन्होंने मृत्यु के साथ ही जीवन का अन्त नहीं माना, किन्तु जन्म-जन्मान्तर की कल्पना कर इस आशा से सदाचार में निष्ठा स्थिर रखी है कि, कृत-कर्म का फल कभी तो मिलेगा ही, और उन्होंने परलोक के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं।

वैदिक-परम्परा में देवलोक और देवों की कल्पना प्राचीन है, किन्तु वेदों में इस कल्पना को बहुत समय बाद स्थान मिला कि देवलोक मनुष्य की मृत्यु के बाद का परलोक है। नरक और नारकों सम्बन्धी कल्पना तो वेद में सर्वथा अस्पष्ट है। विद्वानों ने यह बात स्वीकार की है कि, वैदिकों ने परलोक एवं पुनर्जन्म की जो कल्पना की है, उसका कारण वेद-बाह्य प्रभाव¹ है।

जैनों ने जिस प्रकार कर्म-विद्या को एक शास्त्र का रूप दिया, उसी प्रकार इस विद्या से अविच्छिन्नरूपेण सम्बद्ध परलोक-विद्या को भी शास्त्र का ही रूप प्रदान किया। यही कारण है कि, जैनों की देव एवं नारक सम्बन्धी कल्पना में व्यवस्था और एक-सूत्रता है। आगम से लेकर आज तक के रचित जैन-साहित्य में देवों और नारकों के वर्णन-विषयक महत्वहीन अपवादों की उपेक्षा करने पर मालूम होगा कि, उसमें लेशमात्र भी विवाद दृग्गोचर नहीं होता। बौद्ध-साहित्य के पढ़ने वाले पग-पग पर यह अनुभव करते हैं कि, बौद्धों में यह विद्या बाहर से आई है। बौद्धों के प्राचीन सूत्र-ग्रन्थों में देवों अथवा नारकों की संख्या में एकरूपता नहीं है। यही नहीं, देवों के अनेक प्रकार के नामों में वर्गीकरण तथा व्यवस्था का भी अभाव है, परन्तु अभिधम्म-काल में बौद्ध-धर्म में देवों और नारकों की सुव्यवस्था हुई थी। यह बात भी स्पष्ट है कि, प्रेतयोनि जैसी योनि की कल्पना बौद्ध-धर्म अथवा उसके सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है, फिर भी लौकिक व्यवहार के कारण उसे मान्यता प्राप्त हुई²।

(1) वैदिक देव और देवियों³ :

वेदों में वर्णित अधिकतर देवों की कल्पना प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर की गई है। प्रारम्भ में अग्नि जैसे प्राकृतिक पदार्थों को ही देव माना गया था, किन्तु धीरे-धीरे अग्नि आदि तत्त्व से पृथक् अग्नि आदि देवों की कल्पना की गई। कुछ ऐसे भी देव हैं जिनका प्रकृतिगत किसी वस्तु से सरलता-पूर्वक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसे कि वरुण आदि। कुछ देवताओं का सम्बन्ध क्रिया से है, जैसे कि त्वष्टा, धाता, विधातादि। देवों के विशेषण-रूप में जो शब्द लिखे गए, उनके आधार पर उन नामों के स्वतन्त्र देवों की भी कल्पना की गई; जैसे कि विश्वकर्मा इन्द्र का विशेषण था, किन्तु इस नाम का स्वतन्त्र देव भी माना गया। यही बात प्रजापति के विषय में हुई। इसके अतिरिक्त मनुष्य के भावों पर देवत्व का

1. Ranade & Belvekar : Creative Period p. 375
2. Dr. Law : Heaven & Hell (Introduction) Buddhist conception of spirits.
3. इस प्रकरण को लिखने में डॉ० देशमुख की पुस्तक Religion in Vedic Literature Chepter 9-13 से सहायता ली गई है। मैं उनका आभार मानता हूँ।

आरोप करके भी कुछ देवों की कल्पना की गई है, जैसे कि मनु, अश्वि, अग्नि आदि। इस लोक के कुछ मनुष्य, पशु और जड़ पदार्थ भी देव माने गए हैं, जैसे कि मनुष्यों में प्राचीन ऋषियों में से मनु, अथर्व, दध्यंच, अत्रि, कण्व, वत्स, और काव्य उषणा। पशुओं में दधिका सवृष घोड़े में देवी भाव माना गया है। जड़-पदार्थों में पर्वत, नदी जैसे पदार्थों को देव कहा गया है।

देवों की पत्नियों की भी कल्पना की गई है, जैसे कि इन्द्राणी आदि। कुछ स्वतन्त्र देवियाँ भी मानी गई हैं, जैसे कि उषा, पृथ्वी, सरस्वती, रात्रि, वाक्, अदिति आदि।

वेदों में इस विषय में एक मत नहीं है कि भिन्न-भिन्न देव अनादिकाल से हैं या वे किसी समय उत्पन्न हुए हैं। प्राचीन कल्पना यह थी कि, वे द्यु और पृथ्वी की सन्तान हैं। उषा को देवताओं की माता¹ कहा गया है, किन्तु वह बाद में स्वयं द्यु की पुत्री मानी² गई। अदिति और दक्ष को भी देवताओं के माता-पिता माना गया है³। अन्यत्र सोम को अग्नि, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, द्यु और पृथ्वी का जनक कहा गया है। कई देवताओं के परस्पर पिता-पुत्र के सम्बन्ध का भी वर्णन है। इस प्रकार ऋग्वेद में देवताओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। सामान्यतः सभी देवों के विषय में ये उल्लेख मिलते हैं कि, वे कभी उत्पन्न हुए। अतः हम कह सकते हैं कि वे न तो अनादि हैं और न स्वतः सिद्ध। ऋग्वेद में बार-बार उल्लेख किया गया है कि, देवता अमर हैं, परन्तु सभी देवता अमर हैं अथवा अमरता उनका स्वाभाविक धर्म है, यह बात स्वीकार नहीं की गई। वहाँ यह कथन उपलब्ध होता है कि, सोम का पान कर देवता अमर बनते हैं। यह भी कहा गया है कि, अग्नि और सविता देवताओं को अमरत्व अर्पित करते हैं।

एक ओर देवताओं की उत्पत्ति में पूर्वापर-भाव⁴ का वर्णन किया गया है और दूसरी ओर यह लिखा है कि, देवों में कोई बालक अथवा कुमार नहीं, सभी समान⁵ हैं। यदि शक्ति की दृष्टि से विचार किया जाए, तो देवों में दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य की कोई सीमा नहीं है, किन्तु एक बात की सभी में समानता है, और वह है उनकी परोपकार-वृत्ति। मगर यह वृत्ति आर्यों के लिए ही स्वीकार की गई है, दास या दस्युओं के विषय में नहीं। देवता यज्ञ करने वाले को सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति देने में समर्थ है, वे समस्त विश्व के नियामक हैं और अच्छे व बुरे कार्यों पर दृष्टि रखने वाले हैं। किसी भी मनुष्य में यह शक्ति नहीं है कि, वह देवताओं की आज्ञा का उल्लंघन कर सके। जब उनके नाम से यज्ञ किया जाता है, तब वे द्युलोक से रथ पर चढ़कर चलते हैं और यज्ञ-भूमि में आकर बैठते हैं। अधिकांश देवों का निवास स्थान द्युलोक है और वे वहाँ सामान्यतः मिल-जुटकर रहते हैं। वे सोमरस पीते हैं और मनुष्यों जैसा आहार करते हैं। जो यज्ञ द्वारा उन्हें प्रसन्न करते हैं, वे उनकी सहानु-

1. देवानां माता—ऋग्वेद 1.113.19
2. ऋग्वेद 1.30.22
3. देवानां पितरं—ऋग्वेद 2.26.3
4. ऋग्वेद 10.109.4; 7.21.7.
5. ऋग्वेद 8.30.1

भूति प्राप्त करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करते, वे उनके तिरस्कार के पात्र बनते हैं। देवता नीति-सम्पन्न हैं, सत्यशील हैं, वे धोखा नहीं देते। वे प्रामाणिक और चरित्रवान् मनुष्यों की रक्षा करते हैं, उदार और पुण्यशील व्यक्तियों तथा उनके कृत्यों का बदला चुकाते हैं, किन्तु पापी को दण्ड देते हैं। देव जिस व्यक्ति के मित्र बन जाएँ, उसे कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता। देवता अपने भक्तों के शत्रुओं का नाश कर उनकी सम्पत्ति अपने भक्तों को सौंप देते हैं। सभी देवों में सौन्दर्य, तेज और शक्ति है। सामान्यतः देव स्वयं ही अपने अधिपति हैं, अर्थात् वे ग्रहमिन्द्र हैं। यद्यपि ऋषियों ने उनके वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लेते हुए वर्णित देव को सर्वाधिपति कहा है, तथापि सामान्यतः उसका अर्थ यह नहीं कि, वह देव राजा के समान अन्य देवों का अधिपति है। ऋषियों ने जिस देव की स्तुति की है, फलतः वह उसे प्रसन्न करने के लिए है, अतः स्वाभाविक है कि उसके अधिक से अधिक गुणों का वर्णन किया जाय। अतः प्रत्येक देव में सर्वसामर्थ्य स्वीकार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि, बाद में यज्ञ के लिए सब देवों की महत्ता समान रूप से स्वीकार की गई। 'एकं सद् बिप्रा बहुधा वदन्ति—'विद्वान् एक ही तरव का नाना प्रकार से कथन करते हैं—यह मान्यता दृढ़ हो गई। फिर भी यज्ञ-प्रसंग में व्यक्तिगत देवों के प्रति निष्ठा कभी भी कम नहीं हुई। भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न देवों के नाम से यज्ञ होते रहे। इसलिए हमें यह बात माननी पड़ती है कि, ऋग्वेद-काल में किसी एक ही देव का अन्य देवों की अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं था। ऋग्वेद-काल में एक देव के स्थान पर दूसरे देव को अधिष्ठान कर देने की कल्पना करना असंगत है²।

सभी देव द्युलोक-निवासी नहीं हैं। वैदिकों ने लोक के जो तीन विभाग किए हैं, उनमें उनका निवास है। द्युलोकवासी देवों में द्यौ, वरुण, सूर्य, मित्र, विष्णु, दक्ष, अश्विन आदि का समावेश है। अन्तरिक्ष में निवास करने वाले देव ये हैं—इन्द्र, मरुत, रुद्र, पर्जन्य, आपः आदि। पृथ्वी पर अग्नि, सोम, बृहस्पति आदि देवों का निवास है।

(2) वैदिक स्वर्ग-तरक

इस लोक में जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं, वे मर कर स्वर्ग में यमलोक पहुँचते हैं। यह यमलोक प्रकाश-पुंज से व्याप्त है। वहाँ उन लोगों को अन्न और सोम पर्याप्त मात्रा में मिलता है एवं उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं³। कुछ व्यक्ति विष्णु⁴ अथवा वरुणलोक⁵ में जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वर्ग⁶ है। वरुणलोक में जाने वाले मनुष्य की सभी वृष्टियाँ

1. ऋग्वेद 1.164.46.

2. देशमुख की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 317-322 का सार

3. ऋग्वेद 9.113.7 से

4. ऋग्वेद 1.1.54.

5. ऋग्वेद 7. 8.5

6. ऋग्वेद 10.14.8; 10.15.7.

दूर हो जाती हैं और वह वहाँ देवों के साथ मधु, सोम, अथवा घृत का पान करता है¹। वहाँ रहते हुए उसे अपने पुत्रादि द्वारा श्राद्ध-तर्पण में अर्पित पदार्थ भी मिल जाते हैं। यदि उसने स्वयं इष्टापूर्त (बाड़ी, कुआँ, तालाब आदि जलस्थान) किया हो, तो उसका फल भी उसे स्वर्ग में मिल जाता है²।

वैदिक आर्य आशावादी, उसाही और आनन्द-प्रिय लोग थे। उन्होंने जिस प्रकार के स्वर्ग की कल्पना की है, वह उनकी विचार-धारा के अनुकूल ही है। यही कारण है कि, उन्होंने प्राचीन ऋग्वेद में पापी आदमियों के लिए नरक जैसे स्थान की कल्पना नहीं की। दास तथा दस्यु जैसे लोगों को आर्य लोग अपना शत्रु समझते थे, उनके लिए भी उन्होंने नरक की कल्पना नहीं की; किन्तु देवों से यह प्रार्थना की है कि, वे उनका सर्वथा नाश कर दें। मृत्यु के बाद उनकी क्या दशा होती है, इस विषय में उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया।

ऐसी कल्पना है कि जो, पुण्यशाली व्यक्ति मर कर स्वर्ग में जाते हैं, वे सदा के लिए वहीं रहते हैं। वैदिक काल में यह कल्पना नहीं की गई थी कि, पुण्य का क्षय होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में वापिस आ जाते हैं; हाँ, ब्राह्मण-काल में इस मान्यता का अस्तित्व था³।

(3) उपनिषदों के देवलोक

बृहदारण्यक में आनन्द की तरतमता का वर्णन है। उसके आधार पर मनुष्यलोक से ऊपर के लोक के विषय में विचार किया जा सकता है। उसमें कहा गया है कि स्वस्थ होना, धनवान् होना, दूसरों की अपेक्षा उच्च पद प्राप्त करना, अधिक से अधिक सांसारिक बंधव होना; ये ऐसे आनन्द हैं जो इस संसार में मनुष्य के लिए महान् से महान् हैं। पितृलोक में जाने वाले पितरों को इस संसार के आनन्द की अपेक्षा सौ गुना अधिक आनन्द मिलता है। गन्धर्वलोक में उससे भी सौ-गुना अधिक आनन्द है। पुण्य-कर्म द्वारा देवता बने हुए लोगों का आनन्द गन्धर्वलोक से सौ-गुना ज्यादा है। सृष्टि की आदि में जन्म लेने वाले देवों का आनन्द इन देवों की अपेक्षा सौ-गुना अधिक है। प्रजापति-लोक में इस आनन्द से भी सौ-गुना और ब्रह्मलोक में उससे भी सौ-गुना अधिक आनन्द होता है, ब्रह्मलोक का आनन्द सर्वाधिक है। बृहदा० 4.3.33.

(4) देवयान, पितृयान

ऋग्वेद⁴ में देवयान और पितृयान शब्दों का प्रयोग है परन्तु इन मार्गों का वर्णन वहाँ उपलब्ध नहीं होता। उपनिषदों में दोनों मार्गों का विशद विवरण⁵ है, किन्तु हम उसके विस्तार में न जाकर विद्वानों द्वारा मान्य एवं उचित वर्णन का यहाँ उल्लेख करेंगे। ऋषीतकी उपनिषद् में देवयान का वर्णन इस प्रकार है;—मृत्यु के बाद देवयान मार्ग से जाने वाला

1. ऋग्वेद 10.154.1
2. Creative Period p. 26.
3. Creative Period p. 27,76
4. परं मृत्यो अनु परेहि पन्थायस्ते स्व इतरो देवयानात्—ऋग्वेद 10.19.1 तथा पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयानं—10.2.27
5. बृहदा० 5.10.1; छान्दोग्य 4-15. 5-6; 5.10.1-6; कौषीतकी 1.2-4.

व्यक्ति क्रमशः अग्नि लोक, वायुलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक और प्रजापति लोक से होकर ब्रह्मलोक में जाता है। वहाँ वह मन के द्वारा आर नामक सरोवर को पार करता है और येष्टिहा (उपासना में विघ्न डालने वाले) देवों के पास पहुँचता है। वे देव उसे देखते ही भाग जाते हैं। तत्पश्चात् वह मन के द्वारा ही विरजा नदी पार करता है। यहाँ वह पुण्य और पाप का छोड़ देता है। उसके बाद वह इत्य नामक वृक्ष के निकट जाता है⁵ और वहाँ उसे ब्रह्मा की गन्ध आती है। फिर वह सालज्यनगर के पास पहुँचता है। वहाँ उसमें ब्रह्मतेज प्रविष्ट होता है। तदनन्तर वह इन्द्र और बृहस्पति नामक चौकीदारों के पास आता है। वे भी उसे देखकर दौड़ जाते हैं। वहाँ से चलकर वह विभु नामक सभा स्थान में आता है। यहाँ उसकी कीर्ति इतनी बढ़ जाती है जितनी कि ब्रह्मा की। फिर वह विचक्षणा नाम के ज्ञानरूप सिंहासन के समीप आता है और अपनी बुद्धि द्वारा समस्त विश्व को देखता है। अन्त में वह अमितीजा नामक ब्रह्मा के पलंग के निकट आता है। जब उस पलंग पर आरूढ होता है, तब वहाँ आसीन ब्रह्मा उससे पूछता है, "तुम कौन हो?" वह उत्तर देता है, "जो आप हैं, वही मैं हूँ।" ब्रह्मा पुनः पूछता है, "मैं कौन हूँ?" वह व्यक्ति उत्तर देता है, "आप सत्य-स्वरूप हैं"। इस प्रकार अन्य अनेक प्रश्न पूछ कर जब ब्रह्मा की पूर्णतः तुष्टि हो जाती है, तब वह उसे अपने समान समझता¹ है।

इसी उपनिषद् में पितृयान के वर्णन का सार यह है—चन्द्रलोक ही पितृलोक है। सभी मरने वाले पहले यहाँ पहुँचते हैं। किन्तु जिनकी इच्छा पितृलोक में निवास करने की न हो, उन्हें चन्द्र ऊपर के लोक में भेज देता है और जिनकी अभिलाषा चन्द्रलोक की हो, उन्हें चन्द्र वर्षा के रूप में इस पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए भेज देता है। ऐसे जीव अपने कर्मों और ज्ञान के अनुसार कीट, पतंग, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, मछली, रीछ, मनुष्य अथवा अन्य किसी रूप में भिन्न-भिन्न स्थानों में जन्म लेते हैं। इस प्रकार पितृयान मार्ग में जाने वालों को पुनः इस लोक में आना पड़ता है²।

सारांश यह है कि, ब्रह्मी-भाव को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उसे देवयान कहते हैं, किन्तु अपने कर्मों के अनुसार जिनकी मृत्यु पुनः होने वाली है वे चन्द्रलोक में जाकर लौट आते हैं। उनके मार्ग का नाम पितृयान है और उनकी योनि प्रेत योनि कहलाती है।

इस उपर्युक्त वर्णन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि, प्रस्तुत ग्रन्थ में परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य के सम्बन्ध में जो चर्चा है, उसके विषय में उपनिषदों का क्या मत है। यह भी पता लगता है कि, जीव कर्मानुसार विसदृश्य अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ में भी इस मत का समर्थन है।

1. कौषीतकी प्रथम अध्याय देखें।
2. कौषीतकी 1.2.

(5) पौराणिक देवलोक

यह बात लिखी जा चुकी है कि वैदिक मान्यतानुसार तीनों लोकों में देवों का निवास है। पौराणिक-काल में भी इसी मत का समर्थन किया गया। योगदर्शन के व्यास-भाष्य¹ में बताया गया है कि, पाताल, जलधि (समुद्र) तथा पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरस्, ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड, विनायक नाम के देव-निकाय निवास करते हैं। भूलोक के समस्त द्वीपों में भी पुण्यात्मा देवों का निवास है। सुमेरु पर्वत पर देवों की उद्यान भूमियाँ हैं, सुधर्मा नामक देव सभा है, सुदर्शन नामा नगरी है और उसमें वैजयन्त प्रासाद है। अन्तरिक्ष लोक के देवों में ग्रह, नक्षत्र और तारों का समावेश है। स्वर्ग लोक में महेंद्र में छह देव-निकायों का निवास है—त्रिदश, अग्निष्वात्ता, याम्या, दुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ती, परिनिर्मितवशवर्ती, इसमें ऊपर महति लोक अथवा प्रजापति लोक में पाँच देव-निकाय हैं—कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अंजनाभ, प्रचिताभ। ब्रह्मा के प्रथम जनलोक में चार देव-निकाय हैं—ब्रह्म-पुरोहित, ब्रह्म-कायिक, ब्रह्म-महाकायिक, अमर। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक में तीन देव-निकाय हैं—आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर। ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक में चार देव-निकाय हैं—अच्युत, शुद्ध निवास, सत्याभ, सन्नासञ्जी।

इन सब देवलोकों में बसने वालों की आयु दीर्घ होते हुए भी परिमित है। कर्म-क्षय होने पर उन्हें नया जन्म धारण करना पड़ता है।

(6) वैदिक असुरादि

सामान्यतः देवों और मनुष्यों के शत्रुओं को वेद में असुर, राक्षस, पिशाच आदि नाम से प्रतिपादित किया गया है। पणि और वृत्र इन्द्र के शत्रु थे, दास और दस्यु आर्य प्रजा के शत्रु थे। किन्तु दस्यु शब्द का प्रयोग अन्तरिक्ष के दैत्यों अथवा असुरों के अर्थ में भी किया गया है और दस्युओं को वृत्र के नाम से भी वर्णित किया गया है। सारांश यह है कि वृत्र, पणि, असुर, दस्यु, दास नाम की कई जातियाँ थीं। उन्हें ही कालान्तर में राक्षस, दैत्य, असुर, पिशाच का रूप दिया गया। वैदिक काल के लोग उनके नाश के निमित्त देवों से प्रार्थना किया करते थे।

(7) उपनिषदों में नरक का वर्णन

यह बात पहले कही जा चुकी है कि, ऋग्वेद-काल के आर्यों ने पापी पुरुषों के लिए नरक-स्थान की कल्पना नहीं की थी, किन्तु उपनिषदों में यह कल्पना विद्यमान है। नरक कहाँ हैं? इस विषय में उपनिषद् मौन हैं, किन्तु उपनिषदों के अनुसार नरक लोक ग्रन्धकार से आवृत्त है, उसमें आनन्द का नाम भी नहीं है। इस संसार में अविद्या के उपासक मरणोपरान्त नरक को प्राप्त होते हैं। आत्मघाती पुरुषों के लिए भी यही स्थान है और अविद्वान् की भी मृत्युपरान्त यही दशा है। बूढ़ी गाय का दान देने वालों की भी यही गति होती है। यही कारण है कि नचिकेता जैसे पुत्र को अपने उस पिता के भविष्य के विचार ने अत्यन्त दुःखी किया जो

1. विभूतिपाद 26.

बूढ़ी गायों का दान कर रहा था। उसने सोचा कि, मेरे पिता इनके बदले मुझे ही दान में क्यों नहीं दे देते ?

उपनिषदों में इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि, ऐसे अन्धकारमय लोक में जाने वाले जीव सदा के लिए वहीं रहते हैं अथवा वहाँ से उनका छुटकारा भी हो जाता है।

(8) पौराणिक-नरक

नरक के विषय में पुराणकालीन वैदिक-परम्परा में कुछ विशेष विवरण मिलते हैं। बौद्ध और जैन-मत के साथ उनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह विचारणा तीनों परम्पराओं में समान ही थी।

योगदर्शन व्यास-भाष्य में सात नरकों के ये नाम बताए गए हैं—महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिख, अवीचि। इन नरकों में जीवों को अपने किए हुए कर्मों के कटुफल मिलते हैं और वहाँ जीवों की आयु भी लम्बी² होती है। अर्थात् दीर्घकाल तक कर्म का फल भोगने के बाद ही वहाँ से जीव का छुटकारा होता है; ऐसी मान्यता सिद्ध होती है। ये नरक हमारी अपनी भूमि और पाताल लोक के नीचे अवस्थित³ हैं।

भाष्य की टीका में नरकों के अतिरिक्त कुम्भीपाकादि उपनरकों की कल्पना को भी स्थान प्राप्त हुआ है। वाचस्पति ने इनकी संख्या अनेक बताई है किन्तु भाष्यवातिककार ने इसे अनन्त कहा है।

भागवत में नरकों की संख्या सात के स्थान पर 28 बताई है और उनमें प्रथम 21 के नाम ये हैं—तामिख, अन्धतामिख, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकर-मुख, अन्धकूप, कृमि-भोजन, संदंश, तप्तसूमि, बच्चकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पृथोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि तथा अयःपान⁴। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों के मतानुसार अन्य सात नरक भी हैं—क्षार-कर्म, रक्षोगण-भोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पयोवर्तन, और सूचीमुख। इनमें अधिकतर नाम ऐसे हैं जिनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उन नरकों में जीवों को किस प्रकार के कष्ट हैं।

(9) बौद्ध और परलोक

हम यह कह सकते हैं कि, भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म को इसी लोक में फल देने वाला माना था और उनके उपलब्ध प्राचीन उपदेश में स्वर्ग, नरक अथवा प्रेतयोनि सम्बन्धी विचारों को स्थान ही नहीं था। यदि कभी कोई जिज्ञानु ब्रह्मलोक जैसे परोक्ष विषय के सम्बन्ध में प्रश्न करता, तो भगवान् बुद्ध सामान्यतः उसे समझाते कि, परोक्ष-पदार्थों के विषय में चिन्ता

1. कठ० 1.1.3; बृहदा० 4.4.10-11; ईश 3-9

2. योगदर्शन व्यास-भाष्य, विभूतिपाद 26

3. भाष्यवातिककार ने कहा है कि, पाताल अवीचि नरक के नीचे हैं, किन्तु यह धर्म प्रतीक्ष होता है।

4. श्रीमद्भागवत् (छायानुवाद) पृ० 164, पंचमस्कंध 26.5-36,

नहीं करनी चाहिए¹। वे प्रत्यक्ष दुःख, उसके कारण और दुःख-निवारक मार्ग का उपदेश करते। परन्तु जैसे-जैसे उनके उपदेश एक धर्म और दर्शन के रूप में परिणत हुए, वैसे-वैसे आचार्यों को स्वर्ग, नरक, प्रेत आदि समस्त परोक्ष-पदार्थों का भी विचार करना पड़ा और उन्हें बौद्ध-धर्म में स्थान देना पड़ा। बौद्ध-पण्डितों ने कथाओं की रचना में जो कौशल दिखाया है, वह अनुपम है। उनका लक्ष्य सदाचार और नीति की शिक्षा प्रदान करना था। उन्होंने अनुभव किया कि, स्वर्ग के सुखों और नरक के दुःखों के कलात्मक वर्णन के समान अन्य कोई ऐसा साधन नहीं है जो सदाचार में निष्ठा उत्पन्न कर सके। अतः उन्होंने इस ध्येय को सम्मुख रखते हुए कथाओं की रचना की, उन्हें इस विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। इस आधार पर धीरे-धीरे बौद्ध-दर्शन में भी स्वर्ग, नरक, प्रेत सम्बन्धी विचार व्यवस्थित होने लगे। निदान अभिधम्मकाल में हीनयान सम्प्रदाय में उनका रूप स्थिर हो गया, किन्तु महायान सम्प्रदाय में उनकी व्यवस्था कुछ भिन्नरूप से हुई।

बौद्ध अभिधम्म² में सत्त्वों का विभाजन इन तीन भूमियों में किया गया है—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर। उनमें नारक, तिर्यंच, प्रेत, असुर ये चार कामावचर भूमियाँ अपायभूमि हैं। अर्थात् उनमें दुःख की प्रधानता है। मनुष्यों तथा चातुम्महाराजिक, तावत्ति, याम, तुसित, निम्मानरति, परिनिम्नितवसवत्ति नाम के देव-निकायों का समावेश काम-सुगति नाम की कामावचर भूमि में है। उनमें कामभोग की प्राप्ति होती है, अतः चित्त चंचल रहता है।

रूपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुखवाले सोलह देव निकायों का समावेश है जिसका विवरण इस प्रकार है :-

प्रथम ध्यान-भूमि में—1. ब्रह्मपारिसज्ज, 2. ब्रह्मपुरोहित, 3. महाब्रह्म

द्वितीय ध्यान-भूमि में—4. परित्ताभ, 5. अप्पमाणभ, 6. आभस्सर

तृतीय ध्यान-भूमि में—7. परित्तसुभा, 8. अप्पमाणसुभा 9. सुभकिण्हा

चतुर्थ ध्यान-भूमि में—10. वेहप्फला 11. असञ्जसत्ता; 12-16. पाँच प्रकार के सुद्धावास

सुद्धावास के ये पाँच भेद हैं—12 अविहा, 13 अतप्पा, 14. सुदस्सा, 15. सुदस्सी,

16. अकनिट्टा।

अरूपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुख वाली चार भूमि हैं—

1. आकासानञ्चायतन भूमि

2. विञ्जाणञ्चायतन भूमि

3. अकिञ्चञ्चायतन भूमि

4. नेवसञ्जानासञ्चायतन भूमि

अभिधम्मत्थ-संग्रह में नरकों की संख्या नहीं बताई गई है, किन्तु मज्झिमनिकाय में उन विविध कष्टों का वर्णन है जो नारकों को भोगने पड़ते हैं। (बालपण्डित-सुत्तन्त-129 देखें)

1. दीर्घनिकाय के तेविज्जसुत्त में ब्रह्मसालोकता विषयक भगवान् बुद्ध का कथन देखें।

2. अभिधम्मत्थ-संग्रह परि० 5.

जातक (530) में ये आठ नरक बताए गए हैं—संजीव, कालसुत, संघात, जालरोव, धूमरोख, तपन, प्रतापन, अवीचि । महावस्तु (1.4) में उक्त प्रत्येक नरक के 16 उस्सद (उपनरक) स्वीकार किए गए हैं । इस तरह सब मिलकर 128 नरक हो जाते हैं । किन्तु पचगति-दीपनी नामक ग्रन्थ में प्रत्येक नरक के चार उस्सद बताए हैं—मालहकूप, कुवकुल, असिपत्तवन, नदी¹ (वेतरणी) ।

बौद्धों ने देवलोक के अतिरिक्त प्रेतयोनि भी स्वीकार की है । इन प्रेतों की रोचक कथाएँ पेतवत्थु नाम के ग्रन्थ में दी गई हैं । सामान्यतः प्रेत विशेष प्रकार के दुष्कर्मों को भोगने के लिए उस योनि में उत्पन्न होते हैं । इन दोषों में इस प्रकार के दोष हैं—दान देने में ढील करना, योग्य रीति से श्रद्धा-पूर्वक न देना । दीघनिकाय के आटानाटिय सुत्त में निम्नलिखित विशेषणों द्वारा प्रेतों का वर्णन किया गया है—चुगलखोर, खूनी, लुब्ध, चोर, दगाबाज आदि; अर्थात् ऐसे लोग प्रेतयोनि में जन्म ग्रहण करते हैं । पेतवत्थु ग्रंथ से भी इस बात का अर्थन होता है ।

पेतवत्थु के आरम्भ में ही यह बात कही गई है कि, दान करने से दाता अपने इस लोक का सुधार करने के साथ-साथ प्रेतयोनि को प्राप्त अपने सम्बन्धियों के भव का उद्धार करता है ।

प्रेत पूर्वजन्म के घर की दीवार के पीछे आकर खड़े रहते हैं । चौक में अथवा मार्ग के किनारे आकर भी खड़े हो जाते हैं । जहाँ महान् भोज की व्यवस्था हो, वहाँ वे विशेष रूप से पट्टवते हैं । यदि जो लोग उनका स्मरण कर उन्हें कुछ नहीं देते, तो वे दुःखी होते हैं । जो उन्हें याद कर उन्हें देते हैं, वे उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं । क्योंकि प्रेतलोक में व्यापार अथवा कृषि की व्यवस्था नहीं है जिससे उन्हें भोजन मिल सके सके । उनके निमित्त इस लोक में जो कुछ दिया जाता है, उसीके आधार पर उनका जीवन-निर्वाह होता है । इस प्रकार के विवरण पेतवत्थु² में उपलब्ध होते हैं ।

लोकान्तरिक नरक में भी प्रेतों का निवास है । वहाँ के प्रेत छह कोस ऊँचे हैं । मनुष्यलोक में निष्क्रामतण्ड जाति के प्रेत रहते हैं । इनके शरीर में सदा जलन होती रहती है । वे सदा भ्रमणशील होते हैं । इनके अतिरिक्त पालि ग्रंथों में खुष्पपास, कालकजक, उत्तपजीवी नाम की प्रेत-जातियों का भी उल्लेख है³ ।

(10) जैन-सम्मत परलोक

जैनों ने समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया है—मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक तथा देव । मरने के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में भ्रमण करता है । जैन-सम्मत देव तथा नरकलोक के विषय में जातव्य बातें ये हैं—

1. E R E—Cosmogomy & Cosmology—पढ़ देखें ।

महायान के वर्णन के लिए अमिधर्मकोष चतुर्थ स्थान में देखें ।

2. पेतवत्थु 1.5.

3. Buddhist Conception of spirits P. 24.

जैन-मत में देवों के चार निकाय हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक । भवनपति निकाय के देवों का निवास जम्बूद्वीप में स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर तथा दक्षिण दिशा में है । व्यन्तर निकाय के देव तीनों लोकों में रहते हैं । ज्योतिष्क निकाय के देव मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से सात सौ नव्वे योजन की ऊँचाई से गुरु होने वाले ज्योतिष्चक्र में रहते हैं । यह ज्योतिष्चक्र वहाँ से लेकर एक सौ दस योजन परिमाण तक है । इस चक्र से भी ऊपर असंख्यपात योजन की ऊँचाई के अन्तर उत्तरोत्तर एक दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानों में वैमानिक देव रहते हैं ।

भवनवासी निकाय के देवों के दस भेद हैं—असुरकुमार, नागकुमार, त्रिद्युतकुमार, सुधुर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ।

व्यन्तर निकाय के देवों के आठ प्रकार हैं—किन्नर, किपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच ।

ज्योतिष्क देवों के पाँच प्रकार हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्ण तारा ।

वैमानिक देव-निकाय के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न, कल्पाती । कल्पोपपन्न के बारह भेद हैं—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत । एक मत सोलह भेद¹ स्वीकार करता है ।

कल्पातीत वैमानिकों में नव ग्रंथेयक और पाँच अनुत्तर विमानों का समावेश है । नव ग्रंथेयक के नाम ये हैं—सुदर्शन, सुप्रतिबद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, त्रियंकर आदित्य ।

पाँच अनुत्तर विमानों के नाम ये हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध ।

इन सब देवों की स्थिति, भोग, सम्पत्ति आदि के सम्बन्धों में विस्तृत वर्णन जिज्ञासुओं को तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय तथा बृहत् संग्रहणी आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिए ।

जैन-मत में सात नरक माने हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तथा महातमःप्रभा ।

ये सातों नरक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं और विस्तार में भी अधिक हैं । उनमें दुःख ही दुःख है । नारक परस्पर तो दुःख उत्पन्न करते ही हैं, इसके अतिरिक्त संक्लिष्ट असुर भी प्रथम तीन नरक भूमियों में दुःख देते हैं । नरक का विशद वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय में है, जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं ।

बनारस
दि० 30-6-52

दलसुख मालवणिया
अनु० पृथ्वीराज जैन, एम.

1. ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार नाम अधिक हैं ।

गणधरवाद

प्रथम गणधर इन्द्रभूति

जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा

भगवान् महावीर राग-द्वेष का क्षयकर सर्वज्ञ होने के पश्चात् वैशाख सुदि एकादशी के दिन महसेन वन में विराजमान थे। लोक-समूह को उनके पास जाते हुए देख कर यज्ञवाटिका में एकत्रित विद्वान् ब्राह्मणों के मन में भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसा कौन सा महापुरुष आया है जिस का दर्शन करने सब लोग उसकी ओर जा रहे हैं। उन में सब से श्रेष्ठ विद्वान् इन्द्रभूति गौतम सब से पहले भगवान् महावीर के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। जब वह अपने शिष्य परिवार सहित भगवान् के समक्ष उपस्थित हुआ तब उसे देखकर भगवान् कहने लगे:—

इन्द्रभूति के संशय का कथन

आयुष्मन् इन्द्रभूति गौतम ! तुम्हें जीव के अस्तित्व के विषय में सन्देह है। तुम यह समझते हो कि जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती, तदपि संसार में बहुत से लोग जीव का अस्तित्व तो मानते ही हैं, अतः तुम्हें संशय है कि जीव है या नहीं? जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती, इस सम्बन्ध में तुम्हारे मन में ये विचार उठते हैं—

जीव प्रत्यक्ष नहीं

यदि जीव का अस्तित्व हो तो उसे घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए किन्तु वह प्रत्यक्ष तो होता नहीं। जो पदार्थ सर्वथा अप्रत्यक्ष होते हैं, उन का आकाश-कुमुद के समान संसार में सर्वथा अभाव होता है। जीव भी सर्वथा अप्रत्यक्ष है; अतः संसार में उस का भी सर्वथा अभाव है।

यद्यपि परमाणु भी चर्म चक्षु से दिखाई नहीं देता, तथापि उसका अभाव नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वह जीव के समान सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं है। कार्यरूप में परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष तो होता ही है, किन्तु जीव का प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से नहीं होता। अतः उसका सर्वथा अभाव मानना चाहिए। [१५४६]

जीव अनुमान से सिद्ध नहीं होता

यदि कोई यह बात कहे कि जीव चाहे प्रत्यक्ष से गृहीत न हो, किन्तु उसे अनुमान से तो जाना जा सकता है, अतः उसका अस्तित्व मानना चाहिए; तो यह कहना भी युक्त नहीं। कारण यह है कि अनुमान भी प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है। जिस पदार्थ का कभी प्रत्यक्ष ही न हुआ हो, वह पदार्थ अनुमान से

भी नहीं जाना जा सकता। हमारा अनुभव है कि जब हम परोक्ष अग्नि का अनुमान करते हैं तब सब से पहले धूमरूप लिंग अथवा हेतु का प्रत्यक्ष होता ही है। यही नहीं अपितु पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित किए गए लिंग-हेतु तथा लिंगी-साध्य के अविनाभाव संबन्ध का—अर्थात् प्रत्यक्ष से निश्चित धूम तथा अग्नि के अविनाभाव संबन्ध का—स्मरण होता है। तभी धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। [१५५०]

प्रस्तुत में जीव के विषय में जीव के किसी भी लिंग का जीव के साथ सबन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पूर्व गृहीत है ही नहीं; जिससे उस लिंग का पुनः प्रत्यक्ष होने पर उस सबन्ध का स्मरण हो और जीव का अनुमान किया जा सके।

कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि सूर्य की गति का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हुआ, फिर भी उस की गति का अनुमान हो सकता है; जैसे कि सूर्य गतिशील है क्योंकि वह कालान्तर में दूसरे देश में पहुँच जाता है, देवदत्त के समान। जिस प्रकार यदि देवदत्त प्रातःकाल यहां हो किन्तु संध्या में अन्यत्र हो, तो यह बात गमन के अभाव में शक्य नहीं; उसी प्रकार सूर्य प्रातःकाल में पूर्व दिशा में होता है और सायंकाल में पश्चिम दिशा में। यह बात भी सूर्य की गतिशीलता के बिना संभव नहीं। इस प्रकार के सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्षरूप सूर्य की गति की सिद्धि हो सकती है इसी तरह सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्षरूप जीव का अस्तित्व भी सिद्ध हो सकता है।

इस का उत्तर यह है कि देवदत्त का जो दृष्टान्त ऊपर दिया गया है, उसमें सामान्यतः देवदत्त का देशान्तर में होना गतिपूर्वक ही है। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है, इस लिए इस दृष्टान्त से सूर्य की गति अप्रत्यक्ष होने पर भी देशान्तर में सूर्य को देखकर सूर्य की गति का अनुमान हो सकता है। किन्तु प्रस्तुत में जीव के अस्तित्व के साथ अविनाभावी किसी भी हेतु का प्रत्यक्ष नहीं होता, जिस से जीव के उस हेतु के पुनर्दर्शन से अनुमान हो सके। अतः उक्त सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। [१५५१]

जीव आगम प्रमाण से भी सिद्ध नहीं

आगम-प्रमाण से भी जीव की सिद्धि नहीं हो सकती। वस्तुतः आगम प्रमाण अनुमान प्रमाण से पृथक् नहीं है। वह अनुमान रूप ही है। क्योंकि आगम के दो भेद हैं:—एक दृष्टार्थ विषयक अर्थात् प्रत्यक्ष पदार्थ का प्रतिपादक और दूसरा अदृष्टार्थ विषयक—अर्थात् परोक्ष पदार्थ का प्रतिपादक। उनमें दृष्टार्थ विषयक आगम तो स्पष्टरूपेण अनुमान है, क्योंकि मिट्टी के अमुक विशिष्ट आकार वाले प्रत्यक्ष पदार्थ को लक्ष्य में रखकर प्रयुक्त होने वाला 'घट' शब्द जब हम बार बार सुनते-हैं तब हम निश्चय कर लेते हैं कि इस आकार वाले पदार्थ को 'घट' शब्द से प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार का निश्चय हो जाने के बाद जब कभी हम

‘घट’ शब्द का श्रवण करते हैं तब यह अनुमान कर लेते हैं कि वक्ता ‘घट’ शब्द से अमुक विशिष्ट आकार वाले अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। इस तरह दृष्टार्थ विषयक आगम अनुमान ही है। प्रस्तुत में ‘जीव’ यह शब्द हमने कभी भी शरीर से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ सुना ही नहीं है। तो फिर जीव शब्द का श्रवण करने पर हम दृष्टार्थ विषयक आगम से उसकी सिद्धि कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् दृष्टार्थ विषयक आगम से भी शरीर से भिन्न जीव की सिद्धि नहीं होती।

स्वर्ग-नरक आदि पदार्थ अदृष्ट अथवा परोक्ष हैं। इस प्रकार के पदार्थों के प्रतिपादक वचन को अदृष्टार्थ विषयक आगम कहते हैं। यह आगम भी अनुमान रूप है। इस बात को हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं—उक्त अदृष्टार्थ के प्रतिपादक वचन का प्रामाण्य निम्न-प्रकारेण सिद्ध होता है—स्वर्ग-नरकादि का प्रतिपादक वचन प्रमाण है, क्योंकि वह चन्द्र ग्रहण आदि वचन के समान अविश्ववादी वचन वाले आप्त-पुरुष का वचन है। इस प्रकार यह अदृष्टार्थ विषयक आगम भी अनुमान रूप ही है। प्रस्तुत में ऐसा कोई भी आप्त-पुरुष सिद्ध नहीं है जिसे आत्मा प्रत्यक्ष हो और जिसके आधार पर इस सम्बन्ध में उस का वचन प्रमाण माना जाए तथा इस प्रकार जीव के अप्रत्यक्ष होने पर भी उसका अस्तित्व मान लिया जाए। इस प्रकार आगम प्रमाण से भी जीवसिद्धि सम्भव नहीं। [१५.५२]

जीव के विषय में आगमों में परस्पर विरोध

पुनश्च तथाकथित आगम भी आत्मा के विषय में परस्पर विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं, अतः आत्मा के अस्तित्व में सन्देह का अवकाश रहता ही है। जैसे कि चार्वाकों के शास्त्र में कहा है कि ‘जो कुछ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है, उतना ही लोक है।’¹ अर्थात् आत्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होने के कारण अभाव स्वरूप ही है। इसके समर्थन में किसी ऋषि² की उक्ति भी है कि ‘इन भूतों से विज्ञानघन समुत्थित होता है और भूतों के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। परलोक जैसी कोई चीज नहीं है।’³ भगवान् बुद्ध ने भी आत्मा का अभाव बताते हुए कहा है

१. ‘एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियमोचरः ।

भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्ति विपश्चितः ॥

उत्तरार्द्ध का भावार्थ—हे भद्रे ! वृक पद को भी देखो तथा विद्वान् उसके आधार पर जिन परस्पर विरुद्ध पदार्थों का अनुमान करते हैं, उन्हें भी देखो। इससे अनुमान को प्रमाण मानना चाहिए। यह पद्य षड्दर्शन समुच्चय में 81वां तथा लोकतत्त्वनिर्णय में 290वां है।

२. वृत्ति में लिखा है ‘भट्टोऽप्याह’। किन्तु यह वाक्य कुमारिल का नहीं है, अतः उक्त कथन युक्त नहीं। यह वाक्य उपनिषदों का है।

३. ‘विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न च प्रेत्य संज्ञा ज्जिस्ति ।’
बृहदारण्यक उप० 2. 4. 12. यह वाक्य ऋषि गणेशवल्क्य का है।

कि 'रूप पुद्गल नहीं है।' अर्थात् बाह्य दृश्य वस्तु जीव नहीं है। इस प्रकार प्रारम्भ कर सभी प्रसिद्ध वस्तुओं को एक-एक करके लक्ष्य में रख कर भगवान् बुद्ध ने सिद्ध किया कि जीव नहीं है। इसके विपरीत आत्मा का अस्तित्व बताने वाले आगम वचन भी उपलब्ध होते हैं, जैसा कि वेद में कहा है—'सशरीर आत्मा के प्रिय और अप्रिय—अर्थात् सुख और दुःख का नाश नहीं है, किन्तु शरीर-रहित जीव को प्रिय और अप्रिय का स्पर्श भी नहीं है। अर्थात् उसे सुख-दुःख दोनों ही नहीं हैं।' फिर यह भी कहा है कि 'स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे।' सांख्यों के आगम में कहा है कि 'पुरुष-आत्मा अकर्ता, निर्गुण, भोक्ता और चिद्रूप है।' इस प्रकार आगमों के परस्पर विरुद्ध होने के कारण आगम प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

उपमान प्रमाण से जीव असिद्ध है

उपमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि शक्य नहीं है, कारण यह है कि यदि विश्व में आत्मा जैसा कोई अन्य पदार्थ हो तब उसकी उपमा आत्मा से दी जा सकती है और फिर आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु आत्म-सदृश कोई पदार्थ ही नहीं। अतः उपमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि काल, आकाश, दिक् ये सब अमूर्त होने के कारण आत्मा के सदृश हैं, अतः उपमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि जैसे आत्मा असिद्ध है वैसे ही कालादि भी प्रत्यक्ष न होने के कारण असिद्ध हैं। अतः उपमान प्रमाण आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकता।

अर्थापत्ति से भी जीव असिद्ध है

अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकती, कारण यह है कि संसार में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जिसका अस्तित्व उसी दशा में सिद्ध हो सकता है जबकि आत्मा को माना जाए।

इस प्रकार तुम समझते हो कि जीव सर्व प्रमाणातीत है, अर्थात् किसी भी प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसका अभाव मानना चाहिए। फिर

१. 'न रूपं भिक्षवः ! पुद्गलः' इस विषय की बौद्ध त्रिपिटक में विस्तृत चर्चा है। संयुक्त निकाय 12.70.32-37; दीघनिकाय महानिदान सुत्त 15; मज्झिम निकाय छवक-सुत्त 148. मैंने इस विषय की चर्चा न्यायावतारवातिक वृत्ति की प्रस्तावना में की है—देखें पृ० 6,
२. न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृगतः।' छान्दोग्य उपनिषद् 8.12.1.
३. 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' मैत्रायणी उपनिषद् 3.6.36.
४. 'अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः। इसके साथ तुलना करें:—
'अमूर्तश्चेन्नो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥'
यह पद्य स्याद्वादमञ्जरी पृष्ठ 96 पर उद्धृत है।

भी बहुत से लोग जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, अतः तुम्हें संशय है कि जीव की सत्ता है या नहीं ? [१५५३]

संशय का निवारण

हे गौतम ! जीव के विषय में तुम्हारा सन्देह उचित नहीं है । तुम्हारा यह कहना कि 'जीव प्रत्यक्ष नहीं' अयुक्त है, क्योंकि जीव तुम्हें प्रत्यक्ष है ही ।

संशय-विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है

इन्द्रभूति—यह कैसे ?

भगवान्—'जीव है या नहीं' इस प्रकार का जो संशय रूप विज्ञान है वही जीव है, क्योंकि जीव विज्ञानरूप है । तुम्हें तुम्हारा सन्देह तो प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि वह विज्ञानरूप है । जो विज्ञानरूप होता है वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से स्वसंविदित होता ही है, अन्यथा विज्ञान का ज्ञान घटित नहीं हो सकता । इस प्रकार संशय रूप विज्ञान यदि तुम्हें प्रत्यक्ष हो तो उस रूप में जीव भी प्रत्यक्ष ही है । जो प्रत्यक्ष हो, उसकी सिद्धि में अन्य प्रमाण अनावश्यक हैं । जैसे अपने शरीर में सुख-दुःखादि का जो अनुभव होता है, वह स्वसंविदित होने से प्रत्यक्ष सिद्ध है और सुख-दुःखादि की सिद्धि में प्रत्यक्षेतर प्रमाण अनावश्यक हैं; उसी प्रकार जीव भी स्वसंविदित होने के कारण अपनी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता ।

इन्द्रभूति—जीव चाहे प्रत्यक्ष सिद्ध हो, किन्तु उसकी अन्य प्रमाणों से सिद्धि करना आवश्यक है । जैसे इस विश्व के पदार्थ यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध हैं तथापि शून्यवादी को समझाने के लिए अनुमान आदि प्रमाणों से उनकी सिद्धि करनी पड़ती है, उसी प्रकार जीव के प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी उसकी इतर प्रमाणों से सिद्धि आवश्यक है ।

भगवान्—शून्यवादी की चर्चा में भी वस्तुतः अनुमानादि प्रमाणों द्वारा विश्व के पदार्थों की सिद्धि नहीं करनी पड़ती, किन्तु यदि शून्यवादियों ने विश्व के पदार्थों के अस्तित्व के सम्बन्ध में बाधक प्रमाण¹ दिए हों तो उनका निराकरण ही किया जाता है । प्रस्तुत में आत्म ग्राहक प्रत्यक्ष का कोई बाधक प्रमाण ही नहीं है, अतः उसके निराकरण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । अर्थात् आत्म-सिद्धि में प्रत्यक्षेतर प्रमाण अनावश्यक ही है । [१५५४]

1. शून्यवादी सब वस्तुओं की शून्यता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार अनुमान करते हैं—'निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्'—(प्रमाणवार्तिकालंकार-पृ० २२)—अर्थात् सभी ज्ञानों का कोई विषय ही नहीं है, ज्ञान होने से, स्वप्नज्ञान के समान । यह विज्ञान-वादियों का अनुमान है । वे विज्ञान भिन्न कोई बाह्य वस्तु नहीं मानते । इसी का उपयोग बाह्य वस्तु का बाधक बताने के लिए शून्यवादी भी करते हैं ।

अहंप्रत्यय से जीव का प्रत्यक्ष

इन्द्रभूति—आपने कहा है कि संशय विज्ञान-रूप से जीव प्रत्यक्ष है। यह बात ठीक है किन्तु किसी अन्य रीति से वह प्रत्यक्ष होता हो तो बताएँ।

भगवान्—‘मैंने किया’ ‘मैं करता हूँ’ ‘मैं करूँगा’ इत्यादि प्रकार से तीनों काल सम्बन्धी अपने विविध कार्यों का जो निर्देश किया जाता है, उसमें ‘मैं’ पन का जो अहंरूप ज्ञान होता है, वह भी आत्म प्रत्यक्ष ही है। यह अहंरूप ज्ञान किसी भी प्रकार अनुमान रूप नहीं, क्योंकि वह लिंगजन्य नहीं है। यह आगम प्रमाण रूप भी नहीं है, क्योंकि आगम से अनभिज्ञ सामान्य लोगों को भी अहंपन का अन्तर्मुख ज्ञान होता ही है और वही आत्मा का प्रत्यक्ष है। घटादि पदार्थों में आत्मा नहीं है, अतः उन्हें इस प्रकार के अहंपन का अन्तर्मुख आत्म-प्रत्यक्ष भी नहीं होता। [१५५५]

फिर, यदि जीव का अस्तित्व ही नहीं है, तो उसे ‘अहं’ इस प्रत्यय का ज्ञान कहाँ से हो सकता है? क्योंकि ज्ञान निर्विषय तो होता नहीं। यदि ‘अहं’-प्रत्यय के विषयभूत आत्मा को स्वीकार न किया जाए तो ‘अहं’-प्रत्यय विषय-रहित बन जाता है। ऐसी स्थिति में ‘अहं’-प्रत्यय होगा ही नहीं।

अहंप्रत्यय देह-विषयक नहीं

इन्द्रभूति—अहं-प्रत्यय का विषय जीव के स्थान पर यदि देह को माना जाए तो भी अहंप्रत्यय निर्विषय नहीं हो पाता। ‘मैं काला हूँ’ ‘मैं दुबला हूँ’ इत्यादि प्रत्ययों में ‘मैं’ स्पष्टतः शरीर को लक्ष्य में रख कर प्रयुक्त हुआ है। अतः ‘मैं’ को यदि देह माना जाए तो इसमें क्या आपत्ति है?

भगवान्—यदि ‘मैं’ शब्द का प्रयोग शरीर के लिए ही होता हो तो मृत देह में भी अहंप्रत्यय होना चाहिए। ऐसा नहीं होता, अतः ‘अहं’ पन के ज्ञान का विषय देह नहीं, अपितु जीव है। पुनश्च, इस प्रकार अहंप्रत्यय से तुम्हें आत्मा प्रत्यक्ष ही है। फिर ‘मैं हूँ या नहीं’ इस संशय का अवकाश नहीं रहता। इससे विपरीत ‘मैं हूँ ही’ यह आत्म-विषयक निश्चय होना ही चाहिए। ऐसी स्थिति में भी यदि तुम्हारा आत्मा के सम्बन्ध में संशय बना रहता है तो फिर अहंप्रत्यय का विषय क्या रह जाएगा? अर्थात् ‘अहंप्रत्यय’ किस का होगा? कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता, अतः अहंज्ञान का भी कोई विषय मानना चाहिए। तुम आत्मा को स्वीकार नहीं करते, अतः तुम ही बताओ कि अहंप्रत्यय का विषय क्या है। [१५५६]

संशयकर्ता जीव ही है

पुनश्च, यदि संशय करने वाला कोई न हो तो ‘मैं हूँ या नहीं’ यह संशय किस को होगा? संशय विज्ञान-रूप है और विज्ञान एक गुण है। गुणी के बिना गुण की सम्भावना नहीं, अतः संशयरूप विज्ञान का कोई गुणी मानना ही चाहिए। संशय का आधार गुणी ही जीव है।

इन्द्रभूति—जीव के स्थान पर देह को ही गुणी मान लें, क्योंकि देह में ही संशय उत्पन्न होता है।

भगवान्—देह मूर्त है और जड़ है, किन्तु ज्ञान अमूर्त और बोध रूप है। इस तरह यह दोनों अननुरूप हैं—विलक्षण हैं, अतः इन दोनों का गुण-गुणी-भाव घटित नहीं हो सकता। अन्यथा आकाश में भी रूप गुण मानना पड़ेगा। अतः देह को संशय का गुणी नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त जिसे स्वरूप में ही सन्देह हो—अपने विषय में ही सन्देह हो, उसके लिए समस्त विश्व में कोई भी चीज असंदिग्ध कैसे होगी? उसे सर्वत्र ही संशय होगा।

आत्म-बाधक अनुमान के दोष

आत्मा के अहंप्रत्यय द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी तुम यह अनुमान करते हो कि 'आत्मा नहीं है—क्योंकि उसमें अस्तित्व अर्थात् भाव के ग्राहक पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं है।' तुम्हारे इस अनुमान में तुम्हारा पक्ष प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास—मिथ्यापक्ष सिद्ध होता है। जैसे कि शब्द का श्रवण द्वारा प्रत्यक्ष होता है, फिर भी कोई कहे कि 'शब्द तो अश्रवण है'—अर्थात् वह कर्णग्राह्य नहीं, तो उसका पक्ष प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण पक्षाभास है। 'आत्मा नहीं' तुम्हारा यह पक्ष अनुमान बाधित भी है। आत्म-साधक अनुमान आगे बताऊँगा। उस अनुमान से तुम्हारा पक्ष बाधित हो जाता है। जैसे कि मीमांसकों का यह पक्ष कि 'शब्द नित्य है' नैयायिक आदि के शब्द की अनित्यता के साधक अनुमान द्वारा बाधित हो जाता है। पुनश्च 'मैं संशयकर्ता हूँ' यह बात स्वीकार करने के पश्चात् 'आत्मा नहीं है' अर्थात् 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कथन करने से तुम्हारा पक्ष स्वाभ्युपगम से भी बाधित होता है। इसका कारण यह है कि 'मैं संशयकर्ता हूँ' यह कह कर 'मैं' का स्वीकार तो किया ही गया है और अब 'मैं' का निषेध करते हो, अतः तुम्हारे इस 'मैं' के निषेध की बात अपने प्रथम अभ्युपगम-स्वीकार से ही बाधित हो जाती है। जैसे कि सांख्य आत्मा को पहले अकर्ता, नित्य, चैतन्य स्वरूप स्वीकार करके फिर यदि यह कहें कि वह कर्ता है, अनित्य है, अचेतन है तो उनका पक्ष स्वाभ्युपगम से बाधित हो जाता है। अनपढ़ लोग भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अतः 'आत्मा नहीं' तुम्हारा यह पक्ष लोकविरुद्ध भी है। जैसे शशि को अचन्द्र कहना लोक-विरुद्ध है। तथा 'मैं आत्मा नहीं' अर्थात् 'मैं, मैं नहीं' ऐसा कथन करना स्ववचन विरुद्ध भी है। जैसे कोई यह कहे कि मेरी माता बन्ध्या है।

इस प्रकार तुम्हारा पक्ष ही युक्त नहीं है। यह पक्षाभास है। अतः 'भावग्राहक पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं' यह हेतु पक्ष का धर्म नहीं बन सकेगा, इसलिए यह हेतु असिद्ध होगा। असिद्ध हेतु हेत्वाभास कहलाता है। उससे साध्य सिद्धि नहीं हो

सकती। अपितु हिमालय का परिमाण कितना है, यह बात हम किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार पिशाच आदि के विषय में भी हमारा कोई प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता तथापि हिमालय के परिमाण और पिशाच का अभाव सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा में प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण की प्रवृत्ति न हो, तो भी उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए तुम्हारा हेतु व्यभिचारी भी है। आगे आत्मा का साधक अनुमान प्रतिपादित किया जाएगा, उससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अतः तुम्हारा हेतु विपक्ष वृत्ति होने के कारण विरुद्ध भी है। इसलिए तुम्हें आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए किन्तु, उसका प्रत्यक्ष से निश्चय ही करना चाहिए। [१५५७]

इन्द्रभूति—‘आत्मा प्रत्यक्ष है’ इस बात को अनुमान से सिद्ध करें।

गुणों के प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष

भगवान्—आत्मा प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञानरूप गुण स्व-संवेदन द्वारा प्रत्यक्ष हैं। जिस गुणी के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, वह गुणी भी प्रत्यक्ष होता है; जैसे घट। जीव के गुण भी प्रत्यक्ष हैं, अतः जीव भी प्रत्यक्ष है। घटादि के प्रत्यक्ष का आधार उसके रूपादि गुण हैं। उसी प्रकार जीव का प्रत्यक्ष भी उसके स्मरणादि गुणों की प्रत्यक्षता के कारण मानना ही चाहिए।

इन्द्रभूति—गुणों की प्रत्यक्षता के कारण गुणी की प्रत्यक्षता मानने का नियम व्यभिचारी है, क्योंकि आकाश का गुण शब्द तो प्रत्यक्ष है, परन्तु आकाश प्रत्यक्ष नहीं होता।

भगवान्—उक्त नियम व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि शब्द आकाश का गुण न हो कर पौद्गलिक है। अर्थात् शब्द पुद्गल द्रव्य का एक परिणाम है।

इन्द्रभूति—आप शब्द को पौद्गलिक किस आधार पर कहते हैं ?

शब्द पौद्गलिक है

भगवान्—क्योंकि यह इन्द्रिय का विषय है। जैसे रूपादि चक्षुग्राह्य होने के कारण पौद्गलिक हैं, उसी प्रकार शब्द भी श्रवणोन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने के कारण पौद्गलिक है। [१५५८]

इन्द्रभूति—गुण प्रत्यक्ष हो तो उसे आप भले ही प्रत्यक्ष मान लें, किन्तु इससे गुणी का क्या सम्बन्ध है ?

गुण-गुणी का भेदभाव

भगवान्—गुणी का सम्बन्ध क्यों नहीं ? मैं तुम्हें पूछता हूँ कि गुण गुणी से भिन्न है अथवा अभिन्न ?

इन्द्रभूति—यदि गुण को गुणी से अभिन्न माना जाए तो ?

भगवान्—यदि गुण गुणी से अभिन्न हो तो गुण-दर्शन से गुणी का भी साक्षात् दर्शन मानना ही चाहिए; अतः जीव के स्मरणादि गुणों के प्रत्यक्ष से ही गुणी जीव का भी साक्षात्कार स्वीकार करना चाहिए। जैसे कपड़े और उसके रंग के अभिन्न होने पर रंग के ग्रहण से कपड़े का भी ग्रहण ही जाता है, वैसे ही यदि स्मरणादि गुण आत्मा से अभिन्न हों तो स्मरणादि के प्रत्यक्ष से आत्मा का भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है। [१५५६]

इन्द्रभूति—गुण से गुणी भिन्न ही है, यह पक्ष स्वीकार करने से गुण का प्रत्यक्ष होने पर भी गुणी का प्रत्यक्ष नहीं होगा। इस पक्ष में आप यह नहीं कह सकते कि स्मरणादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से गुणी आत्मा भी प्रत्यक्ष है।

भगवान्—गुणों को भिन्न मानने से तो घटादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा; तब तुम घट की भी सिद्धि नहीं कर सकोगे। कारण यह है कि इन्द्रियों द्वारा मात्र रूपादि का ग्रहण होने से रूपादि को तो प्रत्यक्ष सिद्ध माना जा सकता है, किन्तु रूपादि से भिन्न घट का तो प्रत्यक्ष हुआ ही नहीं, फिर उस का अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा? इस प्रकार घटादि पदार्थ भी सिद्ध नहीं, तो फिर तुम केवल आत्मा के अभाव का ही क्यों विचार करते हो? पहले तुम घटादि की सिद्धि करो और बाद में आत्मा विषयक विचार करते हुए दृष्टान्त दो कि घटादि तो प्रत्यक्ष सिद्ध हैं; अतः उसका अस्तित्व है, किन्तु जीव प्रत्यक्ष नहीं है अतः उसका अभाव है।

इन्द्रभूति—गुण कभी भी गुणी के बिना नहीं होते; अतः गुण के ग्रहण द्वारा गुणी की भी सिद्धि हो सकती है। इस से रूपादि गुणों के ग्रहण द्वारा घटादि की सिद्धि हो जाएगी।

भगवान्—इसी नियम से आत्मा के विषय में कथन किया जा सकता है कि स्मरणादि गुण हैं वे भी गुणी के बिना नहीं रहते। अतः यदि स्मरणादि गुणों का प्रत्यक्ष होता है तो गुणी आत्मा भी प्रत्यक्ष होनी चाहिए। तुम चाहे आत्मा का प्रत्यक्ष न मानो, किन्तु इस नियम के अनुसार स्मरणादि गुणों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व तो तुम्हें मानना ही पड़ेगा। [१५६०]

इन्द्रभूति—स्मरणादि गुणों का प्रत्यक्ष होने के कारण उनका कोई गुणी होना चाहिए, यह बात तो सिद्ध होती है। किन्तु आप तो यह कहते हैं कि वह गुणी आत्मा ही है। यह ठीक नहीं, क्योंकि देह में कृशता, स्थूलता आदि गुणों के समान स्मरणादि गुण भी उपलब्ध होते हैं। अतः उनका गुणी देह को ही मान लेना चाहिए, देह से भिन्न आत्मा को नहीं। [१५६१]

ज्ञान देह-गुण नहीं

भगवान्—ज्ञानादि देह के गुण नहीं हो सकते। क्योंकि घट के समान देह मूर्त अथवा चाक्षुष है। गुण गुणी या द्रव्य के बिना नहीं रहते हैं, अतः ज्ञानादि गुणों

के अनुरूप अमूर्त और अचाक्षुष आत्मा को देह से भिन्न गुणी के रूप में मानना चाहिए ।

इन्द्रभूति—आप ज्ञानादि को देह के गुण नहीं मानते, किन्तु इसमें प्रत्यक्ष बाधक है । ज्ञानादि गुण शरीर में ही दृष्टिगोचर होते हैं ।

भगवान्—ज्ञानादि गुणों के देह में होने का प्रत्यक्ष ही अनुमान बाधित है, अतः ज्ञानादि गुण देह में नहीं माने जा सकते, उन्हें देह से भिन्न आत्मा में ही मानना चाहिए ।

इन्द्रभूति—ज्ञानादि गुणों का देह में प्रत्यक्ष होना किस अनुमान से बाधित है ?

भगवान्—देह में विद्यमान इन्द्रियों से विज्ञाता—आत्मा भिन्न है, क्योंकि इन्द्रियों के व्यापार के अभाव में भी उनसे उपलब्ध पदार्थों का स्मरण होता है । जिस प्रकार भरोखे द्वारा देखी गई वस्तु को देवदत्त भरोखे के बिना भी याद कर कर सकता है, अतः देवदत्त भरोखे से भिन्न है; उसी प्रकार इन्द्रियों के बिना भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने से आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न मानना चाहिए ।¹ इस अनुमान से प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण वह प्रत्यक्ष भ्रान्त है । अतः स्मरणादि विज्ञानरूप गुणों का गुणी देह नहीं हो सकता । [१५६२]

सर्वज्ञ को जीव प्रत्यक्ष है

मैं तुम्हें यह बता चुका हूँ कि तुम्हें भी आत्मा का प्रत्यक्ष है । तुम्हारा यह प्रत्यक्ष आंशिक है, क्योंकि तुम्हें आत्मा का सर्व प्रकार से सम्पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु मुझे उसका सर्वथा प्रत्यक्ष है । तुम छद्मस्थ हो, वीतराग नहीं, अतः तुम्हें वस्तु के अनन्त स्व और पर पर्यायों का साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु वस्तु के अंश का साक्षात्कार होता है । जिस प्रकार घटादि पदार्थ प्रदीप आदि से देशतः प्रकाशित होते हैं, फिर भी यह कहा जाता है कि घट प्रकाशित हुआ, उसी प्रकार छद्मस्थ का घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष आंशिक प्रत्यक्ष है, फिर भी यह व्यवहार होता है कि घट का प्रत्यक्ष हुआ । इसी आधार पर आत्मा के सम्बन्ध में तुम्हारे आंशिक प्रत्यक्ष के विषय में कहा जा सकता है कि तुम्हें आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया । मैं केवली हूँ, अतः मेरा ज्ञान अप्रतिहत और अनन्त है । मुझे आत्मा का सम्पूर्ण भाव से प्रत्यक्ष है । तुम्हारा संशय अतीन्द्रिय था अर्थात् तुम्हारी आत्मा में विद्यमान संशय बाह्य इन्द्रियों से अप्राह्य था फिर भी मैंने उसे जान लिया । यह बात तुम्हें प्रतीति सिद्ध है । इसी प्रकार तुम यह भी समझ लो कि मुझे आत्मा का सम्पूर्ण साक्षात्कार हुआ है । [१५६३]

1. इस विषय की वायुभूति के साथ होने वाले वाद में विशेष चर्चा की गई है ।

इन्द्रभूति—अपनी देह में मुझे आत्मा का आंशिक प्रत्यक्ष है, इस बात को मानने में मुझे अब कोई अपत्ति नहीं। किन्तु दूसरों की देह में आत्मा है, यह मैं कैसे जान सकता हूँ ?

अन्य देह में आत्म-सिद्धि

भगवान्—इसी प्रकार अनुमान से तुम यह समझ लो कि दूसरों की देह में भी विज्ञानमय आत्मा है। दूसरों के शरीर में भी विज्ञानमय जीव है, क्योंकि उनकी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति देखी जाती है। जैसे हमारी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है, इसलिए हमारे शरीर में आत्मा है। इसी प्रकार दूसरों के शरीर में भी आत्मा की सत्ता होनी चाहिए। यदि दूसरों के शरीर में आत्मा न हो, तो घटादि के समान उनकी भी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति न हो। अतः पर-देह में भी आत्मा माननी चाहिए। [१५६४]

इन्द्रभूति—आपके साथ इतनी चर्चा करने से यह तो ज्ञात होता है कि आत्मा है, किन्तु मेरे विचारों में आपको यदि कोई असंगति प्रतीत हुई हो तो उसे प्रकट करना उचित होगा।

आत्म-सिद्धि के लिए अनुमान

भगवान्—तुमने जो यह विचार किया था कि 'जीव के किसी भी लिंग का जीव के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्वगृहीत है ही नहीं, जैसे कि शश के साथ उसके शृंग कभी देखे ही नहीं गए, अतः लिंग द्वारा जीव का ग्रहण नहीं हो सकता—इत्यादि [१५६५], उस विषय में यह जान लेना चाहिए कि यह एकान्त नियम नहीं है कि लिंगी-साध्य के साथ लिंग-हेतु को पहले देखा हो तो ही बाद में लिंग से साध्य की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। कारण यह है कि हम ने भूत को हास्य, गान, रुदन, हाथ-पंख मारने की क्रिया अक्षि-विक्षेप आदि लिंगों के साथ कभी देखा नहीं, फिर भी इन लिंगों को देख कर दूसरे के शरीर में भूत का अनुमान होता है। उसी प्रकार आत्मा के साथ लिंग-दर्शन के अभाव में भी आत्मा का अनुमान हो सकता है, यह स्वीकार करना चाहिए। [१५६६]

और, आत्म-साधक अनुमान प्रयोग इस प्रकार भी हो सकता है—देह का कोई कर्ता होना चाहिए, क्योंकि उसका घट के समान एक सादि और प्रतिनियत निश्चित आकार है। जिसका कोई कर्ता नहीं होता, उसका सादि और प्रतिनियत आकार भी नहीं होता—जैसे कि बादलों का। मेघ आदि नित्य पदार्थों का आकार प्रतिनियत तो होता है किन्तु उसकी आदि नहीं होती, क्योंकि वे नित्य हैं। अतः हेतु में सादि विशेषण लगाया गया है। इससे उक्त हेतु द्वारा मेघ जैसे प्रतिनियत

आकार वाले किन्तु नित्य पदार्थों का कोई कर्ता सिद्ध नहीं होता, परन्तु जिन पदार्थों का आकार सादि और प्रतिनियत होगा, उनका ही कोई कर्ता सिद्ध होगा ।

दूसरा आत्म-साधक अनुमान यह है—इन्द्रियों का कोई अधिष्ठाता होना चाहिए, क्योंकि वे करण हैं, जैसे कि दण्डादि करणों का कुम्भकार आदि अधिष्ठाता होता है । जिसका कोई अधिष्ठाता न हो, वह आकाश के समान करण भी नहीं होता । अतः इन्द्रियों का कोई अधिष्ठाता मानना चाहिए और वह आत्मा है । [१५६७]

तीसरा आत्म-साधक अनुमान यह है—जब इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण- (आदान) हो तब दोनों के मध्य ग्रहण-ग्राह-भाव सम्बन्ध में कोई आदाता-ग्रहण करने वाला होना चाहिए । क्योंकि उन दोनों में आदान-आदेय भाव है । जहाँ आदान-आदेय भाव होता है वहाँ कोई आदाता होता है । जैसे लोहे और संडासी में आदान-आदेय भाव है तथा लुहार वहाँ आदाता है । इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय में भी आदान-आदेय भाव होने के कारण उनका कोई आदाता होना चाहिए । जहाँ आदान-आदेय भाव नहीं होता, वहाँ आदाता भी नहीं होता, जैसे कि आकाश में । अतः इन्द्रिय और विषयों में कोई आदाता मानना चाहिए और वह आत्मा है । [१५६८]

चौथा आत्म-साधक अनुमान यह है—देहादि का कोई भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला होना चाहिए, क्योंकि वह भोग्य है, जैसे भोजन और वस्त्र भोग्य पदार्थों का भोक्ता पुरुष है । जिनका कोई भोक्ता नहीं होता, वे खर-विषाण के समान भोग्य भी नहीं होते । शरीरादि भोग्य हैं, अतः उनका भोक्ता होना चाहिए । जो भोक्ता है, वही आत्मा है ।

पाँचवाँ अनुमान यह है—देहादि का कोई अर्थी अथवा स्वामी है क्योंकि देहादि संघात रूप हैं । जो संघात रूप होते हैं, उनका कोई स्वामी होता है, जैसे घर संघात रूप है और पुरुष उसका स्वामी है । देहादि भी संघात रूप हैं, अतः उनका भी कोई स्वामी होना चाहिए । जो स्वामी है वही आत्मा है । [१५६९]

इन्द्रभूति—उक्त हेतुओं से केवल यही सिद्ध होता है कि शरीर का कोई कर्ता, भोक्ता आदि है । किन्तु वह जीव है, यह इनसे सिद्ध नहीं होता तो फिर आप यह कैसे कहते हो कि कर्ता आदि यह जीव है ।

भगवान्—शरीर का कर्ता, भोक्ता अथवा स्वामी ईश्वर आदि अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, क्योंकि यह युक्ति से विरुद्ध है । अतः जीव को ही उसका कर्ता भोक्ता और स्वामी मानना चाहिए ।

इन्द्रभूति—कर्ता, भोक्ता और स्वामी के रूप में जीव के साधक जो हेतु आपने बतलाए हैं वे सब साध्य से विरोधी वस्तु के साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास हैं । क्योंकि आप उक्त हेतुओं से जिस जीव को सिद्ध करना चाहते हैं वह तो नित्य, अमूर्त

और असाधारण रूप में सिद्ध करना आपको इष्ट है, किन्तु उक्त हेतुओं से कर्तारूप जो जीव सिद्ध होता है वह कुम्भकार आदि के समान मूर्त, अनित्य और साधारण रूप सिद्ध होता है ।

आत्मा कथंचित् मूर्त है

भगवान्— उक्त हेतुओं द्वारा संसारी आत्मा की कर्ता आदि के रूप में सिद्धि अभिप्रेत होने से तुम्हारे द्वारा निर्दिष्ट किए गए दोषों का यहाँ स्थान नहीं है, क्योंकि संसारी आत्मा आठ कर्मों से आवृत होने और सशरीर होने के कारण कथंचित् मूर्तादि रूप ही है । [१५७०]

संशय का विषय होने से जीव है

हे सौम्य ! आत्मा का साधक एक अनुमान यह भी है—तुम्हारे में जीव है ही, क्योंकि तुम्हें इस विषय में संशय है । जिस विषय में संशय हो, वह विद्यमान होता है । जैसे कि स्थाणु (ठूठ) और पुरुष के विषय में संशय होता है और वे दोनों ही विद्यमान होते हैं । जो अवस्तु हो, सर्वथा अविद्यमान हो, उसके विषय में कभी किसी को सन्देह ही नहीं होता ।

इन्द्रभूति—जिस विषय में संशय होता है, वहाँ संशय के विषयभूत दो पदार्थों में से एक की सत्ता होती है । जैसे कि स्थाणु-पुरुष विषयक सन्देह-स्थल में उक्त दोनों में से कोई एक ही विद्यमान होता है, दोनों नहीं । फिर आप यह कैसे कहते हैं कि संशय का जो विषय हो, वह विद्यमान ही होता है ।

भगवान्—हे गौतम ! मैंने यह तो नहीं कहा कि जहाँ जिस विषय में सन्देह होता है, वह वहाँ ही विद्यमान होता है । मेरा कथन केवल यह है कि संशय की विषयभूत वस्तु वहाँ या अन्यत्र कहीं भी विद्यमान अवश्य होती है । तुम्हें जीव के विषय में सन्देह है । अतः उसे अवश्य ही विद्यमान मानना चाहिए । अन्यथा उस विषय में सन्देह नहीं हो सकता, जैसे कि छठे भूत के विषय में सन्देह नहीं होता । [१५७१]

इन्द्रभूति—यदि संशय का विषयभूत पदार्थ अवश्य विद्यमान होता है तो कई लोगों को खर-शृंग के विषय में भी संशय हुआ करता है, अतः गधे के सींग भी विद्यमान मानने पड़ेंगे ।

भगवान्—मैंने तो यह बात कही ही है कि संशय की विषयभूत वस्तु संसार में कहीं न कहीं अवश्य विद्यमान होनी चाहिए । अविद्यमान में संशय ही नहीं होता । प्रस्तुत में संशय विषयभूत सींग गधे के चाहे न हों, किन्तु अन्यत्र गाय आदि के तो होते ही हैं । यदि विश्व में सींग का सर्वथा अभाव हो, तो उस विषय में किसी को सन्देह ही न हो । यही बात विषयज्ञान अथवा भ्रम ज्ञान के विषय में समझ लेनी चाहिए । यदि संसार में सर्प का सर्वथा अभाव हो तो रस्सी के टुकड़े में सर्प का भ्रम

नहीं हो सकता। इसी न्याय से यदि तुम शरीर में आत्मा का भ्रम ही मानो तो भी आत्मा का अस्तित्व वहाँ नहीं तो अन्यत्र मानना ही पड़ेगा। यदि जीव का सर्वथा अभाव हो, तो उसका भ्रम नहीं हो सकता। [१५७२]

अजीव के प्रतिपक्षी रूप में जीव की सिद्धि

अन्य प्रकार से भी जीव की सिद्धि की जा सकती है। अजीव का प्रतिपक्षी कोई होना चाहिए। कारण यह है कि अजीव से व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का प्रतिषेध हुआ है। जहाँ-जहाँ व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पदों का निषेध होता है, वहाँ-वहाँ उनके प्रतिपक्षी अवश्य होते हैं। जैसे 'अघट' का प्रतिपक्षी 'घट' है। जब हम अघट कहते हैं, तब उसमें 'घट' रूप व्युत्पत्ति वाले पद का निषेध होता है। अतः 'अघट' का विरोधी 'घट' अवश्य विद्यमान है। जिसका प्रतिपक्षी नहीं होता, उससे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का निषेध भी नहीं होता। जैसे अखर-विषाण अथवा अडित्थ। इसमें खर-विषाण शुद्ध पद नहीं, क्योंकि वह समास युक्त है। 'डित्थ'^१ शब्द व्युत्पत्ति वाला नहीं है। अतः दोनों को व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद नहीं कहा जा सकता। अतः अखर-विषाण के विरोधी खर-विषाण तथा अडित्थ के विरोधी डित्थ की विद्यमानता आवश्यक नहीं, किन्तु अजीव में यह बात नहीं। उससे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद जीव का निषेध हुआ है। अतः जीव का अस्तित्व अवश्यभावो है।

निषेध्य होने से जीव-सिद्धि

पुनश्च, तुम कहते हो कि 'जीव नहीं है'। इसी कथन से जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यदि जीव का सर्वथा अभाव हो, तो 'जीव नहीं है' ऐसा प्रयोग ही शक्य नहीं। जैसे दुनिया में यदि घड़ा कहीं भी न हो, तो 'घड़ा नहीं है' ऐसा प्रयोग ही न होता। इसी प्रकार जीव के सर्वथा अभाव में 'जीव नहीं है' यह प्रयोग भी नहीं हो सकता। जब हम यह कहते हैं कि 'घट नहीं है' तब घट हमारे सामने न होकर भी अन्यत्र अवश्य विद्यमान होता है। इसी प्रकार 'जीव नहीं है' ऐसा कथन करने पर यदि यहाँ नहीं तो अन्यत्र उसका अस्तित्व मानना ही चाहिए। जो वस्तु सर्वथा अभाव स्वरूप हो उसके विषय में निषेध भी नहीं किया जाता। यह भी नहीं कहा जाता कि वह 'नहीं है'। जैसे कि खर-विषाण और छठे भूत के विषय में। तुम जीव का निषेध करते हो, अतः तुम्हें उसका अस्तित्व मानना चाहिए। [१५७३]

इन्द्रभूति—'खर-विषाण नहीं है' ऐसा प्रयोग होता तो है। फिर आप यह कैसे कहते हैं कि जिसका सत्त्व अस्तित्व न हो उसके विषय में यह प्रयोग नहीं होता कि 'नहीं है' और जिसके साथ 'नहीं है' इस शब्द का प्रयोग होता है, उसका आपके मत के अनुसार अवश्य अस्तित्व होता है। अतः आपको 'खर-विषाण' का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा, क्योंकि यह प्रयोग होता है कि खर-विषाण नहीं है।

1. लकड़ी के हाथी को डित्थ कहते हैं।

निषेध का अर्थ

भगवान्—मैं इस नियम पर दृढ़ हूँ कि जो सर्वथा असत् अर्थात् अविद्यमान होता है, उसका निषेध नहीं हो सकता और जिसका निषेध होता है वह संसार में कहीं न कहीं विद्यमान होता ही है। वस्तुतः निषेध से वस्तु के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं होता, किन्तु उसके संयोगादि के अभाव का प्रतिपादन होता है। अर्थात् देवदत्त जैसे किसी भी पदार्थ का जब हम निषेध करते हैं तब उसके सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु अन्यत्र विद्यमान देवदत्त आदि का अन्यत्र संयोग नहीं, अथवा समवाय नहीं, अथवा सामान्य या विशेष नहीं, यही बात बताना हमें इष्ट होता है। जब हम यह कहते हैं कि 'देवदत्त घर में नहीं है' तब इस का तात्पर्य केवल यह होता है कि देवदत्त और घर दोनों का अस्तित्व होने पर भी दोनों का संयोग नहीं। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'खर-विषाण नहीं' तब इसका सार यही है कि खर और विषाण दोनों पदार्थ अपने-अपने स्थान पर विद्यमान हैं, परन्तु उन दोनों में समवाय सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'दूसरा चन्द्र नहीं है' तब चन्द्र का सर्वथा निषेध नहीं होता किन्तु चन्द्र सामान्य का निषेध होता है। अर्थात् एक व्यक्ति में सामान्य का अवकाश नहीं। जब हम यह कहते हैं कि 'घड़े जितना बड़ा मोती नहीं है' तब मोती का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं होता, किन्तु घट के परिमाण रूप विशेष का मोती में अभाव बताना ही हमारा लक्ष्य होता है। इसी प्रकार 'आत्मा नहीं है' इस कथन में आत्मा का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नहीं होना चाहिए, किन्तु उनके संयोगादि का ही निषेध मानना चाहिए।

इन्द्रभूति—आपके नियमानुसार यदि मेरे सम्बन्ध में कभी यह कहा जाए कि 'तुम त्रिलोकेश्वर नहीं' तो मैं तीनों लोकों का ईश्वर भी बन जाऊंगा, क्योंकि मेरी त्रिलोकेश्वरता का निषेध किया गया है। किन्तु आप यह जानते हैं कि मैं तीन लोक का ईश्वर नहीं हूँ। अतः यह नियम अयुक्त है कि जिसका निषेध किया जाए, वह पदार्थ होना ही चाहिए। अपि च, आप के मत में निषेध उक्त चार प्रकार के हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि 'पाँचवें प्रकार का निषेध नहीं है' किन्तु आप के बताए हुए नियम से निषेध का पाँचवाँ प्रकार भी होना चाहिए। कारण यह है कि आप उसका निषेध करते हैं

भगवान्—तुम मेरे कथन के तात्पर्य को भलीभाँति समझ नहीं सके, अन्यथा ऐसा प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जब यह कहा जाता है कि 'तुम तीन लोक के ईश्वर नहीं हो', तब तुम्हारी ईश्वरता का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं होता, क्योंकि तुम अपने शिष्यों के ईश्वर तो हो ही। अतः त्रिलोकेश्वरता रूप विशेष मात्र का ही निषेध अभीष्ट है। इसी प्रकार पाँचवें प्रकार के निषेध का तात्पर्य इतना ही है कि प्रतिषेध पाँच संख्या से विशिष्ट नहीं है। प्रतिषेध का सर्वथा अभाव अभिप्रेत ही नहीं है।

इन्द्रभूति—मुझे आप की ये सब बातें सर्वथा असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। आप इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि मेरी त्रिलोकेश्वरता मूल में ही असत् अथवा अविद्यमान है, अतः असत् का ही निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्रतिषेध का पांचवां प्रकार भी सर्वथा असत् है, इसीलिए उसका निषेध किया गया है। इसी प्रकार संयोग, समवाय, सामान्य और विशेष, ये सब भी असत् ही हैं, इसीलिए घर आदि में उनका निषेध किया गया है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि जो असत् है, उसका निषेध होता है, अतः आपका यह कथन अयुक्त है कि 'जिसका निषेध होता है, वह विश्रमान ही होता है।'

सर्वथा असत् का निषेध नहीं

भगवान्—मेरे कथन को ठीक तरह समझने का प्रयत्न करोगे तो वह तुम्हें युक्तिपूर्ण ज्ञात होगा। मैंने यह नहीं कहा कि जिसका निषेध किया जाता है, वह सर्वत्र सर्वथा होता है। मेरे कहने का भावार्थ इतना ही है कि जहाँ जिस वस्तु का निषेध किया जाए, वह चाहे वहाँ न हो, तथापि वह अन्यत्र विद्यमान होती है। देवदत्त का संयोग घर में भले ही न हो, किन्तु अन्यत्र मार्ग में अथवा किसी दूसरे के घर में तो देवदत्त का संयोग विद्यमान ही होता है। इसी प्रकार समवाय, सामान्य और विशेष के विषय में यह निश्चित है कि एक जगह यदि उनका निषेध किया जाए तो वे अन्यत्र विद्यमान ही होते हैं।

इन्द्रभूति—आपकी बात मान कर ही यदि मैं यह कहूँ कि शरीर में जीव नहीं तो इसमें क्या दोष है? शरीर में अविद्यमान जीव का ही मैं निषेध करता हूँ। आप शरीर में भी जीव मानते हैं। मुझे इस पर आपत्ति है।

शरीर जीव का आश्रय है

भगवान्—तुमने यह कह कर मेरा परिश्रम कम कर दिया है। मेरा मूल उद्देश्य जीवन के अस्तित्व को सिद्ध करना है। यदि उसकी सिद्धि हो जाए तो उसका आश्रय, स्वतः सिद्ध हो ही जाएगा; क्योंकि जीव निराश्रय नहीं है। तुमने शरीर में जीव का निषेध किया है, इससे उसकी विद्यमानता उक्त नियम से सिद्ध हो ही जाती है। अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि वह वस्तुतः शरीर में है या नहीं? जीवित शरीर में जीव की उपस्थिति के चिह्न (ज्ञानादि) दिखाई देते हों, तो शरीर में जीव क्यों न माना जाए? तुम ही इसे सोच कर बताओ।

इन्द्रभूति—शरीर में जीव मानने के स्थान पर शरीर को ही जीव मानने में क्या बाधा है?

भगवान्—जब तक शरीर में जीव होता है तब तक ही यह व्यवहार होता है कि 'यह जीवित है'। शरीर से जीव का सम्बन्ध टूट जाने पर कहा जाता है कि 'यह मर गया'। जीव में मूढ़ता आने पर कहा जाता है कि 'यह मूर्च्छित हो गया।' यदि शरीर को ही जीव माना जाए, तो ये व्यवहार नहीं हो सकते। [१५७४]

जीव-पद सार्थक है

अपि च, 'जीव' पद 'घट' पद के समान व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए—अर्थात् जीव पद का कुछ अर्थ होना चाहिए। जो पद सार्थक नहीं होता, वह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद भी नहीं होता, जैसे डिस्थ या खर-विषाण आदि पद। जीव पद वैसा नहीं है—वह व्युत्पत्ति वाला पद है, अतः उसका अर्थ होना ही चाहिए।

इन्द्रभूति—देह ही 'जीव' पद का अर्थ है। उससे भिन्न कोई वस्तु जीव पद का अर्थ नहीं है। शास्त्र-वचन भी है। 'जीव' शब्द का व्यवहार देह के लिए ही होता है, जैसे कि यह जीव है, वह इसका घात नहीं करता। तात्पर्य यह है कि आप जीव को तो नित्य मानते हैं, अतः इसके घात का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, शरीर का ही घात होता है। अतः उक्त वचन में जीव के घात का जो निषेध बताया गया है, वह जीव शब्द का अर्थ शरीर मान कर ही है।

जीव-पद का अर्थ देह नहीं

भगवान्—'जीव' पद का अर्थ शरीर नहीं हो सकता। कारण यह है कि जीव शब्द के पर्याय शरीर शब्द के पर्यायों से भिन्न हैं। जिन शब्दों के पर्यायों में भेद हो उन शब्दों के अर्थ में भी भेद होना चाहिए। जैसे घट शब्द और आकाश शब्द के पर्याय भिन्न-भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न हैं। इसी प्रकार जीव और शरीर के भी पर्याय भिन्न-भिन्न हैं, जैसे कि जीव के पर्याय हैं—जन्तु, प्राणी, सत्व, आत्मा आदि। शरीर के पर्याय हैं—देह, वपु, काय, कलेवर आदि। इस प्रकार पर्याय का भेद होने पर भी यदि अर्थ में अभेद हो तो संसार में वस्तु भेद ही नहीं रह सकता; सभी को एक रूप ही मानना पड़ेगा। उक्त शास्त्र-वचन में शरीर को जो जीव कहा गया है, वह उपचार से है, क्योंकि जीव प्रायः शरीर का सहचारी है और शरीर में ही अवस्थित है। इसीलिए शरीर में जीव का उपचार कर दिया जाता है। वस्तुतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न ही हैं। यदि ऐसा न हो तो लोगों का यह कहना कि 'जीव तो चला गया, अब शरीर को जला दो,' शक्य नहीं हो सकता।

फिर, देह और जीव के लक्षण भी भिन्न हैं। जीव ज्ञानादि गुण-युक्त है जब कि देह जड़ है। अतः देह ही जीव कैसे हो सकता है? अतः तुम्हें दोनों को पृथक् ही मानना चाहिए। मैं तुम्हें यह पहले ही समझा चुका हूँ कि ज्ञानादि गुण देह में सम्भव नहीं, क्योंकि देह मूर्त है—इत्यादि। [१७७५-७६]

सर्वज्ञ-वचन द्वारा जीव-सिद्धि

इस प्रकार मैंने प्रत्यक्ष और अनुमान से जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है।

1. देह एवाऽयमनुप्रयुज्यमानो दृष्टः, यथैषः जीवः, एनं न हिनस्ति ।

फिर भी अभी तुम्हारे मन में सन्देह बाकी है। अतः अब यह अन्तिम प्रमाण ऐसा देता हूँ कि जिससे तुम्हारे सन्देह का सर्वथा निराकरण हो जाएगा :—

तुम्हें मेरा यह कथन सत्य मानना चाहिए कि जीव है। कारण यह है कि यह मेरा वचन है। तुम्हारे संशय का प्रतिपादन करने वाला मेरा वचन तुमने सत्य माना है, इसी प्रकार इसे भी स्वीकार करना चाहिए। अथवा 'जीव है' यह मेरा वचन तुम्हें सत्य मानना चाहिए क्योंकि यह सर्वज्ञ का वचन है। तुम्हारे इष्ट सर्वज्ञ के वचन के समान मेरा वचन भी तुम्हें प्रमाण मानना चाहिए। [१५७७]

इन्द्रभूति—आप सर्वज्ञ हैं तो इसमें क्या बात है? क्या सर्वज्ञ भूठ नहीं बोलता?

सर्वज्ञ भूठ नहीं बोलता

भगवान्—नहीं, कभी नहीं। कारण यह है कि मुझ में भय, राग, द्वेष, मोह आदि दोष जिनके वशीभूत होकर मनुष्य भूठा अथवा हिंसक वचन बोलता है, नहीं हैं। अतः मेरे समस्त वचन ऐसे ही सत्य और अहिंसक हैं जैसे कि ज्ञाता मध्यस्थ के वचन। अतः मेरे वचनों पर विश्वास करके तुम्हें जीव का अस्तित्व मानना चाहिए। [१५७८]

इन्द्रभूति—मैं यह कैसे समझूँ कि आप सर्वज्ञ हैं?

भगवान् सर्वज्ञ क्यों?

भगवान्—मैं तुम्हारे सब संशयों का निवारण करता हूँ। यही मेरी सर्वज्ञता का प्रमाण है। जो सर्वज्ञ नहीं होता, वह सर्व संशयों का निवारण कैसे कर सकता है? तुम्हें जिस किसी विषय में सन्देह हो—जिन विषयों को तुम न जानते हो, उन सब को मुझ से पूछ कर तुम तसल्ली कर सकते हो कि मैं सब संशयों का निवारण करने वाला सर्वज्ञ हूँ या नहीं। [१५७९]

इस प्रकार हे गौतम! उपयोग लक्षण वाले जीव को सब प्रमाणों से सिद्ध स्वीकार कर लो। इस जीव के दो भेद हैं—संसारी और सिद्ध। संसारी जीव के पुनः दो भेद हैं—अस और स्थावर। यह बात भी तुम्हें जान लेनी चाहिए। [१५८०]

जीव एक ही है

इन्द्रभूति—आप जीव को नाना कहते हैं, किन्तु वेदान्त-शास्त्र में कहा गया है कि जीव-ब्रह्म एक ही है। जैसे कि—

“भिन्न-भिन्न भूतों में एक ही आत्मा प्रतिष्ठित है। फिर भी वह जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब के समान एक-रूप और नानारूप दिखाई देती है।”¹

1. एक एव हि भूतात्मा भूते भूते प्रतिष्ठितः।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ब्रह्मविन्दु उप० ११

“आकाश एक है और विशुद्ध है, फिर भी तिमिर रोग वाला पुरुष उसे अनेक रेखाओं से चित्र विचित्र देखता है। इसी प्रकार ब्रह्म विकल्प शून्य है— एक और विशुद्ध है। तदपि मानो वह अविद्या से क्लृप्ति न हो गया हो, भिन्न अथवा अनेक रूपों से भासित होता है।”¹

“जिसका मूल उर्ध्व आकाश में है और शाखाएँ नीचे जमीन में हैं, ऐसे अश्वत्थ-वृक्ष को अव्यय शाश्वत कहा गया है। छन्द उसके पत्ते हैं। जो उसे जानता है, वही वेदज्ञ (ब्रह्मज्ञ) है।”²

उपनिषदों में भी कहा है—“जो कुछ था और जो कुछ होगा, वह सब पुरुष रूप ही है, वह पुरुष ही अमृत का स्वामी है जो अन्न से बढ़ता है।”³ “जो काँपता है, जो नहीं काँपता, जो दूर है, जो निकट है, जो सब के अन्तर में है और जो सर्वत्र बाहर है—यह सब पुरुष ही है।”⁴

इस प्रकार सब कुछ ब्रह्म-रूप ही मानें तो क्या हानि है ?

जीव अनेक हैं

भगवान्—हे गौतम ! नारक, देव, मनुष्य तथा तिर्यच इन सब पिण्डों में आकाश के समान यदि एक ही आत्मा हो तो क्या हानि है ? यह तुम्हारा प्रश्न है, किन्तु आकाश के समान सब पिण्डों में एक आत्मा सम्भव नहीं। कारण यह है कि आकाश का सर्वत्र एक ही लिंग अथवा लक्षण अनुभव में आता है। अतः आकाश एक ही है,

1. यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।

संकीर्णमिव मात्राभिभिन्नाभिरमिन्यते ॥

तथेदममलं ब्रह्म निविकल्पमविद्यया ।

कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥ बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 3.4.43-44

2. ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ भगवद्गीता 15.1; योगशिखोपनिषद् 6, 14

3. ‘पुरुष एवेदं गिन सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।’ मुद्रित विशेषावश्यक भाष्य की टीका में ‘पुरुष एवेद गिन सर्वं’ ऐसा पाठ है, किन्तु वस्तु स्थिति और है। यह मन्त्र ऋग्वेद 10 90.2; सामवेद 619; यजुर्वेद 31.2; तथा अथर्व वेद 19.6.4 में है। पाठ ‘पुरुष एवेदं सर्वं’ ऐसा ही है। केवल यजुर्वेदी पाद के बीच में आने वाले अनुस्वार के स्थान में ‘गु’ उच्चारण करते हैं और ऋग्वेदी अथवा अथर्ववेदी वैसे उच्चारण न करके अनुस्वार को अनुस्वार रूप में ही उच्चारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेदी के इस उच्चारण भेद को लिपि में बद्ध करते हुए काल क्रम से ‘गिन’ विपर्यय हो गया है।

4. यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यद् अन्तिके ।

यदन्तरस्य सर्वस्य यत् सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ईशावास्योपनिषद् मन्त्र 5.

किन्तु जीव के विषय में यह बात नहीं है। वह प्रत्येक पिण्ड में विलक्षण है, अतः उसे सर्वत्र एक नहीं माना जा सकता। यह नियम है कि लक्षण भेद होने पर वस्तु भेद स्वीकार करना चाहिए। तदनुसार यदि जीव के लक्षण प्रत्येक पिण्ड में भिन्न-भिन्न दृग्गोचर हों तो प्रति पिण्ड में जीव पृथक्-पृथक् मानना चाहिए। [१५८१]

इस बात का साधक अनुमान प्रमाण यह है :—

जीव नाना (भिन्न) हैं, क्योंकि उनमें लक्षण भेद हैं, घटादि के समान। जो वस्तु भिन्न नहीं होती, उसमें लक्षण भेद भी नहीं होता, जैसे कि आकाश।

अपि च, यदि जीव एक ही हो तो सुख दुःख, बन्ध, मोक्ष की भी व्यवस्था नहीं बन सकती, अतः अनेक जीव मानने चाहिए। हम देखते हैं कि संसार में एक जीव सुखी है और दूसरा दुःखी-एक बन्धन-बद्ध है तो दूसरा बन्धन-मुक्त(सिद्ध)। एक ही जीव का एक ही समय में सुखी और दुःखी होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार एक ही जीव का एक समय ही बद्ध और मुक्त होना भी सम्भव नहीं। कारण यह है कि उस में विरोध है। [१५८२]

इन्द्रभृति—जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग है। वह सब जीवों में है, तो फिर आप प्रति पिण्ड में लक्षण भेद कैसे मानते हैं ?

भगवान्—सभी जीवों में उपयोग-रूप सामान्य लक्षण समान होने पर भी प्रत्येक शरीर में विशेष-विशेष उपयोग का अनुभव होता है। अर्थात् जीवों में उपयोग के अपकर्ष तथा उत्कर्ष का तारतम्य अनन्त प्रकार का होने के कारण जीव भी अनन्त मानने चाहिए। [१५८३]

इन्द्रभृति—आप ने कहा है कि जीव को एक मानने से सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती। कृपा कर इस का स्पष्टीकरण करें।

भगवान्—यदि जीव को सर्वत्र एक ही माना जाए तो उसे सर्वगत अथवा सर्वव्यापी मानना पड़ेगा, किन्तु जैसे सर्व-व्यापक होने के कारण आकाश में सुख-दुःख अथवा बन्धन-मोक्ष घटित नहीं होते, उसी प्रकार जीव के सर्वगत होने पर ये सम्भव नहीं होंगे। जिस में सुख-दुःख अथवा बन्ध-मोक्ष होते हैं वह देवदत्त के समान सर्वगत भी नहीं होता।

पुनश्च, जो एक ही हो वह कर्ता, भोक्ता, मननशील अथवा संसारी भी नहीं हो सकता, जैसे कि आकाश। अतः जीव को एक न मान कर अनन्त ही मानना चाहिए। [१५८४]

अपि च, यदि सभी जीव एक ही हों, उनमें कोई भेद न हो, तो संसार में कोई भी सुखी न रहे। कारण यह है कि चारों गति के जीवों में नारक और तिर्यक् ही अधिक हैं और वे सब नाना प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक पीड़ाओं से ग्रस्त होने के कारण दुःखी ही हैं। इस प्रकार जीव का अधिकतर अंश दुःखी होने के कारण

जीव को भी दुःखी ही कहना चाहिए, सुखी नहीं। यदि किसी के समस्त शरीर में रोग व्याप्त हो और केवल एक अंगुली ही रोग-मुक्त हो तो उस व्यक्ति को रोगी ही कहते हैं। इसी प्रकार जीवों के अधिकांश भाग में दुःख व्याप्त हो तो जीव को दुःखी ही समझना चाहिए, हम उसे सुखी नहीं कह सकते। फिर किसी जीव के मुक्त होने की भी सम्भावना नहीं रहेगी, अतः वह सुखी भी नहीं हो सकेगा। कारण यह है कि जीवों का अधिकांश भाग तो बद्ध ही है। जैसे किसी के सारे शरीर में कीलें ठोकी गई हों और केवल एक अंगुली ही छोड़ दी गई हो तो उसे स्वतन्त्र नहीं कह सकते, वैसे ही जीव का अधिकांश भाग बद्ध हो तो एकांश के मुक्त होने के कारण उसे मुक्त नहीं माना जा सकता। अतः सभी जीवों को एक मानने से कोई सुखी अथवा मुक्त नहीं कहला सकेगा, फलतः जीव अनेक मानने चाहिए। [१५८५]

इन्द्रभूति—‘जीव एक नहीं किन्तु अनेक हैं’ आपका यह कथन युक्ति सिद्ध है, किन्तु प्रत्येक जीव को जैसे सांख्य^१ आदि दर्शनों में सर्व-व्याप्त माना है, वैसे मानने में क्या आपत्ति है ?

जीव सर्व-व्यापी नहीं

भगवान्—जीव सर्व-व्यापी नहीं किन्तु शरीर-व्यापी है क्योंकि उसके गुण शरीर में ही उपलब्ध होते हैं। जैसे घट के गुण घट से बाह्य देश में उपलब्ध नहीं होते, अतः वह व्यापक नहीं; इसी प्रकार आत्मा के गुण भी शरीर से बाहर उपलब्ध नहीं होते, अतः वह शरीर-प्रमाण ही है। अथवा जहाँ जिसकी उपलब्धि प्रमाण सिद्ध नहीं होती अर्थात् जो जहाँ प्रमाण द्वारा अनुपलब्ध है, वहाँ उसका अभाव मानना चाहिए; जैसे भिन्न स्वरूप घट में पट का अभाव है। शरीर से बाहर संसारी आत्मा की अनुपलब्धि है, अतः शरीर से बाहर उसका भी अभाव मानना चाहिए। [१५८६]

अतः जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध, मोक्ष, सुख तथा दुःख एवं संसार ये सब तभी युक्तिसंगत होते हैं जब उसे अनेक और शरीर-व्यापी माना जाए। अतः जीव को अनेक और असर्वगत मानना चाहिए। [१५८७]

इन्द्रभूति—आपकी युक्तियाँ सुन कर मैं जीव सम्बन्धी अपने सन्देह को अब छोड़ना चाहता हूँ; किन्तु पहले कहे गए ‘विज्ञानघन एवं एतेभ्यः’^२ इत्यादि वेदवाक्य मेरे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। वे मुझे पुनः सन्देह में डाल देते हैं कि यदि जीव युक्ति-सिद्ध हो तो वेद में ऐसा प्रतिपादन क्यों किया गया ?

वेद-वाक्यों का संगतार्थ

भगवान्—गौतम ! तुम इन वेद-वाक्यों का सच्चा अर्थ नहीं जानते। इसी-लिए तुम ऐसा समझते हो कि पद के अंगों अर्थात् कारणों के समुदाय मात्र से ही

1. टीका में नैयायिक आदि है, किन्तु सांख्य प्राचीन है, अतः मैंने सांख्य आदि लिखा है।
2. गथा 1553 की व्याख्या देखें।

विज्ञानघन समुद्भूत होता है। यह विज्ञान मात्र आत्मा ही है। इसके अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं जो परलोक से आती हो। बाद में वह विज्ञान-रूप आत्मा भूतों का नाश हो जाने पर विनष्ट हो जाती है और इस कारण वह परलोक या परभव में जाती भी नहीं। अर्थात् यह जीव पूर्व-भव में अमुक था और वहाँ से इस जन्म में आया, उसी प्रकार वह जीव यहाँ से मर कर आगामी जन्म में अमुक रूप में होगा, ऐसी कोई जन्म-जन्मान्तर में एक जीव(व्यक्ति)के अस्तित्व को बताने वाली प्रेत्यसंज्ञा परलोक-व्यवहार नहीं है। अर्थात् यह बात नहीं है कि अमुक पहले नारक अथवा देव था, किन्तु अब मनुष्य हुआ है। उन वेद-वाक्यों का तुम यह तात्पर्य समझते हो कि जीव एक भव से दूसरे भव में नहीं जाता, क्योंकि वह भूत समुदाय से नया ही उत्पन्न होता है और समुदाय के नाश के साथ नष्ट भी हो जाता है। [१५८८-९०]

हे गौतम ! उक्त वेद-वाक्यों का तुम उपर्युक्त रीति से अर्थ करते हो, इसीलिए तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है कि जीव ही नहीं। किन्तु वेद के ही 'न ह वै सशरीरस्य'^१ इत्यादि अन्य वाक्यों में जीव का अस्तित्व बताया गया है और फिर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'^२ इत्यादि वाक्यों में हवन की क्रिया का फल परलोक में स्वर्ग बताया है जो भवान्तर में गमन करने वाली नित्य आत्मा को स्वीकार किए बिना सम्भव नहीं; अतः इस प्रकार जीव के अस्तित्व सम्बन्धी परस्पर विरोधी वेद-वाक्यों के श्रवण से तुम्हें जीव के अस्तित्व के विषय में, मेरी युक्तियाँ सुन लेने पर भी, सन्देह होता है कि वस्तुतः जीव होगा या नहीं।

किन्तु, हे गौतम ! अब इस संशय का कोई कारण नहीं। तुमने वेद-पदों का जो पूर्वोक्त अर्थ किया है वह यथार्थ नहीं। मैं तुम्हें जो अर्थ बताता हूँ उसे सुनो। [१५९१-९२]

इन्द्रभूति—आप कृपा कर उन वेद-पदों का अर्थ बताएँ ताकि मेरा संशय दूर हो।

भगवान्—उक्त 'विज्ञानघन एव'^३ इत्यादि वाक्य में विज्ञानघन शब्द का अर्थ जीव है, क्योंकि विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। ज्ञान-दर्शन रूप ही विज्ञान है। इस विज्ञान से अनन्य (अभिन्न) होने के कारण उसके साथ ही एक रूप घन या निविड होने वाला जीव विज्ञानघन कहलाता है। अथवा इस जीव के प्रत्येक प्रदेश में अनन्तानन्त विज्ञान-पर्यायों का संघात होने के कारण भी जीव को 'विज्ञानघन' कहते हैं।

उक्त वाक्य में 'एव' पद का तात्पर्य यह है कि जीव विज्ञानघन ही है, अर्थात् विज्ञान-रूप ही है; विज्ञान जीव का स्वरूप ही है। जीव से विज्ञान अत्यन्त भिन्न नहीं है। यदि विज्ञान जीव से सर्वथा भिन्न हो तो जीव जड़ स्वरूप हो जाएगा। इसलिए

1. गाथा 1553 की व्याख्या देखें।

2. गाथा 1553 की व्याख्या देखें।

3. गाथा 1553 की व्याख्या देखें।

नैयायिक इत्यादि जो ज्ञान को आत्मा का स्वरूप नहीं मानते, के मत में आत्मा जड़ रूप हो जाएगी ।

‘भूतेभ्यः समुत्थाय’ इत्यादि का तात्पर्य यह है--घट-पट आदि भूतों से घट विज्ञान, पट विज्ञान आदि के रूप में विज्ञानघन (जीव) उत्पन्न होता है, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है । प्रस्तुत में घट आदि ज्ञेय पदार्थ भूत हैं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि घट आदि भूतों से घट-विज्ञान उत्पन्न हुआ । यह घट-विज्ञान जीव का एक विशेष पर्याय है, और जीव विज्ञानमय है । अतः हम यह कह सकते हैं कि घट-विज्ञान-रूप जीव घट नामक भूत से उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार पट-विज्ञानरूप जीव पट नामक भूत से उत्पन्न हुआ; इत्यादि । इस प्रकार अलग-अलग भौतिक विषयों की अपेक्षा से जीव की अनन्त पर्याय उत्पन्न [होती है, और जीव की पर्याय जीव से अभिन्न होने के कारण जीव अमुक-अमुक विज्ञान रूप में भूतों से उत्पन्न होता है । ऐसा मानना उचित ही है [१५६३]

‘तान्येवानु विनश्यति’ का अर्थ यह है कि ज्ञान के आलम्बन-रूप भूत जब ज्ञेय रूप में विनाश को प्राप्त होते हैं तब उनसे उत्पन्न होने वाला विज्ञानघन भी नष्ट हो जाता है । अर्थात् जब घटादि की ज्ञेयरूपता नष्ट हो जाती है तब घट-विज्ञान आदि आत्म-पर्याय भी नष्ट हो जाती हैं । उक्त पर्याय विज्ञानघन स्वरूप जीव से अभिन्न होने के कारण विज्ञानघन (जीव) का भी नाश हो जाता है, ऐसा कथन अनुचित नहीं है । विषय का व्यवधान, उसका स्थगित हो जाना, उसके जीवन का लोप हो जाना अन्य विषय में मन का प्रवृत्त होना, इत्यादि कारणों से जब आत्मा अन्य विषय में उपयोग वाली होती है, तब घटादि की ज्ञेय-रूपता का नाश होता है और पट आदि की ज्ञेय-रूपता उत्पन्न होती है । अतः आत्मा में घटादि विज्ञान नष्ट होता है और पटादि ज्ञान उत्पन्न होता है । सारांश यह है कि घटादि विज्ञेय भूतों से घट-विज्ञानादि पर्याय-रूप में विज्ञानघन (जीव) उत्पन्न होता है और कालक्रमेण व्यवधान आदि के कारण जीव की प्रवृत्ति अन्य विषय में हो जाने से जब घटादि भूतों की विज्ञेयरूपता नष्ट होती है तब घटादि ज्ञान-पर्याय-रूप में विज्ञानघन (जीव) का भी नाश होता है । [१५६४]

जीव नित्यानित्य है

इस प्रकार आत्मा पूर्व-पर्याय के विगम (नाश) की अपेक्षा से विगम (व्यय) स्वभाव वाली है तथा अरर पर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्भव (उत्पाद) स्वभाव वाली है । हम देख चुके हैं कि घटादि विज्ञान-रूप उपयोग का नाश होने पर पटादि विज्ञान-रूप उपयोग उत्पन्न होता है, इससे जीव में उत्पाद और व्यय ये दोनों स्वभाव होने से वह विनाशी सिद्ध होता है । किन्तु विज्ञान की सन्तति की अपेक्षा से विज्ञानघन (जीव) अविनाशी अथवा ध्रुव भी सिद्ध होता है । सारांश यह है कि आत्मा में सामान्य विज्ञान का अभाव कभी भी नहीं होता, विशेष विज्ञान का अभाव होता है; अतः विज्ञान-

सन्तति या विज्ञान-सामान्य की अपेक्षा से जीव नित्य है, ध्रुव है, अविनाशी है। इस प्रकार संसार के सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीन स्वभाव स्वरूप हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जिसका सर्वथा विनाश हो जाता हो अथवा सर्वथा अपूर्व उत्पाद होता हो। [१५६५]

'न प्रेत्य संजास्ति' इस वाक्यांश का भाव यह है—जब अन्य वस्तु में उपयोग प्रवृत्त होता है, तब पूर्व विषय का ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण पूर्वकालीन ज्ञान-संज्ञा नहीं होती, क्योंकि उस समय जीव का उपयोग साम्प्रत (वर्तमान) वस्तु के विषय में होता है। सारांश यह है कि जब घटोपयोग के निवृत्त होने पर पटोपयोग वर्तमान होता है तब घटोपयोग संज्ञा नहीं होती, क्योंकि यह उपयोग तो निवृत्त हो चुका है। अतः उस समय केवल पटोपयोग संज्ञा होती है, क्योंकि उस समय पटोपयोग वर्तमान होता है।

इस प्रकार उक्त वेद-वाक्य में विज्ञानघन पद से जीव का ही कथन किया गया है। ऐसा मान लें तो उस विषय में सन्देह का स्थान नहीं रहता। [१५६६]

इन्द्रभूति—आपने कहा है कि 'घटादि भूतों से विज्ञानघन (जीव) उत्पन्न होता है। इसलिए यदि आप को व्याख्या मान ली जाए तो भी जीव भूतों से स्वतंत्र द्रव्य सिद्ध नहीं होता; प्रत्युत वह भूतों का ही धर्म सिद्ध होता है। अर्थात् विज्ञानघन (जीव) पृथ्वी आदि भूतमय ही सिद्ध होता है, क्योंकि विज्ञान की उत्पत्ति तभी होती है जब भूत हों। यदि भूत न हों तो विज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं होती। दूसरे शब्दों में विज्ञान का भूतों से अन्वय-व्यतिरेक है। अतः वह भूतों का ही धर्म है; जैसे चन्द्रिका चाँद का धर्म है।

विज्ञान भूत-धर्म नहीं

भगवान्—तुम्हारा कथन युक्त नहीं है। कारण यह है कि भूतों के अभाव में भी ज्ञान होता है, अतः भूतों के साथ ज्ञान का व्यतिरेक नियम असिद्ध है।

इन्द्रभूति—यह कैसे? आप ही ने तो पहले कहा था कि भूतों की विज्ञेय-रूपता नष्ट होने पर विज्ञान भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् भूतों के अभाव में विज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार विज्ञान का भूतों से व्यतिरेक असिद्ध नहीं है।

भगवान्—मैंने विज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं बताया। विशेष विज्ञान का नाश होने पर भी विज्ञान-सन्तति, विज्ञान (सामान्य) का नाश नहीं होता, यह बात मैं तुम्हें समझा चुका हूँ। तुम उसे विस्मृत क्यों कर रहे हो? इससे भूतों का विज्ञेय-रूप में नाश होने पर भी सामान्य विज्ञान का अभाव नहीं होता। अतः भूतों का विशेष ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध होने पर भी सामान्य विज्ञान के साथ व्यतिरेक असिद्ध है। इसीलिए विज्ञान यह भूत-धर्म नहीं हो सकता। पुनश्च, वेद में भूतों के अभाव में भी विज्ञान का अस्तित्व बताया गया है। अतः विज्ञानघन भूत-धर्म नहीं हो सकता। [१५६७]

इन्द्रभूति—वेद के कौन से वाक्य में यह कहा गया है कि भूत के अभाव में भी विज्ञान है ?

भगवान्—वेद में एक वाक्य है—‘अस्तमिते आदित्ये याज्ञवल्क्य ! चन्द्र-मस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नी, शान्तायां वाचि, किं ज्योतिरेवायं पुरुषः ? आत्मज्योतिरेवायं सम्राडिति होवाच ।’ अर्थात् हे याज्ञवल्क्य ! जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्र अस्त हो जाता है, अग्नि शान्त हो जाती है, वचन शान्त हो जाता है, तब पुरुष में कौन सी ज्योति होती है ? हे सम्राट् ! उस समय आत्म-ज्योति ही होती है। इस वाक्य में पुरुष में कौन सा तेज है ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि पुरुष आत्म-ज्योति है। प्रस्तुत में पुरुष का अर्थ आत्मा है और ज्योति का अर्थ ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि जब बाह्य समस्त प्रकाश अस्त हो जाता है तब भी आत्मा में ज्ञान का प्रकाश तो होता ही है। कारण यह है कि आत्मा स्वयं ज्ञान-रूप है। अतः ज्ञान को भूतों का धर्म नहीं कह सकते। [१५६८]

तुमने यह भी कहा है कि भूतों के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक है, किन्तु यह बात ठीक नहीं है। भूतों के अस्तित्व में भी मृत शरीर में ज्ञान का अभाव होता है और भूतों का अभाव होने पर भी मुक्तावस्था में ज्ञान की सत्ता है। अतः भूतों के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक असिद्ध है। इसलिए ज्ञान भूत-धर्म नहीं हो सकता। जैसे घट का सद्भाव होने पर नियमपूर्वक पट का सद्भाव नहीं होता तथा घट के अभाव में पट का सद्भाव सम्भव है, अतः पट को घट से भिन्न माना जाएगा; वैसे ही ज्ञान को भी भूतों से भिन्न मानना चाहिए। वह भूतों का धर्म नहीं हो सकता। [१५६९]

वेद-पद का क्या अर्थ है ?

इससे सिद्ध होता है कि तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते। अथवा यह कहना चाहिए कि तुम समस्त वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते। कारण यह है कि वेद-पदों को सुनते समय तुम्हें सन्देह होता है कि इनका क्या अर्थ होगा ? क्या वेद-पद का अर्थ श्रुति-मात्र है ? विज्ञान मात्र है ? अथवा वस्तु-भेद रूप है ? अर्थात् वह अर्थ क्या शब्द रूप है ? अथवा शब्द से होने वाला विज्ञान रूप है ? अथवा बाह्य वस्तु-विशेष रूप है ? बाह्य वस्तु-विशेष में भी क्या जाति रूप अर्थ है ? द्रव्य रूप है ? गुण रूप है ? किवा क्रिया रूप है ? ऐसा सन्देह तुम्हें सभी वेद-पदों के विषय में है। अतः यह कहा जा सकता है कि तुम वेद के किसी भी पद का अर्थ सम्यक् रूप से नहीं जानते। किन्तु तुम्हारा यह सन्देह अयुक्त है। कारण यह है कि यह निश्चय ही नहीं किया जा सकता कि अमुक वस्तु का धर्म अमुक ही है और अन्य नहीं है। [१६००-१६०१]

इन्द्रभूति—आप ऐसा किस लिए कहते हैं ?

भगवान्—क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ सर्वमय हैं।

इन्द्रभूति—यह कैसे ?

वस्तु की सर्वमयता

भगवान्—वस्तु की पर्याय दो प्रकार की हैं—स्वपर्याय तथा परपर्याय। इन दोनों पर्यायों की अपेक्षा से विचार किया जाए तो वस्तु सामान्य रूप से सर्वमय सिद्ध होती है किन्तु यदि केवल स्वपर्यायों की विवक्षा की जाए तो सर्वावस्तु विविक्षत है, सब से व्यावृत्त है, असर्वमय है। इस प्रकार यदि वेद के प्रत्येक पद का अर्थ विवक्षाधीन समझा जाए तो वह सामान्य विशेषात्मक ही होगा। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक प्रकार का ही है, और अमुक प्रकार का है ही नहीं। कारण यह है कि वस्तु वाच्य-रूप हो अथवा वाचक(शब्द)रूप हो, किन्तु स्व-पर-पर्याय की दृष्टि से तो विश्व-रूप ही है ? अतः सामान्य विवक्षा से 'घट' शब्द सर्वात्मक होने के कारण द्रव्य, गुण, क्रिया आदि समस्त अर्थों का वाचक है, किन्तु विशेषापेक्षा से वह प्रतिनियत रूप होने के कारण विशिष्ट आकार वाले मिट्टी आदि के पिण्ड का ही वाचक होता है। यही बात प्रत्येक शब्द के विषय में कही जा सकती है कि वह सामान्य विवक्षा से सभी अर्थों का वाचक हो सकता है, किन्तु विशेषापेक्षा से जिस एक अर्थ में वह रूढ़ होता है उसी का वाचक बनता है। [१६०२-१६०३]

इस प्रकार जब जरा-मरण से मुक्त भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति का संशय दूर किया, तब उसने अपने पांचसौ शिष्यों के साथ भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर ली। [१६०४]

आगे कर्म आदि की चर्चा के समय इस चर्चा के साथ जिस अंश में सदृशता हो, उसका वहाँ सम्बन्ध जोड़ कर चर्चा का मर्म समझ लेना चाहिए। उसमें जो विशेषता होगी, वह मैं प्रतिपादित करूँगा। (ऐसा आचार्य जिनभद्र कहते हैं।) [१६०५]



द्वितीय गणधर अग्निभूति

कर्म के अस्तित्व की चर्चा

इन्द्रभूति की दीक्षा की बात सुन कर उसके छोटे भाई दूसरे विद्वान् अग्निभूति के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं भगवान् महावीर के पास जाकर और उन्हें पराजित कर इन्द्रभूति को वापिस ले आऊँ। यह विचार कर वह क्रुद्ध होता हुआ भगवान् के समीप पहुँचा। वह समझता था कि मेरा बड़ा भाई शास्त्रार्थ में तो अजेय है, निश्चय पूर्वक श्रमण महावीर ने उसे छल कपट से ठगा होगा। यह श्रमण कोई इन्द्रजालिक या मायावी होना चाहिए। न जाने उसने क्या-क्या किया होगा? वहाँ जो कुछ हुआ है; उसे मैं अपनी आँखों से देखूँ और इस भेद का उद्घाटन करूँ। यह भी सम्भव है कि इन्द्रभूति को उन्होंने पराजित भी किया हो। यदि वे मेरे किसी भी पक्ष का पार पा जाएँ (मेरे सन्देह का निराकरण कर दें) तो मैं भी उनका शिष्य बन जाऊँगा। ऐसा कह कर वह भगवान् के पास जा पहुँचा। [१६०६-१६०८]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने उसे नाम और गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा, “अग्निभूति गौतम ! आओ”। कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे। किन्तु अग्निभूति ने विचार किया कि मुझे संसार में कौन नहीं जानता? अतः उन्होंने मुझे मेरे नाम व गोत्र से बुलाया, इसमें कोई नई बात नहीं है; किन्तु यदि वे मेरे मन के संशय को जान लें अथवा दूर कर दें तो अवश्य ही आश्चर्य की बात होगी। [१६०६]

कर्म के विषय में संशय

इस प्रकार जब वह विचार में तल्लीन था, तब भगवान् ने उससे कहा— अग्निभूति ! तुम्हारे मन में यह सन्देह है कि कर्म है अथवा नहीं? किन्तु तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें ऐसा सन्देह है। मैं तुम्हें उनका वास्तविक अर्थ बताऊँगा। [१६१०]

हे अग्निभूति ! तुम यह समझते हो कि कर्म प्रत्यक्ष आदि किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होता, वह सर्व प्रमाणातीत है, क्योंकि वह खर-विषाण के समान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं है। इस प्रकार जैसे इन्द्रभूति प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों से जीव को अग्राह्य सिद्ध करता था, वैसे ही तुम यह सिद्ध करते हो कि

कर्म किसी भी प्रमाण का विषय नहीं—वह सर्व प्रमाणातीत है। अपने इस मात की पुष्टि के लिए तुम वेद के 'पुरुष एवेदं सर्वं'¹ इत्यादि वाक्यों का आश्रय लेते हो और कहते हो कि कर्म का अस्तित्व नहीं है; किन्तु वेद में ऐसे भी वाक्य उपलब्ध होते हैं जिन से कर्म का अस्तित्व मानना पड़ता है। जैसे कि 'पुण्य पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा'² अर्थात् पुण्य कर्म से जीव पवित्र होता है और पाप कर्म से अपवित्र होता है, इत्यादि। इससे तुम्हें सन्देह होता है कि वस्तुतः कर्म है या नहीं ?

कर्म की सिद्धि

आपने मेरे सन्देह का कथन तो ठीक-ठीक कर दिया है, किन्तु यदि आप उसका समाधान भी करें तो मुझे आप की विद्वत्ता पर विश्वास हो जाएगा।

भगवान्—सौम्य ! तुम्हारा उक्त संशय अयुक्त है, क्योंकि मैं कर्म को प्रत्यक्ष देखता हूँ। तुम्हें चाहे वह प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु तुम अनुमान से उसकी सिद्धि कर सकते हो। कारण यह है कि सुख-दुःख की अनुभूति-रूप कर्म का फल (कार्य) तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है। इसलिए अनुमानगम्य होने के कारण कर्म को सर्व प्रमाणातीत नहीं कहा जा सकता।

अग्निभूति—किन्तु यदि कर्म की सत्ता है तो आपके समान मुझे भी उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

भगवान्—यह कोई नियम नहीं है कि जो वस्तु एक को प्रत्यक्ष हो वह सब को ही प्रत्यक्ष होनी चाहिए। सिंह, व्याघ्र आदि अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका प्रत्यक्ष सभी मनुष्यों को नहीं होता, तथापि यह कोई नहीं मानता कि संसार में सिंह आदि प्राणी नहीं है। अतः सर्वज्ञ-रूप मेरे द्वारा प्रत्यक्ष किए गए कर्म का अस्तित्व तुम्हें स्वोकार करना ही चाहिए; जैसे मैंने तुम्हारे संशय का प्रत्यक्ष कर लिया और तुमने उसका अस्तित्व मान लिया था।³

अपि च, अतीन्द्रिय होने के कारण तुम परमाणु का प्रत्यक्ष तो नहीं करते, परन्तु उसका कार्य-रूप प्रत्यक्ष तो तुम मानते ही हो। कारण यह है कि तुम्हें परमाणु के घटादि कार्य प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार तुम्हें कर्म स्वयं चाहे प्रत्यक्ष न हो, तथापि उसका फल (कार्य) सुख-दुःखादि तो प्रत्यक्ष ही है। अतः तुम्हें कर्म का कार्य-रूप में प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए। [१६११]

अग्निभूति—आपने पहले कहा था कि कर्म अनुमानगम्य है। अब आप वह अनुमान बताएँ।

1. गाथा 1581 देखें। इसकी विशेष चर्चा आगे गाथा 1643 में आएगी।
2. इसकी विशेष चर्चा 1643 में है। यह वाक्य बृहदारण्यक उप० (4.4.5.) में है।
3. ऐसी चर्चा, गाथा 1577-79 में देखें।

कर्मसाधक अनुमान

भगवान्—सुख-दुःख का कोई हेतु अथवा कारण होना चाहिए, क्योंकि वे कार्य हैं; जैसे अंकुर रूप कार्य का हेतु बीज है। सुख-दुःख रूप कार्य का जो हेतु है, वही कर्म है।

सुख-दुःख मात्र दृष्टकारणाधीन नहीं

अग्निभूति—यदि सुख-दुःख का दृष्ट कारण सिद्ध हो तो अदृष्ट-रूप कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है? हम देखते हैं कि सुगन्धित फूलों की माला, चन्दन आदि पदार्थ सुख के हेतु हैं और साँप का विष, काँटा आदि पदार्थ दुःख के हेतु हैं। जब इन सब दृष्ट कारणों से सुख-दुःख होता हो तब उसका अदृष्ट कारण कर्म क्यों माना जाए?

भगवान्—दृष्ट कारण में व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है, अतः अदृष्ट कारण मानना पड़ता है। [१६१२]

अग्निभूति—यह कैसे?

भगवान्—सुख-दुःख के दृष्ट साधन अथवा कारण समान रूप से उपस्थित होने पर भी उन के फल में (कार्य में) जो तारतम्य (विशेषता) दिखाई देता है वह निष्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यह विशेषता घट के समान ही कार्य-रूप है। अतः उस विशेषता का कोई जनक (हेतु) मानना ही चाहिए और वही कर्म है। जैसे कि सुख-दुःख के बाह्य साधन समान होने पर भी दो व्यक्तियों को उन से मिलने वाले सुख-दुःख रूप फल में तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् जिन साधनों से एक को सुख मिलता है, उनसे दूसरे को कम या अधिक मिलता है। तुमने माला को सुख का दृष्ट कारण माना है, किन्तु यदि इसी माला को कुत्ते के गले में डाली जाए तो वह उसे दुःख का कारण मान कर उससे छूटने का प्रयत्न क्यों करता है? फिर विष भी यदि सर्वथा दुःखदायी ही हो तो कितने ही रोगों में वह रोग निवारण द्वारा जीव को सुख क्यों प्रदान करे? अतः मानना पड़ेगा कि माला आदि सुख-दुःख के जो बाह्य साधन दिखाई देते हैं, उनके अतिरिक्त भी उन से भिन्न और अन्तरंग कर्मरूप अदृष्ट कारण भी सुख-दुःख का हेतु है। [१६१३]

कर्म-साधक अन्य अनुमान

कर्म का साधक एक अन्य प्रमाण यह है—आद्य बाल शरीर देहान्तर पूर्वक है—अर्थात् देहान्तर का कार्य है, क्योंकि वह इन्द्रिय आदि से युक्त है; जैसे कि युवा शरीर, यह बाल शरीर पूर्वक है। प्रस्तुत हेतु में आदि पद से सुख-दुःख, प्राणवान्, निमेष-उन्मेष, जीवन आदि धर्म भी समझ लेने चाहिए और इन धर्मों को भी हेतु बना कर उक्त साध्य की सिद्धि कर लेनी चाहिए। आद्य बाल शरीर जिस देहपूर्वक है, वह कार्मण शरीर अर्थात् कर्म है।

अग्निभूति—पूर्वोक्त अनुमान से इतनी बात ही सिद्ध होती है कि बाल शरीर देहान्तर पूर्वक है; अतः कर्मण शरीर के स्थान पर पूर्वभवीय अतीत शरीर को ही बाल शरीर के पहले का शरीर अर्थात् उसका कारण मानना चाहिए।

कर्मण शरीर की सिद्धि

भगवान्—पूर्वभव के अतीत शरीर को बाल शरीर का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि अन्तराल गति में उसका सद्भवात् अभाव ही होता है। अतः बाल शरीर पूर्वभवीय अतीत शरीर पूर्वक सम्भव ही नहीं है। अन्तराल गति में पूर्वभवीय शरीर का सद्भाव इसलिए नहीं है कि मृत्यु होने के पश्चात् जीव उस ओर गति करता है जहाँ नवीन जन्म होना हो। उस समय पूर्वभवीय शरीर छूट जाता है और नवीन शरीर का अभी ग्रहण नहीं होता। अतः अन्तराल गति में जीव औदारिक अथवा स्थूल शरीर से तो सर्वथा रहित होता है। इससे बाल शरीर को पूर्वभवीय औदारिक शरीर का कार्य नहीं कहा जा सकता। तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि वह पूर्व भव के शरीर पूर्वक है? और यदि जीव के कोई भी शरीर न हो तो वह नियत गर्भ देश में कैसे जा सकता है? अतः नियत देश में प्राप्ति का कारणभूत तथा नूतन शरीर की रचना का कारणभूत कोई शरीर को स्वीकार करना ही होगा। जैसे कहा जा चुका है, उसके अनुसार ऐसा कारण औदारिक शरीर तो नहीं हो सकता। अतः कर्मरूप कर्मण को ही बाल देह का कारण समझना चाहिए। जीव अपने स्वभाव से ही नियत देश में पहुँच जाएगा, यह मान्यता ठीक नहीं। इस विषय को मैं आगे स्पष्ट करूँगा।

शास्त्र में भी कहा है, 'मृत्यु के उपरान्त जीव कर्मण योग से आहार करता है।' अतः बाल शरीर को कर्मण शरीर पूर्वक मानना चाहिए। [१६१४]

चेतन की क्रिया सफल होने के कारण कर्म की सिद्धि

कर्म साधक तीसरा अनुमान यह है—दानादि क्रिया का कुछ फल होना ही चाहिए, क्योंकि वह सचेतन व्यक्ति द्वारा की गई क्रिया है, जैसे कि कृषि क्रिया। सचेतन पुरुष कृषि क्रिया करता है तो उसे उस का फल धान्यादि प्राप्त होता है, उसी प्रकार दानादि क्रिया का कर्ता भी सचेतन है, अतः उसे उसका कुछ न कुछ फल मिलना चाहिए। जो फल प्राप्त होता है वह कर्म है।

अग्निभूति—पुरुष कृषि करता है किन्तु अनेक बार उसे धान्यादि फल की प्राप्ति नहीं भी होती; अतः आपका यह हेतु व्यभिचारी है। इसीलिए यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया का कोई फल अवश्य होना चाहिए।

1. "जोएण कम्मएणं आहारैई अणंतरं जीवो ।" सूत्रकृतांग नियुक्ति 177

भगवान्—तुम इस बात को स्वीकार करोगे कि बुद्धिमान् चेतन जो क्रिया करता है वह उसे फलवती मान कर ही करता है। फिर भी जहाँ क्रिया का फल नहीं मिलता, वहाँ उसका अज्ञान अथवा सामग्री की विकलता या स्थूलता इस बात का कारण होता है। अतः सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया को निष्फल नहीं माना जा सकता। यदि ऐसी बात हो तो सचेतन पुरुष ऐसी निष्फल क्रिया में प्रवृत्ति ही क्यों करेगा? यह तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि यदि दानादि क्रिया भी मनःशुद्धि पूर्वक नहीं की जाती तो उसका कुछ भी फल नहीं मिलता। अतः मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि यदि सामग्री का साकल्य अथवा पूर्णता हो तो सचेतन द्वारा आरम्भ क्रिया निष्फल नहीं होती।

अग्निभूति—आपके कथन के अनुसार दानादि क्रिया का फल भले ही हो, किन्तु जैसे कृषि आदि क्रिया का दृष्ट फल धान्यादि है, वैसे दानादि क्रिया का भी सब के अनुभव से सिद्ध मनःप्रसाद रूप दृष्ट फल ही मानना चाहिए, परन्तु कर्मरूप अदृष्ट फल नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार तुम्हारा हेतु अभिप्रेत अदृष्ट कर्म के स्थान पर दृष्ट फल का साधक होने से विरुद्ध हेतुभास है। [१६१५]

भगवान्—तुम भूलते हो। मनःप्रसाद भी एक क्रिया है अतः सचेतन की अन्य क्रियाओं के समान उसका भी फल होना चाहिए। वह फल कर्म है, अतः मेरे इस नियम में कोई दोष नहीं कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया फलवती होती है।

अग्निभूति—मनःप्रसाद का फल भी कर्म है, यह बात आप कैसे कहते हैं?

भगवान्—क्योंकि उस कर्म का कार्य सुख-दुःख भविष्य में पुनः हमारे अनुभव में आते हैं।

अग्निभूति—आपने पहले दानादि क्रिया को कर्म का कारण बताया और और अब मनःप्रसाद को कर्म का कारण बताते हैं; अतः आपके कथन में पूर्वापर विरोध है।

भगवान्—बात यह है कि कर्म का कारण तो मनःप्रसाद ही है, किन्तु इस मनःप्रसाद का कारण दानादि क्रिया है। अतः कर्म के कारण के कारण में कारण का उपचार करके दानादि क्रिया को कर्म का कारण रूप माना जाता है। इस तरह पूर्वापर विरोध का परिहार हो जाता है। [१६१६]

अग्निभूति—इस सारे भगड़े को छोड़ कर सरल मार्ग से विचार किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि मनुष्य जब मन में प्रसन्न होता है तब ही वह दानादि करता है। दानादि करने पर उसे बाद में मनःप्रसाद प्राप्त होता है; इसलिए वह पुनः दानादि करता है। इस तरह मनःप्रसाद का फल दानादि है तथा

दानादि का फल मनःप्रसाद और उसका भी फल दानादि । आप मनःप्रसाद का अदृष्ट फल कर्म बताते हैं, उसके स्थान में दृष्ट फल दानादि ही मानना चाहिए ।

भगवान्—कार्य-कारण की परम्परा के मूल में जाने पर हमें ज्ञात होगा कि मनःप्रसाद रूप क्रिया का कारण दानादि क्रिया है । अतः दानादि क्रिया मनःप्रसाद का कार्य अथवा फल नहीं हो सकती, जैसे कि मृत्पिण्ड घट का कारण है, वह घट का कार्य नहीं बन सकता । अर्थात् जैसे मृत्पिण्ड से तो घड़ा उत्पन्न होता है किन्तु घड़े से पिण्ड उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही सुपात्र को दान देने से मनःप्रसाद उत्पन्न होता है; हम यह नहीं कह सकते कि मनःप्रसाद से दान की उत्पत्ति हुई । कारण यह है कि जो जिसका कारण होता है, वह उसी का फल नहीं हो सकता । [१६१७]

अग्निभूति—आपने कृषि का दृष्टान्त दिया है और इस दृष्टान्त से आप सचेतन की समस्त क्रिया को फलवती सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु कृषि का धान्यादि फल दृष्ट है, अतः सचेतन की समस्त क्रिया का फल कृषि के फल धान्य के समान दृष्ट ही मानना चाहिए; अदृष्ट कर्म मानने की क्या आवश्यकता है ? हम देखते हैं कि संसार में लोग पशु का वध करते हैं, वह किसी अधर्मरूप अदृष्ट कर्म के लिए नहीं किया जाता, अपितु मांस खाने को मिले, इसी उद्देश्य से पशु-हिंसा करते हैं । इसी प्रकार सभी क्रियाओं का कोई न कोई दृष्ट फल ही स्वीकार करना चाहिए, अदृष्ट फल को मानना अनावश्यक है । [१६१८]

अपि च, यह भी हमारे अनुभव की बात है कि प्रायः लोग कृषि, व्यापार आदि जो भी क्रिया करते हैं वह सब दृष्ट फल के लिए ही करते हैं । अदृष्ट फल के लिए दानादि क्रिया करने वाला व्यक्ति शायद ही कोई हो । दृष्ट यश की प्राप्ति के लिए दानादि जैसी क्रियाओं को करने वाले बहुत लोग हैं और बहुत कम लोग अदृष्ट कर्म के निमित्त दानादि करते होंगे । अतः सचेतन की सभी क्रियाओं का फल दृष्ट ही मानना चाहिए । [१६१९]

क्रिया का फल अदृष्ट है

भगवान्—सौम्य ! तुम कहते हो कि अदृष्ट फल के लिए दानादि शुभ क्रियाओं को करने वाले लोग बहुत कम हैं और अधिकतर लोग दृष्ट फल के लिए ही कृषि, वाणिज्य, हिंसा आदि अशुभ क्रियाएँ करते देखे जाते हैं । किन्तु, इस बात से ही यह प्रमाणित होता है कि कृषि आदि क्रियाओं का दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट फल भी होना चाहिए । वे लोग चाहे अदृष्ट अधर्म के लिए अशुभ क्रियाएँ न करते हों, फिर भी उन्हें उनका फल मिले बिना नहीं रहता । अन्यथा इस संसार में अनन्त जीवों का अस्तित्व घटित नहीं हो सकता, क्योंकि

तुम्हारे मतानुसार पाप कर्म करने वाले भी नए कर्मों का ग्रहण नहीं करते, फिर तो मृत्यु के बाद उन्हें मोक्ष प्राप्त होना चाहिए। संसार में केवल कुछ धर्मात्मा शेष रह जाएंगे जो कि अदृष्ट के निमित्त दानादि क्रियाएँ करते हैं। किन्तु हम विश्व में अनन्त जीव देखते हैं और उन में भी अधर्मात्मा ही अधिक हैं अतः मानना होगा कि समस्त क्रियाओं का दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट कर्म रूप फल भी होता है।

अग्निभूति—दानादि क्रिया के कर्ता को चाहे धर्म रूप अदृष्ट फल मिले, क्योंकि वह ऐसे फल की कामना करता है, किन्तु जो कृषि आदि क्रियाएँ करते हैं वे तो दृष्ट फल की ही अभिलाषा रखते हैं। फिर उन्हें भी अदृष्ट फल कर्म की प्राप्ति क्यों हो ?

न चाहने पर भी अदृष्ट फल मिलता है

भगवान्—तुम्हारी यह शंका अनुचित है। कायण यह है कि कार्य का आधार उसकी सामग्री पर होता है। मनुष्य की इच्छा हो या न हो, किन्तु जिस कार्य की सामग्री होती है, वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। बोनने वाला किसान यदि अज्ञानवश भी गेहूँ के स्थान पर कोदरा बो दे और उसे हवा, पानी आदि अनुकूल सामग्री मिले तो कृषक की इच्छा-अनिच्छा की उपेक्षा कर कोदरा उत्पन्न हो ही जाएँगे। इसी प्रकार हिंसा आदि कार्य करने वाले मांसभक्षक चाहें या न चाहें, किन्तु अधर्म रूप अदृष्ट कर्म उत्पन्न होता ही है।

दानादि क्रिया करने वाले विवेकशील पुरुष यद्यपि फल की इच्छा न करें, तथापि सामग्री होने पर उन्हें धर्म रूप फल मिलता ही है। [१६२०]

अतः यह बात मान लेनी चाहिए कि शुभ अथवा अशुभ सभी क्रियाओं का शुभ अथवा अशुभ अदृष्ट फल होता ही है। अन्यथा इस संसार में अनन्त संसारी ज.वों की सत्ता ही शक्य नहीं। कारण यह है कि अदृष्ट कर्म के अभाव में सभी पापी अनायास मुक्त हो जाएँगे; क्योंकि उनके इच्छित न होने के कारण मृत्यु के बाद संसार का कारण कर्म रहेगा ही नहीं। किन्तु जो लोग अदृष्ट शुभ कर्म के निमित्त दानादि क्रियाएँ करते होंगे, उनके लिए ही यह बलेश-बहुल संसार रह जाएगा। यह बात इस तरह होगी—जिसने दानादि शुभ क्रिया अदृष्ट के निमित्त की होगी, उसे कर्म का बन्ध होगा, उसे भोगने के लिए वह नया जन्म धारण करेगा। वहाँ पुनः कर्म के विपाक का अनुभव करते हुए वह दानादि क्रिया करेगा और नए जन्म की सामग्री तैयार करेगा। इस तरह तुम्हारे मतानुसार ऐसे धार्मिक लोगों के लिए ही संसार होना चाहिए, अधार्मिकों के लिए मानो मोक्ष का निर्माण हुआ है। तुम्हारी मान्यता में ऐसी असंगति उपस्थित होती है।

अग्निभूति—इसमें असंगति क्या है ? धार्मिक लोगों ने अदृष्ट के लिए प्रयत्न किया, अतः उन्हें वह प्राप्त हुआ और उनके संसार में वृद्धि हुई। हिंसादि

अशुभ क्रिया करने वालों ने तो मांसादि दृष्ट फल की ही इच्छा की थी और उन्हें भी उसकी प्राप्ति हो गई तो फिर उनकी संसार वृद्धि क्यों हो ?

भगवान्—असंगति क्यों नहीं ? यदि हिंसादि क्रियाएँ करने वाले सभी मोक्ष ही जाते रहें तो फिर इस संसार में हिंसादि क्रिया करने वाला कोई भी न रहे और हिंसादि क्रिया का फल भोगते वाला भी कोई न रहे । केवल दानादि शुभ क्रियाएँ करने वाले और इनका फल भोगने वाले ही संसारमें रह जाएँगे । किन्तु संसार में यह बात दिखाई नहीं देती । उसमें उक्त दोनों प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते हैं । [१६२१]

अनिष्ट रूप अदृष्ट का फल की प्राप्ति के लिए इच्छा पूर्वक कोई भी जीव कोई क्रिया नहीं करता फिर भी इस संसार में अनिष्ट फल भोगने वाले अत्यधिक जीव दृष्टिगोचर होते हैं । अतः हमें मानना पड़ेगा कि प्रत्येक क्रिया का अदृष्ट फल होता ही है । अर्थात् क्रिया शुभ हो अथवा अशुभ, उसका अदृष्ट रूप फल कर्म अवश्य होता है । इससे विपरीत दृष्ट फल की इच्छा करने पर दृष्ट फल की प्राप्ति अवश्य ही हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है । ऐसी स्थिति का कारण भी पूर्वबद्ध अदृष्ट कर्म ही होता है । सारांश यह है कि दृष्ट फल धान्य आदि के लिए कृषि आदि कर्म करने पर भी पूर्व-कर्म के कारण धान्य आदि दृष्ट फल शायद न भी मिले, किन्तु अदृष्ट कर्म रूप फल तो अवश्य मिलेगा ही । कारण यह है कि चेतन द्वारा आरम्भ की गई कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती [१६२२-२३]

अथवा यह समस्त चर्चा अनावश्यक है । कारण यह है कि तुल्य साधनों की उपस्थिति में भी फल की विशेषता अथवा तरतमता के कारण कर्म की सिद्धि पहले ही की जा चुकी है ।^१ वहाँ यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि फल विशेष कार्य है, अतः इसका कारण अदृष्ट कर्म होना चाहिए, जैसे घट का कारण परमाणु हैं । इसी कर्म की सिद्धि प्रस्तुत अनुमान में भी की गई है कि सचेतन-क्रिया का कोई ऐसा अदृष्ट कर्म रूप फल होना चाहिए जो उस क्रिया से भिन्न हो, क्योंकि कार्य-कारण में भेद होता है । यहाँ क्रिया कारण है और कर्म कार्य है, अतः ये दोनों भिन्न-भिन्न होने चाहिए । [१६२४]

अग्निभूति—यदि कार्य के अस्तित्व से कारण की सिद्धि होती हो तो शरीर आदि कार्य के मूर्त होने के कारण उसका कारण भी मूर्त ही होना चाहिए ।

अदृष्ट होने पर भी कर्म मूर्त है

भगवान्—मैंने यह कब कहा कि कर्म अमूर्त है । मैं कर्म को मूर्त ही मानता हूँ, क्योंकि उसका कार्य मूर्त है । जैसे परमाणु का कार्य घट मूर्त होने से परमाणु

भी मूर्त है, वैसे कर्म भी मूर्त ही है। जो कार्य अमूर्त होता है, उसका कारण भी अमूर्त होता है; जैसे ज्ञान का समवायि कारण (उपादान कारण) आत्मा।

अग्निभूति—सुख-दुःख भी कर्म का कार्य है, अतः कर्म को अमूर्त भी मानना चाहिए, क्योंकि सुख-दुःख भी अमूर्त है। ऐसी बात स्वीकार करने से कर्म मूर्त और अमूर्त सिद्ध होगा। यह सम्भव नहीं, क्योंकि इनमें विरोध है। जो अमूर्त है वह मूर्त नहीं होता और जो मूर्त है वह अमूर्त नहीं होता।

भगवान्—जब मैं इस नियम का प्रतिपादन करता हूँ कि मूर्त कार्य का मूर्त कारण तथा अमूर्त कार्य का अमूर्त कारण होना चाहिए, तब उस कारण का तात्पर्य समवायि अथवा उपादान कारण है, अन्य नहीं। सुख-दुःख आदि कार्य का समवायि कारण आत्मा है और वह अमूर्त ही है। कर्म तो सुख-दुःखादि का अन्न आदि के समान निमित्त कारण है। अतः नियम निर्बाध है। [१६२५]

अग्निभूति—कर्म को मूर्त मानने में यदि कुछ अन्य हेतु भी हैं, तो बताएँ।

भगवान्—(१) कर्म मूर्त है, क्योंकि उस से सम्बन्ध होने से सुख आदि का अनुभव होता है, जैसे कि खाद्य आदि भोजन। जो अमूर्त हो, उससे सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव नहीं होता, जैसे कि आकाश। कर्म का सम्बन्ध होने पर आत्मा सुख आदि का अनुभव करती है, अतः कर्म मूर्त है।

(२) कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना का अनुभव होता है। जिससे सम्बद्ध होने पर वेदना का अनुभव हो वह मूर्त होता है, जैसे कि अग्नि। कर्म का सम्बन्ध होने पर वेदना का अनुभव होता है, अतः वह मूर्त होना चाहिए।

(३) कर्म मूर्त है, क्योंकि आत्मा और उस के ज्ञानादि धर्मों से भिन्न बाह्य पदार्थ से उसमें बलाधान होता है—अर्थात् स्निग्धता आती है। जैसे घड़े आदि पर तेल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से बलाधान होता है, वैसे ही कर्म में भी माला, चंदन, वनिता आदि बाह्य वस्तु के संसर्ग से बलाधान होता है, अतः वह घट के समान मूर्त है।

(४) कर्म मूर्त है, क्योंकि वह आत्मा आदि से भिन्न होने पर परिणामी है, जैसे की दूध। जैसे आत्मादि से भिन्न-रूप दूध परिणामी होने के कारण मूर्त है वैसे ही कर्म मूर्त है। [१६२६-२७]

अग्निभूति—कर्म का परिणामी होना सिद्ध नहीं, अतः इस हेतु से कर्म मूर्त सिद्ध नहीं हो सकता।

कर्म परिणामी है

भगवान्—कर्म परिणामी है, क्योंकि उसका कार्य शरीर आदि परिणामी

है। जिसका कार्य परिणामी हो, वह स्वयं भी परिणामी होता है। जैसे दूध का कार्य दही का परिणामी होने के कारण अर्थात् दही के छाछ रूप में परिणत होने के कारण उसका कारण रूप दूध भी परिणामी है, वैसे ही कर्म के कार्य शरीर के परिणामी (विहारी) होने के कारण कर्म स्वयं भी परिणामी है। अतः कर्म के परिणामी होने का हेतु असिद्ध नहीं। [१६२८]

अग्निभूति—आपने सुख-दुःख के हेतु रूप कर्म की सिद्धि की और समान साधनों के अस्तित्व में जिस फल-विचित्रता का अनुभव होता है वह कर्म के बिना सम्भव नहीं, यह भी बताया किन्तु बादलों में विचित्र प्रकार के विकार होते हैं और उनका कारण कर्म की विचित्रता नहीं। इसी प्रकार संसारी जीव के सुख दुःख की तरतमता रूप विचित्रता भी कर्म की विचित्रता के बिना ही मानने में क्या दोष है? [१६२९]

कर्म विचित्र है

भगवान्—सौम्य ! यदि तुम बाह्य स्कन्धों को विचित्र मानते हो तो आन्तरिक कर्म में कौनसी ऐसी विशेषता है जिसके कारण दोनों के पुद्गलरूप में समान होने पर भी बादल आदि बाह्य स्कन्धों की विचित्रता को तो तुम सिद्ध मानो और कर्म की विचित्रता को सिद्ध न मानो। वस्तुतः जीव के साथ सम्बद्ध कर्म-पुद्गलों को तो तुम्हें विचित्र मानना ही चाहिए, कारण यह है कि अन्य बाह्य पुद्गलों की अपेक्षा आन्तरिक कर्म-पुद्गलों में यह विशेषता है कि वे जीव द्वारा गृहीत हुए हैं, इसी कारण वे जीवगत विचित्र सुख-दुःख के कारण भी बनते हैं। [१६३०]

पुनश्च, जिन पुद्गलों को जीव ने गृहीत नहीं किया, उन्हें भी यदि तुम विचित्र मानते हो तो जीव द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों को तो तुम्हें विशेषरूपेण विचित्र मानना ही चाहिए। जिस प्रकार बिना किसी के प्रयत्न के स्वाभाविक रूपेण बादल आदि पुद्गलों में इन्द्रधनुष आदि रूप जो विचित्रता होती है उसकी अपेक्षा किसी कारीगर द्वारा बनाए गए पुद्गलों में एक विशिष्ट प्रकार की विचित्रता होती है; उसी प्रकार जीव द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों में नाना प्रकार के सुख-दुःख उत्पन्न करने की विशिष्ट प्रकार की परिणाम-विचित्रता क्यों नहीं होगी? [१६३१]

अग्निभूति—यदि इस प्रकार आप बादलों के विकार के समान कर्म-पुद्गलों में भी विचित्रता स्वीकार करते हैं तो मेरा अब यह प्रश्न है कि बादलों की विचित्रता के समान अपने शरीर में ही स्वाभाविक रूपेण नाना प्रकार के सुख दुःख उत्पन्न करने वाली विचित्रता क्यों न मानी जाए? और यदि बादलों के समान

शरीर में भी स्वभावतः उक्त विचित्रता का अस्तित्व हो तो फिर शरीर की विचित्रता के कारण-रूप कर्म की कल्पना की क्या आवश्यकता है ?

भगवान्—तुम यह भूल जाते हो कि मैं तुम्हें यह बात समझा ही चुका हूँ कि कर्म भी एक शरीर है। अतः बादलों की विचित्रता के समान यदि शरीर भी विचित्र हो तो तुम्हें शरीर रूप कर्म को भी विचित्र मानना चाहिए। दोनों में भेद यह है कि बाह्य औदारिक शरीर की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्मतर है और आभ्यन्तर है। फिर भी बादलों के समान यदि तुम बाह्य शरीर का वैचित्र्य स्वीकार करते हो तो आभ्यन्तर कार्मण शरीर को भी तुम्हें विचित्र मानना चाहिए। [१६३२]

अग्निभूति—बाह्य स्थूल शरीर दिखाई देता है, अतः उसका वैचित्र्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु कार्मण शरीर सूक्ष्म भी है और आभ्यन्तर भी, अतः वह दिखाई नहीं देता; इसलिए उसका अस्तित्व ही असिद्ध है तो उसकी विचित्रता की बात ही कहाँ से होगी ? इसलिए स्थूल शरीर से भिन्न कार्मण शरीर को यदि न माना जाए तो इसमें क्या हानि है ?

कार्मण देह स्थूल शरीर से भिन्न है

भगवान्—मृत्यु के समय आत्मा स्थूल शरीर को सर्वथा छोड़ देती है। तुम्हारे मतानुसार स्थूल शरीर से भिन्न कोई कार्मण शरीर नहीं है, अतः आत्मा में नवीन शरीर ग्रहण करने का कोई कारण विद्यमान नहीं है। ऐसी परिस्थिति में संसार का अभाव होगा और सभी जीव अनायास ही मुक्त हो जाएँगे। कार्मण शरीर का पृथक् अस्तित्व स्वीकार न करने में यह आपत्ति है।

यदि तुम यह कहो कि शरीर-रहित जीव भी संसार में भ्रमण कर सकता है तो फिर तुम्हें संसार निष्कारण मानना पड़ेगा। अर्थात् यह बात स्वीकार करनी होगी कि संसार का कोई भी कारण नहीं। फलतः मुक्त जीवों का भी पुनः भव-भ्रमण स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जीव मोक्ष के लिए प्रयत्न ही क्यों करेंगे ? मोक्ष पर उनका विश्वास ही नहीं होगा। कार्मण शरीर को पृथक् न मानने में ये सब दोष हैं। उनके निवारणार्थ उसे स्थूल शरीर से भिन्न मानना चाहिए। [१६३३-३४]

अग्निभूति—किन्तु मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध कैसे होगा ?

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध

भगवान्—हे सौम्य ! घट मूर्त है, फिर भी उसका संयोग सम्बन्ध अमूर्त आकाश से होता है, इसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग होता है। अथवा

अंगुली तक मूर्त द्रव्य है, फिर भी आकुंचनादि अमूर्त क्रिया से उसका समवाय सम्बन्ध है, इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध सिद्ध होता है । [१६३५]

किंवा जीव और कर्म का सम्बन्ध अन्य प्रकार से भी सिद्ध हो सकता है । स्थूल शरीर मूर्त है, परन्तु उसका आत्मा से सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही है, अतः भवान्तर में गमन करते हुए जीव का कार्मण शरीर से सम्बन्ध भी सिद्ध ही स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा नए स्थूल शरीर का ग्रहण सम्भव नहीं । अन्य भी ऐसे पूर्वोक्त दोष उपस्थित होंगे ।

अग्निभूति—नए शरीर का ग्रहण कार्मण शरीर से नहीं, अपितु धर्म और अधर्म से होता है । अतः मूर्त कार्मण शरीर का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं है ।

भगवान्—इस विषय में यह पूछना है कि वे धर्म और अधर्म मूर्त हैं या अमूर्त ?

अग्निभूति—धर्म व अधर्म अमूर्त हैं ।

भगवान्—तो फिर धर्म व अधर्म का भी अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्ध होगा ? क्योंकि तुम कहते हो कि मूर्त का अमूर्त से सम्बन्ध नहीं होता । यदि वे मूर्त हों तो वे कर्म ही हैं ,

अग्निभूति—ऐसी दशा में धर्म व अधर्म को अमूर्त मानना चाहिए ।

धर्म व अधर्म कर्म ही हैं

भगवान्—तो भी धर्म व अधर्म का मूर्त स्थूल शरीर से कैसे सम्बन्ध होगा ? तुम तो यह कहते हो कि मूर्त अमूर्त का सम्बन्ध होता ही नहीं । पुनश्च यदि धर्माधर्म का शरीर से सम्बन्ध ही न हो तो उसके आधार पर बाह्य शरीर में चेष्टादि भी कैसे सम्पन्न होगी ? अतः यदि तुम अमूर्त धर्माधर्म का सम्बन्ध मूर्त शरीर से मानते हो तो अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से भी सम्बन्ध मान लेना चाहिए । [१६३६]

अग्निभूति—एक के अमूर्त और दूसरे के मूर्त होने पर भी जीव तथा कर्म का सम्बन्ध आकाश तथा अग्नि के समान सम्भव है, यह बात तो मेरी समझ में आ गई है, किन्तु जिस प्रकार आकाश और अग्नि का सम्बन्ध होने पर भी आकाश में अग्नि द्वारा किसी प्रकार का अनुग्रह या उपघात नहीं हो सकता, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा में मूर्त कर्म द्वारा उपकार अथवा उपघात सम्भव नहीं; चाहे उन दोनों का सम्बन्ध हो गया हो ।

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव है

भगवान्—यह कोई नियम नहीं कि मूर्त वस्तु अमूर्त वस्तु पर उपकार अथवा उपघात (ह्रास) कर ही न सके। कारण यह है कि हम देखते हैं कि विज्ञानादि अमूर्त हैं; परन्तु मदिरा, विष आदि मूर्त वस्तु द्वारा उन का उपघात होता है तथा घी-दूध आदि पौष्टिक भोजन से उनका उपकार होता है; इसी प्रकार मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा पर उपकार अथवा उपघात कर सकते हैं। मैंने यह सब चर्चा इस बात को सिद्ध करने के लिए की है कि अमूर्त आत्मा से मूर्त कर्म का सम्बन्ध और तत्कृत उपकार-उपघात भी सम्भव हैं। [१६३७]

संसारि आत्मा मूर्त भी है

किन्तु संसारि जीव वस्तुतः एकान्त रूप से अमूर्त नहीं, वह मूर्त भी है। जैसे अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने पर लोहा अग्नि रूप हो जाता है, वैसे ही संसारि जीव तथा कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन होने के कारण जीव भी कर्म के परिणाम रूप हो जाता है; अतः वह उस रूप में मूर्त भी है। इस प्रकार मूर्त कर्म से कथंचित् अभिन्न होने के कारण जीव भी कथंचित् मूर्त ही है। अतः मूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म द्वारा होने वाले उपकार अथवा उपघात को स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।

तुमने जो यह बात कही है कि आकाश पर मूर्त द्वारा उपकार या उपघात नहीं होता, वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि आकाश अचेतन है और अमूर्त है, अतः उस पर मूर्त द्वारा उपकार-उपघात नहीं होता। किन्तु संसारि आत्मा चेतन है तथा मूर्तामूर्त है; अतः उस पर मूर्त द्वारा उपकार-उपघात मानने में कोई हानि नहीं। [१६३८]

अग्निभूति—आप ने कहा है कि जीव से कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है, यह कैसे ?

जीव-कर्म का अनादि सम्बन्ध

भगवान्—गौतम ! देह और कर्म में परस्पर कार्य-कारण भाव है, अतः कर्म-सन्तति अनादि है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की बीजांकुर-सन्तति अनादि है, वैसे ही देह से कर्म और कर्म से देह के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार देह और कर्म की परस्परा अनादि काल से चली आ रही है; अतः कर्म-सन्तति अनादि माननी चाहिए। जिनका परस्पर कार्य-कारण भाव होता है, उनको सन्तति अनादि होती है। [१६३९]

अग्निभूति—मैं यह मानता हूँ कि आप की युक्तियों से कर्म का अस्तित्व

सिद्ध होता है, किन्तु वेद में कर्म का निषेध बताने वाले वाक्यों को याद करने पर मेरा मन पुनः दोलायमान हो जाता है कि वस्तुतः कर्म है या नहीं ?

वेद-वाक्यों की संगति

भगवान्—यदि वेद में कर्म का अभाव ही प्रतिपाद्य हो तो वेद की यह विधि कि 'स्वर्ग में जाने के इच्छुक व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए' निरर्थक सिद्ध होती है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने से आत्मा में एक अपूर्व (कर्म) उत्पन्न होता है जिसके आधार पर जीव मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाता है। यदि यह कर्म उत्पन्न न हो तो फिर जीव स्वर्ग में कैसे जाएगा ? मृत्यु के बाद शरीर तो छूट ही जाता है, अतः नियामक कारण के अभाव में स्वर्ग-गमन कैसे सम्भव होगा ? इसलिए यह बात नहीं मानी जा सकती कि वेद में कर्म का निषेध प्रतिपाद्य है।

पुनश्च, संसार में यह मान्यता है कि दानादि का फल स्वर्ग-प्राप्ति है। यदि कर्म न हो तो इसकी भी सम्भावना नहीं रहती। अतः कर्म का सद्भाव स्वीकार करना चाहिए। [१६४०]

अग्निभूति—यदि ईश्वरादि को जगत् वैचित्र्य का कर्ता मान लिया जाए तो कर्म मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

ईश्वरादि कारण नहीं

भगवान्—यदि तुम कर्म को न मान कर मात्र शुद्ध जीव को ही देहादि-वैचित्र्य का कर्ता स्वीकार करो, अथवा ईश्वर से इस समस्त वैचित्र्य की रचना मानो, किंवा अव्यक्त-प्रधान, काल, नियति, यदृच्छा (अकस्मात्) आदि से इस वैचित्र्य की संसार में उत्पत्ति मानो, तो तुम्हारी ये सब मान्यताएँ असंगत होंगी। [१६४१]

अग्निभूति—इन की असंगति का क्या कारण है ?

भगवान्—यदि शुद्ध जीव अथवा ईश्वरादि कर्म (साधन) की अपेक्षा नहीं है तो वह शरीरादि का आरम्भ ही नहीं कर सकता, क्योंकि आवश्यक उपकरणों या साधनों का अभाव है; जैसे कि कुम्भकार दण्डादि उपकरणों के अभाव में घटादि की उत्पत्ति नहीं कर सकता। शरीरादि के आरम्भ में कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपकरण की सम्भावना सिद्ध नहीं होती। कारण यह है कि यदि गर्भस्थ जीव कर्म-रहित हो तो वह शुक्र-शोणित का भी ग्रहण नहीं कर सकता और उसके ग्रहण के बिना देह निर्माण शक्य नहीं। अतः यह बात भाननी पड़ती है कि जीव कर्म-रूप उपकरण द्वारा ही देह का निर्माण करता है।

दूसरा अनुमान यह हो सकता है—निष्कर्म जीव शरीरादि का आरम्भ नहीं कर सकता, क्योंकि यह निश्चेष्ट है। जो आकाश के समान निश्चेष्ट होता है वह

शरीर आदि का आरम्भ करने में असमर्थ है। कर्म-रहित जीव भी चेष्टा से हीन है, अतः वह शरीर का आरम्भ नहीं कर सकता। इसी प्रकार अमूर्तत्व-रूप हेतु से इसी साध्य की सिद्धि की जा सकती है कि निष्कर्म जीव शरीर का आरम्भ करने में समर्थ नहीं है। इसी साध्य की सिद्धि के लिए निष्क्रियता, सर्वगतता, अशरीरिता आदि हेतु भी दिए जा सकते हैं। अर्थात् कर्म माने बिना ढूटकारा नहीं है।

अग्निभूति—हमें यह मानना चाहिए कि शरीर वाला ईश्वर देहादि सभी कार्यों का कर्ता है, कर्म की मान्यता आवश्यक नहीं है।

भगवान्—तुमने सशरीर ईश्वर का प्रतिपादन किया है, किन्तु इसी विषय में मेरा प्रश्न है कि वह ईश्वर अपने शरीर की रचना सकर्म होकर करता है अथवा कर्म-रहित होकर? कर्म-रहित होकर ईश्वर अपने शरीर की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि जीव के समान उसके पास भी उपकरणों का अभाव है। इसी प्रकार की अन्य उपर्युक्त युक्तियाँ दी जा सकती हैं जिनसे यह बात सिद्ध होगी कि अकर्म ईश्वर की शरीर-रचना अशक्य है। यदि तुम यह कहो कि किसी दूसरे ईश्वर ने उसके शरीर की रचना की है तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह अन्य ईश्वर सशरीर है अथवा शरीर-रहित? यदि वह अशरीर है तो उपकरण-रहित होने के कारण शरीर-रचना नहीं कर सकता। इस विषय में ऐसे उपर्युक्त सभी दोष बाधक हैं। और यदि ईश्वर के शरीर की रचना करने वाले किसी अन्य ईश्वर को तुम सशरीर मानते हो तो वह यदि अकर्म है, अपने शरीर की ही रचना नहीं कर सकेगा, तब दूसरे की शरीर-रचना का प्रश्न तो उत्पन्न ही नहीं होगा। उसके शरीर की रचना के लिए यदि तीसरा ईश्वर माना जाए तो उसके सम्बन्ध में भी पूर्वोक्त प्रश्न-परम्परा उत्पन्न होगी। इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः ईश्वर को कर्म-रहित मानने से उसके द्वारा देहादि की विचित्रता सम्भव नहीं है। यदि ईश्वर को कर्म-सहित माना जाए तो फिर यही मानना युक्ति संगत होगा कि जीव ही सकर्म होने के कारण देहादि की रचना करता है।

अपि च, यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के ही जीव के शरीर आदि की रचना करता है तो वह उन्मत्त के समान समझा जाएगा और यदि उसका कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्यों कहलाएगा? वह तो अनीश्वर हो जाएगा। ईश्वर को अनादि शुद्ध मानने पर भी शरीर आदि की रचना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि ईश्वर राग-रहित है। राग के बिना इच्छा नहीं होती और इच्छा के अभाव में रचना शक्य नहीं। अतः देहादि की विचित्रता का कारण ईश्वर नहीं, अपितु सकर्म जीव है। इससे कर्म की सिद्धि हो जाती है। [१६४२]

अग्निभूति—'विज्ञानघन एव एतेभ्यः'^१ इत्यादि वेद-वाक्यों से ज्ञात होता है

1. गाथा 1553, 1538, 1592-94, 1597 देखें।

कि इस शरीर आदि के वैचित्र्य की उत्पत्ति स्वाभाविक है—स्वभाव से ही होती है, उसके कारण के रूप में कर्म जैसी किसी वस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं है।

स्वभाववाद का निराकरण

भगवान्—स्वभाव से ही सब की उत्पत्ति स्वीकार करने में कई दोष हैं। इसके अतिरिक्त वेद-वाक्यों का तुम जो अर्थ समझते हो, वह ठीक भी नहीं है, अतः स्वभाव से जगद्-वैचित्र्य मानना अयुक्त है।

अग्निभूति—स्वभाव से उत्पत्ति कैसे सम्भव नहीं है? किसी ऋषि ने भी कहा है—

“भावों(वस्तुओं)की उत्पत्ति में किसी भी हेतु की अपेक्षा नहीं है, यह बात स्वभाववादी कह गए हैं। वे वस्तु की उत्पत्ति में ‘स्व’ को भी कारण नहीं मानते।

वे कहते हैं कि कमल कोमल है, काँटा कठोर है, मयूरपिच्छ विचित्ररंगी है और चन्द्रिका धवल है, यह विश्व-वैचित्र्य कौन करता है? यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है। अतः यह बात माननी चाहिए कि जगत् में जो कुछ कादाचित्क है (कभी होता है कभी नहीं) उसका कोई हेतु नहीं है। जैसे उपर्युक्त कथनानुसार कंठ की तीक्ष्णता का कोई हेतु नहीं, वैसे ही जीव के सुख-दुःख का भी कोई हेतु नहीं है, क्योंकि वे कभी-कभी होते हैं।”¹

इस कथन से भी ज्ञात होता है कि विश्व की विचित्रता कर्म से नहीं अपितु स्वभाव से ही होती है।

भगवान्—तुम्हारी यह मान्यता दूषित है। तुम जिसे स्वभाव कहते हो, मैं तुमसे पूछता हूँ कि वह क्या है? क्या वह वस्तु-विशेष है? तुम अकारणता को स्वभाव कहते हो अथवा वस्तु-धर्म को?

अग्निभूति—स्वभाव को वस्तु-विशेष मानें तो इस में क्या दोष है?

भगवान्—वस्तु-विशेष-रूप स्वभाव का साधक कोई प्रमाण नहीं है। अतः कर्म के समान तुम्हें स्वभाव को भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। यदि तुम

-
1. 'सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते । स्वभावादिभिस्ते हि नाहुः स्वमपि कारणम् ॥
राजीवकण्ठकादीनां वैचित्र्यं कः करौति हि ? । मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ॥
कादाचित्कं यदत्रास्ति निःशेषं तदहेतुकम् । यथा कण्ठकर्तृक्षण्यादि तथा चैते सुखादयः ॥

ग्राहक प्रमाण के अभाव में भी स्वभाव का अस्तित्व मानते हो तो उसी न्याय से तुम्हें कर्म का भी अस्तित्व मानना चाहिए ।

पुनश्च, तुम स्वभाव को मूर्त मानोगे अथवा अमूर्त ? यदि तुम उसे मूर्त मानते हो तो वह कर्म का ही दूसरा नाम होगा । यदि उसे अमूर्त मानोगे तो वह रस्सी का भी कर्ता नहीं बन सकता । कारण यह है कि वह आकाश के समान अमूर्त और उपकरण-रहित भी है ।

फिर, शरीर आदि मूर्त-पदार्थों का कारण भी मूर्त होना चाहिए । इसलिए यदि स्वभाव को अमूर्त माना जाए तो वह मूर्त शरीरादि का अनुरूप कारण नहीं बन सकता, अतः उसे अमूर्त वस्तु-विशेष-रूप भी नहीं माना जा सकता ।

अग्निभूति—ऐसी दशा में उसे वस्तु-विशेष न मान कर यह मान लेना चाहिए कि अकारणता ही स्वभाव है ।

भगवान्—स्वभाव का अर्थ अकारणता किया जाए तो यह तात्पर्य फलित होगा कि शरीर आदि बाह्य पदार्थों का कोई कारण नहीं है; किन्तु यदि शरीर आदि का कोई भी कारण न हो तो वे शरीर आदि सभी पदार्थ सर्वत्र सर्वदा एक साथ ही किसलिए उत्पन्न नहीं होते ? तुम्हें इसका स्पष्टीकरण करना होगा । यदि उनका कोई कारण न हो तो उन सब पदार्थों में कारणाभाव समान रूप से होगा । अतः सभी पदार्थ सर्वत्र सर्वदा एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए; किन्तु यह अतिप्रसंग होगा । फिर, यदि शरीर आदि को अहेतुक माना जाए तो उसे आकस्मिक भी मानना पड़ेगा । किन्तु ऐसी मान्यता अयुक्त है । कारण यह है कि जो अहेतुक (आकस्मिक) होता है वह बादल के विकार के समान सादि और नियत आकार वाला नहीं होता । शरीरादि तो सादि और नियत आकार वाले पदार्थ हैं, अतः उन्हें आकस्मिक (अहेतुक) नहीं मान सकते; उन्हें तो कर्म-हेतुक मानना पड़ेगा । शरीर आदि पदार्थ सादि और नियत आकार वाले होने के कारण उनका कोई न कोई उपकरण-सहित कर्ता भी मानना चाहिए । गर्भावस्था में जीव के पास कर्म के अतिरिक्त शरीर-रचना के लिए उपयोगी अन्य कोई उपकरण सम्भव नहीं है, अतः जगत् की विचित्रता स्वभाव-जन्य न मान कर कर्म-जन्य ही माननी चाहिए ।

अग्निभूति—फिर तो यही उचित प्रतीत होता है कि स्वभाव का अर्थ वस्तु-धर्म किया जाए ।

भगवान्—यदि स्वभाव को आत्मा का धर्म माना जाए तो उस से आकाश के समान शरीर आदि की उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि वह अमूर्त धर्म है । अमूर्त से मूर्त शरीर की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती । यदि स्वभाव को मूर्त वस्तु का धर्म माना जाए तो ठीक ही है । कारण यह है कि हम भी उसे पुद्गल का पर्याय-विशेष ही मानते हैं । हम जिस वस्तु को सिद्ध कर रहे थे, एक प्रकार से तुमने भी

उसी वस्तु की सिद्धि की है। अतः स्वभाववादियों का यह कथन कि कर्म से कुछ नहीं होता, सब कुछ स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, असंगत है।

अग्निभूति—यह सब ठीक है, किन्तु पहले कहे गए वेद-वाक्य का आप क्या स्पष्टीकरण करते हैं ?

वेद-वाक्य का समन्वय

भगवान्—‘पुरुष एवेदं ग्नि सर्वा यद् भूतां, यच्च भाव्यं, उतामृतत्वस्येशानः । यदन्नेनातिरोहति, यदेजति, यद् नैजति, यद् दूरे, यद् अन्तिके, यदन्तरस्य सर्वस्य, यत् सर्वस्यास्य बाह्यतः’¹ इन वेद-वाक्यों का अर्थ तुम इस प्रकार करते हो—पुरुष अर्थात् आत्मा ही है। इसमें ‘यत्’ (जो) शब्द का तात्पर्य कर्म, ईश्वर, प्रकृति इन सब तत्वों का निषेध है, ऐसा तुम समझते हो। अतः उक्त वाक्यों का अर्थ होगा कि इस संसार में चेतन-अचेतन रूप जो कुछ दिखाई देता है वह सब, जो भूत काल में विद्यमान था—अर्थात् मुक्त की अपेक्षा से जो संसार था वह, जो भावी है—अर्थात् संसार की अपेक्षा से जो मुक्ति है, दूसरे शब्दों में संसार और मुक्ति भी, तथा जो अमृत अथवा अमरण-भाव या मोक्ष का प्रभु है वह भी, जो अन्न से वृद्धि प्राप्त करता है, जो चलता है—अर्थात् पशु आदि, जो अचल है—पर्वतादि, जो दूर है—मेरु आदि, जो निकट है, जो इन चेतन-अचेतन पदार्थों के मध्य में है, जो इन सब पदार्थों से बाह्य है, वह सब केवल पुरुष है, आत्मा है। इस अर्थ के अनुसार तुम्हारी यह मान्यता है कि वेद पुरुष से भिन्न कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं करते।

पुनश्च, वेद में अन्यत्र भी ‘विज्ञानघन एवैतेभ्यः भूतेभ्यः’² इत्यादि कथन है। इसमें ‘एव’ शब्द है, अतः तुम्हारे मत में विज्ञान से भिन्न का अस्तित्व अमान्य है।

परन्तु, तुम उक्त वेद-वाक्यों का जो अर्थ करते हो, वह अयथार्थ है। इनका वास्तविक अर्थ यह है—‘पुरुष एवेदं’ इत्यादि वाक्य का तात्पर्य स्तुति-परक है; अर्थात् इसमें अतिशयोक्ति का प्रयोग कर पुरुष की प्रशंसा की गई है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इसका तात्पर्य केवल शब्दार्थ से फलित न होगा। उक्त वाक्य में पुरुषाद्वैत के प्रतिपादन का तात्पर्य यह नहीं है कि संसार में पुरुष से भिन्न अन्य कर्म आदि का अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु इसका सारांश तो यह है कि सभी आत्माएँ समान हैं, अतः जाति-मद को पुष्ट कर संसार में उच्च-नीच भाव की वृद्धि नहीं करनी चाहिए।

1. गाथा 1580 की व्याख्या देखें।

2. गाथा 1553 की व्याख्या देखें।

सभी वेद-वाक्यों का तात्पर्य समान नहीं होता। कुछ वेद-वाक्य विधिवाद का प्रतिपादन करते हैं अर्थात् कर्त्तव्य का बोध कराते हैं; कुछ वेद-वाक्य अर्थवाद प्रधान होते हैं—अर्थात् इष्ट की स्तुति कर उसमें प्रवृत्ति कराने वाले और अनिष्ट की निन्दा कर उससे निवृत्ति कराने वाले होते हैं; तथा कुछ वेद-वाक्य अनुवाद-परक अर्थात् अन्यत्र प्रतिपादित वस्तु का पुनः कथन करने वाले होते हैं, उनमें कोई अपूर्व-प्रतिपादन नहीं होता। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'¹—स्वर्ग का इच्छुक अग्नि होत्र करे— इस वाक्य का अर्थ विधि-आज्ञा-परक है, यह बात स्पष्ट है। उक्त 'पुरष एवेदं सर्वा' तथा इस प्रकार के अन्य वाक्य जैसे कि, 'स सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा सुप्रतिष्ठितस्तमक्षरं वेदयते यस्तु सर्वज्ञः सर्वविन् सर्वमेवाविवेशेति'² तथा 'एकया पूर्णयाहृत्या सर्वान् कामान्वाप्नोति'³ इत्यादि—इन सब में स्तुतिरूप अर्थवाद को ही प्रधान अर्थ मानना चाहिए।

अग्निभूति—'एकया पूर्णया' इत्यादि उक्त वाक्य को विधिवाद-परक क्यों न माना जाए ? उसे स्तुति-परक मानने का क्या कारण है ?

भगवान्—यदि एक ही पूर्ण आहुति से सभी इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती हो तो फिर वेद में जो नाना प्रकार की विधियाँ बताई गई हैं वे सब व्यर्थ सिद्ध हों, अतः 'एकया पूर्णया' इत्यादि वाक्य स्तुत्यर्थवाद-रूप ही मानने चाहिए।

पुनश्च, 'एष वः प्रथमो यज्ञो योऽग्निष्टोमः योऽनेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते सगर्तमभ्यपतत्'⁴ इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि यदि अग्निष्टोम से पहले पशुयज्ञ

1. माथा 1553 व 1592 देखें।

2. ऊपर जो पाठ दिया गया है, वह दो भागों में भिन्न-भिन्न उपनिषदों में कुछ परिवर्तित रूप में उपलब्ध होता है। जैसे कि :—

'यः सर्वज्ञः सर्वविद्वस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्यात्मा प्रतिष्ठितः ।'

मुण्डक० 2.27

तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति' । प्रश्नोपनिषत् 4.10

दोनों पाठों का अर्थ क्रमशः निम्न प्रकारेण सम्भव है :—

'जो सर्वज्ञ तथा सर्ववेदी है, जिसकी यह महिमा पृथ्वी तथा दिव्य ब्रह्मलोक में है वह आत्मा आकाश में प्रतिष्ठित है।'

'हे सौम्य ! जो उस अक्षर तत्व को जानता है वह सर्वज्ञ है तथा सर्वत्र व्याप्त है।'

3. यह वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण का है—3.8.10 5; अर्थात् एक पूर्णाहुति से समस्त इष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है।

4. ताण्ड्य महाब्राह्मण 16.1.2 'अग्निष्टोम प्रथम यज्ञ है। जो इस यज्ञ को बिना किए दूसरा यज्ञ करता है, वह खड्डे में पड़ता है।

किया जाए तो वह निन्द्य है। अतः इस प्रकार के वाक्य निन्दा-अर्थवाद के द्योतक हैं।

'द्वादश मासा संवत्सरः'¹ 'अग्निरुष्णः'² 'अग्निहिमस्य भेषजम्'³ इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध अर्थ के ही बोधक होने के कारण अनुवाद-प्रधान हैं। इस प्रकार सभी वेद-वाक्यों का एक ही तात्पर्य नहीं माना जा सकता। अतः उक्त 'पुरुष एवेदं' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य स्तुति-परक ही मानना चाहिए।

'विज्ञान एवैतेभ्यः' का भी वास्तविक तात्पर्य यह है कि विज्ञानघन अर्थात् पुरुष (आत्मा) भूतों से भिन्न है। पुरुष कर्ता है और शरीरादि उसका कार्य है, यह मैं बता चुका हूँ। कर्ता व कार्य से भिन्न करण का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। जहाँ कर्तृ-कार्य-भाव हो वहाँ करण भी होना चाहिए। लुहार व लोहे के गोले में कर्तृ-कार्य-भाव है और संडासी करण है। आत्मा के शरीर-कार्य में भी करण होना चाहिये, वही कर्म है।

कर्म साक्षात् प्रतिपादक वाक्य वेद में हैं यह तुम भी मानते हो, जैसे कि 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा'⁴ अतः कर्म को प्रमाण सिद्ध ही मानना चाहिए। [१६४३]

इस प्रकार जरा-मरण से रहित भगवान् ने जब उस के संशय का निराकरण किया, तब अग्निभूति ने अपने ५०० शिष्यों सहित श्रमण-दीक्षा लेली। [१६४४]।

2. बारह महीने की वर्ष कहलाता है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है। यह तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.1.4 का है।

3. अर्थात् अग्नि गरम है, वही 1.1.4

4. अर्थात् शीत की औषधि अग्नि है, वही 1.1.4

5. गाथा 1611 की व्याख्या देखें।

तृतीय गणधर वायुभूति

जीव-शरीर-चर्चा

इन्द्रभूति तथा अग्निभूति इन दोनों के दीक्षित होने का समाचार सुन कर तीसरे वायुभूति उपाध्याय ने मन में यह विचार किया कि, मैं जाऊँ, वन्दन करूँ और वन्दना करके पर्युपासना करूँ। ऐसा विचार कर उसने भगवान् की ओर जाने के लिए प्रस्थान किया। [१६४५]

उसने यह भी सोचा कि इन्द्रभूति व अग्निभूति जिनके अभी-अभी शिष्य हुए हैं, ऐसे तीन लोक से वन्दित महाभाग्यशाली भगवान् के पास अवश्य जाना चाहिए। मैं उनके पास जाऊँ, उनकी वन्दना व उपासना आदि द्वारा निष्पाप बनूँ और उनसे अपने संशय कर कथन का संशय-रहित बनूँ। इस प्रकार विचार करता हुआ वह इष्ट-स्थान पर जा पहुँचा। [१६४६ - ४७]

उसे आया हुआ देख कर जन्म-जरा-मरण से रहित भगवान् ने सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने के कारण उसके नाम व गोत्र का उच्चारण करते हुए उसका स्वागत किया और कहा—'वायुभूति गौतम !'। [१६४८]

जीव व शरीर एक ही है, यह संशय

किन्तु भगवान् के उसे इस प्रकार स्पष्ट बुलाने से, उनकी आन्तरिक ज्ञान-शक्ति से, शारीरिक सौन्दर्य से तथा समवसरण की शोभा रूप बाह्य शक्ति से वायु-भूति को उलटा संकोच हुआ, अतः वह भगवान् के सम्मुख अपना संशय कह नहीं सका। वह चकित हो कर मूक-सा खड़ा रहा। उसकी दृविधा को दूर करने के लिए भगवान् ने ही स्वयं उसे कहा—'आयुष्मन् वायुभूति ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि जीव और शरीर एक ही हैं अथवा दोनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी तुम मुझे पूछ नहीं रहे हो। किन्तु तुम्हें वेद-पदों का सच्चा अर्थ ज्ञात नहीं है, इसीलिए ऐसा संशय रहा करता है। उन पदों का अर्थ यह है। [१६४९]

वेद-पदों का सम्यग् अर्थ वताने से पहले मैं तुम्हारी शंका को ही स्पष्ट कर दूँ।

तुम यह बात मानते हो कि पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन चार भूतों के समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मद्य के प्रत्येक पृथक्-पृथक् अंग (अवयव) जैसे कि धातकी के फूल, गुड़, पानी इन में किसी में भी मद-शक्ति दिखाई

नहीं देती, फिर भी जब इन सब का समुदाय बन जाता है तब उन में से मद-शक्ति की उत्पत्ति साक्षात् दिखाई देती है, उसी प्रकार यद्यपि पृथ्वी आदि किसी भी भूत में चैतन्य-शक्ति दिखाई नहीं देती, तथापि जब उन का समुदाय होता है तब चैतन्य का प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है। [१६५०]

पुनश्च, जिस प्रकार मद के पृथक्-पृथक् अवयवों में मद-शक्ति अदृष्ट है, किन्तु उनका समुदाय होने पर वह उत्पन्न हो जाती है और कुछ समय तक स्थिर रह कर कालान्तर में विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर विनष्ट भी हो जाती है; उसी प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्य अदृष्ट है किन्तु उनका समुदाय होने पर चैतन्य की उत्पत्ति होती है और कुछ समय तक विद्यमान रहने के बाद कालान्तर में विनाश की सामग्री का आविर्भाव होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि, चैतन्य भूतों का धर्म है।

धर्म और धर्मी का तो अभेद है, क्योंकि दोनों का भेद मानने पर घट-पट के समान धर्म-धर्मी भाव सम्भव नहीं होगा, अतः भूत-समुदाय रूप शरीर का धर्म यदि चैतन्य (जीव) हो तो शरीर ही (जीव) है, यह मान्यता फलित होती है; किन्तु वेद के 'न ह वै सशरीरस्य'¹ इत्यादि वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि जीव शरीर से भिन्न है। अतः तुम्हें संशय है कि जीव शरीर से भिन्न है या अभिन्न? [१६५१]

वायुभूति—आपने मेरा संशय ठीक ही बताया है। कृपया उसका निवारण करें।

संशय का निराकरण

भगवान्—तुम्हारा यह संशय अयुक्त है, क्योंकि चैतन्य भूतों के समुदाय मात्र से उत्पन्न नहीं हो सकता। वह स्वतन्त्र है, क्योंकि प्रत्येक भूत में उसकी सत्ता नहीं है। जिस वस्तु का प्रत्येक अवयव में अभाव हो, वह समुदाय से भी उत्पन्न नहीं हो सकती। जैसे रेत के प्रत्येक कण में तेल नहीं है, इसलिए रेत के समुदाय से भी तेल नहीं निकलता। इसी प्रकार पृथ्वी आदि अलग-अलग भूतों में चैतन्य न होने के कारण भूत-समुदाय से भी चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जो कुछ समुदाय से उत्पन्न हो सकता है, वह प्रत्येक में सर्वथा अनुपलब्ध नहीं हो सकता। यदि तिलों के समुदाय से तेल की प्राप्ति होती है तो प्रत्येक तिल में भी वह उपलब्ध है। किन्तु चेतना प्रत्येक भूत में उपलब्ध नहीं होती, अतः उसे भूत-समुदाय से प्रादुर्भूत नहीं माना जा सकता। परन्तु अर्थापत्ति से यह बात माननी चाहिए कि भूत-समुदाय से सर्वथा भिन्न कोई ऐसा कारण उस समुदाय से सम्बद्ध है जिसके कारण उस समुदाय द्वारा चेतना आविर्भूत होती है। इसीलिए जीव देह से भिन्न है।

1. गाथा 1553, 1591 देखें।

वायुभूति—आपने यह नियम बताया है कि जो प्रत्येक अवस्था में अनुपलब्ध होता है वह समुदायवस्था में भी अनुपलब्ध होता है । किन्तु यह नियम व्यभिचारी है, क्योंकि मद्य के अंगों में प्रत्येकावस्था में मद की उपलब्धि नहीं होती । किन्तु समुदायवस्था में मद की उत्पत्ति हो जाती है; इसी प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्य की अनुपलब्धि होने पर भी वह भूत-समुदाय से उत्पन्न हो सकता है । भूत से भिन्न कारण मानने की आवश्यकता नहीं रहती ।

जो प्रत्येक में नहीं होता, वह समुदाय में नहीं होता

भगवान्—तुम्हारा यह कहना अयुक्त है कि मद्य के अंगों में प्रत्येकावस्था में मद अनुपलब्ध है । वस्तुतः धातकी के फूल, गुड़ आदि मद्य के प्रत्येक अंग में मद की न्यून या कुछ अधिक मात्रा विद्यमान है ही, इसीलिए वह समुदाय में उत्पन्न होती है । जो प्रत्येक में न हो, वह समुदाय में भी सम्भव नहीं । [१६५२]

वायुभूति—भूतों में भी मद्य के अंगों के समान प्रत्येक में भी चैतन्य की मात्रा है, अतः वह समुदाय में भी उत्पन्न होती है, इस बात को मानने में क्या आपत्ति है ?

प्रत्येक भूत में चैतन्य नहीं

भगवान्—यह बात मानी नहीं जा सकती, क्योंकि मद्य के प्रत्येक अंग में मद-शक्ति दिखाई देती है; जैसे कि धातकी के फूल में चित्त भ्रम करने की, गुड़, अंगूर, गन्ने के रस आदि में तृप्त करने की और पानी में प्यास शान्त करने की शक्ति है । यदि प्रत्येक भूत में चैतन्य-शक्ति का सद्भाव हो तो वह समुदाय में भी प्रकट हो, किन्तु प्रत्येक भूत में वैसी कोई शक्ति मद्यांगों के समान प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भूत-समुदाय-मात्र से चैतन्य उत्पन्न होता है । [१६५३]

वायुभूति—मद्य के प्रत्येक अंग में भी यदि मद-शक्ति न मानें तो क्या दोष है ?

भगवान्—यदि भूतों में चैतन्य के समान मद्य के भी प्रत्येक अंग में मद-शक्ति न हो तो फिर यह नियम नहीं बन सकता कि मद्य के धातकी के फूल आदि तो कारण हैं और अन्य पदार्थ उसके कारण नहीं हैं । न ही यह व्यवस्था स्थिर रह सकती है कि इस कारण समुदाय से मद उत्पन्न होता है और इससे नहीं । कोई भी राख, पत्थर, छायो आदि वस्तुएँ भी मद का कारण बन जाएँगी और किन्हीं चीजों के समुदाय से भी मद की उत्पत्ति हो जाएगी, किन्तु ऐसा नहीं होता । अतः मद के प्रत्येक अंग में मद-शक्ति माननी ही चाहिए । [१६५४]

वायुभूति—जैसे मद्यांगों के समुदाय में मद का आविर्भाव होने के कारण समुदाय के प्रत्येक अंग में भी मद-शक्ति माननी पड़ती है, अन्यथा उन के समुदाय में भी मद का आविर्भाव नहीं हो सकता; वैसे ही केवल भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्येक भूत में भी चैतन्य शक्ति माननी चाहिए। किसी पृथक् चेतन को मानने की आवश्यकता नहीं।

भगवान्—तुम्हारा यह कथन असिद्ध है कि केवल भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, क्योंकि उस समुदाय में केवल भूत ही नहीं हैं किन्तु आत्मा भी है; उसी से ही भूतों के समुदाय में चैतन्य प्रकट होता है। कारण यह है कि चैतन्य समुदायान्तर्गत आत्मा का धर्म है। तुम जिसे भूत-समुदाय कहते हो, यदि उसमें आत्मा का समावेश न हो तो चैतन्य कभी भी प्रकट नहीं हो सकता। भूतों के समुदाय-मात्र से चैतन्य प्रकट हो जाता हो तो मृत-शरीर में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए; किन्तु उसमें चैतन्य का अभाव स्पष्ट सिद्ध है। अतः चैतन्य को भूत मात्र से उत्पन्न नहीं माना जा सकता।

वायुभूति—मृत-शरीर में वायु नहीं है, अतः वह सब भूतों का समुदाय नहीं होता। इसीलिए उसमें चैतन्य का अभाव है।

भगवान्—मृत-शरीर में नली द्वारा वायु प्रविष्ट की जाए तो भी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती।

वायुभूति—मृत-शरीर में अग्नि का भी अभाव है, तो फिर चैतन्य की उपलब्धि कैसे हो ?

भगवान्—मृत-शरीर में अग्नि की पूर्ति करने पर भी चैतन्य उपलब्ध नहीं होता।

वायुभूति—मृत-शरीर में विशिष्ट प्रकार की वायु और अग्नि का अभाव है, अतः चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती।

भगवान्—यह वैशिष्ट्य कोई अन्य नहीं किन्तु आत्मसहित वायु और अग्नि हो तो वे विशिष्ट वायु और विशिष्ट अग्नि कहलाती है। इस प्रकार तुमने [सरे शब्दों में आत्मा का ही प्रतिपादन कर दिया है। [१६५५]

वायुभूति—भूत-समुदाय में चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, फिर भी आप कहते हैं कि वह भूत-समुदाय का धर्म नहीं है। आपका यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध है। जैसे घट के रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष होने पर भी कोई यह कहे कि रूपादि रूपादि घट के नहीं हैं, तो उसका यह कथन प्रत्यक्ष-विरुद्ध होगा।

भगवान्—गौतम ! प्रत्यक्ष का विरोध नहीं है। क्योंकि उस प्रत्यक्ष का

बाधक आत्मसाधक अनुमान विद्यमान है। जैसे पानी तथा भूमि के समुदाय-मात्र से हरे घास की उत्पत्ति देख कर कोई कहे कि यह घास पृथ्वी और पानी के समुदाय-मात्र से ही होती है तो उसका यह प्रत्यक्ष बीज-साधक अनुमान से बाधित हो जाता है; वैसे ही चैतन्य को केवल भूतों का धर्म प्रतिपादन करने वाला प्रत्यक्ष भी भूतों से सर्वथा भिन्न ऐसी आत्मा को सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित हो जाता है।

अपि च, समुदाय में चैतन्य देखकर तुम यह कहते हो कि प्रत्येक भूत में भी चैतन्य है, किन्तु तुम्हारा यह कथन प्रत्यक्ष-विरुद्ध सिद्ध होता है, क्योंकि प्रत्येक में चैतन्य दिखाई नहीं देता। [१६५६]

वायुभूति—आप कौन से अनुमान से आत्मा को भूतों से भिन्न सिद्ध करते हैं ?

भूत-भिन्न आत्मा का साधक अनुमान

भगवान्—भूत अथवा इन्द्रियों से भिन्न-स्वरूप किसी भी पदार्थ का धर्म चेतना है, क्योंकि भूत अथवा इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थ का स्मरण होता है, जैसे कि पाँच झरोखों से उपलब्ध वस्तु का स्मरण होने से झरोखों से भिन्न स्वरूप देवदत्त का धर्म चेतना है। तात्पर्य यह है कि जैसे पाँच झरोखों से क्रमशः देखने वाला देवदत्त एक ही है और वह झरोखों से भिन्न है, क्योंकि वह पाँचों झरोखों द्वारा देखी गई चीजों का स्मरण करता है; वैसे ही पाँचों इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने वाला भी इन्द्रियों से भिन्न कोई पदार्थ होना चाहिए। वही आत्मा है जो भूतों अथवा इन्द्रियों से भिन्न है। जो भूत-समुदाय से भिन्न न हो अर्थात् अभिन्न हो, वह एक होने से अनेक द्वारा उपलब्ध अर्थ का स्मरण भी नहीं कर सकता, जैसे कि किसी एक शब्दादि को ग्रहण करने वाला मानसिक-ज्ञान-विशेष। यह ज्ञान-विशेष अपने ही विषय का ग्रहण करता है किन्तु अन्य विषय का स्मरण नहीं कर सकता। फिर भी यदि इस स्मरणकर्ता को देह अथवा इन्द्रियों से अभिन्न माना जाए तो पाँच झरोखों से देख कर सब का स्मरण करने वाले देवदत्त को भी झरोखे से अभिन्न मानना चाहिए। [१६५७]

वायुभूति—इन्द्रियों के द्वारा नहीं किन्तु इन्द्रियाँ ही स्वयं उपलब्धि की कर्ता हैं। अतः इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रियाँ आत्मा नहीं

भगवान्—इन्द्रिय व्यापार के वन्द होने पर भी अथवा इन्द्रियों का नाश हो जाने पर भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है और इन्द्रिय व्यापार के अस्तित्व में भी अन्यमनस्क को कदाचित् वस्तु की उपलब्धि भी नहीं होती; अतः यह मानना चाहिए कि घटादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों को नहीं होता

प्रदत्त उन से भिन्न किसी अन्य पदार्थ को होता है; जैसे कि पाँच भरोखों से देखने वाला देवदत्त उन पाँच भरोखों से भिन्न है। भरोखे का नाश हो जाने पर भी देवदत्त उसके द्वारा देखी गई वस्तु को याद कर सकता है और भरोखे के अस्तित्व में भी यदि देवदत्त का मन दूसरी ओर हो तो वस्तु का परिज्ञान नहीं होता। अतः उपलब्धि-कर्ता भरोखा नहीं किन्तु उससे भिन्न देवदत्त है। इसी प्रकार इन्द्रियों से भिन्न आत्मा उपलब्धि-कर्ता है, इन्द्रियाँ उस के उपकरण हैं। ऐसी बात न हो तो अन्ध और बधिर को देखी हुई और सुनी हुई वस्तु का कभी स्मरण नहीं हो। [१६५८]

दूसरा अनुमान भी उपस्थित किया जा सकता है—आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि वह एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत की गई वस्तु का दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण करता है। अर्थात् वह नेत्रेन्द्रिय से घड़े को देख कर उस का ग्रहण हाथ द्वारा (स्पर्शनेन्द्रिय) द्वारा करता है। जैसे एक खिड़की से देखे गए घट को देवदत्त दूसरी खिड़की से ग्रहण करता है, इसलिए देवदत्त दोनों खिड़कियों से भिन्न है, वैसे ही आत्मा भी इन्द्रियों से भिन्न है। फिर, वस्तु एक इन्द्रिय से ग्रहण की जाती है परन्तु विकार दूसरी इन्द्रिय में होता है, इससे भी मानना पड़ता है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। यह तो अपने अनुभव की बात है कि हम आँखों द्वारा खट्टी वस्तु देखते हैं किन्तु विकार जिह्वा में होता है, उस में पानी छूटता है, इसलिए भी आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न मानना चाहिए। [१६५९]

अपि च, जीव इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि वह सभी इन्द्रियों द्वारा गृहीत अर्थ का स्मरण कर सकता है। जिस प्रकार अपनी इच्छा से रूप आदि एक-एक गुण के ज्ञाता पाँच पुरुषों से इन पाँचों के रूपादि ज्ञान को जानने वाला पुरुष भिन्न है, उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों से उपलब्ध अर्थ का स्मरण करने वाला पाँचों इन्द्रियों से भिन्न होना चाहिए। वही आत्मा है।

वायुभूति—आपने यह दृष्टान्त दिया है कि पाँच पुरुष रूपादि का ग्रहण करते हैं, इससे यह बात सिद्ध होगी कि पाँच इन्द्रियाँ भी रूपादि का ग्रहण करती हैं, किन्तु यह बात आपको ही अनिष्ट है। कारण यह है कि आप इन्द्रियों को ग्रहण कर्ता नहीं किन्तु ग्रहण में साधन-रूप मानते हैं।

इन्द्रियाँ ग्राहक नहीं

भगवान्—मैंने दृष्टान्त में एक विशेषण का कथन किया था, उसका तुम्हें ध्यान नहीं रहा, इसीलिए ऐसी शंका हुई है। मैंने कहा था कि पाँच पुरुष अपनी इच्छा से रूपादि को जानते हैं। इन्द्रियों में इच्छा सम्भव नहीं, अतः वे ग्राहक नहीं हो सकतीं। इन्द्रियाँ इपलब्धि में सहकारी हैं, अतः उपचार से यदि तुम उन्हें ग्राहक मानो तो इस में कोई दोष नहीं है।

अतीन्द्रिय वस्तु को सिद्धि में प्रमाण

पुनश्च, मैंने तुम्हें युक्ति से समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु आत्मा जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय केवल युक्ति से नहीं हो सकता, अतः उस में युक्ति का एकान्त आग्रह निरर्थक है। कहा भी है कि 'अतीन्द्रिय अर्थों के सद्भाव को सिद्ध करने वाले आगम और उपपत्ति ये दोनों पूर्णरूपेण प्रमाण हैं।'¹ [१६६०]

भूत-भिन्न आत्मा का साधक अनुमान

भूतों से सर्वथा भिन्न आत्मा को सिद्ध करने के लिए एक अन्य अनुमान यह है :—बाल-ज्ञान ज्ञानान्तर-पूर्वक होता है, क्योंकि वह ज्ञान है। जो-जो ज्ञान होता है वह ज्ञानान्तर-पूर्वक होता है, जैसे कि युवक का ज्ञान। बाल-ज्ञान भी अन्य ज्ञान-पूर्वक ही होना चाहिए। वह जिस ज्ञान-पूर्वक है—अर्थात् बालक के ज्ञान से पहले जो ज्ञान है वह शरीर से तो भिन्न ही होना चाहिए। कारण यह है कि पूर्वभवीय शरीर का त्याग होने पर भी वह ज्ञान इस भव में बालक के ज्ञान का कारण बनता है। वह ज्ञान गुण होने के कारण निराधार नहीं रह सकता, उसका कोई गुणी होना चाहिए। त्यक्त-शरीर गुणी नहीं हो सकता, अतः आत्मा को ही उस ज्ञान का गुणी स्वीकार करना चाहिए। इससे शरीर ही आत्मा है ऐसा नहीं माना जा सकता, आत्मा को शरीर से भिन्न ही मानना चाहिए।

वायुभूति—उक्त अनुमान में आपने यह हेतु दिया है कि 'क्योंकि वह ज्ञान है' प्रतिज्ञा में भी बाल-ज्ञान शब्द में ज्ञान है, अतः यह हेतु प्रतिज्ञात पदार्थ का एक-देश होने के कारण असिद्ध मानना पड़ेगा। कारण यह है कि प्रतिज्ञात पदार्थ स्वयं असिद्ध होता है।

भगवान्—हेतु रूप में ज्ञान सामान्य का कथन है और प्रतिज्ञा में ज्ञान विशेष का, अतः उक्त हेतु दोष सम्भव नहीं है। वर्णात्मक शब्द अनित्य है, क्योंकि वह शब्द है, मेघ के शब्द के समान। इस अनुमान में जैसे शब्द-सामान्य को हेतु बना कर शब्द-विशेष को प्रतिज्ञा में स्थान दिया है किन्तु हेतु असिद्ध नहीं, वैसे ही प्रस्तुत में भी बाल-विज्ञान रूप विशेष ज्ञान का निर्देश प्रतिज्ञा में है और ज्ञान सामान्य का निर्देश हेतुरूप में है; अतः हेतु को असिद्ध नहीं कह सकते। सामान्य सिद्ध हो और विशेष असिद्ध हो तो सामान्य के बल पर विशेष को भी सिद्ध किया जा सकता है। शब्द अनित्य है, क्योंकि वह शब्द है। इस प्रकार के अनुमान में प्रतिज्ञान्तर्गत शब्द और हेतु-रूप शब्द ये दोनों सामान्य शब्द हैं। इससे ऐसे अनुमान

1. "आगमश्चोपपत्तिश्च संपूर्ण दृष्टिकारणम् । अतीन्द्रियार्थानामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥

में हेतु असिद्ध कहा जाएगा । किन्तु मैंने जो अनुमान दिया है, उसमें वैसा नहीं, है, अतः हेतु असिद्ध नहीं माना जा सकता । [१६६१]

एक और अनुमान भी है—बालक में जो स्तनपानाभिलाषा दृष्टिगोचर होती है वह अन्य अभिलाषा-पूर्वक है । कारण यह कि वह अनुभव रूप है । जिस प्रकार साम्प्रतिक अभिलाषा एक अनुभव है, अतः साम्प्रतिक अभिलाषा के पूर्व भी कोई अभिलाषा थी, उसी प्रकार बालक की प्रथम अभिलाषा के पूर्व भी किसी अभिलाषा का अस्तित्व होना चाहिए ।

अथवा उक्त अनुमान का प्रयोग इस प्रकार भी किया जा सकता है—बालक की प्रथम स्तनपानाभिलाषा अन्य अभिलाषा-पूर्वक है, क्योंकि वह अभिलाषा है ।¹ जो भी अभिलाषा होती है वह अन्य अभिलाषा-पूर्वक होती है; जैसे साम्प्रतिक अभिलाषा । बालक के मन में जो प्रथम अभिलाषा होती है वह भी अभिलाषा है, अतः उस से पहिले किसी अभिलाषा का अस्तित्व होना चाहिए । यह अन्य अभिलाषा अवश्यमेव शरीर से भिन्न होगी, क्योंकि शरीर का परित्याग होने पर भी वह विद्यमान रहती है और बालक की प्रथम स्तनपानाभिलाषा का कारण बनती है । पुनश्च, अभिलाषा भी एक ज्ञान गुण ही है, अतः उसका कोई गुणी होना चाहिए । नष्ट-शरीर गुणी नहीं हो सकता, इसलिए शरीर से भिन्न विद्यमान आत्मा को ही उस अभिलाषा-रूप गुण का स्वतन्त्र आधार स्वीकार करना चाहिए ।

वायुभूति—‘क्योंकि वह अभिलाषा है’—आपका यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि मोक्ष सम्बन्धी अभिलाषा मोक्षाभिलाषा पूर्वक नहीं होती; तथापि वह अभिलाषा तो है । अतः यह कोई नियम नहीं कि अभिलाषा अभिलाषा-पूर्वक ही होती है ।

भगवान्—उक्त नियम का तात्पर्य यह नहीं है कि जैसी अभिलाषा हो उसके पूर्व वैसी ही अभिलाषा हानी चाहिए । भाव यह है कि अभिलाषा के पूर्व वैसी अथवा अन्य प्रकार की कोई अभिलाषा अवश्य होनी चाहिए । अर्थात् सामान्य अभिलाषा विवक्षित है, विशेष नहीं । अतः मोक्षाभिलाषा चाहे मोक्षाभिलाषा-पूर्वक न हो, फिर भी उसके पूर्व किसी न किसी प्रकार की अभिलाषा का अस्तित्व अवश्य था, इसमें सन्देह नहीं । अतः उक्त हेतु व्यभिचारी नहीं है । [१६६२]

एक अनुमान यह भी है—बाल-शरीर देहान्त-रपूर्वक है, क्योंकि वह इन्द्रियों से युक्त है । जो इन्द्रियादि से युक्त होता है वह शरीरान्तर-पूर्वक होता है, जैसे कि

1. प्रस्तुत हेतु मूल में नहीं है, टीकाकार ने निर्दिष्ट किया है ।

युवक का शरीर बाल-शरीर पूर्वक है। इस बाल-शरीर से पहले जो शरीर था वह पूर्वभवीय औदारिक शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो नष्ट हो चुका था। इसलिए उसके द्वारा प्रस्तुत बाल-शरीर का निर्माण सम्भव नहीं। अतः बाल-शरीर के कारण-रूप कार्मण शरीर को मानना चाहिए। यह कार्मण शरीर अकेला नहीं हो सकता, इसलिए यह जिसका शरीर है उस शरीरी आत्मा को स्वीकार करना चाहिए। वह आत्मा एक भव से दूसरे भव में जाती है और शरीर से भिन्न भी है। अतः यह बात असिद्ध है कि शरीर ही आत्मा है। [१६६३]

एक और अनुमान भी है—बालक के सुख-दुःखादि अन्य सुख-दुःखादि पूर्वक हैं क्योंकि वे अनुभवात्मक हैं, जैसे कि साम्प्रतिक सुख-दुःख। जिसके सुख-दुःखादि अनुभव बालक के सुख-दुःख के पूर्व हैं, वह पूर्वभवीय शरीर से पृथक् होना चाहिए; क्योंकि पूर्वभवीय शरीर नष्ट हो जाने के कारण बालक के सुख-दुःख का हेतु नहीं बन सकता। उक्त अनुभव गुण रूप हैं, अतः उनके गुणी आत्मा को शरीर से भिन्न मानना चाहिए। [१६६४]

पुनश्च, शरीर तथा कर्म का परस्पर हेतु-हेतुमद्भाव (कार्य-कारण-भाव) होने से बीज तथा अंकुर के समान इन दोनों की सन्तान अनादि है।¹ [१६६५]

इसीलिए शरीर के कार्य रूप तथा कर्म के करण रूप होने से, इन दोनों से भिन्न किसी कर्ता को स्वीकार करना चाहिए। दण्ड और घट का करण-कार्य-भाव है, अतः इन दोनों से भिन्न कुम्भकार को कर्ता माना जाता है।² [१६६६]

पुनश्च, घट के समान शरीर प्रतिनियत आकार वाला है, अतः उसका कोई कर्ता होना चाहिए। वही आत्मा है।

जिस प्रकार दण्डादि करण का अधिष्ठाता कुम्भकार है, उसी प्रकार करण रूप इन्द्रियों का भी कोई अधिष्ठाता होना चाहिए। वही आत्मा है। [१६६७]

इन्द्रिय तथा विषय में आदान-आदेय-भाव सम्बन्ध है—अर्थात् इन्द्रियों की सहायता से विषयों का ग्रहण होता है। अतः जिस प्रकार मण्डासी और लोहे का आदान-आदेय सम्बन्ध होने के कारण आदाता (ग्रहण करने वाले) के रूप में लोहकार-अवश्यभावी है, उसी प्रकार इन्द्रिय और विषय के आदान-आदेय भाव में आत्मा को आदाता मानना चाहिए।³ [१६६८]

1. यह गाथा पहले भी आ चुकी है—सं० 1639; इसके बाद भी आएगी—1813
2. यह गाथा भी पहले आ चुकी है—1567; वहाँ यह पाठ है—'देहसत्स्थि विधाता'
3. यह गाथा भी पहले आई है—1568

इसके अतिरिक्त देह भोग्य है, अतः उसका कोई भोक्ता होना चाहिए, जैसे कि भोजन का भोक्ता पुरुष है। देह भी भोग्य है, अतः जो उसका भोक्ता है वही आत्मा है।¹

घट संघातादि रूप है, अतः उसका कोई अर्थी अथवा स्वामी है। इसी प्रकार शरीर भी संघातादि रूप है। अतः इसका कोई स्वामी होना चाहिए। जो स्वामी है वह आत्मा है। [१६६६]

वायुभूति—आपने कर्ता आदि के रूप में आत्मा की सिद्धि तो की, किन्तु आपके इन अनुमानों से आपको इष्ट ऐसे अनूर्त आत्मा की सिद्धि नहीं होती; वह तो कुम्भकार आदि के समान मूर्त सिद्ध होती है। अतः आपने इष्ट-साध्य से विरुद्ध की सिद्धि की।

भगवान्—प्रस्तुत में संसारी आत्मा की सिद्धि इष्ट है, अतः साध्य से विरुद्ध की सिद्धि नहीं हुई। कारण यह है कि संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त भी है।² [१६७०]

वायुभूति—जीव चाहे शरीर से भिन्न सिद्ध हो जाए, फिर भी शरीर के समान क्षणिक होने के कारण वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। अतः उसे शरीर से भिन्न सिद्ध करने में क्या लाभ है?

जीव क्षणिक नहीं

भगवान्—बौद्ध मत के अनुसरण से ऐसी शंका की उत्पत्ति स्वाभाविक है, किन्तु संसार में सभी पदार्थ क्षणिक नहीं हैं। द्रव्य नित्य है, केवल उसके परिणाम अथवा पर्याय ही अनित्य या क्षणिक हैं। अतः शरीर के साथ जीव का नाश नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले जीव का उसके पूर्वभव के शरीर का नाश हो जाने पर भी, क्षय नहीं माना जा सकता। अन्यथा पूर्वभव का स्मरण कैसे होगा? जिस प्रकार बाल्यावस्था का स्मरण करने वाली वृद्ध की आत्मा का बाल्यावस्था में सर्वथा नाश नहीं होता, क्योंकि वह बाल्यावस्था का स्मरण करती है, उसी प्रकार जीव पूर्व जन्म का स्मरण करता है। अतः पूर्व जन्म में शरीर के साथ उस का सर्वथा नाश सम्भव नहीं है। अथवा जिस प्रकार विदेश में गया हुआ कोई व्यक्ति स्वदेश की बातों का स्मरण करता है, अतः उसे नष्ट नहीं माना जा सकता; उसी प्रकार पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले व्यक्ति का भी सर्वथा नाश स्वीकार नहीं किया जा सकता।

1. यह गाथा भी पहले आई है—1569

2. यह गाथा भी पहले आई है—1570

वायुभूति—पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण के संस्कार उत्तर-उत्तर विज्ञान-क्षण में संक्रान्त होते हैं, अतः विज्ञानक्षणरूप जीव को क्षणिक स्वीकार करने पर भी स्मरण की सम्भावना है ।

विज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं

भगवान्—यदि विज्ञान-क्षण का सर्वथा निरन्वय नाश माना जाए तो पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण से उत्तर-उत्तर विज्ञान-क्षण सर्वथा भिन्न ही होंगे । ऐसी स्थिति में पूर्व विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उत्तर विज्ञान में सम्भव नहीं । देवदत्त द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण यज्ञदत्त को नहीं होता । पूर्वभव का स्मरण तो होता है, अतः जीव को सर्वथा विनष्ट नहीं माना जा सकता । [१६७१]

वायुभूति—जीव रूप विज्ञान को क्षणिक मान कर भी विज्ञान-सन्तति के सामर्थ्य से स्मरण हो सकता है ।

भगवान्—यदि ऐसी बात है तो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान-सन्तति का नाश नहीं हुआ । अतः विज्ञान-सन्तति को शरीर से भिन्न ही मानना चाहिए । यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि विज्ञान-सन्तति भवान्तर में भी संक्रान्त होती है । [१६७२]

पुनश्च, ज्ञान का भी सर्वथा क्षणिक होना सम्भव नहीं है, कारण यह है कि पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है । जो क्षणिक होता है उसे भूत (अतीत) का स्मरण जन्मानन्तर विनष्ट के समान सम्भव नहीं है । किन्तु स्मरण होता है, अतः विज्ञान को क्षणिक नहीं माना जा सकता । [१६७३]

जिनका यह मत है कि ज्ञान एक है—अर्थात् असहाय है, और वह एक ज्ञान एक ही विषय का ग्रहण करता है तथा वह ज्ञान क्षणिक भी है, उन के मत में इस स्वेष्ट मन्तव्य की कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती कि 'इस संसार से जो सत् है, वह सब क्षणिक है' ।^१ जब सब पदार्थ सामने उपस्थित हों, तब ही यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है कि 'ये सब पदार्थ क्षणिक हैं' ।^२ किन्तु सौगत मत में तो एक ज्ञान एक ही पदार्थ को ग्रहण करता है, अतः एक ज्ञान से सब पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान नहीं हो सकता ।

पुनश्च, ज्ञान के एक पदार्थ का ग्रहण करने पर भी यदि एक ही समय ऐसे अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हों और उन सब ज्ञानों का अनुसन्धान करने वाला कोई एक आत्मा विद्यमान हो तो सब पदार्थों के सम्बन्ध में क्षणिकता का ज्ञान सम्भव हो

1. यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्—हेतुविन्दु-पृ० 44 ।

2. क्षणिकाः सर्वसंस्काराः ।

सकता है, किन्तु सौगत उस प्रकार के अनेक ज्ञानों की युगपदुत्पत्ति स्वीकार नहीं करता । अतः सब वस्तुओं की क्षणिकता का ज्ञान कभी भी नहीं होगा ।

इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान एक ही और एक समय में एक ही विषय का ज्ञान करता हो, किन्तु वह क्षणिक न हो तो वह क्रमशः सब वस्तुओं की क्षणिकता का परिज्ञान कर सकता है । किन्तु तुम विज्ञान को क्षणिक भी मानते हो, अतः वह सब पदार्थों की क्षणिकता का परिज्ञान कर ही नहीं सकता । इसलिए विज्ञान को क्षणिक नहीं मानना चाहिए । ज्ञान गुण है, अतः वह निराधार नहीं रह सकता । फलतः शरीर से भिन्न गुणी आत्मा भी स्वीकार करनी चाहिए । [१६७४]

वायुभूति—आपने कहा है कि क्षणिक विज्ञान इस बात का ज्ञान नहीं कर सकता कि 'सभी पदार्थ क्षणिक हैं' इस का और अधिक स्पष्टीकरण करने की कृपा करें ।

भगवान्—बौद्ध मत के अनुसार विज्ञान स्व-विषय में ही नियत है और वह क्षणिक भी है, अतः इस प्रकार का विज्ञान अनेक विज्ञानों के विषयभूत पदार्थों के धर्मों, क्षणिकता, निरात्मकता, दुःखता आदि को कैसे जान सकता है ? कारण यह है कि वे विषय उस ज्ञान के ही नहीं हैं । अपि च, वह ज्ञान क्षणिक होने के कारण उन विषयों को क्रमशः भी नहीं जान सकता । इस प्रकार अपने विषय से भिन्न सभी पदार्थ उस ज्ञान के लिए अविषय रूप ही हैं । अतः उनकी क्षणिकता आदि के ज्ञान की सम्भावना नहीं रहती । [१६७५]

वायुभूति— एक ही वस्तु का ग्रहण करने वाला क्षणिक विज्ञान भी सभी वस्तुओं के क्षण भंग का स्व-तथा स्व-विषय के समान अनुमान से ज्ञान कर सकता है । तात्पर्य यह है कि वह ज्ञान अनुमान करेगा कि संसार के सभी ज्ञान क्षणिक होने चाहिए, क्योंकि जो ज्ञान हैं वे सब ज्ञान होने के कारण मेरे समान ही क्षणिक होने चाहिए, उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए क्योंकि वे सभी मेरे विषय के सदृश ज्ञान के ही विषय हैं । मेरा विषय क्षणिक है, अतः वे सब ही क्षणिक होने चाहिए । इस प्रकार ज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी समस्त वस्तुओं की क्षणिकता का ज्ञान कर सकता है ।

भगवान्— तुमने जो अनुमान उपस्थित किया है वह अयुक्त है; कारण यह है कि जब पहले स्वेतर ज्ञान की सत्ता तथा स्व-विषयेतर विषयों की सत्ता मिट्ट हो जाए, तब उन सब की क्षणिकता का अनुमान हो सकता है । यह एक मान्य सिद्धान्त है कि प्रसिद्ध धर्मी पक्ष होता है । किन्तु वह क्षणिक विज्ञान उन सब की सत्ता को

ही सिद्ध नहीं कर सकता, उनकी क्षणिकता की सिद्धि की बात तो अलग ही रह जाती है ।

वायुभूति—स्वेतर विज्ञान तथा स्व-विषयेतर वस्तु की सिद्धि भी विज्ञान उसी प्रकार के अनुमान से ही करेगा और कहेगा कि जैसे मेरा अस्तित्व है उसी प्रकार अन्य ज्ञानों का भी अस्तित्व होना चाहिए तथा जैसे मेरा विषय है वैसे ही अन्य ज्ञानों के भी विषय होने चाहिए । तदनन्तर वह यह निश्चय करेगा कि जैसे मैं क्षणिक हूँ और मेरा विषय क्षणिक है, वैसे वे सब ज्ञान और उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए ।

भगवान्—तुम्हारा यह कथन भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि तुम्हारे द्वारा मान्य सर्व वस्तु की क्षणिकता को जानने वाला स्वयं विज्ञान ही अपना जन्म होते ही तत्काल नष्ट हो जाता है; अतः वह अपने ही नाश को तथा अपनी ही क्षणिकता को जानने में असमर्थ है । तब अन्य ज्ञानों, उनके विषयों तथा उन सब की क्षणिकता को जानने में उसकी असमर्थता का कहना ही क्या है ।

अपि च, वह क्षणिक ज्ञान अपने ही विषय की क्षणिकता को भी नहीं जान सकता, क्योंकि ज्ञान और उसका विषय दोनों एक ही काल में नष्ट हो जाते हैं । यदि वह ज्ञान अपने विषय का विनाश होता देखे और इससे उसकी क्षणिकता का निर्णय करे और बाद में वह स्वयं नष्ट हो तो ही वह अपने विषय की क्षणिकता की प्रतिपत्ति कर सकता है । किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि बौद्धों के मत में ज्ञान और विषय दोनों एक ही समय में अपने अन्तर क्षणों को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं । वस्तु की क्षणिकता को जानने के लिए अन्य स्व-संवेदन अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी समर्थ नहीं हैं, और उक्त प्रकार का अनुमान भी सिद्ध नहीं होता । अतः बौद्ध मत में सर्व वस्तु की क्षणिकता अज्ञात ही रहती है । [१६७६]

वायुभूति—पूर्व-पूर्व विज्ञानों द्वारा उत्तर-उत्तर विज्ञानों में एक ऐसी वासना उत्पन्न होती है जिससे वह विज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी अन्य विज्ञानों के तथा उनके विषयों के सत्व, क्षणिकतादि धर्मों का ज्ञान कर सकता है । इस प्रकार बौद्धों को सभी पदार्थों की क्षणिकता अज्ञात नहीं रहती, अतः उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है ।

भगवान्—तुम्हारे द्वारा कही गई वासना भी तभी सम्भव है जब वास्य तथा वासक ये दोनों ज्ञान एक ही समय में एक साथ मिलते हों । किन्तु बौद्धों के मतानुसार उक्त दोनों ज्ञान जन्मानन्तर ही नष्ट हो जाने के कारण एक ही समय में विद्यमान नहीं हो सकते । यदि वे दोनों एक ही काल में संयुक्त हों तो उन ज्ञानों की क्षणिकता नहीं । अतः सभी ज्ञानों और सभी विषयों की क्षणिकता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

पुनश्च, यदि वह वासना भी क्षणिक है तो उससे भी ज्ञान के समान सर्वक्षणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। और यदि वासना स्वयं अक्षणिक है तो तुम्हारी इस प्रतिज्ञा में बाधा आती है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं।

इस प्रकार वासना से भी सभी वस्तुओं की क्षणिकता सिद्ध नहीं हो सकती।

[१६७७]

विज्ञान को एकान्त क्षणिक मान कर भी यदि सर्व क्षणिकता का ज्ञान करना हो तो पूर्वोक्त प्रकार से निम्न दोषों की आपत्ति है—

१. एक साथ अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और इन सब विज्ञानों की आश्रयभूत एक आत्मा भी स्वीकार करनी पड़ेगी। अथवा

२. यह बात स्वीकार करनी होगी कि एक विज्ञान का एक ही विषय नहीं, प्रत्युत एक ही ज्ञान अनेक विषयों को जान सकता है। अथवा

३. विज्ञान को अवस्थित अक्षणिक मानना होगा, जिससे वह सब पदार्थों को क्रमशः जान सके। इस प्रकार के विज्ञान तथा आत्मा में केवल नाम का भेद है, अतः वस्तुतः अक्षणिक विज्ञान नहीं अपितु आत्मा ही माननी पड़ेगी।

४. उक्त आत्मा को स्वीकार करने से बौद्ध-सम्मत प्रतीत्य समुत्पादवाद का ही विघात होता है। कारण की अपेक्षा से कार्य की उत्पत्ति होती है, कारण का किसी भी प्रकार से कार्यावस्था में अन्वय नहीं है—प्रतीत्य समुत्पादवाद का यह रूप है। परन्तु इस वाद को स्वीकार करने से स्मरणादि समस्त व्यवहार का उच्छेद मानना पड़ता है। कारण है कि स्मरणादि व्यवहार उसी अवस्था में सम्भव है जब अतीत संकेतादि का आश्रय रूप कोई पदार्थ स्मरणादि ज्ञान रूप परिणाम को प्राप्त हो, अर्थात् उत्तर काल में भी उसी का अन्वय विद्यमान रहे। अन्यथा उसकी सम्भावना ही नहीं। ऐसी अन्वयी वस्तु ही आत्मा है। अतः स्मरणादि व्यवहार की उपपत्ति के लिए यदि आत्मा को स्वीकार किया जाए तो प्रतीत्यसमुत्पादवाद का विघात हो जाता है।

विज्ञान को एकान्त-क्षण-विनाशी स्वीकार करने पर उक्त तथा अन्य अनेक दोषों की आपत्ति उपस्थित होती है। किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त विज्ञानमय आत्मा को मानने में एक भी दोष नहीं है। ऐसी आत्मा स्वीकार करने से ही समस्त व्यवहार की भी सिद्धि होती है; अतः क्षणिक विज्ञान के स्थान पर शरीर से भिन्न आत्मा ही माननी चाहिए। [१६७८-७९]

वायुभूति—उक्त आत्मा के कौन से ज्ञान होते हैं और वे किससे होते हैं ?

ज्ञान के प्रकार

भगवान्—इस आत्मा में मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, ऋवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्ययज्ञानावरण का जब क्षयोपशम होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, ऋवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विचित्र आवरणों के क्षय एवं क्षयोपशम से आत्मा में विचित्र ज्ञान उत्पन्न होते हैं। वे पर्याय रूप से क्षणिक होते हैं तथा द्रव्य रूप से कालान्तर-स्थायी नित्य भी होते हैं। [१६८०]

इन सब ज्ञानों की जो सन्तान सामान्य रूप है वह नित्य है, उसका कभी भी व्यवच्छेद नहीं होता; किन्तु सामग्री के अनुसार उन में अनेक प्रकार की विशेषता उत्पन्न होती है। इससे ज्ञान के अनेक अवस्थानुरूप भेद हो जाते हैं—अथवा विशेष बनते हैं।

किन्तु ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से जो केवलज्ञान उत्पन्न होता है उस में भेदों का स्थान नहीं, अतः उसे अविकल्प कहते हैं। वह सदा केवल-रूप, असहाय-रूप अनन्तकाल तक विद्यमान रहता है और अनन्त वस्तुओं का ग्रहण करता है, अतः उसे अनन्त भी कहते हैं। [१६८१]

वायुभूति—यदि आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह शरीर में प्रवेश करते समय अथवा वहाँ से बाहर निकलते समय दिखाई क्यों नहीं देती ?

विद्यमान होने पर भी अनुपलब्धि के कारण

भगवान्—किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि दो प्रकार की मानी गई है। एक प्रकार तो यह है कि जो वस्तु खरंश्रुगादि के समान सर्वथा असत् हो वह कभी भी उपलब्ध नहीं होती। दूसरा प्रकार यह है कि वस्तु सत् अथवा विद्यमान होने पर भी निम्न लिखित कारणों से अनुपलब्ध होती है—

१. बहुत दूर हो, जैसे मेरु आदि।
२. अति निकट हो, जैसे आँख की भौहें।
३. अति सूक्ष्म हो, जैसे परमाणु।
४. मन के अस्थिर होने पर भी वस्तु का ग्रहण नहीं होता, जैसे ध्यानपूर्वक न चलने वाले को।
५. इन्द्रियों में पटुता न हो, जैसे किञ्चित् बधिर को।
६. मति की मन्दता के कारण भी गम्भीर अर्थ का ज्ञान नहीं होता।
७. अशक्यता से भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, जैसे कि अपने कान का, मतस्क का अथवा पीठ का दर्शन अशक्य है।

८. आवरण के कारण—जैसे आँख को हाथ से ढक दिया जाए तो वह कुछ भी देख नहीं सकती। अथवा दीवार आदि से अन्तरित वस्तु भी दिखाई नहीं देती।

९. अभिभव के कारण—जैसे उत्कट सूर्य तेज से तारागण अभिभूत हो जाते हैं, अतः दिखाई नहीं देते।

१०. सदृशता होने के कारण—बारीकी से ध्यान पूर्वक देखा हुआ उड़द का दाना यदि उड़द के समूह (ढेर) में मिला दिया जाय तो उड़द के सभी दाने एक समान होने के कारण उस दाने को ढूँढना या पहचानना सम्भव नहीं है।

११. अनुपयोग के कारण—जिस मनुष्य का ध्यान उपयोग रूप में न हो वह जैसे गन्धादि को नहीं जानता वैसे।

१२. अनुपाय होने पर—जैसे कोई व्यक्ति सींग देख कर गाय-भेंस के दूध के परिमाण को जानना चाहे तो वह नहीं जान सकता, क्योंकि दूध के परिमाण का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय सींग नहीं है।

१३. विस्मरण होने पर भी पूर्वोपलब्ध वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

१४. दुरागम—मिथ्या उपदेश मिला हो तो सुवर्ण के समान चमकती हुई रेत को सुवर्ण मानने पर भी सुवर्ण की उपलब्धि नहीं होती।

१५. मोह—मूढमति या मिथ्यामति के कारण विद्यमान जीवादि तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता।

१६. विदर्शन—दर्शन शक्ति के अभाव के कारण—जैसे जन्मान्ध को।

१७. विकार के कारण—वृद्धावस्था आदि विकार के कारण अनेक बार पूर्वोपलब्ध वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती।

१८. अक्रिया से—जमीन खोदने की क्रिया न की जाए तो वृक्ष का मूल दिखाई नहीं देता।

१९. अनधिगम—शास्त्र को न सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

२०. कालविप्रकर्ष के कारण भूत तथा भावी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती।

२१. स्वभावविप्रकर्ष अर्थात् अमूर्त होने के कारण आकाशादि दिखाई नहीं देता।

इन २१ कारणों से विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि होती है। इन में प्रस्तुत में आत्मा स्वभाव से विप्रकृष्ट है, अर्थात् वह आकाश के समान समूर्त है, अतः

उसकी उपलब्धि नहीं होती। उसका कार्मण शरीर परमाणु के सदृश सूक्ष्म है, अतः वह भी अनुपलब्ध रहता है। इसीलिए हमारे शरीर में से निकलते समय अथवा उस में प्रविष्ट होते समय आत्मा कार्मण शरीर से युक्त होने पर भी दिखाई नहीं देती। अतः उसका अभाव नहीं माना जा सकता।

वायुभूति—किन्तु वह सत् ही है, यह बात कैसे ज्ञात हुई? खरशृंग के समान असत् होने के कारण ही वह अनुपलब्ध है, यह बात क्यों स्वीकार न की जाए?

आत्मा का अभाव क्यों नहीं?

भगवान्—अनेक अनुभवों द्वारा जीव की सत्ता सिद्ध की ही गई है, अतः उसे असत् नहीं माना जा सकता। अतएव यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि उपर्युक्त कारणों में से किसी कारणवशात् विद्यमान जीव की अनुपलब्धि है। [१६८२-८३]

वायुभूति—‘जीव शरीर से भिन्न है’ क्या इस मन्तव्य को वेदवाक्यों का आधार प्राप्त है?

वेद से समर्थन -

भगवान्—यदि शरीर ही जीव हो और जीव शरीर से भिन्न न हो तो फिर यह वेद विधान बाधित हो जाता है कि ‘स्वर्ग की इच्छा करने वाले व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए।’ कारण यह है कि शरीर यहीं जल कर राख हो जाता है, फिर स्वर्ग में कौन जाएगा अपि? च, दानादि के फल से स्वर्ग की प्राप्ति की लोक प्रसिद्ध मान्यता भी असंगत माननी पड़ेगी। [१६८४]

वायुभूति—ऐसी परिस्थिति में वेद में यह उल्लेख क्यों किया गया है कि ‘विज्ञानघन एव एतेभ्यः’ इत्यादि? अर्थात् आत्मा भूतों से भिन्न नहीं है।

भगवान्—तुम उक्त वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें यह प्रतीत होता है कि शरीर ही जीव है, किन्तु मैंने उनका जो वास्तविक अर्थ बताया है, उसके अनुसार तो जीव शरीर से भिन्न ही सिद्ध होता है। मैं इस अनुमान का भी पहले निर्देश कर चुका हूँ कि शरीर रूप में परिणत इस भूत-संघात का कोई कर्ता विद्यमान होना चाहिए, क्योंकि यह संघात सादि प्रतिनियत आकार वाला है, जैसे कि घट। उसका जो कर्ता है वह शरीर से भिन्न जीव है, इत्यादि। पुनश्च ‘आत्मा भूतों से भिन्न है’ इस मत का समर्थन करने वाले वेदवाक्यों को क्या तुम नहीं जानते? वेद में लिखा है, “सत्य से, तपश्चर्या से,

तथा ब्रह्मचर्य से नित्य, ज्योतिर्मय, विशुद्ध स्वरूप आत्मा प्राप्त की जा सकती है। धीर तथा संयतात्मा यति उसका साक्षात्कार करते हैं,¹ इत्यादि। इस प्रकार वेद में भी शरीर से भिन्न जीव का प्रतिपादन है। अतः यह बात माननी चाहिए कि जीव शरीर से भिन्न है। [१६८५]

इस प्रकार जन्म-मरण से रहित भगवान् ने जब उसके संशय का निवारण किया, तब वायुभूति ने अपने ५०० शिष्यों के साथ जिन-दीक्षा अंगीकार की। [१६८६]

1. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो विशुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः
संयतात्मानः ।
—मुण्डकोपनिषद् 3.1.५.

चतुर्थ गणधर व्यक्त

शून्यवाद-निरास

इन सब को दीक्षित हुए सुन कर व्यक्त ने भी विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के निकट आ पहुँचा। [१६८७]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने उसे नाम व गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा 'व्यक्त भारद्वाज' ! कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी थे। [१६८८]

भूतों की सत्ता के विषय में संशय

भगवान् ने उसे बतलाया कि वेद के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यों के श्रवण से तुम्हें यह संशय है कि भूतों का अस्तित्व है या नहीं? वेद का एक वाक्य यह है कि 'स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरंजसा विज्ञेयः' तुम इसका यह अर्थ समझते हो कि यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न सदृश ही है, यह ब्रह्मविधि अर्थात् परमार्थ-प्रकार स्पष्ट रूप से जानना चाहिए। इससे तुम यह मानते हो कि संसार में भूतों जैसी कोई वस्तु नहीं है, किन्तु वेद में "द्यावापृथिवी" 'पृथिवी देवता' 'आपो देवता'¹ इत्यादि वाक्य भी हैं जिन से पृथ्वी, जल आदि भूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः तुम्हें सन्देह है कि वस्तुतः भूतों का अस्तित्व है या नहीं? किन्तु तुम इन वेद-वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए ऐसा संशय करते हो। मैं तुम्हें इनका सच्चा अर्थ बतलाऊँगा जिससे तुम्हारे संशय का निवारण हो जाएगा। [१६८९]

पदार्थ मायिक है

उक्त वेद-वाक्य से तुम्हें यह प्रतीत होता है कि ये सब भूत स्वप्न समान है। अर्थात् कोई निर्धन मनुष्य यह स्वप्न देखे कि उसके घर के अँगन में हाथी घोड़े बन्धे हुए हैं और उसका भण्डार मणि व रत्नों से भरपूर है। फिर भी परमार्थतः इनमें से किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार मानो किसी इन्द्रजालिक ने मायिक नगर की रचना की है और उसमें भी वस्तुतः अविद्यमान सुवर्ण, मणि, मोती, चांदी के बर्तन आदि पदार्थ दिखाए हैं और उद्यान में फल

1. द्यावापृथिवी सहास्ताम्--तैत्तिरीयब्राह्मण 1-1-3

तथा फूल भी दिखाए हैं तथापि यह सब मायिक होने के कारण परमार्थ-रूपेण विद्यमान नहीं हैं। इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ स्वप्नोपम हैं और मायोपम हैं। इस तरह जहाँ प्रत्यक्ष भूतों के अस्तित्व में भी सन्देह है वहाँ जीव, पुण्य, पाप आदि परोक्ष पदार्थों की तो बात ही क्या है? अतः तुम्हें भूतादि सभी वस्तुओं की शून्यता ज्ञात होती है और तुम समस्त लोक को मायोपम समझते हो।

अपि च, युक्ति से विचार करने पर भी तुम्हें यही प्रतीति होती है कि यह सब स्वप्न सदृश हैं। [१६६०-६१]

समस्त व्यवहार सापेक्ष है

हे व्यक्त ! तुम यह मानते हो कि संसार में सकल व्यवहार ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है। अतः वस्तु की सिद्धि स्वतः, परतः स्व-पर-उभय से अथवा किसी अन्य प्रकार से भी नहीं हो सकती।

संसार में सभी कुछ सापेक्ष है, इस बात का स्पष्टीकरण तुम इस प्रकार करते हो:—संसार में जो कुछ है वह सब कार्य अथवा कारण के अन्तर्गत है। कार्य और कारण की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है—अर्थात् दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। यदि संसार में कार्य ही न हो तो किसी को कारण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि कारण न हो तो किसी को कार्य भी नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में किसी भी पदार्थ के विषय में कार्यत्व का व्यवहार कारणाधीन है और कारणत्व का व्यवहार कार्याधीन है। इस तरह कार्य और कारण दोनों स्वतः सिद्ध नहीं हैं। अतः संसार में कुछ भी स्वतः सिद्ध नहीं है। यदि कोई भी पदार्थ स्वतः सिद्ध न हो तो वह परतः सिद्ध कैसे हो सकता है? कारण यह है कि जैसे खर-विषाण स्वतः सिद्ध नहीं तो उसे परतः सिद्ध भी नहीं कह सकते, वैसे ही संसार के सकल पदार्थ यदि स्वतः सिद्ध न हों तो वे परतः सिद्ध भी नहीं हो सकते। स्व-पर-उभय से भी वस्तु की सिद्धि अशक्य है, क्योंकि उक्त प्रकारेण यदि स्व और पर पृथक्-पृथक् सिद्धि के कारण प्रमाणित न होते हों तो वे दोनों मिल कर भी वस्तु की सिद्धि में असमर्थ रहेंगे। रेत के एक-एक कण में तेल नहीं है, अतः समस्त कणों को मिलाने पर भी तेल की निष्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्व और पर के अलग-अलग असमर्थ होने पर यदि दोनों मिल भी जाएँ तो भी उन में सिद्धि का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता। अपि च, स्व-पर-उभय से सिद्धि स्वीकार करने में परस्पराश्रय दोष भी है, क्योंकि जब तक कारण सिद्ध न हो तब तक कार्य नहीं होता और जब तक किसी कार्य की निष्पत्ति न हुई हो तब तक किसी को कारण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं, एक की सिद्धि दूसरे के बिना नहीं होती।

अतः उन में परस्पराश्रय दोष होने के कारण स्वयं असिद्ध वे दोनों एकत्रित हो अन्य किसी की सिद्धि करें, यह सम्भव नहीं है। उक्त तीन प्रकारों से जो सिद्ध न हो वह इन से भिन्न प्रकार से भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य प्रकार अनु-भयरूप ही हो सकता है। अर्थात् स्व-पर-उभय से भिन्न प्रकारेण। किन्तु संसार में स्व-पर से भिन्न कोई वस्तु सम्भव ही नहीं; क्योंकि जो कुछ होगा वह स्व या पर होगा। अतः अनुभय से निष्पत्ति मानने का अर्थ होगा कि वस्तु की सिद्धि अहेतुक है, अर्थात् उसका कोई हेतु या कारण नहीं है। किन्तु यह बात असम्भव है। कारण के बिना संसार में कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः अनुभय से भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती।

ह्रस्व-दीर्घत्व के व्यवहार के विषय में भी यही बात है। वह व्यवहार भी सापेक्ष ही है। अतः कोई भी वस्तु स्वतः ह्रस्व अथवा दीर्घ नहीं है। प्रदेशिनी—अँगूठे के निकटस्थ पहली अँगुली—अँगूठे की अपेक्षा लम्बी है, किन्तु वही मध्यमा अँगुली की अपेक्षा छोटी है। इसलिए वह स्वतः न तो लम्बा है और न छोटी। वह तो अपेक्षा से लम्बी और छोटी है। अतः हम कह सकते हैं कि दीर्घत्व-ह्रस्वत्व स्वतः सिद्ध नहीं हैं। स्वतः सिद्ध न होने के कारण खर-विषाण के समान वे परतः सिद्ध भी नहीं हो सकते। स्व-पर-उभय अथवा अनुभय प्रकार से भी ह्रस्वत्व-दीर्घत्व की सिद्धि सम्भव नहीं है। फलस्वरूप यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह समस्त व्यवहार सापेक्ष है। इसीलिए किसी ने ठीक ही कहा है :—

“दीर्घ कहलाने वाली वस्तु में दीर्घत्व जैसी कोई चीज नहीं है, ह्रस्व कहलाने वाली वस्तु में भी दीर्घत्व का अभाव है। इन दोनों में भी दीर्घत्व नहीं है, अतः दीर्घत्व नामक वस्तु ही असिद्ध है। असिद्ध शून्य है, अतः उसका अस्तित्व कहाँ माना जा सकता है ?”¹

“ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ को सिद्धि कही जाती है और ह्रस्व की सिद्धि भी दीर्घ की अपेक्षा से है। किन्तु निरपेक्ष रूप से किसी की भी सिद्धि नहीं है, अतः यह समस्त सिद्धि व्यवहार के कारण ही है, परमार्थतः कुछ भी नहीं है।”²

इस प्रकार संसार में सब कुछ सापेक्ष होने के कारण शून्य ही है। [१६१२]

सर्व शून्यता के समर्थन के लिए तुम्हारा मन निम्न प्रकार से भी ऊहापोह करता है :—

1. न दीर्घोऽस्तीह दीर्घत्वं न ह्रस्वे नापि च द्वये ।
तस्मादसिद्धं शून्यत्वात् सदित्याख्यायते न्व हि ? ॥
2. ह्रस्वं प्रतीय सिद्धं दीर्घं दीर्घं तीत्य ह्रस्वमपि ।
न किञ्चिदस्ति सिद्धं व्यवहारवशाद् बदन्त्येवम् ॥

सर्वशून्यता का समर्थन

घट तथा अस्तित्व ये दोनों एक ही हैं अर्थात् अभिन्न हैं ? अथवा अनेक हैं अर्थात् भिन्न हैं ? उन दोनों को एक नहीं माना जा सकता क्योंकि सभी पदार्थ एक घट-रूप हो जाएँगे । जो कुछ अस्तित्व-रूप है वह सब घट-रूप हो, तभी हम यह कह सकेंगे कि घट तथा अस्तित्व एक ही हैं, अन्यथा नहीं । ऐसी स्थिति में घट-भिन्न पटादि किसी भी पदार्थ का अस्तित्व सम्भव नहीं होगा, इसलिए सब कुछ घट-रूप ही स्वीकार करना पड़ेगा ।

अथवा घट केवल घट ही नहीं प्रत्युत पट भी है, और इसी प्रकार यह मानना पड़ेगा कि घट संसार की समस्त वस्तु-रूप है । कारण यह है कि संसार की सभी वस्तुओं में अस्तित्व व्याप्त है और घट उस अस्तित्व से अभिन्न है ।

अथवा घट और अस्तित्व को एक मानने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो घट है वही अस्तित्व-रूप है । इससे घटेतर सभी पदार्थ अस्तित्व शून्य हो जाएँगे, उन सब का अभाव हो जायगा और संसार में केवल घट का ही अस्तित्व रह जायगा ।

यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए तो घट का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि अघट से व्यावृत्त होने के कारण ही घट 'घट' कहलाता है । यदि संसार में घटेतर-अघट का अस्तित्व ही न हो तो फिर किसकी अपेक्षा से उसे 'घट' कहा जायगा ? अतः घट का अस्तित्व भी सिद्ध न होगा और इस प्रकार सर्वशून्य की ही सिद्धि होगी ।

इस तरह घट तथा अस्तित्व को एक मानने से सर्व-शून्यता को बाधा होने के कारण घट तथा अस्तित्व को यदि अनेक या भिन्न माना जाए, तो भी सर्व-शून्यता की आपत्ति स्थिर रहती है । यदि अस्तित्व घट से भिन्न हो तो घट को 'अस्तित्व' नहीं कहा जा सकता । अर्थात् घट अस्तित्व से शून्य होगा । अस्तित्व शून्य घट खर-विषाण के समान असत् होता है । इस प्रकार सभी पदार्थ अस्तित्व शून्य होने के कारण असत् ही मानने पड़ेंगे—शून्य ही स्वीकार करने होंगे । अपि च, सत् का भाव सत्त्व अथवा अस्तित्व है । अब यदि वह अपने आधार-रूप घटादि सत् पदार्थों से एकान्त भिन्न ही हो तो उसका असत्त्व उपस्थित हो जाता है । कारण यह है कि आधार से अन्य (सर्वथा भिन्न) रूप आधेय धर्म का अस्तित्व ही शक्य नहीं है ।

इस प्रकार घट तथा अस्तित्व को एक अथवा अनेक मानने में उक्त दोषों की सम्भावना है । अतः वे अवाच्य या सर्वथा शून्य हैं । इसी प्रकार समस्त पदार्थ अनभिलाप्य (अवाच्य) अथवा सर्वथा शून्य ही हैं । (१६६३)

उत्पत्ति घटित नहीं होती

तुम यह भी मानते हो कि जो उत्पन्न नहीं होता वह खर-विषाण के समान असत् होता है, अतः उसकी चर्चा ही व्यर्थ है। किन्तु जिसे उत्पन्न माना जाता है, उसकी उत्पत्ति भी विचार करने पर घटित नहीं होती, अतः वह भी शून्य ही सिद्ध होता है। इसका स्पष्टीकरण यह है—

जात (उत्पन्न) की उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि वह घट के समान जात ही है। यदि जात की भी उत्पत्ति मानी जाए तो अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा अर्थात् जन्म परम्परा का अन्त ही न होगा।

अजात (अनुत्पन्न) की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं। यदि अजात की भी उत्पत्ति मानी जाए तो अभाव (असत्) खर-विषाण की भी उत्पत्ति माननी चाहिए, क्योंकि वह भी अजात ही है।

जात-अजात की उत्पत्ति भी शक्य नहीं, क्योंकि इन दोनों पक्षों में पूर्वोक्त दोनों दोषों की आपत्ति है। पुनश्च, जात-अजात-स्वरूप उभय लक्षण पदार्थ की सत्ता है या नहीं? यदि वह विद्यमान है तो उसे 'जात' ही कहा जायगा, उभय नहीं। इस पक्ष में अनवस्था दोष की भी आपत्ति है। और यदि वह विद्यमान नहीं है तो भी उसे जात-अजात उभयरूप नहीं कहा जा सकता, किन्तु अजात ही कहा जायगा। इस पक्ष में पूर्वोक्त दूषण है ही। इसी प्रकार जायमान की उत्पत्ति भी घटित नहीं होती। कारण यह है कि वह भी यदि विद्यमान हो तो 'जात' कहलाएगा और यदि विद्यमान न हो तो उसे 'अजात' कहा जायगा। इन दोनों पक्षों में पूर्वोक्त दोषों की आपत्ति उपस्थित होगी। कहा भी है कि—

गमन क्रिया हो चुकी हो तो जाना नहीं होता और यदि गमन क्रिया का अभाव हो तो भी जाना नहीं होता। गमन क्रिया के भाव तथा अभाव से भिन्नरूप कोई चालू गमन क्रिया होती ही नहीं।¹ अतः संसार में उत्पाद आदि किसी भी क्रिया का सद्भाव न होने से जगत् को शून्य ही मानना चाहिए। (१६६४)

पुनश्च, अन्य प्रकार से भी उत्पत्ति का अभाव सिद्ध होता है। वस्तु की उत्पत्ति में हेतु (उपादान) तथा प्रत्यय (निमित्त) ये दो कारण माने जाते हैं। उनमें हेतु अथवा प्रत्यय यदि पृथक्-पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र हों तो वे कार्य की उत्पत्ति में असमर्थ हैं, किन्तु जब ये सब इकट्ठे मिलें तब सामग्री से कार्य की उत्पत्ति होती है,

1. गतं न गम्यते तावद् अगतं नैव गम्यते ।

गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥ माध्यमिक कारिका 2,1

ऐसी मान्यता है। किन्तु सामग्री के घटक प्रत्येक हेतु अथवा प्रत्यय में यदि कार्योत्पादन सामर्थ्य ही न हो तो वह सामग्री में भी कैसे हो सकता है? जैसे कि रेत के प्रत्येक कण में तेल का अभाव होने से समग्र कणों में भी तेल का अभाव ही होता है। अर्थात् संसार में कार्य जैसी कोई वस्तु प्रमाणित न हो, सर्वाभाव हो जाए, तो फिर सामग्री का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा? तथा सामग्री के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जायगा। इस तरह सर्व-शून्यता की ही सिद्धि होती है। कहा भी है:-

‘हेतु प्रत्यय रूप सामग्री यदि पृथक् हो तो उसमें कार्य का दर्शन नहीं होता और जब तक घटादि कार्य उत्पन्न न हो तब तक उसमें घटादि संज्ञा की प्रवृत्ति न होने के कारण वह स्वभावतः अनभिलाप्य (अवाच्य) है।’¹

“संसार में जहाँ कहीं संज्ञा की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है वह सामग्री में ही है, अतः भाव ही नहीं है। भाव न हों तो सामग्री भी नहीं होती।” (१६६५)

अदृश्य होने के कारण शून्यता

सर्व-शून्यता की सिद्धि निम्न प्रकार से भी की जाती है:—जो अदृश्य है वह अनुपलब्ध होने के कारण खर-विषाण के समान असत् ही है। जिसे दृश्य कहा जाता है उसका भी पिछला भाग अदृश्य होने से तथा निकटतम भाग सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देता, अतः उसे भी सर्वथा अदृश्य मानना चाहिए। इसलिए वह भी खर-विषाण के समान शून्य होगा। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि स्तम्भादि बाह्य पदार्थ दिखाई तो देते हैं, फिर उन्हें अदृश्य कैसे कहा सकता है? इसका समाधान यह है कि स्तम्भादि समस्त पदार्थ अखण्ड तो दिखाई नहीं देते। हम उसके तीन अवयवों की कल्पना करें—अन्तिम भाग, मध्य भाग तथा हमारे सन्मुख उपस्थित अग्र भाग। इनमें अन्तिम और मध्य भाग तो दिखाई ही नहीं देते, अतः वे अदृश्य हैं। सामने का जो भाग हमें दिखाई देता है वह भी सावयव है। उसके अन्तिम अवयव तक जाएँ तो वह परमाणु ही होगा। वह भी सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य है। इस प्रकार स्तम्भादि पदार्थों का वस्तुतः दर्शन ही सम्भव नहीं। इसलिए वे सब अनुपलब्ध होने के कारण खर-विषाण के समान असत् ही हैं। इससे सर्व-शून्यता सिद्ध होती है। कहा भी है:—

“जो कुछ दृश्य है उसका पर (पश्चात्) का भाग तो दिखाई नहीं देता। अतः ये सब पदार्थ स्वभाव से अनभिलाप्य (अवाच्य) ही हैं।”²

1. हेतुप्रत्ययसामग्रीपृथग्भावेवदर्शनात् । तेन ते नाभिलाप्या हि भावाः सर्वे स्वभावतः ॥
2. लोके यावत् संज्ञा सामग्र्यामेव दृश्यते यस्मात् । तस्मान् न सन्ति भावा भावेऽमति नास्ति सामग्री ॥
3. य वद् दृश्यं परस्तावद् भागः स च न दृश्यते । तेन ते नाभिलाप्या हि भावाः सर्वे स्वभावतः ॥

इस प्रकार तुम युक्ति से विचार करते हो कि संसार में भूतों की सत्ता ही नहीं है। किन्तु वेद में भूतों का अस्तित्व प्रतिपादित भी किया है। अतः तुम्हें संशय है कि भूत वस्तुतः है या नहीं ? [१६६६]

व्यक्त—आपने मेरे संशय का यथार्थ वर्णन किया है। कृपया अब उसका निवारण करें।

संशय-निवारण

भगवान्—व्यक्त ! तुम्हें इस प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि यदि संसार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय में आकाश-कुसुम तथा खर-शृंग के समान संशय ही उत्पन्न न हो। जो वस्तु विद्यमान हो, उसी के सम्बन्ध में संशय होता है, जैसे कि स्थाणु व पुरुष के सम्बन्ध में। [१६६७]

भूतों के विषय में संशय का होना उनकी सत्ता का द्योतक है

ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण सर्वशून्य होने पर भी स्थाणु-पुरुष के विषय में तो सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम, खर-शृंग आदि के विषय में कोई संशय नहीं होता ? तुम ही इसको स्पष्ट करो। अथवा ऐसा क्यों नहीं होता कि आकाश-कुसुम आदि के विषय में ही संशय हो तथा स्थाणु-पुरुष के विषय में कभी भी संशय न हो, ऐसा विपर्यय क्यों नहीं होता ? अतः यह मानना चाहिए कि खर-शृंग के समान सब कुछ ही समान-रूपेण शून्य नहीं है। [१६६८]

व्यक्त—आप ही बताएँ कि किस विशेषता के कारण स्थाणु-पुरुष के सम्बन्ध में सन्देह होता है।

भगवान्—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—इन प्रमाणों द्वारा पदार्थ की सिद्धि होती है। अतः इन प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों के सम्बन्ध में ही सन्देह उत्पन्न हो सकता है। जो विषय सर्व प्रमाणातीत हो उसके सम्बन्ध में संशय कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि स्थाणु आदि पदार्थों के विषय में सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम आदि के विषय में नहीं। [१६६९]

अपि च, संशयादि ज्ञान-पर्याय हैं तथा ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है। इससे भी ज्ञात होता है कि यदि ज्ञेय ही नहीं तो संशय भी कैसे हो सकता है ? [१७००]

अतः संशय होने के कारण भी ज्ञेय का अस्तित्व अनुमान सिद्ध मानना चाहिए। वह अनुमान यह है—ये सब पदार्थ विद्यमान हैं, क्योंकि उनके विषय में सन्देह होता है। जिसके विषय में सन्देह होता है वह स्थाणु-पुरुष के समान विद्यमान होता है। अतः संशय होने के कारण पदार्थों का अस्तित्व मानना चाहिए।

व्यक्त—जब सब कुछ शून्य है तब स्थाणु-पुरुष भी असत् ही है, अतः वह भी प्रमाण सिद्ध नहीं है। फिर वह छटान्त कैसे बन सकता है ?

भगवान्—इस तरह तुम्हें संशय का भी अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि जब सब का अभाव है तो संशय का भी अभाव सिद्ध होगा। फिर जब तुम्हें भूतों के विषय में सन्देह ही नहीं होगा, तब वे सब विद्यमान ही मानने पड़ेंगे। [१७०१]

व्यक्त—ऐसा कोई नियम नहीं है कि यदि सब का अभाव हो तो संशय ही न हो। सोए हुए पुरुष के पास कुछ भी नहीं होता, तदपि वह स्वप्न में संशय करता है कि 'यह गजराज है अथवा पर्वत?' अतः सब वस्तुओं के शून्य होने पर भी संशय सम्भव है।

भगवान्—तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में जो सन्देह होता है वह भी पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से होता है। यदि सभी वस्तुओं का सर्वथा अभाव ही हो तो स्वप्न में भी संशय न हो। [१७०२]

व्यक्त—क्या निमित्त के बिना स्वप्न नहीं होता ?

भगवान्—नहीं, निमित्त के बिना कभी भी स्वप्न नहीं होता।

व्यक्त—स्वप्न के निमित्त कौन से हैं ?

स्वप्न के निमित्त

भगवान्—अनुभव में आए हुए जैसे कि स्नान, भोजन, विलेपन आदि पदार्थों के स्मरण में अनुभव निमित्त है। हस्ति आदि पदार्थ दृष्ट होने के कारण स्वप्न के विषय बनते हैं। चिन्ता भी स्वप्न का निमित्त है। जैसे कि अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में चिन्ता हो तो वह स्वप्न में दिखाई देती है। यदि किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ सुन रखा हो तो वह भी स्वप्न में आता है। प्रकृति-विकार अर्थात् वात, पित्त, कफ के विकार से भी स्वप्न आते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल देवता, सजल प्रदेश, पुण्य तथा पाप भी स्वप्न के निमित्त हैं। किन्तु वस्तु का सर्वथा अभाव कभी भी स्वप्न का निमित्त नहीं बन सकता। अतः स्वप्न भी भावरूप है, इसलिए उसे सर्वशून्य कैसे माना जाए ? [१७०३]

व्यक्त—आप स्वप्न को भावरूप कैसे मानते हैं ?

भगवान्—स्वप्न भावरूप है, क्योंकि घट-विज्ञानादि के समान वह भी विज्ञान रूप है। अथवा स्वप्न भावरूप है क्योंकि वह भी उक्त निमित्तों द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे घट अपने दण्डादि निमित्तों द्वारा उत्पन्न होने के कारण भावरूप है, वैसे ही स्वप्न भी निमित्तों से उत्पन्न होने के कारण भावरूप है। [१७०४]

सर्वशून्यता में व्यवहाराभाव

अपि च, सर्वाभाव हो (सर्वशून्य हो) तो ज्ञानों में यह भेद किस कारण से होता है कि अमुक ज्ञान स्वप्न है और अमुक ज्ञान अस्वप्न, यह सत्य है और यह भूठ; यह गन्धर्व, नगर है (माया नगर है) और यह पाटलिपुत्र है, यह तथ्य है (मुख्य है) और यह

औपचारिक है, यह कार्य है और यह कारण है, यह साध्य है और यह साधन है, यह कर्ता है, यह वक्ता है, यह उसका वचन है, यह त्रि-अवयव वाला वाक्य है, यह पंच अवयव वाला वाक्य है, यह वाच्य अर्थात् वचन का अर्थ है, यह स्वपक्ष है तथा वह परपक्ष है— ये सम्पूर्ण व्यवहार यदि संसार में सर्वशून्य के हों तो किस लिए प्रवृत्ति हो ? पुनश्च, पृथ्वी में स्थिरत्व, पानी में द्रवत्व, अग्नि में उष्णत्व, वायु में चलत्व तथा आकाश में अमूर्तत्व—यह सब कुछ कैसे नियत हो सकता है ? यह नियम भी कैसे बनेगा कि शब्दादि विषय-ग्राह्य हैं तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ ग्राहक हैं ? उक्त सभी बातें एकरूप क्यों नहीं हो जातीं ? अर्थात् जैसा स्वप्न वैसा ही अस्वप्न क्यों नहीं माना जाता ? उक्त बातों में असमानता का क्या कारण है ? अथवा स्वप्न की प्रतीति अस्वप्न रूप में हो, ऐसा विपर्यय व्यवहार में क्यों नहीं होता ? तथा यदि सब कुछ शून्य ही है तो फिर सर्वाग्रहण क्यों नहीं होता ? अर्थात् किसी भी वस्तु का ग्रहण या ज्ञान ही न हो ।

व्यक्त—भ्रान्ति के कारण यह व्यवहार प्रवृत्त होता है कि यह स्वप्न है और यह अस्वप्न ।

सभी ज्ञान भ्रान्त नहीं

भगवान्—सभी ज्ञानों को भ्रान्तिमूलक नहीं माना जा सकता । कारण यह है कि वे ज्ञान देश, काल, स्वभाव आदि के कारण नियत हैं । फिर भ्रान्ति स्वयं विद्यमान है या अविद्यमान ? यदि भ्रान्ति को विद्यमान माना जाए तो सर्वशून्यता सिद्ध नहीं होती । यदि उसे अविद्यमान मानें तो भावग्राहक ज्ञानों को अभ्रान्त मानना पड़ेगा । अतः सर्वशून्यता नहीं, अपितु सर्वसत्ता ही माननी चाहिए ।

फिर तुम यह भेद भी कैसे करोगे कि शून्यता का ज्ञान ही सम्यक् है तथा भावसत्ता ग्राही ज्ञान मिथ्या है । तुम्हारे मत में तो सब कुछ शून्य ही है, अतः ऐसा भेद सम्भव ही नहीं है । [१७०५-८]

व्यक्त—स्वतः, परतः, उभयतः तथा अनुभयतः इन चारों प्रकारों से वस्तु की सिद्धि नहीं होती, इसलिए तथा सब सापेक्ष होने के कारण सर्वशून्यता को सिद्ध स्वीकार करना चाहिए ।

भगवान्—यदि सब कुछ शून्य है तो यह बुद्धि भी कैसे उत्पन्न होगी कि यह स्व है और वह पर है । जब स्व-पर आदि विषयक बुद्धि ही नहीं होगी तो स्वतः, परतः इत्यादि विकल्प करके वस्तु की जो परस्पर असिद्धि सिद्ध की जाती है, वह भी कैसे सम्भव होगी ?

अपि च, एक ओर तो यह बात स्वीकार करना कि वस्तु की सिद्धि ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है और दूसरी ओर यह कहना कि वस्तु की सिद्धि स्व-पर आदि किसी से भी होती नहीं, परस्पर विरुद्ध कथन करना है ।

सर्वसत्ता मात्र सापेक्ष नहीं

यह एकान्त भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वस्तु की सत्ता केवल आपेक्षिक ही है। कारण यह है कि स्व-विषयक ज्ञान को उत्पन्न करना आदि जैसी अर्थ-क्रिया भी वस्तु-सत्ता का लक्षण है। अतः ह्रस्व आदि पदार्थ स्व-विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण सत् अथवा विद्यमान हैं, इसलिए उन्हें असिद्ध कैसे कहा जाए ?

अपि च, यदि स्वयं असत् स्वरूप अँगुली में ह्रस्वत्वादि अन्य अँगुली सापेक्ष हो तो स्वयं असत् रूप ऐसे खर-विषाण में भी अन्य की अपेक्षा से ह्रस्वत्वादि व्यवहार क्यों नहीं होता ? सर्वशून्यता समान होने पर भी एक में ही ह्रस्वत्वादि व्यवहार होता है और दूसरे में वह नहीं होता, इसका क्या कारण है ? अतः मानना पड़ेगा कि अँगुली आदि पदार्थ स्वयं सत् हैं और उनमें अनन्त धर्म होने के कारण भिन्न-भिन्न सहकारियों के सन्निधान से भिन्न-भिन्न धर्म अभिव्यक्त होते हैं तथा उनके विषय में ज्ञान होता है। यदि अँगुली आदि पदार्थ खर-विषाण के समान सर्वथा असत् हों तो उनमें अपेक्षाकृत ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का व्यवहार भी नहीं हो सकता और स्वतः, परतः आदि विकल्प भी सम्भव नहीं हो सकते।

व्यक्त—शून्यवादी के मत में यह भेद-व्यवहार ही नहीं है कि यह स्व है और यह पर है, किन्तु परवादी वैसा व्यवहार करते हैं अतः उनकी अपेक्षा से स्वतः, परतः आदि विकल्पों की सृष्टि समझनी चाहिए।

शून्यवाद में स्व-पर-पक्ष का भेद नहीं घटता

भगवान्—किन्तु जहाँ सब कुछ शून्य है वहाँ स्वमत तथा परमत का भेद भी सम्भव नहीं है। यदि स्वमत और परमत का भेद स्वीकार किया जाए तो शून्यवाद ही बाधित हो जाता है। [१७०६]

व्यक्त—मैं यह तो कह ही चुका हूँ कि समस्त व्यवहार सापेक्ष है।

भगवान्—तुम ह्रस्व-दीर्घ आदि व्यवहार को सापेक्ष मानते हो, किन्तु इस विषय में मेरा प्रश्न यह है कि ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान युगपद् होता है अथवा क्रमशः ? यदि युगपद् होता है तो जिस समय मध्यम अँगुली के विषय में दीर्घत्व का प्रतिभास हुआ, उसी समय प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व का प्रतिभास हुआ, यह बात माननी होगी। अर्थात् युगपद् पक्ष में एक ज्ञान में दूसरे ज्ञान की किसी भी अपेक्षा का अवकाश न रहने से यह कैसे कहा जायगा कि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व आदि व्यवहार सापेक्ष है ? यदि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व का ज्ञान क्रमशः स्वीकार करते हो तो भी पहले प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व का ज्ञान हो चुका है, फिर मध्यम अँगुली के दीर्घत्व के ज्ञान की अपेक्षा कहाँ रही ? अतः दोनों पक्षों से यह सिद्ध नहीं होता कि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व का ज्ञान व्यवहार सापेक्ष

है। इसलिए यह बात स्वतः सिद्ध है कि सभी पदार्थ चक्षु आदि सामग्री उपस्थित होने पर अन्य किसी की अपेक्षा रखे बिना स्वज्ञान में प्रतिभासित होते हैं।

पुनश्च, बालक जन्म लेने के बाद पहली बार ही आँख खोल कर जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसमें उसे किस की अपेक्षा है? और जो दो पदार्थ दो नेत्रों के समान सदृश हों, उनका ज्ञान यदि एक साथ हो तो इसमें भी किसी की अपेक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः मानना चाहिए कि अँगुली आदि पदार्थों का स्वरूप सापेक्ष मात्र नहीं है किन्तु वे स्वविषयक ज्ञानों में अन्य की अपेक्षा के बिना ही स्वरूप से स्वतः प्रतिभासित होते हैं और तदनन्तर अपने प्रतिपक्षी पदार्थ का स्मरण होने से उनमें इस प्रकार का व्यपदेश होता है कि यह अमुक से ह्रस्व है और अमुक से दीर्घ है। अतः पदार्थों को स्वतः सिद्ध मानना ही चाहिए। [१७१०-११]

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि जब सब कुछ शून्यता के कारण समानरूप से असत् है तब प्रदेशिनी आदि ह्रस्व पदार्थों की अपेक्षा से ही मध्यमा अँगुली आदि में दीर्घत्व का व्यवहार क्यों होता है? दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घ पदार्थों में दीर्घत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता? इसके विपरीत दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा से ही ह्रस्व द्रव्य में ह्रस्वत्व का व्यवहार क्यों होता है? और ह्रस्व की अपेक्षा से ही ह्रस्व में ह्रस्वत्व की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? असत् के समानरूप से विद्यमान होने पर भी ह्रस्व आदि पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घत्व आदि के व्यवहार का क्या कारण है? यह व्यवहार आकाश-कुसुम आदि की अपेक्षा से क्यों नहीं होता? आकाश-कुसुम की अपेक्षा से ही आकाश-कुसुम में ह्रस्व आदि व्यपदेश और ज्ञान न होने का क्या कारण है? अतः यह बात माननी होगी कि सर्वशून्य नहीं हैं किन्तु पदार्थ विद्यमान हैं। [१७१२]

और, जब सर्वशून्य है तब अपेक्षा की भी क्या आवश्यकता है? क्योंकि जैसे घटादि सत्त्व शून्यता के प्रतिकूल है वैसे अपेक्षा भी शून्यता के प्रतिकूल है।

व्यक्त—यह स्वाभाविक बात है कि अपेक्षा के बिना काम नहीं चलता। अर्थात् अपेक्षा से ही ह्रस्व-दीर्घ व्यवहार की प्रवृत्ति होती है, यह स्वभाव है। यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि ऐसा स्वभाव क्यों है? कहा भी है:—

“अग्नि जलती है किन्तु आकाश नहीं जलता, इसे किससे पूछा जाए¹?” अर्थात् ऐसे निश्चय स्वभाव में किसी से यह प्रश्न या आदेश नहीं किया जा सकता कि इससे विपरीत कार्य क्यों नहीं होता?

शून्यता स्वाभाविक नहीं

भगवान्—स्वभाव मानने से भी सर्वशून्यता की हानि ही होती है, क्योंकि ‘स्व’ रूप जो भाव है उसे स्वभाव कहते हैं। अतः ‘स्व’ तथा ‘पर’ इन दो भावों की

1. “अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुद्युज्यताम् ।”

कल्पना करनी ही पड़ती है। उससे शून्यवाद का स्वतः ही निरास हो जाता है। बन्ध्या-पुत्र जैसे अविद्यमान पदार्थों में स्वभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, वह विद्यमान पदार्थों में ही करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में शून्यवाद का निरास स्पष्ट है। [१७१३]

अपेक्षा मानने में मुझे भी आपत्ति नहीं, किन्तु मेरे कथन का भाव इतना ही है कि वस्तु के दीर्घत्वादि का विज्ञान तथा व्यवहार कथञ्चित् अपेक्षाजन्य होने पर भी वस्तु की सत्ता अपेक्षाजन्य नहीं है। इसी प्रकार रूप, रस आदि अन्य वस्तु धर्म भी आपेक्षिक नहीं हैं। अतः वस्तु के अस्तित्व में अन्य किसी की अपेक्षा न होने के कारण उसे असत् नहीं कहा जा सकता और फलतः सर्व शून्य भी नहीं माना जा सकता। [१७१४]

व्यक्त—वस्तु सत्ता तथा उसके रसादि धर्मों को अन्य-निरपेक्ष क्यों माना जाए?

वस्तु की अन्य-निरपेक्षता

भगवान्—यदि वस्तु सत्तादि अन्यनिरपेक्ष न हों तो ह्रस्व पदार्थों का नाश होने पर दीर्घ पदार्थों का भी सर्वथा नाश हो जाना चाहिए, क्योंकि दीर्घ पदार्थों की सत्ता ह्रस्व पदार्थ सापेक्ष है। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः यही फलित होता है कि पदार्थ के ह्रस्व आदि धर्म का ज्ञान और व्यवहार ही पर-सापेक्ष है, उसके सत्ता आदि धर्म पर-सापेक्ष नहीं हैं। वे अन्य-निरपेक्ष ही हैं। अतः यह नियम दूषित है कि 'सब कुछ सापेक्ष होने से शून्य है।' फलतः सर्वशून्यता भी असिद्ध ही है। [१७१५]

सर्वशून्यता की सिद्धि के लिए 'अपेक्षा होने से' यह हेतु दिया गया है, परन्तु यह विरुद्ध है। क्योंकि यह सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु-सत्ता को ही सिद्ध करता है।

व्यक्त—यह कैसे ?

भगवान्—अपेक्षणरूप क्रिया, अपेक्षकरूप कर्ता तथा अपेक्षणीयरूप कर्म इन तीनों से निरपेक्ष अपेक्षा सम्भव ही नहीं है। अर्थात् जब क्रिया, कर्म और कर्ता तीनों विद्यमान हों तब ही अपेक्षा की सम्भावना है। इससे सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु-सत्ता ही सिद्ध होती है। अतः उक्त हेतु विरुद्ध है। [१७१६]

स्वतः परतः आदि पदार्थों की सिद्धि

ठीक बात तो-यह है कि मेघ आदि कुछ पदार्थ अपने कारणभूत द्रव्यों के विशेष परिणाम-रूप हो कर कर्ता आदि किसी की भी अपेक्षा न रखते हुए स्वतः सिद्ध कहलाते हैं, घटादि कुछ पदार्थ कुम्भकारादि कर्ता की अपेक्षा रखने से परतः सिद्ध कहलाते हैं, पुरुषादि कुछ पदार्थ माता-पिता आदि पर-पदार्थ तथा स्वीकृत कर्म रूप स्व-पदार्थ की अपेक्षा रखने से उभयतः सिद्ध कहलाते हैं, तथा आकाशादि कुछ पदार्थ नित्य-सिद्ध कहलाते हैं। यह समस्त व्यवहार व्यवहार-नयाश्रित है ऐसा समझना चाहिए। [१७१७]

किन्तु निश्चय-नय की अपेक्षा से बाह्य कारण निमित्त मात्र हैं, उनका उपयोग होने पर भी सब पदार्थ स्वतःसिद्ध ही माने जाते हैं। कारण यह है कि बाह्य-निमित्तों के होने पर भी खर-विषाण आदि पदार्थ यदि स्वतः सिद्ध न हों तो वे कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते। अतः निश्चय-नय के मत से सभी पदार्थ स्वतःसिद्ध ही माने जाते हैं। इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय दोनों नयों द्वारा होने वाला वस्तुदर्शन सम्यक् कहलाता है। [१७१८]

व्यक्त—अस्तित्व तथा घट के एकानेकत्व (भेदाभेद) की युक्ति¹ का क्या उत्तर है ?

सर्वशून्यता का निराकरण

भगवान्—जब पहले यह सिद्ध हो जाए कि 'घट है' तब यह पर्याय विषयक विचारणा हो सकती है कि घट तथा उसका धर्म अस्तित्व—ये दोनों एक हैं अथवा अनेक। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध है कि घट अथवा अस्तित्व का अभाव नहीं माना जा सकता। जो वस्तु खर-विषाण के समान पहले से ही असिद्ध हो, उसके विषय में भेदाभेद का विचार ही उत्पन्न नहीं होता। यदि घट तथा उसका अस्तित्व अविद्यमान हो और फिर भी उनके विषय में एकानेकत्व की विचारणा हो तो खर-विषाण के सम्बन्ध में भी यह बात होनी चाहिए, ऐसा नहीं होता। अतः मानना होगा कि घटादि के विषय में यह चर्चा इसीलिए होती है कि खर-विषाण के समान उनका सर्वथा अभाव नहीं है। [१७१९]

अपि च, 'घट है' इस पर घट तथा अस्तित्व के विषय में तुमने जो ऊहापोह की, वही ऊहापोह तुम्हारे मत में 'घट शून्य है' इस पर घट तथा शून्यता के विषय में भी की जा सकती है। घट तथा शून्यता में भेद है अथवा अभेद ? यदि शून्यता घट से भिन्न है तो व्यक्त ! तुम ही बताओ कि घट से भिन्न शून्यता कैसी है ? यदि घट तथा शून्यता अभिन्न है तो घट ही मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध होता है। शून्यता-रूप धर्म स्वतन्त्ररूपेण उपलब्ध नहीं होता, अतः उसे मानने की आवश्यकता नहीं रहती। [१७२०]

पुनश्च, तुम्हें जो यह ज्ञान होता है कि 'ये तीनों लोक शून्य हैं' और तुम उक्त वचन का भी जो व्यवहार करते हो, वे दोनों तुम से अभिन्न हैं या भिन्न ? यदि अभेद हो तो वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे शिशपा और वृक्षत्व का एकत्व सद्भूत है वैसे तुम सब का भी है, अतः शून्यता मानी नहीं जा सकती। यदि तुम विज्ञान और वचन से भिन्न हो तो तुम पत्थर के समान अज्ञानी तथा वचन-शून्य बन जाओगे। फिर तुम वादी अर्थात् शून्यवादी कैसे बन सकोगे ? शून्यवाद की सिद्धि भी कैसे होगी ? [१७२१]

1. गाथा 1693 देखें।

व्यक्त—‘घट तथा उसके अस्तित्व को अभिन्न मानने पर सब कुछ घट-रूप हो जाएगा और इससे अघट-रूप वस्तु के अभाव में घट भी सम्भव न होगा’—मेरी इस विचारणा का क्या स्पष्टीकरण है ?

भगवान्—घटसत्ता (घट का अस्तित्व) घट का धर्म होने के कारण घट से अभिन्न है, तदपि वह पटादि से तो भिन्न है। अतः ‘घट है’ अर्थात् घट को अस्तिरूप कहने से ही ‘घट ही है, अन्य कुछ भी नहीं’ ऐसा नियम कैसे फलित हो सकेगा ? कारण यह है कि घट के समान पटादि की सत्ता पटादि में है ही, अतः घट के समान अघटरूप पटादि सभी पदार्थ भी विद्यमान हैं। इस प्रकार अघट का अस्तित्व होने के कारण तद्भिन्न को घट कहा जा सकता है। [१७२२]

व्यक्त—यदि घट और अस्तित्व एक ही हों तो यह नियम किसलिए नहीं बन सकता कि ‘जो-जो अस्तिरूप है वह सब घट ही है’ ? अथवा ‘घट है’ यह वचन कहने से वह पटादि समस्त वस्तु रूप कैसे नहीं होगा ?

भगवान्—ऐसा इसलिए नहीं होता कि घट का अस्तित्व पटादि के अस्तित्व से भिन्न है। घट का अस्तित्व घट में ही है, पटादि में नहीं। अतः घट और उसके अस्तित्व को अभिन्न मान कर भी उक्त नियम नहीं बन सकता तथा घट को अस्ति कहने से केवल उसका ही अस्तित्व ज्ञात होता है, अतः उसे सर्वात्मक कैसे कहा जा सकता है ? [१७२३]

तात्पर्य यह है कि ‘अस्ति’ अर्थात् ‘है’, केवल यह शब्द कहने से जितने पदार्थों में अस्तित्व धर्म है, उन सब का बोध होगा। अर्थात् घट और अघट सब का ज्ञान होगा। किन्तु घट कहने से तो इतना ही बोध होगा कि घट है। कारण यह है कि घट का अस्तित्व घट तक ही सीमित है। जैसे कि वृक्ष कहने से आम्र तथा अन्य नीम आदि वृक्षों का बोध होता है क्योंकि इन सब में वृक्षत्व समान रूपेण है, किन्तु आम्र कहने से तो यही ज्ञान होगा कि वह वृक्ष है क्योंकि जो अवृक्ष होता है उसे आम्र नहीं कहते। [१७२४]

व्यक्त—जात-अजात¹ आदि विकल्पों के विषय में आपका क्या कथन है ?

उत्पत्ति सम्भव है

भगवान्—इस विषय में मैं तुम से इतना ही पूछना चाहता हूँ कि तुम जात (उत्पन्न) किसे कहते हो ? ‘जात, अजात, उभय, जायमान इन चारों प्रकार से उत्पत्ति घटित नहीं होती अर्थात् इन चारों प्रकार से वह अजात है—यदि तुम जात के सम्बन्ध में यह बात कहते हो तो तुम बताओ कि तुम्हारे मत में अजात रूप जात का क्या स्वरूप है ? उसका स्वरूप कुछ भी हो, किन्तु यदि वह तुम्हारे लिए निश्चिद है तो तुम्हें सर्व शून्यता की बात ही नहीं करनी चाहिए। यदि वह जात है तो विकल्पों द्वारा तुम

उसे अजात कैसे कहते हो ? एक ही वस्तु जात तथा अजात दोनों नहीं हो सकती । इसमें स्ववचन-विरोध है । यदि जात सर्वथा असत् है तो जातादि विकल्प निरर्थक है । यदि असत् पदार्थ के विषय में भी जातादि का विचार हो सकता है तो आकाश-कुमुम के विषय में ऐसी विचारणा क्यों नहीं की जाती? वह भी असत् तो है ही, अतः सर्वशून्य नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त मैं पहले यह कह ही चुका¹ हूँ कि यदि सब कुछ शून्य है तो स्वप्न अस्वप्न इत्यादि सब एक समान हो जाना चाहिए अथवा अस्वप्न स्वप्न इत्यादि हो जाना चाहिए, आदि । उसी प्रकार यहाँ भी उन सब दोषों का पुनरावर्तन किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि यदि सब कुछ शून्य ही है तो जात और अजात दोनों समान होने चाहिए अथवा अजात जात हो जाना चाहिए, इत्यादि । [१७२५]

अपि च, यदि शून्यवादी का यही मत हो कि घटादि वस्तु किसी भी प्रकार उत्पन्न ही नहीं होती तो मैं यह प्रश्न करता हूँ कि जो घड़ा पहले मिट्टी के पिण्ड में उपलब्ध न था; वह कुम्भकार, दण्ड, चक्रादि सामग्री से उत्पन्न होने के पश्चात् उपलब्ध कैसे हुआ ? इस सामग्री के अभाव में वह उपलब्ध क्यों नहीं होता था ? फिर उत्पत्ति के बाद वह दृष्टिगोचर हुआ, किन्तु तत्पश्चात् मुद्गर आदि से नष्ट हो जाने के बाद कालान्तर में वह दिखाई क्यों नहीं देता ? जो वस्तु सर्वथा अजात हो वह खर-शृंग के समान सर्वदा अनुपलब्ध रहती है । अतः जिसकी उपलब्धि कादाचित्क हो, उस वस्तु को जात मानना चाहिए । [१७२६]

पुनश्च, जात-अजात आदि विकल्पों द्वारा 'यह सब कुछ शून्य है' ऐसा ज्ञान और वचन भी अजात सिद्ध किया जा सकता है । फिर भी उस ज्ञान और वचन को किसी न किसी प्रकार जात माने बिना तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता । उसी प्रकार सब भावों को तुम्हें जात मानना चाहिए, चाहे उनके विषय में जात-अजात आदि विकल्प घटित न होते हों । अतः सब भावों के जात होने के कारण शून्य नहीं माना जा सकता ।

व्यक्त —उस शून्यता विषयक विज्ञान और वचन को भी मैं जात होने पर भी अजात ही मानता हूँ ।

भगवान्—ऐसी स्थिति में अजात विज्ञान तथा वचन द्वारा शून्य का प्रकाशन नहीं होगा । फिर शून्यता का प्रकाश उसके बिना कैसे होगा ? अर्थात् यह बात मानने से शून्यता ही असिद्ध हो जायेगी । [१७२७]

व्यक्त—किन्तु जातादि विकल्पों से वस्तु की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, इस विषय में आप क्या कहते हैं ?

भगवान्—एकान्तवाद का आश्रय लेने तो कुछ भी घटित नहीं होता; किन्तु अनेकान्त का आश्रय लेने से अपेक्षा विशेष से (१) जात की (२) अजात की (३) जाताजात की (४) जायमान की उत्पत्ति घटित हो सकती है और (५) कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जिसकी उत्पत्ति उक्त एक भी प्रकार से नहीं होती । [१७२८]

व्यक्त— यह कैसे ? उदाहरण देकर समझाने की कृपा करें ।

भगवान्— १. घट की रूपी के रूप में उत्पत्ति जात की उत्पत्ति है, क्योंकि मिट्टी का पिण्ड पहले भी रूपी था और वह घटावस्था में भी रूपी ही है ।

२. आकार की अपेक्षा से घड़े की जो उत्पत्ति है वह अजात की उत्पत्ति है, क्योंकि घटाकार में आने से पूर्व मिट्टी का पिण्ड घटाकार रूप में अजात ही था ।

३. रूप तथा आकार दोनों की अपेक्षा से घड़े की उत्पत्ति जाताजात दोनों की उत्पत्ति कहलाती है, क्योंकि घटाकार में आने से पूर्व वह रूपी तो था, परन्तु उसमें आकार-विशेष का अभाव था ।

४. अतीत-काल के नष्ट हो जाने से तथा अनागत-काल के अनुत्पन्न होने से इन दोनों कालों में क्रिया सम्भव नहीं, अर्थात् क्रिया वर्तमान-काल में ही घटित होती है, अतः जायमान घड़े को उत्पत्ति माननी चाहिए । [१७२९]

५. किन्तु, यदि वही घड़ा पूर्वकाल में जात (उत्पन्न) हो तो पुनः उसकी उत्पत्ति असम्भव होने से यह कहा जा सकता है कि जात की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है । पुनश्च, जात-घट भी परपर्यायरूप पट-रूप में तो उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः पर-पर्याय की अपेक्षा से भी जात की उत्पत्ति सर्वथा घटित नहीं होती । जात-अजात घट भी अर्थात् स्वपर्याय की अपेक्षा से जात और परपर्याय की अपेक्षा से अजात घट भी पूर्वजात होने से पुनः उसी रूप में उत्पत्ति योग्य नहीं होता, अतः जात-प्रजात की भी सर्वथा उत्पत्ति शक्य नहीं । घट-रूप में जायमान घट भी कभी पट-रूप में उत्पन्न नहीं होता, अतः इस अपेक्षा से जायमान की उत्पत्ति भी घटित नहीं होती । [१७३०]

व्योम आदि नित्य पदार्थों की जातादि प्रकार से सर्वथा उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वे सर्वदा स्थित हैं ।

सारांश यह है कि द्रव्य की उसी रूप में कभी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से उपर्युक्त रीति से वस्तु की जातादि विकल्पों द्वारा भजना है; अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से जात की उत्पत्ति घटित भी होती है और नहीं भी होती । [१७३१]

तुमने जो यह विचार किया था कि सब कुछ सामग्री से होता है किन्तु जब सर्वशून्य है तो सामग्री का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, उस विषय में मुझे यह कहना है कि तुम्हारी ऐसी मान्यता सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि वचनजनक कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदि सामग्री प्रत्यक्ष है और उस का कार्य वचन भी प्रत्यक्ष है ।

व्यक्त—वस्तु न हो और फिर भी अविद्याजन्य भ्रान्ति से वह दिखाई दे तो इससे वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती। कहा भी है—

“कामवासना, स्वप्न, भय, उन्माद तथा अविद्याजन्य भ्रान्ति से मनुष्य अविद्यमान अर्थ को भी केशोण्डुक^१ के समान देखता है।”

भगवान्—यदि ऐसा ही है तो शून्यता के समानभाव से होने पर भी कछुआ के बाल की सामग्री किसलिए दिखाई नहीं देती? वचन की ही सामग्री क्यों दिखाई देती है? या तो दोनों की दिखाई देनी चाहिए अथवा किसी की भी नहीं। कारण यह है कि तुम्हारे मत में दोनों समान रूप से शून्य हैं। [१७३२]

पुनश्च, छाती, मस्तक, कण्ठ, ओष्ठ, तालु, जीभ आदि सामग्री-रूप वक्ता तथा उसका वचन सत् हैं या नहीं? यदि वे सत् हैं तो सर्वशून्य नहीं कहा जा सकता। यदि वक्ता और वचन असत् हैं तो यह बात किसने कही कि ‘सब कुछ शून्य है?’ किस ने सुनी? सर्वशून्य मानने से न कोई वक्ता रहेगा और न कोई श्रोता। [१७३३]

व्यक्त—ठीक तो है, वक्ता भी नहीं है, वचन भी नहीं है, अतः वचनीय पदार्थ भी नहीं है। इसीलिए तो सर्वशून्य सिद्ध होता है।

भगवान्—किन्तु मैं तुम से पूछता हूँ कि तुम ने जो यह बात कही कि ‘वक्ता, वचन तथा वचनीय का अभाव होने से सर्वशून्य ही है’ वह (तुम्हारी बात) सत्य है या मिथ्या? [१७३४]

यदि तुम अपने इस वचन को सत्य मानते हो तो वचन का सद्भाव सिद्ध होने से सर्ववस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता। यदि तुम अपने इस वचन को मिथ्या मानते हो तो वह अप्रमाण होने के कारण सर्वशून्यता को सिद्ध करने में असमर्थ है।

व्यक्त—चाहे यह वचन शून्यता को सिद्ध न कर सके, फिर भी हम तो शून्यता को मानते ही हैं।

भगवान्—तो भी यह प्रश्न हो सकता है कि तुम्हारा यह अभ्युपगम (मान्यता) सत्य है या मिथ्या? उत्तर से यही फलित होगा कि शून्यता नहीं माननी चाहिए। अपि च, अभ्युपगम भी तभी घटित हो सकता है जब तुम अभ्युपगन्ता (स्वीकार करने वाला) अभ्युपगम (स्वीकार) तथा अभ्युपगमनीय (स्वीकरणीय वस्तु) इन तीनों वस्तुओं का सद्भाव मानो। किन्तु सर्वशून्यता मानने पर अभ्युपगम भी घटित नहीं होता, अतः सर्वशून्यता का आग्रह छोड़ देना चाहिए। [१७३५]

1. कामस्वप्नभयोन्मादरविद्योपलवात्तथा । पश्यन्त्यसन्तमयर्थं जनः केशोण्डुकादिवत् ।
2. आकाश में कुछ भी न हो, फिर भी बाल के गुच्छों जैसा दिखाई देता है, उसे केशोण्डुक कहते हैं।

यदि सर्वशून्य ही हो तो लोक में जो व्यवहार की व्यवस्था है वह लुप्त हो जाएगी, भाव तथा अभाव दोनों को समान मानना पड़ेगा। फिर रेत के कणों में तेल क्यों नहीं होगा? तिलों में ही क्यों होगा? आकाश-कुसुम की सामग्री से ही सब कुछ सिद्ध क्यों नहीं हो जाएगा? ऐसी बात नहीं होती, किन्तु प्रतिनियत कार्य का प्रतिनियत कारण होता है, अतः सर्वशून्यता नहीं माननी चाहिए। [१७३६]

यह भी कोई एकान्त नियम नहीं है कि संसार में जो कुछ है, वह सब सामग्री से ही उत्पन्न होता है। द्र्यणुकादि स्कन्ध सावयव होने से द्वि-आदि परमाणु सामग्री से उत्पन्न होते हैं, अतः वे सामग्री-जन्य कहलाते हैं। किन्तु निरवयव परमाणु किसी से भी उत्पन्न नहीं होता, फिर उसे सामग्री-जन्य कैसे कहा जा सकता है ?

व्यक्त—परमाणु भी सप्रदेश (सावयव) ही है, अतः वह भी सामग्री-जन्य है।

भगवान्—किन्तु उस परमाणु के जो अवयव होंगे अथवा उन अवयवों के भी जो अवयव होंगे और इस प्रकार जो अन्तिम निरवयव (अप्रदेशी अवयव) होगा, उसे तो सामग्री द्वारा जन्य नहीं माना जाएगा। अतः यह एकान्त नियम नहीं है कि सभी कुछ सामग्रीजन्य है।

व्यक्त—यदि ऐसा कोई परमाणु नहीं मानें तो ?

भगवान्—परमाणु का सर्वथा अभाव तो माना नहीं जा सकता। कारण यह है कि उसका कार्य दिखाई देता है। अतः कार्य द्वारा कारण का अनुमान हो सकता है। कहा भी है कि—

“मूर्त वस्तु द्वारा परमाणु का अनुमान किया जा सकता है। वह परमाणु अप्रदेश है, निरवयव है, अन्त्य कारण है, नित्य है और उस में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध तथा दो स्पर्श हैं। कार्य द्वारा उसका अनुमान हो सकता है।” [१७३७]

व्यक्त—किन्तु इस परमाणु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वह सामग्री से उत्पन्न नहीं होता।

भगवान्—एक ओर तुम कहते हो कि सब कुछ सामग्रीजन्य है और दूसरी ओर कहते हो कि परमाणु नहीं है, यह कथन तो परस्पर विरुद्ध कहलाएगा। जैसे कोई कहे ‘सभी वचन भूठे हैं’ तो उसका यह कथन स्ववचन विरुद्ध है, वैसे तुम्हारे कथन में भी विरोध है। कारण यह है कि यदि परमाणु ही नहीं है तो उससे इतर कौनसी ऐसी सामग्री है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है? क्या यह सब आकाश-

1. मूर्तरणुरप्रदेशः कारणमन्त्यं भवेत् तथा नित्यः ।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

कृसुम से उत्पन्न होता है ? अतः यदि सब कुछ सामग्रीजन्य मानना हो तो परमाणु-रूप सामग्री का अभाव नहीं माना जा सकता । [१७३८]

व्यक्त—किन्तु परभाग का अदर्शन ही है तथा निकटस्थ भाग भी सूक्ष्म होने से अदृश्य है, इत्यादि। तर्क द्वारा जो सर्वशून्यता की सिद्धि की थी, उस विषय में आप क्या कहते हैं ?

सब कुछ अदृश्य नहीं

भगवान्—इसमें भी विरोध है। दृश्य वस्तु के अग्र भाग का तुम्हें ग्रहण होता है, फिर भी तुम कहते हो कि 'वह नहीं है'। इसमें विरोध नहीं तो और क्या है ?

व्यक्त—वस्तुतः सर्वाभाव होने से अग्रभाग का ग्रहण भी भ्रान्ति ही है ।

भगवान्—यदि अग्रभाग का ग्रहण भ्रान्ति मात्र है तो फिर शून्य रूप से समान होने पर भी खर-शृंग का अग्रभाग क्यों गृहीत नहीं होता ? दोनों का ग्रहण समान रूप से होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए । समान होने पर यह नहीं हो सकता कि एक का तो ग्रहण हो किन्तु दूसरे का नहीं । अपि च, विपर्यय क्यों नहीं होता ? स्तम्भादि के अग्रभाग की जगह खर-शृंग का ही अग्रभाग दिखाई दे तथा स्तम्भादि का अग्रभाग दिखाई न दे, यह बात क्यों नहीं होती ? अतः सर्वशून्य स्वीकार नहीं किया जा सकता । [१७३९]

पुनश्च, 'परभाग दिखाई नहीं देता अतः अग्रभाग भी नहीं होना चाहिए', तुम्हारा यह अनुमान कितना विचित्र है ! अग्रभाग तो अबाधित प्रत्यक्ष से सिद्ध है । अतः उक्त अनुमान से अग्नि की उष्णता के समान अग्रभाग बाधित नहीं हो सकता, किन्तु अग्रभाग ग्राहक इस प्रत्यक्ष से ही तुम्हारा अनुमान बाधित हो जाता है । तुम ही बताओ कि अग्रभाग के ग्रहण से परभाग की सिद्धि कैसे नहीं होती ? कारण यह है कि अग्रभाग आपेक्षिक है, अतः यदि कोई परभाग हो तो अग्रभाग भी सम्भव है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार अग्रभाग के अस्तित्व के बल पर परभाग का अनुमान सहज है ।

अदर्शन अभाव-साधक नहीं होता

पुनश्च, केवल अदर्शन से वस्तु का निह्वन(उत्थापन)नहीं किया जा सकता । देशादि से विप्रकृष्ट वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी उनका दर्शन नहीं होता, फिर भी उनका अभाव नहीं माना जा सकता । सारांश यह है कि परभाग के अदर्शन मात्र से अग्रभाग का निषेध नहीं हो सकता । अग्रभाग का दर्शन होने के कारण अदृश्य रूप परभाग का अस्तित्व भी अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है । जैसे कि दृश्य वस्तु का परभाग भी है, क्योंकि तत्सम्बद्ध अग्रभाग का ग्रहण होता है । जैसे

आकाश के पूर्वभाग का ग्रहण होने से तत्सम्बन्धी परभाग भी है ही । इसी प्रकार दृश्यवस्तु का भी परभाग है ।

अग्रभाग का भी एक भाग अग्र है और उसका भी एक भाग अग्र है, इस प्रकार जो सर्वाग्र भाग है वह सूक्ष्म है और अदृश्य है, अतः अग्रभाग का सर्वथा अभाव¹ है, इत्यादि, तुम्हारी विचारणा भी अयुक्त है । क्योंकि यहाँ भी यदि परभाग न मानें तो अग्रभाग सम्भव ही न होगा । अतः परभाग अदृश्य होने पर भी मानना ही चाहिए । [१७४०]

फिर यदि सर्वशून्य हो तो अग्रभाग, मध्यभाग तथा परभाग जैसे भेद भी कैसे हो सकते हैं ?

व्यक्त—ये भेद परमत की अपेक्षा से किए गए हैं ।

भगवान्—किन्तु जहाँ सर्वाभाव हो वहाँ स्वमत तथा परमत का भेद भी कैसे हो सकता है ? [१७४१]

यदि शून्यता न मानी जाए तो अग्रभाग, मध्यभाग, परभाग जैसे भेद माने जा सकते हैं और यदि इन भेदों को ही न माना जाए तो खर-विषाण के समान वैसे विकल्प करना व्यर्थ है । [१७४२]

जब सर्वशून्य है तब ऐसा क्योंकर होता है कि अग्रभाग तो दिखाई दे किन्तु परभाग अदृश्य रहे । वस्तुतः कुछ भी दिखाई नहीं देना चाहिए । फिर ग्रहण में विपर्यास क्यों नहीं हो जाता ? अर्थात् परभाग ही दिखाई दे, अग्रभाग नहीं, ऐसा क्यों नहीं होता ? अतः सर्वशून्यता असिद्ध है । [१७४३]

यदि ऐसा नियम है कि परभाग दिखाई न देने से वस्तु शून्य है तो भी स्फटिक की सत्ता माननी ही पड़गी, क्योंकि उसका परभाग भी दिखाई देता है ।

व्यक्त—स्फटिकादि भी वस्तुतः शून्य ही हैं ।

भगवान्—तो परभाग के अदर्शन से वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होगा । परभाग का अदर्शन अहेतु हो जायेगा । फिर ऐसा क्यों नहीं कहते कि 'कुछ भी दिखाई नहीं देता', अतः सर्वशून्य है ।

व्यक्त—हाँ, सच्ची बात यही है कि 'कुछ भी दिखाई नहीं देता', इसीलिए सब का अभाव है—सर्वशून्य है ।

भगवान्—ऐसी बात मानने पर तुम जिसे पहले स्वीकार कर चुके हो वह बाधित हो जायेगा । पहले तुमने यह कहा था कि परभाग का अदर्शन है और अब तुम यह कहते हो कि किसी का भी दर्शन नहीं है । इन दोनों बातों में परस्पर विरोध है । फिर घट-पट आदि ब्राह्म वस्तु सब को प्रत्यक्ष है, अतः यह कैसे कह सकते हैं कि

कुछ भी दिखाई नहीं देता । इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध है । अतः उपर्युक्त हेतु से तुम सर्वाभाव सिद्ध नहीं कर सकते ।

व्यक्त—सर्व सपक्ष में हेतु विद्यमान न हो, तदपि यदि वह सर्व विपक्ष से व्यावृत्त हो—अर्थात् किसी भी विपक्ष में विद्यमान न हो तो उसे सद् हेतु कहते हैं । जैसे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है । यह हेतु सभी अनित्य पदार्थों में विद्यमान नहीं है, क्योंकि बिजली, बादल आदि ऐसे अनित्य पदार्थ हैं जो प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखते । फिर भी यह हेतु किसी भी विपक्ष में नहीं पाया जाता । अर्थात् ऐसा एतद् भी नित्य पदार्थ नहीं है जो स्वोत्पत्ति में प्रयत्न की अपेक्षा रखता हो । कारण यह है कि नित्य पदार्थ की उत्पत्ति ही नहीं होती, वहाँ प्रयत्न से क्या प्रयोजन ? अतः उक्त हेतु सर्व सपक्षव्यापी न होने पर भी सर्वविपक्ष से व्यावृत्ति के कारण स्वसाध्य अनित्यता को सिद्ध करता है । उसी प्रकार 'परभाग का अदर्शन' चाहे स्फटिकादि शून्य पदार्थों में न हो—अर्थात् सर्व सपक्ष में न हो तो भी सपक्ष के अधिकांश भाग में है ही, अतः वह स्वसाध्य की सिद्धि कर सकता है ।

भगवान्—'परभाग का अदर्शन' इस हेतु में उक्त हेतु के समान व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता । उक्त हेतु का निम्न व्यतिरेक सिद्ध है—'जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न भी नहीं होता, जैसे आकाश ।' किन्तु यहाँ ऐसा व्यतिरेक कैसे सिद्ध करोगे कि 'जहाँ शून्यता नहीं, वहाँ परभाग का अदर्शन भी नहीं ।' ऐसा व्यतिरेक किसी सद्भूत वस्तु में ही सिद्ध हो सकता है । तुम सर्वाभाव मानते हो, अतः किसी भी सद्भूत वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकते । अतः परभाग का अदर्शन अहेतु ही रहेगा । [१६४४-४५]

व्यक्त—पर तथा मध्यभाग नहीं है, क्योंकि खर-विषाण के समान वे अप्रत्यक्ष हैं । जब पर तथा मध्यभाग ही नहीं है तो अग्रभाग कहाँ से होगा ? क्योंकि अग्रभाग भी पर-मध्य भाग की अपेक्षा से है । इस प्रकार सर्वशून्यता की सिद्धि होगी ।

भगवान्—जो पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का विषय बनता है वह अर्थ-प्रत्यक्ष कहलाता है । अतः जब तुम यह कहते हो कि 'अप्रत्यक्ष है' तब तुम कम से कम इतना तो मानोगे ही कि इन्द्रियाँ और अर्थ विद्यमान हैं । कारण यह है कि विद्यमान का ही निषेध होता है । उन दोनों को स्वीकार करने से शून्यता की हानि होती है । अतः शायद तुम इन्द्रियों और अर्थ को न मानोगे तथा शून्य को ही स्वीकार करोगे तो भी तुम यह नहीं कह सकते कि 'अप्रत्यक्ष होने से' कारण यह है कि इन्द्रियों और अर्थ के अभाव में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का व्यवहार नहीं हो सकता । [१७४६]

'अप्रत्यक्ष होने से' यह हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि ऐसा नियम नहीं है कि जो अप्रत्यक्ष हो वह अविद्यमान ही हो । तुम्हारे अपने ही संशय का तथा अन्य ज्ञानों का बहुत से लोग प्रत्यक्ष नहीं करते, फिर भी वे विद्यमान हैं ही । इसी प्रकार

अन्य पदार्थ भी ऐसे हो सकते हैं जो अप्रत्यक्ष होकर भी विद्यमान हों। इसी तरह पर-मध्यभाग भी अप्रत्यक्ष होकर विद्यमान हो सकते हैं।

व्यक्त—‘अप्रत्यक्ष होने से संशयादि ज्ञान भी विद्यमान नहीं है,’ यदि मैं यह बात कहूँ तो ?

भगवान्—तो फिर यही हुआ न कि तुम्हें भूतों की शून्यता के विषय में संशय नहीं है। तो फिर वह किस को है ? और वह क्या है ? तथा शून्यता को किसने पहिचाना है ?

सारांश यह है कि किसी दूसरे को भूतों के विषय में सन्देह ही नहीं है। यह सन्देह तुम्हें ही था। अब तुम कहते हो कि मुझे भी सन्देह नहीं है। फिर तो यह चर्चा यहीं समाप्त हो जानी चाहिए, क्योंकि दूसरे लोगों को इन ग्राम, नगर आदि की सत्ता के विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। अतः सर्वशून्यता का प्रश्न ही नहीं रहता। [१७४७]

पृथ्वी आदि भूत प्रत्यक्ष हैं

अतः हे व्यक्त ! पृथिवी, जल, अग्नि, आदि जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनके विषय में तुम्हें भी सन्देह नहीं करना चाहिए। जैसे कि तुम अपने स्वरूप के विषय में सन्देह नहीं करते। वायु तथा आकाश प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, उनके विषय में कदाचित् संशय हो सकता है, किन्तु उस संशय का निवारण अनुमान से हो सकता है। [१७४८]

व्यक्त—वायु की सिद्धि के लिए कौन-सा अनुमान है ?

वायु का अस्तित्व

भगवान्—स्पर्शादि गुणों का गुणी अदृश्य होने पर भी विद्यमान होना चाहिए क्योंकि वे गुण हैं, जैसे कि रूप गुण का गुणी घट है। अतः स्पर्श-शब्द-स्वास्थ्य-कम्पादि गुणों का जो गुणी सम्पादक है, वह वायु है। इस प्रकार वायु का अस्तित्व सिद्ध है, इसमें सन्देह का अवकाश नहीं रहता। [१७४९]

व्यक्त—अवकाश-साधक अनुमान कौन-सा है ?

आकाश की सिद्धि

भगवान्—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन सब का कोई आधार होना चाहिए, क्योंकि वे सब मूर्त हैं। जो मूर्त होता है, उसका आधार अवश्य होता है, जैसे कि पानी का आधार घट है। जो पृथ्वी आदि का आधार है, वह आकाश है। हे व्यक्त ! इस प्रकार आकाश की सिद्धि भी संगत है, उसके विषय में संशय का कोई कारण नहीं है।

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूतों का आधार साध्य है, अतः दृष्टान्त में जल का आधार रूप जिस घटस्वरूप पृथ्वी का कथन किया गया है, उसे अभी साधारण रूप में सिद्ध करना है। इसलिए वह आधारयुक्त अंश में साध्य ही है। अतः साधारण रूप में अब तक असिद्ध पृथ्वी को दृष्टान्त में कैसे सम्मिलित किया जा सकता है ?

भगवान्—ऐसी अवस्था में उक्त अनुमान के स्थान पर निम्न अनुमान से भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए—पृथ्वी आधार वाली है, मूर्त होने से, पानी के समान। इसी प्रकार पानी के आधार की सिद्धि के लिए अग्नि, अग्नि के आधार की सिद्धि के लिए वायु, तथा वायु के आधार की सिद्धि के लिए पृथ्वी का दृष्टान्त देकर पृथक्-पृथक् भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए। इससे उक्त दोष की निवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार उक्त भूतों के आधार रूप आकाश की सिद्धि हो जाने के कारण उसके अस्तित्व में सन्देह का स्थान नहीं रहता। [१७५०]

हे सौम्य ! इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध भूतों की सत्ता स्वीकार करनी ही चाहिए। जब तक शस्त्र से उपघात न हुआ हो तब तक ये भूत सचेतन अथवा सजीव हैं, शरीर के आधारभूत हैं और विविध प्रकार से जीव के उपभोग में आते हैं। [१७५१]

व्यक्त—आप ने भूतों को सजीव कैसे कहा ?

भूत सजीव हैं

भगवान्—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों ही सचेतन हैं, क्योंकि उन में जीव के लक्षण दिखाई देते हैं। किन्तु आकाश अमूर्त है और वह केवल जीव का आधार ही बनता है। वह सजीव नहीं है। [१७५२]

व्यक्त—पृथ्वी के सचेतन होने में क्या हेतु है ?

भगवान्—सुतो, पृथ्वी सचेतन है क्योंकि उस में स्त्री में दृग्गोचर होने वाले जन्म, जरा, जीवन, मरण, क्षतसंरोहण, आहार दोहद, रोग, चिकित्सा इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

व्यक्त—अचेतन में भी जन्म आदि दिखाई देते हैं; जैसे दही उत्पन्न हुआ। जीवित विष, निष्क्रिय कसुम्बा जैसे प्रयोग से दही आदि में भी जन्म इत्यादि है, फिर भी वह सजीव नहीं।

भगवान्—दही आदि अचेतन वस्तु में ऐसा प्रयोग औपचारिक है, क्योंकि उसमें जरादि सभी धर्म मनुष्य के समान दिखाई नहीं देते। किन्तु वृक्षों में तो वे जन्मादि सभी भाव निरूपचरित हैं, अतः उन्हें सचेतन मानना चाहिए।

अपि च, वनस्पति में चेतन्यसाधक अन्य हेतु भी हैं। स्पृष्टप्ररोदिका (लाजवन्ती) वनस्पति क्षुद्र जीव के समान केवल स्पर्श से संकुचित हो जाती है। लता अपना आश्रय प्राप्त करने के लिए मनुष्य के समान वृक्ष की ओर संचरित होती है। जमी आदि में निद्रा, प्रबोध, संकोच आदि जीव के लक्षण माने गए हैं। यह भी सिद्ध है कि अमुक काल में वकुल शब्द का, अशोक वृक्ष रूप का, कुम्बक गन्ध का, विरहकर रस का तथा चम्पक तिलक आदि स्पर्श का उपभोग करते हैं। [१७५३-५५]

पुनश्च, जैसे मनुष्य आदि जीवों में अर्श के माँस का अँकुर फूटता है, अर्थात् एक बार अर्श को काटने के बाद फिर उसके माँस के अँकुर उत्पन्न होते हैं, वैसे वृक्ष समूह, विद्रुम, लवण तथा उपल में भी जब तक वे स्वाश्रयस्थान में होते हैं, तब तक एक बार छिन्न होने के बाद पुनः स्वजातीय अँकुरों का प्रादुर्भाव होता है और वे बढ़ते हैं। अतः उनमें जीव है।

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूतों को सचेतन सिद्ध करने का प्रसंग है, अतः सर्वप्रथम पृथ्वी को ही सजीव सिद्ध करना चाहिए था। उसके स्थान पर प्रथम वृक्षों में तथा तत्पश्चात् विद्रुम (प्रवाल), लवणादि रूप पृथ्वी में सजीवता सिद्ध करने का क्या कारण है ?

भगवान्—लौकिक प्रसिद्धि के अनुसार वनस्पति भी पृथिवीभूत का विकार है, अतः पृथ्वीभूत में उसका समावेश है। वह कोई स्वतन्त्र भूत नहीं है। इस के अतिरिक्त वनस्पति में जैसे स्पष्ट चेतन्य लक्षण दिखाई देते हैं वैसे विद्रुम आदि में नहीं हैं। इन कारणों से पहले वृक्ष में ही सजीवता सिद्ध की है। [१७५६]

व्यक्त—जल को सचेतन कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

भगवान्—जमीन खोदने से जमीन से सजातीय-स्वरूप स्वाभाविक रूप से पानी निकलने के कारण वह मेंढक के समान सजीव है। अथवा मछली के समान बादलों से गिरने के कारण आकाश का पानी सजीव है। [१७५७]

व्यक्त—वायु की सजीवता कैसे मानी जाए ?

भगवान्—जैसे गाय किसी की प्रेरणा के बिना ही अनियमित रूप से तिर्यक् गमन करती है, वैसे वायु भी गति करती है; अतः वह सजीव है।

व्यक्त—अग्नि की सजीवता का क्या कारण है ?

भगवान्—जैसे मनुष्य में आहार आदि से वृद्धि और विकार दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही अग्नि में भी काष्ठ के आहार से वृद्धि और विकार दिखाई देते हैं। अतः वह मनुष्य के समान सजीव है। [१७५८]

पृथ्वी आदि चारों भूत जीव द्वारा उत्पन्न तथा जीव के आधारभूत शरीर हैं। कारण यह है कि वे अन्नविकार से भिन्न प्रकार की मूर्त जाति के द्रव्य हैं, जैसे कि गाय आदि का शरीर। ये शरीर जब तक शस्त्रोपहत न हों तब तक सजीव हैं तथा शस्त्रोपहत होने के बाद वे निर्जीव हो जाते हैं। [१७५६]

हे सौम्य ! यदि संसार में पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव न हों तो संसार का ही विच्छेद हो जाए। कारण यह है कि संसार में से अनेक जीव मोक्ष में जाते रहते हैं तथा नए जीव उत्पन्न नहीं होते। लोक भी अति परिमित है, अतः उसमें स्थूल जीव तो थोड़े से ही रह सकते हैं, इसलिए संसार जीव-रहित हो जाएगा। किन्तु यह बात कोई भी स्वीकार नहीं करता कि संसार जीव-रहित हो जाता है। अतः पार्थिव आदि एकेन्द्रिय जीवों की अनन्त संख्या माननी चाहिए। ये जीव भूतों को अपना आधारभूत शरीर बनाकर उनमें उत्पन्न होते हैं। [१७६०-६१]

व्यक्त यदि पृथ्वी आदि भूतों में आपके कथनानुसार अनन्त जीव हों तो साधु को भी आहारादि लेने के कारण अनन्त जीवों की हिंसा का दोष लगेगा, इससे अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

भूतों के सजीव होने पर भी अहिंसा का सद्भाव

भगवान्—अहिंसा का अभाव नहीं होता, क्योंकि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शस्त्रोपहत पृथ्वी आदि भूतों में जीव नहीं होता, वे सभी भूत निर्जीव होते हैं।

तुम्हें हिंसा और अहिंसा का विवेक करना चाहिए। लोक जीवों से परिपूर्ण है, केवल इतने से ही हिंसा हो जाती है; यह बात नहीं है। [१७६२]

अपि च, यह भी ठीक नहीं है कि कोई व्यक्ति जीव का घातक बना और इसी से वह हिंसक हो गया। यह भी असंगत है कि एक व्यक्ति किसी जीव का घातक नहीं, अतः वह निश्चयपूर्वक अहिंसक है। यह बात भी नहीं है कि थोड़े जीव हों तो हिंसा नहीं होती और अधिक जीव हों तो हिंसा होती है। [१७६३]

व्यक्त—फिर किसी को हिंसक या अहिंसक कैसे समझना चाहिए ?

हिंसा-अहिंसा का विवेक

भगवान्—जीव की हत्या न करने पर भी दृष्ट भावों के कारण कसाई के समान हिंसक कहलाता है तथा जीव का घातक होने पर भी शूद्र भावों के कारण सुबेद्य के समान अहिंसक कहलाता है। इस प्रकार अनुक्रम से शूद्र तथा दुष्ट भावों के कारण जीव को मारने पर भी अहिंसक तथा न मारने पर भी हिंसक कहलाता है। [१७६४]

व्यक्त— किसी के मन के भावों को कैसे जाना जाए ?

भगवान्—पाँच समिति तथा तीन गुप्ति सम्पन्न ज्ञानी साधु अहिंसक होता है, किन्तु इसके विपरीत जो असंयमी है, वह हिंसक है। उक्त संयमी से जीव का घात हो या न हो किन्तु उससे वह हिंसक नहीं कहलाता; क्योंकि हिंसक होने का आधार आत्मा के अध्यवसाय पर है। बाह्य-निमित्त-रूप जीवघात तो व्यभिचारी है। [१७६५]

व्यक्त—यह कैसे ?

भगवान्—वस्तुतः निश्चय नय से अशुभ परिणाम का नाम ही हिंसा है। यह अशुभ परिणाम बाह्य जीवघात को अपेक्षा रख भी सकता है और नहीं भी रखता। सारांश यह है कि अशुभ परिणाम ही हिंसा है। बाह्य जीव का घात हुआ हो या न हुआ हो अशुभ परिणाम वाला जीव हिंसक है। [१७६६]

व्यक्त—तो क्या बाह्य जीव का घात हिंसा नहीं कहलाती ?

भगवान्—जो जीव-वध अशुभ परिणामजन्य हो अथवा अशुभ परिणाम का जनक हो वह जीव-वध तो हिंसा ही है; अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जीव-वध सर्वथा हिंसा है ही नहीं। जो जीव-वध अशुभ परिणाम से जन्य नहीं अथवा अशुभ परिणाम का जनक नहीं, वह हिंसा की कोटि में नहीं आता। [१७६७]

जैसे इन्द्रियों के विषय, रूप, शब्दादि वीतराग पुरुष के लिए राग के जनक नहीं होते, क्योंकि वीतराग पुरुष के भाव शुद्ध हैं; वैसे ही संयमी का जीव-वध भी हिंसा नहीं है। कारण यह है कि उसका मन शुद्ध है।

अतः हे व्यक्त ! यह कहना ठीक नहीं कि लोक-जीव संकुल है, अतः संयमी को भी हिंसा का दोष लगेगा और अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

इस तरह यह बात सिद्ध हो गई कि संसार में पाँच भूत हैं, उनमें पहले चार—पृथ्वी, जल, तेज, वायु सजीव हैं और पाँचवा आकाश निर्जीव है।

व्यक्त—प्रमाण से पाँच भूतों की सिद्धि हुई, किन्तु वेद-वचन के विरोध के विषय में आप क्या कहते हैं ?

वेद-वचन का समन्वय

भगवान्—वेद में संसार के सभी पदार्थों को स्वप्न-सदृश कहा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका सर्वथा अभाव है। किन्तु अन्य जीव इन पदार्थों में अनुरक्त होकर मूढ़ न हो जाएँ, उनमें आसक्त न हो जाएँ, इस उद्देश्य से उन्हें स्वप्नोपम अथवा असार बताया गया है। मनुष्य संसार के परिग्रह से मुक्त हो कर,

निर्मोही बनकर, वीतराग और सर्वज्ञ बने तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त करे, यही इस कथन का भाव है । अतः उक्त वेद-वचन का तात्पर्य सर्व-शून्यता नहीं है किन्तु पदार्थों में आसक्ति योग्य कोई वस्तु नहीं है, यही वेद-वचन का आशय है । [१७६८]

इस प्रकार जरा-जन्म-मरण से मुक्त भगवान् ने जब उसका संशय दूर किया, सब उसने अपने ५०० शिष्यों सहित दीक्षा लेली । [१७६९]

पंचम गणधर सुधर्मा

इस भव तथा परभव के सादृश्य की चर्चा

(कार्य-कारण के सादृश्य की चर्चा)

उन सब के दीक्षित होने का समाचार सुनकर सुधर्मा भी यह विचार कर भगवान् के पास आया कि उनके निकट जाकर उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ । [१७७०]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी थे, अतः उन्होंने उसे नाम-गोत्र-पूर्वक सम्बोधित करते हुए कहा 'सुधर्मा अग्निवेश्यायन !' [१७७१]

इह-परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य का संशय

फिर भगवान् ने उसे कहा—वेद में कहा है 'पुरुषो मृतः सन् पुरुषत्व-मेवाश्नुते, पशवः पशुत्वम्¹' अन्य स्थान पर कहा है 'शृगालो वै एष जायते यः स पुरीषो दह्यते ।²' अतः तुम्हें यह संशय है कि जीव जैसा इस भव में है वैसा ही परभव में भी होता है या नहीं ? कारण यह है कि तुम प्रथम वाक्य का यह तात्पर्य समझते हो कि जीव भवान्तर में भी सद्दश ही रहता है तथा दूसरे वाक्य का तात्पर्य तुम यह समझते हो कि भवान्तर में वैसादृश्य की सम्भावना है । अतः वेद-वाक्यों में परस्पर विरोध प्रतीत होने से तुम्हें संशय हुआ है, किन्तु यह संशय ठीक नहीं है । उन वाक्यों का तुम जो अर्थ समझते हो, वह यथार्थ नहीं है । मैं तुम्हें उनका वास्तविक अर्थ बताऊँगा, तब तुम्हारा संशय दूर हो जायेगा । [१७७२]

कारण-सादृश कार्य

पहले तुम्हारे भ्रम का निवारण करना आवश्यक है । तुम यह समझते हो कि कारण जैसा ही कार्य होता है; जैसे कि यवांकुर, यव बीज के समान होता है । अतः तुम यह स्वीकार करने के लिए लालायित हो कि परभव में भी जीव इस भव के अनुरूप ही होता है । किन्तु तुम्हारी मान्यता अयुक्त है । [१७७३]

1. पुरुष मर कर परभव में भी पुरुष ही बनता है । पशु भी मर कर पशु ही होता है ।
2. जिसे मल सहित जलाया जाता है, वह शृगाल रूप में जन्म ग्रहण करता है ।

सुधर्मा—हाँ, भगवान् ! आपने मेरे मन की बात ठीक-ठीक कह दी है, किन्तु मेरी मान्यता अग्र्युक्त क्यों है ?

संशय निवारण—कारण से विलक्षण कार्य

भगवान्—यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि कार्य कारण के सदृश ही होता है। शृंग से भी शर नामक वनस्पति उत्पन्न होती है और उसी पर यदि सरसों का लेप किया जाए तो पुनः उसी में से अमुक प्रकार का घास उत्पन्न होता है। इस के अतिरिक्त गाय तथा बकरी के बालों से दूर्वा उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से विलक्षण वनस्पति की उत्पत्ति का वर्णन वृथायुर्वेद में है। इससे सिद्ध होता है कि यह कोई नियम नहीं है कि कार्य कारणानुरूप ही होता है। कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है। योनिप्राभृत के योनि-वर्णन से भी सिद्ध होता है कि नाना द्रव्यों के संमिश्रण से सर्प, सिंहादि प्राणियों की तथा सुवर्ण व मणि की उत्पत्ति होती है। अतः यह मानना चाहिए कि कार्य कारण से विलक्षण भी उत्पन्न हो सकता है। यह ऐकान्त नहीं है कि कार्य कारणानुरूप ही होना चाहिए। [१७७४-७५]

कारण वैचित्र्य से कार्य वैचित्र्य

कारणानुरूप कार्य मानने पर भी भवान्तर में विचित्रता की सम्भावना है। अर्थात् कारणानुरूप कार्य स्वीकार करके भी यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता है।

सुधर्मा—यह कैसे ?

भगवान्—यदि तुम बीज के अर्थात् कारण के अनुरूप ही अंकुर अर्थात् कार्य की उत्पत्ति मानते हो तो भी तुम्हें परजन्म में जीव में वैचित्र्य मानना ही पड़ेगा। कारण यह है कि भवांकुर का बीज मनुष्य नहीं किन्तु उस का कर्म है और वह विचित्र होता है। अतः इसमें कोई नई बात नहीं कि मनुष्य का परभव विचित्र हो। जब कारण ही विचित्र है तो कार्य भी विचित्र होगा ही।

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या कारण है ?

भगवान्—कर्म के हेतुओं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में विचित्रता है, अतः कर्म भी विचित्र है। कर्म के विचित्र होने के कारण जीव का भवांकुर भी विचित्र ही होगा। यह बात तुम्हें माननी ही चाहिए। अतः मनुष्य मर कर अपने कर्मों के अनुसार नारक, देव, अथवा तिर्यच रूप में भी जन्म ले सकता है। [१७७६-७८]

उक्त वस्तु को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण भी है। वह यह है— जीवों की सांसारिक अवस्था नारकादि रूप में विचित्र है, क्योंकि वह विचित्र कर्म का फल अथवा कार्य है। जो विचित्र हेतु का फल होता है, वह विचित्र होता है; जैसे कृषि आदि विचित्र कर्म का फल लोक में विचित्र दृष्टिगोचर होता है। [१७७६]

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या प्रमाण है ?

भगवान्—कर्म पुद्गल का परिणाम है अतः उस में बाह्य अत्रादि विकार के समान अथवा पृथ्वी आदि के विकार के समान विचित्रता है। जो विचित्र परिणति वाला नहीं होता वह आकाश के समान पुद्गल का परिणाम भी नहीं होता। यद्यपि पुद्गल के परिणाम के रूप में कर्म के सभी परिणाम समान हैं, तथापि कर्म की आवरण रूप से जो विशेषता है वह मिथ्यात्व आदि सामान्य हेतुओं तथा ज्ञानी के प्रद्वेष आदि विशेष हेतुओं की विचित्रता के कारण है। [१७८०]

सुधर्मा—क्या इस भव के समान परभव कभी सम्भव ही नहीं है ?

इस भव की तरह पर-भव विचित्र है

भगवान्—यदि इस भव के अनुरूप परभव मानना हो तो भी जैसे इस भव में कर्मफल की विचित्रता दृश्य है वैसे परभव में भी माननी चाहिए। अर्थात् इस भव में जीव शुभा-शुभ विचित्र क्रिया करते हैं, विचित्र कर्म करते हैं, उनके अनुरूप ही परभव में भी विचित्र फल मानना चाहिए। [१७८१]

सुधर्मा—कृपया आप इसे स्पष्टता पूर्वक समझाएँ।

भगवान्—इस संसार में जीव नाना प्रकार से कर्म बाँधते हैं, कुछ नारक योग्य कर्मबन्धन करते हैं तथा कुछ देव आदि योनि के योग्य। यह बात सभी को प्रत्यक्ष है। अब यदि परलोक में इन कर्मों का फल उन्हें मिलना ही हो तो हम यह कह सकते हैं कि इस लोक में उन के कर्म या उन की क्रिया की जैसी विचित्रता है, वैसी ही परलोक में उन जीवों की विचित्रता होगी। अतः एक अपेक्षा से तुम्हारा कथन ठीक ही है कि इस भव में जो जैसा होता है वह परलोक में भी वैसा ही होता है। अर्थात् जो इस भव में अशुभ कर्म बाँधता है वह परभव में भी अशुभ कर्मों को भोगने वाला होता है। इस प्रकार 'जैसे को तैसा' इस अर्थ की अपेक्षा से तुम्हारा न्याय भी युक्त हो जाता है। [१७८२]

कर्म का फल परभव में भी होता है

सुधर्मा—इस भव में ही जिसका फल मिलता है, ऐसा कृषि आदि कर्म ही सफल है, किन्तु परभव के लिए जो दानादि कर्म किए जाते हैं उनका कुछ भी फल नहीं मिलता। अतः परभव में विचित्रता का कोई कारण नहीं रहेगा। फलतः इस

भव में जीव मनुष्यादि के रूप से जैसा होगा, वैसे का वैसा वह पर-भव में भी रहेगा उसमें वैसादृश्य का अवकाश नहीं रहता ।

भगवान्—ऐसी बात मानने से तो पर-भव में जीव का तुम्हें जो इष्ट है वह सर्वथा सादृश्य घटित ही नहीं होता । पर-भव में जीव की उत्पत्ति का कारण कर्म है, किन्तु तुम उस कर्म या कर्म के फल को परलोक में मानते ही नहीं ।

सुधर्मा—कर्म के बिना भी जीव परलोक में सृष्ट हो जाता है ।

भगवान्—इस से तो निष्कारण की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि परलोक में सादृश्य के किसी भी कारण के अभाव में उसकी उत्पत्ति हुई; किन्तु उत्पत्ति निष्कारण नहीं होती । अतः यह मानना पड़ेगा कि जो कर्म नहीं किया, उसका फल मिला, तथा परलोक के लिए जो दानादि क्रिया की थी वह निष्फल सिद्ध हुई । इस प्रकार कृत का नाश स्वीकार करना होगा । [१७८३]

अपि च, यदि दानादि क्रिया परलोक में निष्फल होंगी तो वस्तुतः कर्म का ही अभाव हो जाएगा । कर्म के अभाव में परलोक को ही सत्ता नहीं रहेगी । फिर सादृश्य का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा ?

सुधर्मा—कर्म के अभाव में भी भव मानने में क्या आपत्ति है ?

कर्म के अभाव में संसार नहीं

भगवान्—ऐसी स्थिति में भव का नाश भी निष्कारण मानना पड़ेगा । अतः मोक्ष के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान भी व्यर्थ ही सिद्ध होंगे । फिर यदि भव निष्कारण हो सकता है तो जीवों के वैसादृश्य को भी निष्कारण ही क्यों न मान लिया जाए ? [१७८४]

सुधर्मा—कर्म के अभाव में स्वभाव से ही परभव मानने में क्या हानि है ? जैसे कर्म के बिना भी मिट्टी के पिण्ड से उस के अनुरूप घट का निर्माण स्वभावतः होता है, वैसे ही जीव की सृष्टि जन्म-परम्परा स्वभाव से ही होती है ।

परभव स्वभाव-अन्य नहीं

भगवान्—घड़ा भी केवल स्वभाव से ही उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह कर्ता, करण आदि की भी अपेक्षा रखता है । इसी प्रकार जीव के विषय में भी जीव को तथा उसके परभव के शरीर आदि के निर्माण को करण की अपेक्षा है । संसार में जो करण होता है वह कर्ता से तथा कार्य से—कुम्भकार और घट से—चक्र के समान भिन्न होता है । इसलिए जीवरूप कर्ता से तथा पारभविक-शरीर-रूप कार्य से प्रस्तुत में भी करण पृथक् होना चाहिए । वही कर्म है ।

सुधर्मा—घटादि कार्य में कुम्भकार, चक्र आदि रूप कर्ता और करण प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, अतः उन्हें मानने में आपत्ति नहीं है, किन्तु शरीरादि कार्य तो बादल के विकार के समान स्वाभाविक ही है, इसलिए उसके निर्माण में कर्म-रूप करण की आवश्यकता नहीं है।

भगवान्—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर सादि है तथा प्रतिनियत (निश्चित) आकार वाला भी है, अतः घट के समान उसका कोई कर्ता और करण होना चाहिए। तुमने कारणानुरूप कार्य का जो सिद्धान्त स्वीकार किया है वह भी बादल के विकार-रूप दृष्टान्त में घटित नहीं होता होता। कारण यह है कि बादल के विकार अपने कारण-रूप द्रव्य पुद्गल से अति विलक्षण दिखाई देते हैं। सारांश यह है कि शरीर आदि काय को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। [१७८५]

अपि च, स्वभाव^१ क्या है? वस्तु है? निष्कारणता है? अथवा वस्तु-धर्म है? यदि तुम उसे वस्तु मानते हो तो उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु आकाश-कुसुम के समान उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः स्वभाव जैसी कोई वस्तु नहीं है। [१७८६]

स्वभाववाद का निराकरण

यदि आकाश-कुसुम के समान अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार करते हो तो फिर अनुपलब्ध होने पर कर्म का अस्तित्व क्यों नहीं स्वीकार करते? जिस कारण के आधार पर स्वभाव का अस्तित्व मानते हो, उसी कारण से कर्म का अस्तित्व भी मान लेना चाहिए। [१७८७]

कल्पना करो कि मैं स्वभाव का ही दूसरा नाम कर्म रख देता हूँ तब तुम ही बताओ इसमें क्या दोष है? अपि च, यदि स्वभाव हमेशा सद्य ही रहे तो ही सदा एक-रूप कार्य बने, अर्थात् मनुष्य मर कर मनुष्य हो। किन्तु मैं पूछता हूँ कि स्वभाव हमेशा एक जैसा क्यों रहता है? यदि तुम यह कहो कि स्वभाव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह हमेशा सद्य रहता है, अतः उससे सद्य भव ही होता है; तो फिर इस के उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि स्वभाव का स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे विसद्य भव उत्पन्न होता है। [१७८८]

पुनश्च स्वभाव मूर्त है अथवा अमूर्त? यदि स्वभाव मूर्त है तो उसमें और कर्म में क्या भेद है? दोनों मूर्त होने से समान ही हैं। तुम जिसे स्वभाव कहते हो,

1. गाथा 1643 में भी स्वभाववाद के विषय में चर्चा की गई है, उसे देख लेना चाहिए। वस्तुतः गाथा 1786-1793 को सम्मुख रख कर ही गाथा 1643 की टीका में टीकाकार ने स्वभाववाद का खण्डन किया है।

उसे ही मैं कर्म कहता हूँ । इनमें केवल नामका भेद है । स्वभाव परिणामी होने के कारण दूध के समान सदा एक जैसा भी नहीं रह सकता । अथवा बादल के समान मूर्त होने के कारण भी स्वभाव एक जैसा नहीं रह सकता ।

सुधर्मा—स्वभाव मूर्त नहीं, परन्तु अमूर्त है ।

भगवान्—यदि स्वभाव अमूर्त है तो उपकरण-रहित होने से वह शरीर आदि कार्यों का उत्पादक नहीं हो सकता । जैसे कुम्भकार दण्डादि उपकरण के बिना घट का निर्माण नहीं कर सकता वैसे स्वभाव भी उपकरण के अभाव में शरीर आदि का निर्माण नहीं कर सकता अथवा अमूर्त होने से आकाश के समान वह कुछ भी नहीं कर सकता ।

पुनश्च, शरीर आदि कार्य मूर्त है तो भी हे सुधर्मन् ! अमूर्त स्वभाव से उसका निष्पादन सम्भव नहीं है, जैसे अमूर्त आकाश से मूर्त कार्य नहीं होता । मूर्त कर्म को माने बिना सुख-संवेदन आदि भी घटित¹ नहीं होता । इसकी विशेष चर्चा अग्निभूति के साथ की ही गई है । अतः स्वभाव को अमूर्त भी नहीं माना जा सकता । [१७८६-९०]

सुधर्मा— ऐसी स्थिति में दूसरे विकल्प के अनुसार स्वभाव अर्थात् निष्कारणता यह उपयुक्त प्रतीत होता है ।

भगवान्—स्वभाव को निष्कारणता मान कर भी परभव में सादृश्य कैसे घटित होगा ? यदि सादृश्य का कोई कारण नहीं है तो वैसादृश्य का कारण भी क्यों माना जाए ? अर्थात् सादृश्य के समान वैसादृश्य भी कारण-रहित हो जाएगा । फिर कारण न होने से भव का विच्छेद ही क्यों नहीं हो जाता ? अर्थात् मोक्ष भी निष्कारण मानना चाहिए । यदि शरीरादि की उत्पत्ति कारण-विहीन है तो खर-विषाण की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती ? कारण के बिना शरीरादि का प्रतिनियत आकार भी कैसे होगा ? बादलों के समान अनियत आकार वाला शरीर क्यों उत्पन्न नहीं होता ? स्वभाव को निष्कारणता मानने से इन समस्त प्रश्नों का समाधान नहीं होता । अतः अकारणता को स्वभाव नहीं माना जा सकता । [१७९१]

सुधर्मा—फिर स्वभाव को वस्तु-धर्म मानना चाहिए ।

भगवान्—यदि स्वभाव वस्तु-धर्म हो तो वह सदा एक जैसा नहीं रह सकता, ऐसी दशा में वह सदा सदृश शरीरादि को किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा ?

सुधर्मा—किन्तु वस्तु-धर्मरूप स्वभाव सदा सदृश क्यों नहीं रह सकता ?

भगवान्—कारण यह है कि वस्तु को पर्याय उत्पाद-स्थिति-भंगरूप विचित्र होती है, अतः वे सदा सदृश नहीं रह सकतीं । वस्तु के नीलादि धर्मों का अन्य रूप

में परिणमन प्रत्यक्ष हो सिद्ध है। तुम स्वभाव को वस्तु-धर्म कहते हो, किन्तु यह तो बताओ कि वह आत्मा का धर्म है अथवा पुद्गल का? यदि वह आत्मा का धर्म है तो आकाश के समान अमूर्त होने से वह शरीरादि का कारण नहीं बन सकता और यदि उसे पुद्गल का धर्म माना जाए तो कर्म का ही अपर नाम स्वभाव होगा, क्योंकि मैं कर्म को पुद्गलास्तिकाय में समाविष्ट करता हूँ। [१७६२]

अतः हे सुधर्मन् ! यदि तुम स्वभाव को पुद्गलमय कर्मरूप वस्तु का परिणाम अर्थात् धर्म मानते हो और उसे ही इस जगत् के वैचित्र्य का कारण समझते हो तो इसमें कुछ भी दोष नहीं है, किन्तु तुम्हें यह न मानना चाहिए कि वह सदा सदा ही है। मिथ्यात्व आदि हेतु से कर्म-परिणाम विचित्र बनता है और इसी कारण उसका कार्य भी विचित्र हो जाता है, यह बात तुम्हें स्वीकार करनी चाहिए। अतः परभव में एकान्त सादृश्य नहीं, किन्तु वैसादृश्य भी सम्भव है। [१७६३]

वस्तु समान तथा असमान है

अथवा सुधर्मन् ! वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें प्रत्येक क्षण कुछ समान तथा कुछ भिन्नमान पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश हुआ ही करते हैं तथा उसका द्रव्यांश तदवस्थ (एकरूप) रहता है। अतः दूसरे क्षण में वस्तु स्वयं वैसी ही नहीं रहती है। अर्थात् पूर्वकाल में वस्तु का जो रूप होता है, उत्तर-काल में उससे विलक्षण हो जाता है। जब अपनी ही समानता स्थिर नहीं रहती, तब दूसरे पदार्थों के साथ की समानता कैसे रह सकती है? फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह संसार के सभी पदार्थों से सर्वथा विलक्षण है। कारण यह है कि अस्तित्व आदि कुछ समान धर्मों के कारण संसार के सभी पदार्थों से उसका साम्य है, अतः अपनी पूर्व-कालिक अवस्था के साथ उन समान धर्मों के कारण उसका साम्य होगा हाँ, इसमें सन्देह नहीं है। [१७६४-६५]

सारांश यह है कि इस भव में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सर्वथा असमान ही हो, तो फिर परभव में ऐसा कैसे हो सकता है? ठीक बात तो यह है कि संसार के सभी पदार्थ सदा भी हैं और असदृश भी, नित्य भी हैं तथा अनित्य भी। वे अनेक विरोधी धर्मों से युक्त हैं। [१७६६]

समस्त विश्व के पदार्थों के साथ सत्त्वादि धर्मों के कारण समानता होने पर भी जैसे युवक की अपनी भूतकालीन बात्यावस्था तथा भात्री वृद्धावस्था के साथ समानता नहीं होती, वैसे ही जीव की भी अस्तित्व आदि धर्मों के कारण समस्त वस्तुओं से समानता होने पर भी परभव में सर्वथा समानता नहीं होती; किन्तु समानता तथा असमानता दोनों होती हैं। [१७६७]

एक जीव प्रथम मनुष्य है, किन्तु मरकर जब वह देव बनता है तब सत्त्वादि धर्मों के कारण अपनी पूर्वावस्था के साथ तथा समस्त विश्व के साथ उसकी समानता होने पर भी देवत्वादि धर्मों के कारण पूर्वावस्था से असमानता है। उसी प्रकार वही मनुष्य जीव-रूप से नित्य है किन्तु मनुष्यादि पर्याय-रूप से अनित्य है। जीव जैसे समान और असमान धर्मों वाला है, वैसे ही वह नित्य और अनित्य भी है। उसमें इसी प्रकार अन्य अनेक विरोधी धर्मों की भी सिद्धि होती है। अतः परभव में जीव में सर्वथा सादृश्य नहीं है।

सुधर्मा—मेरे मतानुसार भी कारण के साथ कार्य का सर्वथा सादृश्य नहीं है। किन्तु जब मैं यह कहता हूँ कि 'पुरुष मर कर पुरुष होता है' तब मेरा तात्पर्य केवल जाति के अन्वय से है। अर्थात् जाति नहीं बदलती, यही कथन करना मुझे इष्ट है।

पर-भव में वही जाति नहीं

भगवान्—किन्तु यदि तुम पर-भव को कर्मजन्य मानते हो तो कर्म के हेतु की विचित्रता के कारण कर्म को भी विचित्र ही मानना पड़ेगा। फलतः कर्म का फल भी विचित्र स्वीकार करना होगा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पर-भव में उसी जाति का अन्वय रहता है। [१७६८]

अपि च, यदि जाति समान ही रहती है तो समान जाति में भी जो उत्कर्ष-अपकर्ष दिखाई देता है, वह घटित नहीं होता। जो पुरुष इम भव में सम्पत्तिशाली हो, उसे पर-भव में भी वैसा ही रहना चाहिए। जो इस भव में दरिद्र हो उसे पर-भव में भी दरिद्र होना चाहिए। फलतः पर-भव में उत्कर्ष तथा अपकर्ष का अवकाश नहीं रहेगा। यदि यही बात हो तो दानादि का फल वृथा सिद्ध होगा, उसे निष्फल मानना पड़ेगा। किन्तु दानादि को निष्फल नहीं मान सकते। कारण यह है कि लोग इसी भावना से दानादि सत्कार्य में प्रवृत्त होते हैं कि परलोक में उन्हें देवताओं की समृद्धि मिले जिससे उनका उत्कर्ष हो। यदि सत्कार्य का कोई फल ही नहीं होता तो लोग दानादि में क्यों प्रवृत्त होंगे? [१७६९]

वेद-वाक्यों का समन्वय

अपि च, जाति-सादृश्य का यदि एकान्त आग्रह रखा जाए तो वेद के निम्न-लिखित वाक्य का विरोध होगा—'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते।' अर्थात् 'जिसे मल-मूत्र सहित जलाया है वह शृगाल बनता है।' उक्त वेद-वाक्य से यह सिद्ध होता है कि पुरुष मरकर शृगाल हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् 'स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे' तथा 'अग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजयति' अर्थात् 'अग्निष्टोम से यमराज्य पर विजय प्राप्त करता है'

इत्यादि वाक्यों में मनुष्य की स्वर्ग प्राप्ति तथा देवत्व प्राप्ति का उल्लेख है, यह भी बाधित हो जाएगा। अतः परलोक में जाति-सादृश्य का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

सुधर्मा—फिर वेद में यह कथन किसलिए किया है कि 'पुरुषो वै पुरुषत्व-मश्नुते पशवः पशु वम्'। अर्थात् पुरुष मर कर पुरुष होता है तथा पशु मर कर पशु होते हैं' आदि।

भगवान्—तुम इस वाक्य का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें संशय होता है। इसका अर्थ यह है—जो मनुष्य इस भव में सज्जन प्रकृति का होता है, विनयी, दयालु तथा अमत्सरी होता है; वह मनुष्य-नाम-कर्म तथा मनुष्य-गोत्रकर्म का बन्धन करता है। तदनन्तर वह मर कर उस कर्म के कारण पुनः मनुष्यरूपेण जन्म ग्रहण करता है। सभी मनुष्य उक्त कर्म का बन्धन नहीं करते, अतः अन्य पुरुष भिन्न प्रकार के कर्म-बन्धन के कारण अन्यान्य योनि में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार इस भव में जो पशु माया के कारण पशु-नाम-कर्म तथा पशु-गोत्र-कर्म का उपार्जन करते हैं वे धर-भव में भी पुनः पशुरूप में उत्पन्न होते हैं। सभी पशु उक्त कर्म का बन्धन नहीं करते, अतः सभी पशुरूप में अवतरित नहीं होते। इस प्रकार जीव की गति कर्मानुसारी है। [१८००]

उक्त प्रकार से जरा-मरण से रहित भगवान् ने जब उसके संशय का निवारण किया तब सुधर्मा ने अपने ५०० शिष्यों के साथ जिन दीक्षा अंगीकार की। [१८०१]

छठे गणधर मण्डक

बन्ध-मोक्ष-चर्चा

उन सब के दीक्षित होने का समाचार ज्ञात कर मण्डक ने विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास गया। [१८०२]

जाति-जरा-मरण से रहित भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'मण्डक वसिष्ठ!' कह कर सम्बोधित किया। [१८०३]

बन्ध-मोक्ष का संशय

तथा उसे कहा—वेद में एक वाक्य है 'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद' इससे तुम्हें यह प्रतीत होता है कि जीव के बन्ध और मोक्ष नहीं होते। किन्तु एक दूसरा वाक्य यह है—'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः^१।' इससे तुम यह समझते हो कि जीव सशरीर और अशरीर इन दो अवस्थाओं को प्राप्त होता है, अर्थात् जीव के बन्ध व मोक्ष हैं। इस प्रकार वेद वाक्यों का कथन परस्पर विरोधी होने से तुम्हारे मन में सन्देह है कि वस्तुतः जीव के बन्ध व मोक्ष होते हैं या नहीं।

किन्तु तुम उक्त वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें यह सन्देह है, मैं तुम्हें उनका ठीक-ठीक अर्थ बताऊँगा। [१८०४]

अपि च, तुम युक्ति से भी बन्ध-मोक्ष का अभाव सिद्ध करते हो, किन्तु वेद में उनका सद्भाव प्रतिपादित किया है। इसलिए भी तुम्हें संशय होता है कि बन्ध-मोक्ष की सत्ता है या नहीं। बन्ध-मोक्ष के विरोध में तुम ये युक्तियाँ देते हो—

यदि जीव का कर्म के साथ संयोग ही बन्ध है तो वह बन्ध सादि है या अनादि? यदि वह सादि है तो प्रश्न होता है कि १. प्रथम जीव तथा तत्पश्चात् कर्म

1. अर्थात् यह आत्मा सत्त्वादि गुणरहित विभू है। उसे पुण्य पाप का बन्ध नहीं होता अथवा उसका संसार नहीं है। वह कर्म से मुक्त नहीं होता, कर्म को मुक्त नहीं करता; अर्थात् वह अकर्ता है। वह बाह्य या आभ्यन्तर कुछ भी नहीं जानता, क्योंकि ज्ञान प्रकृति का धर्म है।
2. अर्थात् सशरीर जीव के प्रियाप्रिय का, सुख-दुःख का नाश नहीं होता, किन्तु अशरीर अमूर्त जीव को प्रियाप्रिय का, सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता।

उत्पन्न होता है ? अथवा २. प्रथम कर्म और तदुपरान्त जीव उत्पन्न होता है ? अथवा ३. वे दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं ? [१८०५]

इस प्रकार तुम सादि-बन्ध के विषय में तीन विकल्पों की कल्पना करके यह मानते हो कि इन तीनों अपेक्षाओं से सादि-बन्ध की सिद्धि नहीं होती । इस सम्बन्ध में तुम ये युक्तियाँ देते हो ।

जीव कर्म से पूर्व नहीं हो सकता

१. कर्म से पहले आत्मा की उत्पत्ति शक्य नहीं हो सकती । कारण यह है कि खर-शृंग के समान उसका कोई हेतु नहीं है । यदि आत्मा को उत्पत्ति निर्हेतुक मानी जाए तो उसका विनाश भी निर्हेतुक मानना होगा । [१८०६]

यदि कोई कहे कि जीव तो अनादि सिद्ध है. अतः उसकी उत्पत्ति का विचार ही युक्त नहीं; तो तुप उसका समाधान ऐसे करते हो कि जीव के अनादि सिद्ध होने पर उसका कर्म से संयोग ही नहीं होगा, क्योंकि वह संयोग कारण-शून्य होगा । यदि कारण के अभाव में भी जीव का कर्म-संयोग माना जाए तो मुक्त जीव का भी कर्म-संयोग स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि उसमें भी वह कारण-शून्य होगा । यदि मुक्त भी पुनः बद्ध होते हों तो लोग ऐसी मुक्ति में विश्वास ही क्यों रखेंगे ? अतः जीव का बन्ध अहेतुक नहीं हो सकता । [१८०७]

तथा यदि जीव का बन्ध ही न माना जाएगा तो उसे नित्य मुक्त ही मानना पड़ेगा अथवा बन्ध के अभाव में उसे मुक्त भी कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि मोक्ष-व्यवहार बन्ध-सापेक्ष ही होता है । जैसे आकाश में बन्ध नहीं है तो मोक्ष भी नहीं है, वैसे जीव में भी बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव होगा । इस प्रकार तुम मानते हो कि जीव को कर्म से पहले स्वीकार करने पर बन्ध-मोक्ष व्यवस्था घटित नहीं होती है । [१८०८]

कर्म जीव से पहले सम्भव नहीं

२. तुम्हारे मतानुसार जीव से पहले कर्म की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है । कारण यह है कि जीव कर्म का कर्त्ता माना जाता है । यदि कर्त्ता ही न हो तो कर्म कैसे ह्रां सकता है ? तथा जीव के समान ही कर्म की निर्हेतुक उत्पत्ति शक्य नहीं हो सकती । यदि कर्म को उत्पत्ति बिना किसी कारण से मानी जाएगी तो उसका विनाश भी कारण-विहीन मानना पड़ेगा । उत्पत्ति या विनाश निर्हेतुक नहीं हो सकते । अतः कर्म को जीव से पहले नहीं माना जा सकता ।

जीव तथा कर्म युगपद् उत्पन्न नहीं हैं

३. यदि जीव और कर्म दोनों युगपद् उत्पन्न हों तो जीव को कर्त्ता तथा कर्म को उसका कार्य नहीं कहा जा सकता । जैसे लोक में एक साथ उत्पन्न होने

वाले गाय के सींगों में एक को कर्त्ता तथा दूसरे को कार्य नहीं कहा जा सकता, वैसे ही यदि जीव व कर्म एक साथ उत्पन्न हों तो उनमें भी कर्त्ता-कर्म का व्यपदेश (व्यवहार) घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार तुम यह मानते हो कि जीव व कर्म का संयोग सादि मानने में अनुपपत्ति है। [१८०६-१०]

तुम्हें जीव व कर्म का अनादि सम्बन्ध भी अयुक्त प्रतीत होता है। कारण यह है कि उन्हें अनादि मानने पर जीव का मोक्ष कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है, जैसे कि जीव तथा आकाश का सम्बन्ध अनादि भी है और अनन्त भी। इसी प्रकार जीव व कर्म का सम्बन्ध भी अनादि होने पर अनन्त मानना पड़ेगा। अनन्त होने पर मोक्ष की सम्भावना ही नहीं रहती, क्योंकि कर्म-संयोग का अस्तित्व हमेशा बना रहेगा। [१८११]

इस प्रकार पूर्वोक्त वेदवाक्यों के अतिरिक्त तुम युक्ति के आधार पर भी यही मानते हो कि जीव में बन्ध व मोक्ष घटित नहीं होते, किन्तु वेदवाक्य में इन दोनों के अस्तित्व का भी प्रतिपादन है। अतः तुम्हें बन्ध-मोक्ष की वास्तविक सत्ता में सन्देह है, किन्तु तुम्हें ऐसा संशय नहीं करना चाहिए। मैं तुम्हें इसका कारण बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो। [१८१२]

मण्डक—कृपया मेरे संशय का निवारण करें तथा बताएँ कि मेरी युक्ति में क्या दोष है? तथा जीव के बन्ध-मोक्ष कैसे सम्भव हैं?

संशय-निवारण—कर्म-सन्तान अनादि है

भगवान्—तुम्हारे द्वारा उपस्थित की गई युक्ति का सार यह है कि जीव व कर्म का सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। इस विषय का स्पष्टीकरण यह है कि, शरीर तथा कर्म की सन्तान अनादि है, क्योंकि इन दोनों में परस्पर कार्यकारण भाव है—बीजांकुर के समान। जैसे बीज से अंकुर तथा अंकुर से बीज होता है और यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है, अतः इन दोनों की सन्तान अनादि है; उसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह का उत्पत्ति का क्रम अनादि-काल से चला आ रहा है, इसलिए इन दोनों की सन्तान अनादि है।

अतः तुम्हारे इन विकल्पों का कोई अवकाश नहीं रहता कि जीव पहले या कर्म पहले। कारण यह है कि उन ही सन्तान अनादि है। कर्म को अनादि सन्तान की सिद्धि निम्न प्रकारेण होती है—

शरीर से कर्म उत्पन्न होता है—अर्थात् कर्म शरीर का कार्य है। किन्तु यदि शरीर ने कर्म को उत्पन्न किया है तो शरीर भी पूर्व-कर्म का कार्य है, अर्थात् वह भी कर्म से उत्पन्न होता है। पूर्व में जिन कर्मों ने कर्मोत्पादक शरीर को उत्पन्न किया, वे कर्म भी पूर्व-शरीर से उत्पन्न हुए होते हैं। अतः कर्म और देह परस्पर कार्य-

कारण हैं और उन दोनों को सन्तान अनादि है । फलतः कर्म की सन्तान अनादि सिद्ध होती है ।

मण्डक—कर्म की सन्तान चाहे अनादि हो, किन्तु यहाँ जीव के बन्ध-मोक्ष की चर्चा हो रही है । उस चर्चा के साथ इस कर्म-सन्तान के अनादित्व का क्या सम्बन्ध है ?

जीव का बन्ध

भगवान्—सम्बन्ध है ही, क्योंकि कर्म जो कुछ कराता है वही बन्ध है, अतः कर्म-सन्तान के अनादि सिद्ध होने पर बन्ध भी अनादि सिद्ध होता है [१८१३-१४]

मण्डक—कर्म-सन्तान को अनादि सिद्ध कर आप बन्ध की सम्भावना का कथन करते हैं, किन्तु आप ने तो शरीर व कर्म में परस्पर कार्यकारण भाव सिद्ध किया है । उससे जीव का क्या सम्बन्ध है ? यह कैसे कड़ा जा सकता है कि जीव व कर्म का संयोग अनादि है ?

भगवान्—शरीर व कर्म का कार्यकारण भाव यथार्थ है, किन्तु यदि कोई कर्त्ता न हो तो शरीर व कर्म में से किसी की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतः हमें स्वीकार करना चाहिए कि जीव कर्म द्वारा शरीर उत्पन्न करता है, अतः वह शरीर का कर्त्ता है तथा जीव शरीर द्वारा कर्म को उत्पन्न करता है, अतः वह कर्म का भी कर्त्ता है, जैसे कि दण्ड द्वारा घट को उत्पन्न करने वाला कुम्भकार घट का कर्त्ता कहलाता है । इस प्रकार यदि शरीर व कर्म की सन्तान अनादि हो तो जीव को भी अनादि मानना चाहिए और उसके बन्ध को भी अनादि ही समझना चाहिए । [१८१५]

मण्डक—किन्तु कर्म तो अतीन्द्रिय होने के कारण असिद्ध है, आप उसे कारण कैसे कह सकते हैं ?

कर्म-सिद्धि

भगवान्—कर्म अतीन्द्रिय होने पर भी असिद्ध नहीं है क्योंकि कार्य द्वारा उसकी सिद्धि होती है । शरीर आदि की उत्पत्ति का कोई कारण होना चाहिए, क्योंकि वे घटादि के समान कार्य हैं । जैसे घटादि कार्य दण्डादि करण के बिना उत्पन्न नहीं होते, वैसे ही शरीर-रूपी कार्य करण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता । शरीर कार्य में जो करण है, वह कर्म कहलाता है ।

अथवा जीव व शरीर इन दोनों से किसी करण का सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि उनमें एक कर्त्ता है और दूसरा कार्य है । जैसे कुम्भकार तथा घट ये दोनों कर्त्ता-कार्य हैं और दण्ड उनका करण है, वैसे ही आत्मा व शरीर कर्त्ता तथा कार्य-रूप हैं तो उनका कोई करण मानना चाहिए ।

अपि च, जैसे चेतन की कृषि आदि क्रिया सफल होती है वैसे ही दानादि क्रिया भी सफल होनी चाहिए। उसका जो फल है, वही कर्म है। यह चर्चा अग्नि-भूति के साथ की ही गई है। जैसे उसने कर्म का अस्तित्व स्वीकार किया, वैसे तुम्हें भी स्वीकार करना चाहिए। [१८१६]

बन्ध अनादि सान्त है

पुनश्च, तुमने जो यह बात कही है कि जो अनादि होता है, उसे अनन्त भी होना चाहिए, वह अयुक्त है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सन्तान अनादि है, इसलिए वह अनन्त भी होनी चाहिए। कारण यह है कि बीज-अंकुर की सन्तान यद्यपि अनादि है तथापि उसका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार अनादि कर्म-सन्तान का भी नाश हो सकता है। [१८१७]

मण्डिक—यह कैसे ?

भगवान्—बीज तथा अंकुर में से किसी का भी यदि अपने कार्य को उत्पन्न करने से पूर्व ही नाश हो जाए तो बीजांकुर की सन्तान का भी अन्त हो जाता है। यही बात मुर्गी और अण्डे के विषय में भी कही जा सकती है कि उन दोनों की सन्तान अनादि होने पर भी उस अवस्था में नष्ट हो जाती है, जब दोनों में से कोई एक अपने कार्य को उत्पन्न करने के पूर्व ही नष्ट हो जाए। [१८१८]

अपि च, सोने तथा मिट्टी का संयोग अनादि सन्ततिगत है, फिर भी अग्नि-तापादि से उस संयोग का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जीव तथा कर्म का अनादि संयोग भी सम्यक् श्रद्धा आदि रत्नत्रय द्वारा नष्ट हो सकता है। [१८१९]

मण्डिक—जीव तथा कर्म का संयोग जीव और आकाश के संयोग के समान अनादि अनन्त है ? अथवा सोने और मिट्टी के समान अनादि सान्त है ?

भगवान्—जीव में दोनों प्रकार का संयोग घटित हो सकता है, इसमें कुछ भी विरोध नहीं है। [१८२०]

मण्डिक—यह कैसे सम्भव है ? ये दोनों सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध हैं। अतः जीव में यदि अनादि अनन्त सम्बन्ध हो तो अनादि सान्त सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, अनादि सान्त हो तो अनादि अनन्त नहीं होना चाहिए। दोनों सम्बन्ध एकत्र नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में विरोध है।

भगवान्—मैंने जीव सामान्य की अपेक्षा से यह बात कही है कि उसमें उक्त दोनों प्रकार के सम्बन्ध हैं। जीव विशेष की अपेक्षा से विचार किया जाए तो अभव्य जीवों में अनादि अनन्त संयोग है क्योंकि उनकी मुक्ति नहीं होती है, अतः उनके कर्म-संयोग का नाश कभी भी नहीं होता। भव्य जीवों में अनादि सान्त संयोग है, क्योंकि वे कर्म-संयोग का नाश कर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखते हैं।

भव्य-अभव्य का भेद

मण्डिक—सभी जीव समान हैं, उनमें भव्य-अभव्य का भेद क्यों ? यह तो नहीं कहा जा सकता कि सब जीवों के समान होने पर भी जैसे नारक, तिर्यच आदि भेद होते हैं वैसे ही भव्य-अभव्य का भेद भी सम्भव है । कारण यह है कि जीव के नारकादि भेद कर्मकृत हैं, स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु आप भव्य-अभव्य का भेद कर्मकृत न मान कर स्वाभाविक मानते हैं । अतः प्रश्न होता है कि जीव के ऐसे स्वाभाविक भेद मानने का क्या कारण है ? [१८२१-२२]

भगवान्—जैसे जीव तथा आकाश में द्रव्यत्व, सत्व, प्रमेयत्व, ज्ञेयत्व आदि धर्मों के कारण समानता होने पर भी जीवत्व तथा अजीवत्व, चेतनत्व तथा अचेतनत्व आदि के कारण स्वभाव भेद है वैसे ही समस्त जीव जीवत्व की अपेक्षा से समान होने पर भी भव्यत्व तथा अभव्यत्व की अपेक्षा से स्वभावतः भिन्न होकर भव्य और अभव्य हो सकते हैं । [१८२३]

मण्डिक—यदि भव्यत्व स्वाभाविक है तो जीवत्व के समान उसे नित्य भी मानना चाहिए तथा यदि भव्यत्व का नित्य माना जाए तो जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि मुक्त जीवों में भव्य-अभव्य का भेद नहीं होता । [१८२४]

अनादि होने पर भी भव्यत्व का अन्त

भगवान्—घटादि कार्य का प्रागभाव अनादि स्वभाव-रूप होने पर भी घटोत्पत्ति होने पर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार भव्यत्व स्वभाव अनादि होने पर भी ज्ञान, तप तथा अन्य क्रियाओं के आचरण से नष्ट हो जाता है । [१८२५]

मण्डिक—आपने प्रागभाव का उदाहरण दिया, किन्तु वह खर-विषाण के समान अभाव-रूप होने से अवस्तु है । अतः उसका उदाहरण नहीं दिया जा सकता ।

भगवान्—उसका उदाहरण दिया जा सकता है । कारण यह है कि घट प्रागभाव अवस्तु नहीं किन्तु वस्तुरूप ही है । वह अनादि काल से विद्यमान एक पुद्गल संघात के स्वरूप में है । अन्तर केवल यह है कि वह पुद्गल संघात घटाकार रूप में परिणत नहीं हुआ, इसीलिए उसे घट-प्रागभाव कहते हैं । [१८२६]

मण्डिक—आपके कथनानुसार भव्यत्व का नाश मान भी लिया जाए तो इसमें एक और आपत्ति है । संसार से भव्यत्व का किसी समय उच्छेद हो जाएगा, जैसे धान्य के भण्डार से थोड़ा-थोड़ा धान्य निकालते रहें तो एक दिन वह खाली हो जाएगा । इसी प्रकार भव्य जीवों के क्रमशः मोक्ष चले जाने पर संसार में भव्य जीवों का अभाव हो जाएगा ।

भव्यों का मोक्ष मानने से भी संसार खाली नहीं होता

भगवान्—ऐसा नहीं हो सकता। अनागत काल तथा आकाश के समान भव्य भी अनन्त हैं, अतः संसार कभी भी भव्यों से शून्य नहीं हो सकता। अनागत काल की समय-राशि में प्रत्येक क्षण कमी होती रहती है, किन्तु वह अनन्त समय प्रमाण है, अतः उसका कभी भी उच्छेद सम्भव नहीं है। अथवा आकाश के अनन्त प्रदेशों में से कल्पना द्वारा प्रति समय एक-एक प्रदेश अलग किया जाए तो भी आकाश के प्रदेशों का उच्छेद नहीं होता। इसी प्रकार भव्य जीव भी अनन्त हैं, प्रत्येक समय उनमें से कुछ के मोक्ष जाने पर भी भव्य-राशि का कभी उच्छेद नहीं होता। [१८२७]

अपि च, अतीत काल तथा अनागत काल का परिणाम समान होता है। अतीत काल में भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है और वह निगोद के जीवों का अनन्तवाँ भाग है। अतः अनागत काल में भी उतना भाग ही सिद्ध हो सकेगा। कारण यह है कि उसका परिमाण अतीत काल जितना ही है। अतः संसार से कभी भी भव्य जीवों का उच्छेद सम्भव नहीं है, सम्पूर्ण काल में भी भव्य जीवों के उच्छेद का प्रसंग नहीं आएगा।

मण्डिक—किन्तु आप यह कैसे सिद्ध करते हैं कि भव्य अनन्त हैं तथा सर्वकाल में उनका अनन्तवाँ भाग ही मुक्त होता है ?

भगवान्—आकाश तथा काल के समान भव्य जीव भी अनन्त हैं। जैसे इन दोनों का उच्छेद नहीं होता वैसे भव्य जीवों का भी उच्छेद नहीं होता। अतः यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि भव्य जीवों का अनन्तवाँ भाग ही मुक्त होता है। अथवा इस युक्ति की आवश्यकता ही नहीं है। यह बात मैं कहता हूँ, इसलिए भी तुम्हें मान लेनी चाहिए। [१८२८-३०]

मण्डिक—मैं आपके कथन को सत्य क्यों मानूँ ?

सर्वज्ञ के वचन को प्रमाण मानो

भगवान्—इतनी चर्चा से तुम्हें यह तो विश्वास हो गया होगा कि मैंने तुम्हारे संशय से लेकर अब तक जो कुछ कहा है, वह सत्य ही है। उसी आधार पर मेरा यह कथन भी तुम्हें यथार्थ मानना चाहिए। अथवा यह समझो कि मैं सर्वज्ञ हूँ (वीतराग हूँ), इस कारण भी तुम्हें मेरी बात मध्यस्थ-ज्ञाता की बात के समान सच्ची माननी चाहिए। [१८३१]

तुम्हारे मन में यह विचार उत्पन्न होगा कि “मैं यह कैसे मानूँ कि आप सर्वज्ञ हैं।” किन्तु तुम्हारा यह संशय अयुक्त है। कारण यह है कि तुम जानते हो कि मैं सब के सभी संशयों का निवारण करता हूँ। यदि मैं सर्वज्ञ न होऊँ तो सर्व-संशय का निवारण न कर सकूँ। अतः तुम्हें मेरी सर्वज्ञता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

मण्डिक—किन्तु दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता जो सर्वज्ञ हो और सर्व-संशय का निवारण करने वाला हो। अतः दृष्टान्त के अभाव में आपको सर्वज्ञ कैसे माना जाए ?

भगवान्—दृष्टान्त की क्या आवश्यकता है ? यह बात सिद्ध है कि ज्ञान के बिना संशय का निवारण नहीं हो सकता। तुम में से किसी को जो भी संशय हो, वह तुम मेरे सामने रखो और देखो कि मैं उन सब का निवारण करता हूँ या नहीं ? सर्व-संशय का निवारण सर्वज्ञ के बिना सम्भव ही नहीं है। जब मैं सब संशयों का निराकरण करता हूँ तो तुम सब मुझे सर्वज्ञ क्यों नहीं मानोगे ? [१८३२]

मण्डिक—आपने कहा है कि भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही मुक्त हो सकता है, अर्थात् कुछ भव्य ऐसे भी हैं जो कभी मुक्त न होंगे। ऐसी स्थिति में उन्हें अभव्य ही कहना चाहिए। आप उन्हें भव्य क्यों कहते हैं ? [१८३३]

मोक्ष में न जाने वाले भव्य क्यों ?

भगवान्—भव्य का अर्थ योग्य है—अर्थात् उस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है। जिनमें योग्यता है वे सब मोक्ष जाते ही हैं, यह बात नहीं कही जा सकती। जिन भव्य जीवों को मोक्ष जाने के लिए सम्पूर्ण सामग्री प्राप्त होती है, वही मोक्ष जाते हैं। अतः भव्य जीव के मुक्त न होने का कारण सामग्री का अभाव है, योग्यता का अभाव नहीं। सुवर्ण, मणि, पाषाण, चन्दन, काष्ठ इन सब में प्रतिमा बनने की योग्यता है, फिर भी ये सभी द्रव्य प्रतिमा नहीं बनते, किन्तु शिल्पी इनसे ही मूर्ति का निर्माण कर सकता है, अर्थात् उक्त जिन द्रव्यों में से प्रतिमा का निर्माण न हुआ हो अथवा न होना हो, उन्हें प्रतिमा के अयोग्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को कभी मोक्ष नहीं जाना है उन्हें अभव्य नहीं कहा जा सकता। सारांश यह है कि ऐसा नियम बनाया जा सकता है कि जो द्रव्य प्रतिमा योग्य हैं उनकी ही प्रतिमा बनती है, दूसरों की नहीं, तथा जो जीव भव्य हैं वही मोक्ष जाते हैं अन्य नहीं। किन्तु यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि जो द्रव्य प्रतिमा योग्य हैं, उनकी प्रतिमा अवश्य बनती ही है और जो जीव भव्य हैं वे मोक्ष जाते ही हैं। [१८३४]

अथवा इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार भी हो सकता है—कनक तथा कनक-पाषाण के संयोग में वियोग की योग्यता है—अर्थात् कनक को कनक-पाषाण से पृथक् किया जा सकता है, किन्तु यह बात नहीं होती कि सभी कनक-पाषाणों से कनक अलग होता हो। जिसे वियोग की सामग्री मिलती है, उससे ही कनक पृथक् होता है तथा सामग्री होने पर भी कनक सर्व प्रकार के पाषाण से नहीं प्रत्युत कनक पाषाण से ही अलग होता है। अतः यह कनक-पाषाण की ही विशेषता समझी जाती है, सब पाषाणों को नहीं। इसी प्रकार चाहे सभी भव्य मोक्ष न जाएँ, तथापि भव्य ही मुक्त होते हैं; इस आधार पर भव्यों में ही मोक्ष की योग्यता मानी जाती है।

कोई भी अभव्य मोक्ष नहीं जाता, अतः अभव्यों में उस योग्यता का अभाव माना जाता है । [१८३५-३६]

मोक्ष कृतक होने पर भी नित्य है

मण्डिक—यदि मोक्ष की उत्पत्ति उपाय से होती हो तो उसे कृतक (जन्य) मानना चाहिए और जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, नित्य नहीं; अतः घटादि के समान कृतक होने के कारण मोक्ष को भी अनित्य मानना चाहिए ।

भगवान्—यह नियम व्यभिचारी है कि जो कृतक होता है वह अनित्य ही होता है । घटादि का प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है । यदि प्रध्वंसाभाव को अनित्य माना जाएगा तो प्रध्वंसाभाव का अभाव हो जाने के कारण घटादि पदार्थ पुनः उपस्थित हो जाएंगे; अतः प्रध्वंसाभाव, कृतक होने पर भी नित्य है । इसी प्रकार कृतक होने पर भी मोक्ष को नित्य मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ? [१८३७]

मण्डिक—प्रध्वंसाभाव अभावस्वरूप होने से अस्तु है, अतः उसके उदाहरण से उक्त नियम बाधित नहीं होता ।

भगवान् - प्रध्वंसाभाव केवल अभाव-स्वरूप नहीं है, किन्तु वह घट-विनाश से विशिष्ट पदगल-संघात-रूप है, अतः वह भावरूप वस्तु है । इसलिए उसका उदाहरण दिया जा सकता है । [१८३८]

मोक्ष एकान्ततः कृतक नहीं

अथवा इस बात को जाने दें । मैं तुम्हारे प्रश्न का समाधान अन्य प्रकार से करता हूँ । तुमने मोक्ष को कृतक कहा है और यह अनुमान किया है कि कृतक होने से उसे अनित्य होना चाहिए । किन्तु मोक्ष का अर्थ इतना ही है कि कर्म जीव से अलग हो जाते हैं, अतः मैं तुमसे पूछता हूँ कि कर्म-पदुगलों के जीव से मात्र पृथक् होने पर जीव में एकान्त रूप से ऐसी क्या विशिष्टता आई कि जिससे तुम मोक्ष को कृतक मानते हो । जैसे आकाश में विद्यमान घड़े को मुद्गर से फोड़ने पर आकाश में कोई विशेषता नहीं आती, वैसे ही कर्म को तपस्यादि उपायों से नष्ट करने पर जीव में किसी नई वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः मोक्ष को एकान्तरूप से कृतक कैसे माना जा सकता है ?

मण्डिक—आप कर्म के विनाश को मोक्ष कहते हैं । जैसे मुद्गर से घट का नाश होने पर उस विनाश को कृतक माना जाता है, वैसे ही तपस्यादि से किया गया कर्म-विनाश भी कृतक होगा । अतः मोक्ष भी कृतक और अनित्य सिद्ध होगा ।

भगवान्—तुम घट-विनाश और कर्म-विनाश को कृतक मानते हो, किन्तु तुम इन दोनों के स्वरूप को नहीं जानते, इसीलिए उन्हें कृतक कहते हो । वस्तुतः घट-विनाश केवल घट-रहित आकाश ही है, अन्य कुछ नहीं । आकाश सदा अवस्थित

होने के कारण नित्य ही है, अतः उसे कृतक कैसे कह सकते हैं ? मुद्गर के उपस्थित होने से आकाश में कोई नवीनता नहीं आई। फिर घट-विनाश-रूप केवल आकाश को कृतक क्यों कहा जाए ? इसी प्रकार कर्म-विनाश का भाव भी यही है कि कर्मरहित केवल आत्मा ही है। यहाँ तपस्यादि से आत्मा में किसी नवीनता की उत्पत्ति नहीं हुई, क्योंकि आकाश के समान सदा अवस्थित होने से आत्मा नित्य ही है। अतः मोक्ष को अनित्य अथवा एकान्त कृतक नहीं माना जा सकता। यदि तुम मोक्ष को पर्याय दृष्टि से कथंचित् अनित्य मानते हो तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि विश्व के समस्त पदार्थ द्रव्य तथा पर्याय दोनों की अपेक्षा से नित्य और अनित्य हैं। अतः मोक्ष नित्य भी है तथा अनित्य भी। [१८३६]

मण्डिक—घड़े के फूट जाने पर उसके कपाल के साथ आकाश का संयोग बना रहता है, इसी प्रकार जीव ने जिन कर्मों की निर्वरा कर दी हो, उनके साथ उसका संयोग बना रहना चाहिए, क्योंकि कर्म और जीव लोक में ही रहते हैं। फिर जीव व कर्म का बन्ध क्यों नहीं होता ?

भगवान्—जैसे निरपराधी को कंद नहीं मिलती, वैसे ही आत्मा में भी बन्ध-कारण का अभाव होने से वह पुनः बद्ध नहीं होती। मुक्त जीव अगरीर है, अतः कर्म-बन्ध के कारणभूत मन-वचन-काय का योग न होने से उसका पुनः कर्म-बन्ध नहीं होता। केवल कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग मात्र होने से कर्म-बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी जीवों का समान भाव से कर्म-बन्ध होना चाहिए, कारण यह है कि कर्म-वर्गणा के पुद्गल सर्वत्र विद्यमान हैं। इस प्रकार अतिप्रसंगादि दोष होने के कारण जीव-कर्म-पुद्गल का केवल संयोग ही कर्म-बन्धन का कारण नहीं माना जा सकता। जीव के मिथ्यात्वादि दोष तथा योग के कारण बन्ध होता है। [१८४०]

मण्डिक—सौगत मानते हैं कि आत्मा बार-बार संसार में आती है, इस विषय में आपका क्या मत है ?

मुक्त पुनः संसार में नहीं आते

भगवान्—मुक्त जीव संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, क्योंकि उनमें जन्म के कारण का अभाव है। जैसे बीज के अभाव में अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही जन्म के बीज (कर्म) मुक्तावस्था में नहीं होते, अतः मुक्त जीव सदा मुक्त ही रहते हैं। [१८४१]

पुनश्च, मुक्तात्मा नित्य है क्योंकि वह द्रव्य होने पर भी अमूर्त है, जैसे आकाश।

मण्डिक—अमूर्त द्रव्य होने के कारण आप आत्मा को आकाश के समान नित्य मानते हैं। इसी हेतु के आधार पर उसे आकाश के समान ही सर्वव्यापी भी मानना चाहिए।

आत्मा व्यापक नहीं है

भगवान्—आत्मा को सर्वव्यापी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें अनुमान बाधक है। बाधक अनुमान यह है—आत्मा असर्वगत है, क्योंकि वह कर्त्ता है; कुम्भकार के समान। आत्मा में कर्तृत्व धर्म सिद्ध है। यदि आत्मा को कर्त्ता न माना जाए तो वह भोक्ता अथवा द्रष्टा भी नहीं हो सकता; अतः उसे कर्त्ता मानना ही चाहिए। [१८४२]

मण्डिक—क्या आप आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं ?

आत्मा नित्य-अनित्य है

भगवान्—नहीं। जो लोग आत्मा को बौद्धों के समान एकान्त अनित्य कहते हैं, उनके निराकरण के लिए आत्मा का नित्यत्व सिद्ध किया है। वस्तुतः आत्मा के नित्यत्व के सम्बन्ध में मुझे एकान्त आग्रह नहीं है। मेरी मान्यतानुसार तो सभी पदार्थ उत्पाद, स्थिति, भंग इन तीनों धर्मों से युक्त होने के कारण नित्या-नित्य हैं। जब केवल पर्याय की विवक्षा हो तो पदार्थ अनित्य कहलाता है। द्रव्य की अपेक्षा से उसे नित्य कहते हैं। जैसे कि घट के विषय में कहा जाता है कि मिट्टी का पिण्ड नष्ट होता है तथा मिट्टी का घड़ा उत्पन्न होता है, किन्तु मिट्टी तो विद्यमान ही रहती है। इसी प्रकार मुक्त जीव के विषय में कह सकते हैं कि वह संसारी आत्मा के रूप में नष्ट हुआ, मुक्त आत्मा के रूप में उत्पन्न हुआ तथा जीवत्व (सोपयोगस्वादि) धर्मों की अपेक्षा से जीव-रूप में स्थिर रहा। उस मुक्त जीव के विषय में भी हम कह सकते हैं कि वह प्रथम समय के सिद्ध रूप में नष्ट हुआ, द्वितीय समय के सिद्ध रूप में उत्पन्न हुआ, किन्तु द्रव्यत्व, जीवत्वादि धर्मों की अपेक्षा से अवस्थित ही है। अतः पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। [१८४३]

मण्डिक—यदि आत्मा सर्वगत नहीं तो मुक्तात्मा कहाँ रहती है ?

भगवान्—सौम्य ! मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग में रहती है।

मण्डिक—मुक्त जीव में विहायोगति नाम कर्म का अभाव है। ऐसी स्थिति में वह लोक के अग्रभाग में कैसे गमन करता है ?

मुक्त लोक के अग्रभाग में रहते हैं

भगवान्—जब जीव के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह कर्म-भार से हलका हो जाता है तब कर्म के बिना भी वह अपने ऊर्ध्वगति-रूप स्वाभाविक परिणाम के कारण एक ही समय में ऊँचे लोकान्त तक पहुँच जाता है। सकल कर्म के विनाश से जैसे जीव को सिद्धत्व पर्याय की प्राप्ति होती है, वैसे ही उक्त ऊर्ध्वगति परिणाम की भी। अतः वह एक ही समय में लोक के अग्रभाग में पहुँच जाता है।

अपि च, मुक्त जीव की ऊर्ध्व-गति के समर्थन के लिए शास्त्र में अनेक दृष्टान्त भी दिए गए हैं। वे ये हैं—तूम्बड़ा, एरण्ड के बीज, अग्नि, धूम तथा धनुष से छोड़े गए बाण में जैसे पूर्व प्रयोग से गति होती है, वैसे ही सिद्ध की गति समझनी चाहिए।

इस विषय को समझने के लिए कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। तूम्बड़ पर मिट्टी के अनेक लेप कर यदि उसे पानी में डुबा दिया जाए तो क्रमशः उन लेपों के उतर जाने पर जैसे तूम्बड़ा पानी के ऊपर आ जाता है, वैसे जीव भी कर्म-लेप से मुक्त होकर उर्ध्वगति करता है, कोष में विद्यमान एरण्ड बीज-कोष के टूट जाने पर जैसे ऊपर उड़ता है वैसे ही जीव भी कर्म-कोष से बाह्य निकलता है और स्वाभाविकरूपेण ऊर्ध्वगमन करता है जैसे अग्नि और धूम स्वभावतः ही ऊपर जाते हैं वैसे ही जीव भी स्वभावतः तथा गति-परिणाम से ऊर्ध्व-गमन करता है। जैसे धनुष खींच कर बाण चलाने से अथवा कुम्भार के चक्र की पूर्व-प्रयोग से गति होती है, वैसे जीव भी ऊर्ध्वगति करता है। [१८४४]

मण्डिक—क्या अरूपी द्रव्य भी सक्रिय होता है? आकाशादि अरूपी पदार्थ निष्क्रिय ही हैं तो आप आत्मा को सक्रिय कैसे मानते हैं?

आत्मा अरूपी होकर भी सक्रिय

भगवान्—मैं तुमसे पूछता हूँ कि जब अरूपी आकाश अचेतन है तो अरूपी आत्मा चेतन क्यों है? अरूपी होने पर भी जैसे चैतन्य आत्मा का विशेष धर्म है वैसे ही सक्रियत्व भी आत्मा का विशेष धर्म है। इस में विरोध कहाँ है? [१८४५]

पुनश्च, अनुमान से भी आत्मा का सक्रियत्व सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है—आत्मा सक्रिय है, कर्त्ता होने से, कुम्भकार के समान। अथवा भोक्ता होने से आत्मा सक्रिय है। अथवा देह-परिस्पन्द के प्रत्यक्ष होने से आत्मा सक्रिय होनी चाहिए। जैसे यन्त्र-पुरुष में परिस्पन्द रङ्गोचर होता है, इसलिए वह सक्रिय है; इसी प्रकार आत्मा में भी देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से वह भी सक्रिय है। [१८४६]

मण्डिक—परिस्पन्द देह में है अतः उसे सक्रिय मानना चाहिए, आत्मा को नहीं।

भगवान्—देह के परिस्पन्द में आत्मा का प्रयत्न कारण-रूप है, अतः आत्मा को सक्रिय माना गया है।

मण्डिक—किन्तु प्रयत्न तो क्रिया नहीं है, अतः प्रयत्न के कारण आत्मा सक्रिय नहीं मानी जा सकती।

1. लाउ य एरण्डफले आगी धूमो य इसु धनुषिमुक्को ।
गइ पुव्वपन्नोणेणं एवं सिद्धाण वि गई उ ॥

भगवान्—प्रयत्न को चाहे क्रिया न मानें, किन्तु जो पदार्थ आकाश के समान निष्क्रिय होता है उसमें प्रयत्न की सम्भावना नहीं है, अतः आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रयत्न भी वस्तुतः क्रिया ही है। यदि यह कल्पना की जाए कि प्रयत्न क्रिया नहीं है तो प्रश्न होता है कि अमूर्तरूप प्रयत्न देह के परिस्पन्द में कैसे कारण बनता है ?

मण्डिक -- प्रयत्न को किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतः ही देह के परिस्पन्द का हेतु बनता है।

भगवान्—तो फिर यही मानलो कि स्वतः आत्मा से ही देह-परिस्पन्द होता है। व्यर्थ प्रयत्न को मानने को क्या आवश्यकता है ?

मण्डिक—देह-परिस्पन्द का कारण किसी अदृष्ट को ही मान लेना चाहिए। आत्मा निष्क्रिय होने से कारण नहीं बन सकती।

भगवान्—वह अदृष्ट कारण मूर्त है या अमूर्त ? यदि अमूर्त है तो आत्मा स्वयमेव देह-परिस्पन्द का कारण क्यों नहीं बनती ? आत्मा भी अमूर्त है। यदि अदृष्ट-रूप कारण मूर्त है तो वह कर्मण देह ही हो सकता है, अन्य नहीं। उस कर्मण शरीर में भी यदि परिस्पन्द हो तो ही वह बाह्य शरीर के परिस्पन्द का कारण बन सकता है, अन्यथा नहीं। अतः प्रश्न होता है कि उस कर्मण शरीर के परिस्पन्द का क्या कारण है ? यदि उसका कोई कारण है तो उसके परिस्पन्द का भी कोई अन्य कारण होना चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। यदि कर्मण देह में स्वभावतः ही परिस्पन्द माना जाए तो बाह्य शरीर में भी स्वभावतः परिस्पन्द मानना चाहिए। अदृष्ट मूर्त कर्मण शरीर को परिस्पन्द का कारण मानने की क्या जरूरत है ?

मण्डिक—हाँ, यह ठीक है। बाह्य शरीर में स्वभावतः ही परिस्पन्द होता है, अतः आत्मा को सक्रिय मानने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान्—किन्तु शरीर में जिस प्रकार का प्रतिनियत विशिष्ट परिस्पन्द दिखाई देता है, उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि शरीर जड़ है। 'जो वस्तु स्वाभाविक होती है—अर्थात् किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखती—वह वस्तु सदैव होती है अथवा कभी नहीं होती।' इस न्याय से यदि शरीर में परिस्पन्द स्वाभाविक हो तो उसे हमेशा एक जैसा ही रहना चाहिए, किन्तु वस्तुतः शरीर की चेष्टाएँ नाना प्रकार की होने पर भी अमुक अपेक्षा से नियत ही दिखाई देती हैं, अतः उन्हें स्वाभाविक नहीं मान सकते। फलतः कर्म-सहित आत्मा

1. नित्यं सत्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।

को ही शरीर की प्रतिनियत विशिष्ट क्रिया में व्यापार-रूप मानना चाहिए । इस से आत्मा सक्रिय ही सिद्ध होती है । [१८७७-४८]

मण्डक—सकर्म होने से संसारी जीव सक्रिय सिद्ध हुआ, किन्तु मुक्तात्मा में तो कर्म का अभाव है, अतः वह निष्क्रिय ही होगा । फिर भी आप यदि उसे सक्रिय स्वीकार करें तो इसका क्या कारण है ?

भगवान्—मैंने तुम्हें बताया है कि मुक्तात्मा की गति-क्रिया स्वाभाविक तथा गति-परिणाम के कारण होती है । मैं यह भी कथन कर चुका हूँ कि कर्म-विनाश से जीव जैसे सिद्धत्व-रूप धर्म को प्राप्त करता है वैसे तथाविध गति-परिणाम को भी प्राप्त करता है । [१८४६]

मण्डक - आपका यह कथन युक्तियुक्त है कि मुक्तात्मा में गति है, किन्तु अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा सिद्धालय से भी आगे क्यों गति नहीं करती ?

भगवान्—क्योंकि उससे आगे गति-सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय का अभाव है ।

मण्डक - धर्मास्तिकाय उससे आगे क्यों नहीं है ?

भगवान्—गति-सहायक धर्मास्तिकाय लोक में ही है, अलोक में नहीं । सिद्धालय से आगे अलोक है, अतः उसमें धर्मास्तिकाय नहीं है । इसलिए उससे आगे जीव की गति नहीं होती । [१८५०]

मण्डक—इस बात में क्या प्रमाण है कि लोक से भिन्न रूप अलोक का अस्तित्व है ?

अलोक के अस्तित्व में प्रमाण

भगवान्—लोक का विपक्ष होना चाहिए, क्योंकि यह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय है । जो व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय होता है उसका विपक्ष अवश्य होता है । जैसे घट का विपक्ष अघट है । इसी प्रकार लोक का विपक्ष अलोक होना चाहिए ।

मण्डक—जो लोक नहीं वह अलोक है । अर्थात् घटादि पदार्थों में से किसी को भी अलोक कहा जा सकता है । उन सब से स्वतन्त्र अलोक मानने की क्या आवश्यकता है ?

भगवान्—अलोक को घटादि पदार्थों से स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता इसलिए है कि यहाँ पयुंदास निषेध अभिप्रेत है । अतः विपक्ष निषेध्य के अनुरूप ही होना चाहिए । प्रस्तुत में लोक निषेध्य है और वह आकाश-विशेष है । अतः अलोक भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए । जैसे कि 'यह अपण्डित है' इस कथन से केवल

अभाव अभिप्रेत नहीं होता अथवा इससे किसी अचेतन घटादि वस्तु का भी बोध नहीं होता । किन्तु हमें इस कथन से विशिष्ट ज्ञान-रहित किसी चेतन पुरुष-विशेष का ही ज्ञान होता है । इसी प्रकार यहाँ भी वस्तु-भूत आकाश-विशेष का ही बोध अलोक शब्द से होना चाहिए । कहा भी है — 'जिस कार्य को 'नञ्' युक्त अथवा 'इव' युक्त कहा जाता है उससे समान किन्तु अन्य ऐसे अधिकरण (पदार्थ) का लोक के प्रसंग में बोध कराता है ।' १

“नञ् तथा इव युक्त पद का अर्थ अन्य किन्तु सत्त्वरूप अधिकरण (वस्तु) समझा जाता है ।” २

सारांश यह है कि लोक का विपक्ष अलोक भी मानना चाहिए ।

धर्माधर्मास्तिकायों को सिद्धि

इस प्रकार लोक तथा अलोक दोनों वस्तुभूत हैं । अतः लोक से अलोक को भिन्न सिद्ध करने वाले किसी तत्त्व की भी सिद्ध होती है तथा वे धर्म और अधर्मास्तिकाय हैं । अर्थात् जितने आकाश-क्षेत्र में धर्म और अधर्म हैं, वह लोक है । इस रीति से यदि ये दोनों अस्तिकाय लोक का परिच्छेदन करते हों तो आकाश के सर्वत्र समानरूपेण व्याप्त होने के कारण यह भेद कैसे होगा कि 'यह लोक है' और 'वह अलोक है' । [१८५१-५२]

यदि उक्त प्रकारेण इन दोनों अस्तिकायों द्वारा अलोकाकाश से लोकाकाश का विभाग न हो तो जीव और पुद्गल गति में किसी प्रकार का प्रतिघात न होने से अप्रतिहतगति वाले हो जाएँ । अलोक अनन्त है, अतः उनकी गति का कहीं अन्त ही न होगा । यदि उनकी गति का अन्त ही न होगा तो जीव और पुद्गल का सम्बन्ध ही न हो सकेगा । सम्बन्धाभाव में पुद्गलस्कन्धों की औदारिक आदि विचित्र रचना भी असम्भव होगी । फलतः बन्ध, मोक्ष, सुख-दुःख आदि सांसारिक व्यवहार का अभाव हो जाएगा । इसलिए लोकालोक का विभाग मानना चाहिए तथा उस विभाग को करने वाले धर्माधर्मास्तिकाय मानने चाहिए । [१८५३]

जैसे पानी के बिना मछली की गति नहीं होती, वैसे ही लोक से परे अलोक में गति-सहायक द्रव्य के न होने से जीव तथा पुद्गल की गति अलोक में नहीं होती । अतः लोक में गति-सहायक-रूप धर्मास्तिकाय द्रव्य मानना चाहिए जो कि लोक परिमाण है । [१८५४]

1. 'नज्युक्तमिवयुक्तं वा यद्धि कार्यं विधीयते ।

तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिंल्लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा ॥

2. नञ्-इवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः ।

पुनश्च, लोक प्रमेय है, अतः उसका कोई परिमाण-कर्ता द्रव्य होना चाहिए । वैसे जेय का अस्तित्व होने से उसके परिच्छेदक ज्ञान का अस्तित्व माना जाता है, वैसे ही लोक के परिमाण-कर्ता द्रव्य (धर्मास्तिकाय) की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए ।

अथवा जीव और पुद्गल ही लोक कहलाते हैं । वे प्रमेय हैं, अतः उनका परिमाणकर्ता द्रव्य मानना चाहिए । जैसे प्रमेय-रूप शाल्यादि धान्य का परिमाण-कर्ता द्रव्य प्रस्थ है, वैसे ही जीव पुद्गलात्मक लोक का परिमाण-कर्ता द्रव्य धर्मास्तिकाय है । आकाश सर्वत्र समान है, अतः अलोक मानने से ही धर्मास्तिकाय की सार्थकता सिद्ध होती है । इसलिए धर्मास्तिकाय से परिच्छिन्न-रूप लोक से भिन्न अलोक मानना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि सिद्ध लोक के अग्रभाग में ही अवस्थित रहते हैं । [१८५५]

मण्डिक—सिद्धों का स्थान सिद्ध-स्थान कहलाता है, अतः वह सिद्धों का अधिकरण है । जो अधिकरण होता है उससे पतन अवश्य होता है, जैसे वृक्ष से फल का अथवा पर्वतादि स्थान से देवदत्त का । अतः सिद्ध-स्थान से सिद्धों का भी पतन होना चाहिए ।

सिद्ध-स्थान से पतन नहीं

भगवान्—‘सिद्धों का स्थान’ इसमें जो छठी विभक्ति है वह कर्ता के अर्थ की शोक्तक समझनी चाहिए । इसका अर्थ होगा—सिद्धकर्तृक स्थान, अर्थात् सिद्ध रहते हैं । इससे सिद्ध तथा उनके स्थान में भेद नहीं अपितु अभेद विवक्षित है । सारांश यह है कि सिद्धों का स्थान सिद्धों से पृथक् नहीं है, अतः वहाँ से पतन मानने की आवश्यकता नहीं है । [१८५६]

अथवा सिद्धों से स्थान का भेद माना जाए तो भी वह स्थान आकाश ही है । आकाश नित्य होने से विनाश-रहित है, अतः पतन का अवकाश नहीं है । पुनः मुक्तात्मा में कर्म भी नहीं होते । कर्म के विना पतन कैसे सम्भव है ? सिद्ध में गति-क्रिया का पहले समर्थन किया जा चुका है, किन्तु वह गति-क्रिया केवल एक समय के लिए होती है और पूर्व-प्रयाग से हाती है, आदि वात भाँ बजाई जा चुकी हैं, अतः वह गति-क्रिया पुनः नहीं होती; इसलिए भी पतन का अवकाश नहीं है । पतन के कई कारण होते हैं—अपना प्रयत्न, आकर्षण, विकर्षण, गुरुत्व आदि । मुक्तात्मा में इनकी सम्भावना ही नहीं है । कारण यह है कि तदुत्पादक कारणों का अभाव है । फिर सिद्धों का पतन कैसे हो ? [१८५७]

१) अपि च, यह नियम ही व्यभिचारी है कि ‘स्थान है अतः पतन होना चाहिए ।’ इस कारण से भी मुक्त का पतन नहीं माना जा सकता । आकाश का स्थान नित्य है, फिर भी आकाश का पतन नहीं होता; जब स्थान होने पर भी आकाश का पतन

नहीं होता तब मुक्त का भी स्थान होने पर पतन क्यों माना जाए ? स्थान है, अतः पतन होता है' यह कथन स्ववचन के ही विरुद्ध है । वस्तुतः यह कहना चाहिए कि 'अस्थान है अतः पतन है ।' संरांश यह है कि स्थान के कारण सिद्धों का पतन नहीं माना जा सकता । [१८५८]

मण्डक - संसार अथवा भव से ही सिद्ध होते हैं । अतः सभी मुक्तों में एक ऐसा मुक्त होना चाहिए जो सर्व सिद्धों की आदि में हो ।

आदि सिद्ध कोई नहीं

भगवान् - तुम यह नियम प्रतिपादित करना चाहते हो कि जिनमें सादित्व (कार्यत्व) हो उनमें किसी न किसी को प्रथम होना चाहिए, किन्तु ऐसा नियम व्यभिचारी है । कारण यह है कि दिन और रात के आदि युक्त होने पर भी अनादि काल के कारण किसी एक दिन या रात को सर्वप्रथम नहीं कह सकते । इसी प्रकार मुक्त जीवों के सादि होने पर भी काल के अनादित्व के कारण किसी मुक्त को सर्वप्रथम नहीं कह सकते । [१८५९]

मण्डक—अनादि काल से नवीन-नवीन सिद्ध होते रहे हैं, किन्तु सिद्ध-क्षेत्र तो परिमित है; अतः उसमें अनन्त सिद्धों का समावेश कैसे सम्भव है ?

सिद्धों का समावेश

भगवान् - मुक्त जीव अमूर्त हैं, अतः परिमित क्षेत्र में भी अनन्त का समावेश हो जाता है । जैसे प्रत्येक द्रव्य अनन्त सिद्धों के अनन्त ज्ञान व दर्शन का विषय बनता है अर्थात् एक ही द्रव्य में अनन्त ज्ञान व दर्शन रह सकते हैं तथा एक ही नर्तकी में हजारों प्रेक्षकों की दृष्टि समा सकती है वैसे ही परिमित क्षेत्र में अनन्त सिद्धों का समावेश हो सकता है । पुनश्च, छोटे से कमरे में अनेक दीपकों का मूर्त प्रकाश समा जाता है । ऐसी स्थिति में अमूर्त अनन्त सिद्धों का परिमित क्षेत्र में समावेश क्यों नहीं हो सकता ? [१८६०]

बद-वाक्यों का सम्बन्ध

इस तरह युक्ति से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध हो जाती है, अतः उसे मानना ही चाहिए । वेद में भी बन्ध व मोक्ष का प्रतिपादन किया ही है । 'नहि वे सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।' इत्यादि वेद-वाक्यों का तुम यथार्थ अर्थ नहीं जानते इसीलिए बन्ध-मोक्ष में सन्देह करते हो, किन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए । उक्त वाक्य के पूर्वार्द्ध में सशरीर तथा उत्तरार्द्ध में अशरीर जीव के विषय में कहा गया है । अतः स्पष्टतः पूर्वार्द्ध से बन्ध तथा उत्तरार्द्ध से मोक्ष का प्रतिपादन सिद्ध होता है ।

पुनश्च, 'स एष विगुरो विभुर्न विद्यते' आदि वाक्य का अर्थ तुम यह समझते हो कि संसारी जीव के बन्ध-मोक्ष नहीं हैं, किन्तु वस्तुतः यह वाक्य मुक्त जीव के स्वरूप का प्रतिपादक है। मैं भी तुम्हें बता चुका हूँ कि मुक्त के बन्धादि नहीं होते। इस युक्ति का समर्थन वेद-वाक्य से भी हो जाता है, अतः तुम्हें बन्ध-मोक्ष के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए। [१८६१-६२]

इस प्रकार जब जरा-मरणरहित भगवान् ने मण्डिक के संशय का निवारण किया, तब उस ने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों सहित दीक्षा ली। [१८६३]



सातवें गणधर मौर्यपुत्र देव-चर्चा

मण्डिक के दीक्षित होने का समाचार ज्ञात कर मौर्यपुत्र ने भी विचार किया कि मैं भी भगवान् के पास जाऊँ, वन्दना करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास आइगया। [१८६४]

देवों के विषय में सन्देह

जाति-जरा-मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे अतः उन्होंने उसे नाम गोत्र से बुलाते हुए कहा 'मौर्यपुत्र काश्यप !' [१८६५]

तत्पश्चात् उन्होंने कहना प्रारम्भ किया, "तुम्हारे मन में यह सन्देह है कि देव हैं अथवा नहीं। तुमने वेद के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्य सुने हैं, जैसे कि 'स एष यज्ञायुधो यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति'¹ इत्यादि तथा 'अपामसोममृता अभूम, अगन्म ज्यातिरविदाम देवान्, किं नूनमस्मान्, कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत-मर्त्यस्य'² आदि। इन वाक्यों से तुम्हें यह प्रतीत होता है कि स्वर्ग में अमरने वाले देवों का अस्तित्व है। किन्तु तुमने इसके विरोधी अर्थ के प्रतिपादक वेद-वाक्य भी सुने हैं, जैसे कि 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्'³ आदि। अतः तुम समझते हो कि देव तो हैं ही नहीं।

वस्तुतः तुम इन वाक्यों का तात्पर्य नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें संशय है। मैं तुम्हें वास्तविक अर्थ बताऊँगा। उससे तुम्हारे संशय का निवारण हो जाएगा। [१८६६]

1. यज्ञरूप शस्त्र वाला यजमान निश्चितरूपेण स्वर्ग में जाता है।
2. मुद्रित गणधरवाद में शुद्ध पाठ नहीं है। ऊपर-दिए गए शुद्ध पाठानुसार अर्थ यह है—
"हे अमृत-सोम ! हमने तुम्हें पीया और हम अमर हो गए। हमने प्रकाश प्राप्त किया, देवों का ज्ञान प्राप्त किया। अब शत्रु हमारा क्या कर सकते हैं? मरणशील मानव की धूर्तता क्या कर सकती है?"
सायण-कृत अर्थ की अपेक्षा अत्रिफिथ द्वारा किया गया अर्थ अधिक संगत प्रतीत होने से यहाँ वही दिया गया है। देखें 8.48. Hymns of The Rigveda Vol. II.
3. माया सदृश इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि देवों की कौन जानता है ?

देवों के अभाव का समर्थन तुम निम्न प्रकार से युक्ति द्वारा भी करते हो— तुम समझते हो कि नारक तो परतन्त्र हैं तथा अत्यन्त दुःखी भी हैं, अतः वे हमारे सन्मुख उपस्थित होने में असमर्थ हैं। वे चाहे दिखाई न दें, तो भी दूसरों के वचन को प्रमाण मान कर उनका अस्तित्व श्रद्धा का विषय बन जाता है। [१८६७]

किन्तु देव तो स्वच्छन्द-विहारी हैं—अर्थात् उन्हें यहाँ आने से कोई भी रोक नहीं सकता। वे दिव्य प्रभाव वाले भी हैं। फिर भी वे कभी दिखाई नहीं देते। श्रुति-स्मृति में यद्यपि उनका अस्तित्व बताया है तथापि उनके सम्बन्ध में सन्देह होना अयुक्त नहीं है। [१८६८]

संशय का निवारण—देव-प्रत्यक्ष हैं

किन्तु हे मौर्यपुत्र ! तुम्हें देवों की सत्ता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए। श्रुति-स्मृति के आधार पर ही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी तुम उनकी सत्ता मान लो। यहाँ पर मेरे इस समवसरण में ही मनुष्य से भिन्न-जातीय भवन-पति, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक इन चारों प्रकार के देव उपस्थित हैं। तुम उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर अपने संशय का निवारण कर लो।" [१८६९]

मौर्यपुत्र—किन्तु यहाँ देखने से पूर्व मुझे जो संशय था, वह तो युक्तियुक्त था न ?

भगवान्—नहीं, क्योंकि मेरे समवसरण में आने से पहले तुम यदि दूसरे देवों को नहीं तो कम से कम सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों को तो प्रत्यक्ष देखते ही थे। अतः यह नहीं माना जा सकता कि देव कभी देखे नहीं गए, इसलिए उनके विषय में अस्तित्व विषयक सन्देह युक्त है। तुम्हें इस समय से पूर्व ही देवों के एक देश का प्रत्यक्ष था ही, इसलिए समस्त देवों सम्बन्धी शंका अयुक्त थी।

अनुमान से सिद्धि

पुनश्च, लोक में देवकृत अनुग्रह और पीड़ा दोनों ही हैं। इस कारण भी देवों का अस्तित्व मानना चाहिए; जैसे लोक का हित या अहित करने वाले राजा का अस्तित्व माना जाता है, वैसे ही देवों का अस्तित्व भी मानना चाहिए, क्योंकि वे भी किसी को वैभव प्रदान करते हैं तथा किसी के वैभव का नाश करते हैं। [१८७०]

मौर्यपुत्र—चन्द्र-विमान, सूर्य-विमान आदि निवास-स्थान शून्य नगर के सदृश दिखाई देते हैं। उनमें निवास करने वाला कोई भी नहीं है। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर्य-चन्द्र का प्रत्यक्ष होने से देवों का भी प्रत्यक्ष हो गया ?

भगवान्—यदि तुम सूर्य व चन्द्र को आलय(स्थान) मानते हो तो उसमें रहने वाला कोई होना ही चाहिए, अन्यथा उसे आलय नहीं कहा जा सकता। जैसे

वसन्तपुर के आलयों में देवदत्तादि रहने हैं, इसीलिए उन्हें आलय कहा जाता है; वैसे ही सूर्य-चन्द्र भी यदि आलय हों तो उनमें निवास करने वाले भी होने चाहिए। जो वहाँ रहते हैं, वही देव कहलाते हैं।

मौर्यपुत्र—आलय होने से उनमें देवदत्त जैसे मनुष्य रहते होंगे। आप यह कैसे कहते हैं कि वे देव हैं ?

भगवान्—तुम स्वयं प्रत्यक्ष देखते हो कि इस देवदत्त के आलय की अपेक्षा वे आलय विशिष्ट हैं। अतः उनमें निवास करने वाले भी देवदत्त की अपेक्षा विशिष्ट होने चाहिए। अतः उन्हें देव मानना चाहिए।

मौर्यपुत्र—आप ने यह नियम बनाया है कि वे आलय हैं, अतः उनमें रहने वाला कोई न कोई होना चाहिए, किन्तु यह नियम अयुक्त है। कारण यह है कि शून्य घर आलय कहलाते हैं, किन्तु उनमें रहने वाला कोई नहीं होता।

भगवान्—कहने का भाव यह है कि जो आलय होता है वह सर्वदा शून्य नहीं हो सकता। उसमें कभी न कभी कोई रहना ही है। अतः चन्द्रादि में निवास करने वाले देवों की सिद्धि होती है। [१८७१]

मौर्यपुत्र—आप जिन्हें आलय कहते हैं वे वस्तुतः आलय हैं या नहीं, अभी इसी बात का निर्णय नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में यह कहना ही निर्मूल है कि वे निवास-स्थान हैं, अतः उनमें रहने वाले होने चाहिए। सम्भव है कि जिसे आप सूर्य कहते हैं वह एक अग्नि का गोला ही हो और जिसे चन्द्र कहते हैं वह स्वभावतः स्वच्छ जल ही हो। यह भी सम्भव है कि वे ज्योतिष्क विमान प्रकाशमान रत्नों के गोले ही हों।

भगवान्—वे देवों के रहने के ही विमान हैं, क्योंकि वे विद्याधरों के विमानों के समान रत्न-निर्मित हैं तथा आकाश में भी गमन करते हैं। बादल तथा वायु भी आकाश में गमन करते हैं, फिर भी उन्हें विमान नहीं कहा जा सकता; कारण यह है कि वे रत्न-निर्मित नहीं हैं। [१८७२]

मौर्यपुत्र—सूर्य-चन्द्र-विमानों को मायावी की माया क्यों न माना जाए ?

भगवान्—वस्तुतः ये मायिक नहीं हैं। इन्हें मायिक मानें, तो भी इस माया को करने वाले देव तो मानने ही पड़ेंगे। मायावी के बिना माया कैसे सम्भव है ? मनुष्य ऐसी विक्रिया नहीं कर सकते, अतः विवश होकर देव ही मानने पड़ते हैं। अपि च, सूर्य-चन्द्र-विमानों को मायिक कहना भी अयुक्त है। कारण यह है कि माया तो क्षण पश्चात् नष्ट हो जाती है, किन्तु उक्त विमान सदा सत्र द्वारा उपलब्ध होने के कारण शाश्वत हैं; जैसे चम्पा अथवा पाटलिपुत्र सत्य है, वैसे ये भी सत्य हैं। [१८७३]

पुनश्च, इस लोक में जो प्रकृष्ट पाप करते हैं, उनके लिए उस पाप के फल-भोग के निमित्त परलोक में नारकों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। इसी

प्रकार इस लोक में प्रकृष्ट पुण्य करने वालों के फल-भोग के लिए अन्यत्र देवों का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए ।

मौर्यपुत्र—इसी संसार में ही अपने प्रकृष्ट पाप का फल भोगने वाले अत्यन्त दुःखी मनुष्य तथा तिर्यच हैं तथा अपने प्रकृष्ट पुण्य का फल भोगने वाले अति सुखी मनुष्य भी हैं । अगर हम यह बात मान लें तो अष्ट नारक तथा देवों को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रहती ।

भगवान्— इस संसार में दुःखी मनुष्यों व तिर्यचों तथा सुखी मनुष्यों के होने पर भी नारक तथा देव-योनि को पृथक् मानने का कारण यह है कि प्रकृष्ट पाप का फल केवल दुःख ही होना चाहिए तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही, इस अष्ट संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो मात्र दुःखी हो और जिसे सुख का कुछ भी अंश प्राप्त न हो । ऐसा भी कोई प्राणी नहीं है जो मात्र सुखी हो और जिसे लेश मात्र भी दुःख प्राप्त न हो । मनुष्य कितना भी सुखी क्यों न हो, फिर भी रोग, जरा, इष्ट-विद्योग आदि से थोड़ा दुःख होता ही है । अतः कोई ऐसी योनि भी होनी चाहिए जहाँ प्रकृष्ट पाप का फल केवल दुःख ही हो तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही हो । ऐसी योनियाँ क्रमशः नारक व देव हैं । अतः उनका पृथक् अस्तित्व मानना चाहिए । [१८७४]

मौर्यपुत्र—किन्तु आप के कथनानुसार यदि देव हैं तो वे स्वैरविहारी होते हुए भी मनुष्य लोक में क्यों नहीं आते ?

देव इस लोक में क्यों नहीं आते ?

भगवान्—वे यहाँ आते ही नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है । कारण यह है कि तुम उन्हें समवसरण में बैठे देख रहे हो । हाँ, सामान्यतः वे नहीं आते, यह बात सत्य है, किन्तु इसका कारण देवों का अभाव नहीं है । वास्तविक कारण यह है कि वे स्वर्ग में दिव्य पदार्थों में आसक्त हो जाते हैं, वहाँ के विषय-भोग में लिप्त हो जाते हैं । वहाँ का काम समाप्त नहीं होता । उनके यहाँ आगमन का विशेष प्रयोजन भी नहीं है और इस लोक की दुर्गन्ध के कारण भी वे यहाँ नहीं आते । [१८७२]

वे यहाँ कैसे आएँ ?

ये सभी उनके न आने के कारण हैं तथापि वे किसी समय इस लोक में आते भी हैं । तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा, केवल, निर्वाण इन सब महोत्सवों के प्रसंग पर वे इस लोक में आते हैं । उन में कुछ इन्द्रादि स्वयं भक्ति-पूर्वक आते हैं, कुछ उनका अनुसरण करते हुए आते हैं, कुछ अपने संशय के निवारणार्थ आते हैं । इनके अतिरिक्त भी उनके यहाँ आगमन के कारण हैं—जैसे कि पूर्व-भव के पुत्र-मित्रादि का राग, मित्रादि को प्रतिबोध देने के लिए पूर्व संकेत का अस्तित्व, तपस्या गुण के

प्रति आकर्षण, पूर्वभव के वैरी को पीड़ा देना, मित्र का उपकार करना तथा काम-क्रीड़ा । कभी-कभी किसी साधु की परीक्षा के निमित्त भी वे इस लोक में आते हैं । [१८७६-७७]

मौर्यपुत्र—देवों की सिद्धि के लिए क्या और भी कोई प्रमाण है ?

देव-साधक ग्रन्थ अनुमान

भगवान्—हाँ, अनुमान प्रमाण हैं । वे ये हैं—देवों के अस्तित्व में श्रद्धा रखनी चाहिए, क्योंकि (१) जातिस्मरणज्ञानी आप्त पुरुष अपने पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त कर ये बताते हैं कि वे देव थे, (२) कुछ तपस्वियों को देव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, (३) कुछ व्यक्ति विद्या, मन्त्र, उपयाचन द्वारा देवों से अपने कार्य की सिद्धि करवाते हैं, (४) कुछ मनुष्यों में ग्रह-विकार अर्थात् भूत-पिशाच-कृत विक्रिया दिखाई देती है (५) तप, दानादि क्रिया द्वारा उपाजित प्रकृष्ट पुण्य का फल होना ही चाहिए और (६) देव यह एक अभिधान है । अतः इन सब हेतुओं से देवों की सिद्धि होती है । फिर सभी शास्त्रों में देवों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । इस कारण भी उनके विषय में शंका नहीं करनी चाहिए ।

मौर्यपुत्र—आपने कहा है कि ग्रह-विकार के कारण देवों का अस्तित्व मानना चाहिए, किन्तु यह कैसे ज्ञात होगा कि मनुष्य शरीर की अमुक क्रिया ग्रह-विकार है ?

ग्रह-विकार की सिद्धि

भगवान्—जैसे यन्त्र-पुरुष में चलने की शक्ति नहीं है, किन्तु यदि उसमें कोई पुरुष प्रविष्ट हो तो यन्त्र में गति आ जाती है, वैसे ही शरीर में अमुक कार्य करने की शक्ति का अभाव होने पर भी शरीर वह काम करता दिखाई दे तो उसमें शरीराधिष्ठाता जीव से भिन्न किसी अदृश्य जीव का अधिष्ठान मानना पड़ेगा । ऐसा अधिष्ठाता देव है । उसी के कारण मनुष्य अपने शरीर से अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर काम करता है । [१८७८-७९]

मौर्यपुत्र—देवत्व की सिद्धि के लिए आपने एक हेतु यह दिया है कि देव एक अभिधान है । कृपया इसका स्पष्टीकरण करें ।

देव पद की सार्थकता

भगवान्—देव एक सार्थक पद है उसका कोई अर्थ होना चाहिए, क्योंकि वह व्युत्पत्ति वाला शुद्ध पद है; जैसे कि घट ।

मौर्यपुत्र—देव पद का अर्थ मनुष्य मान लें, जैसे कि गुण-सम्पन्न गणधरादि तथा ऋद्धि-सम्पन्न चक्रवर्ती आदि । ये सब ससार में देव कहलाते हैं, फिर अदृष्ट देव की कल्पना क्यों की जाए ?

भगवान्—गणधर, चक्रवर्ती आदि को तो उपचार से देव कहा जाता है । जैसे यदि कोई मुख्य सिंह न हो तो मनुष्य को भी उपचार से सिंह नहीं कह सकते, वैसे ही यदि देव न हों तो चक्रवर्ती आदि को उपचार से भी देव नहीं कहा जा सकता । अतः देव शब्द का अर्थ मनुष्य से भिन्न रूप देव मानना चाहिए । [१८८०-८१]

मौर्यपुत्र—युक्ति से देवों की सिद्धि होने पर भी वेद में परस्पर विरोधी कथन क्यों हैं ?

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—वेद वाक्यों का यथार्थ अर्थ जान कर तुम्हें विरोध के स्थान में संगति ज्ञात होगी । वेदों को यदि देवों का अस्तित्व मान्य न हो तो वेद में अनेक स्थलों पर प्रतिपादित अग्निहोत्रादि का स्वर्ग रूप फल अयुक्त सिद्ध होगा^१ । यदि देवों का ही अस्तित्व न हो तो स्वर्ग किसे मिलेगा ? अतः मानना पड़ेगा कि वेदों को देवों का अस्तित्व मान्य है ।

अपि च, यह लोक-मान्यता है कि दानादि का फल भी स्वर्ग में मिलता है । देवों के अभाव में यह मान्यता भी निराधार हो जाती है । तुम यह बात तो पहले ही मान चुके हो कि 'स एष यज्ञायुधो' इत्यादि वेद-वाक्य स्पष्टतः देवों की सत्ता के द्योतक हैं ।

मौर्यपुत्र—यह सब तो ठीक है, किन्तु 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्' इत्यादि वाक्य में देवों को मायोपम क्यों कहा है ?

भगवान्—इस वाक्य का तात्पर्य देवों का अभाव बताना नहीं है । इसका भाव तो यह है कि स्वयं देव भी अनित्य हैं । ऐसी अवस्था में अन्य सिद्धि तो अत्यन्त निःसार तथा अनित्य हो, इसमें आश्चर्य नहीं । इसी अर्थ को सन्मुख रखकर ही इन्द्रादि देवों को मायोपम या मायिक कहा है । ऐसा न हो तो देवों के अस्तित्व द्योतक वाक्य तथा श्रुति मन्त्र के पदों से देवों का आवाहन आदि असंगत हो जाते हैं । [१८८२]

1. जैसे कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—स्वर्ग-इच्छुक अग्निहोत्र करे ।

उक्थ-षोडशि आदि ऋतु¹ से 'यम, सोम, सूर्य तथा सुरगुरु के स्वाराज्य पर विजय प्राप्त होती है'² यह बात बताने वाले वाक्यों में देव का अस्तित्व प्रतिपादित ही है। देवों के अभाव में ये सब वाक्य व्यर्थ हो जाते हैं।

अपि च, यदि इन्द्रादि देव न हों तो 'इन्द्र आगच्छ मेधातिथे मेषवृषण' आदि वाक्यों द्वारा इन्द्रादि का आवाहन निरर्थक सिद्ध होता है। अतः वेद-शास्त्र तथा युक्ति दोनों के आधार से तुम्हें देवों की सत्ता माननी चाहिए। [१८८३]

इस प्रकार जरा-मरण से रहित भगवान् ने जब मौर्यपुत्र के संशय का निवारण किया, तब उसने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ली। [१८८४]

1. यूप सहित यज्ञ को ऋतु कहते हैं किन्तु जिस में यूप न हो तथा दानादि क्रियाएँ हों, वह यज्ञ कहलाता है।
2. यम-सोम-सूर्य-सुरगुरु-स्वाराज्यानि जयति।

आठवें गणधर अकम्पित

नारक-चर्चा

इन सबको दीक्षित हुए जान कर अकम्पित ने भी विचार किया कि मैं भी भगवान् के पास जाऊँ, वन्दना करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह निश्चय कर वह भगवान् के समीप आ पहुँचा। [१८८५]

नारक विषयक सन्देह

जाति-जरा-मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी थे। उन्होंने उसे 'अकम्पित गौतम!' कह कर सम्बोधित किया [१८८६] और कहने लगे—तुम्हारे मन में यह संशय है कि नारक हैं या नहीं? इसका कारण यह है कि "नारको वै एष जायते यः शूद्रान्ममश्नाति"^१ इत्यादि वेद-वाक्य सुन कर तुम्हें नारकों की सत्ता का ज्ञान होता है, किन्तु 'न ह वै प्रेत्य नारकाः'^२ इत्यादि वाक्यों से नारकों का अभाव सूचित होता है। अतः वेद के ऐसे परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्य सुन कर तुम्हें संशय होता है कि नारक होंगे या नहीं? किन्तु तुम इन वेद-वाक्यों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं जानते इसीलिए सन्देह करते हो। मैं तुम्हें इनका यथार्थ अर्थ बताऊँगा जिससे तुम्हारा संशय दूर हो जाएगा। [१८८७]

तुम युक्ति से भी नारकों के अभाव का समर्थन करते हो और कहते हो कि ये चन्द्र, सूर्य तथा अन्य देव तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं और जो देव प्रत्यक्ष नहीं हैं उनकी सिद्धि अनुमान से हो सकती है; जैसे कि विद्यामन्त्र की साधना द्वारा फल-सिद्धि होने के कारण अष्ट देवों का अस्तित्व मानना चाहिए। किन्तु 'नारक' यह तो केवल शब्द ही सुनाई देता है। इस शब्द का अर्थ न तो प्रत्यक्ष है और न ही किसी अनुमान से इसकी सिद्धि होती है। इस प्रकार प्रमाण से अनुपलब्ध नारकों का मनुष्य, तिर्यच, देव से भिन्न ज्ञानीय जीव रूप में अस्तित्व क्यों माना जाए? [१८८८-८९]

अकम्पित—आपने मेरे संशय का कथन ठीक-ठीक कर दिया है। अब आप सर्व प्रथम यह बताएँ कि नारकों के अभाव की सिद्धि का समर्थन करने वाली मेरी युक्ति क्यों अयुक्त है?

1. जो ब्राह्मण शूद्र का अन्न खाता है, वह नारक बनता है।
2. जीव मर कर नारक नहीं होता। प्रयत्न यह अर्थ भी हो सकता है कि परलोक में नारक नहीं है।

संशय निवारण—नारक सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष हैं

तुम्हारी यह मान्यता असिद्ध है कि प्रत्यक्ष न होने के कारण नारकों का अभाव है। कारण यह है कि मैं जीवादि पदार्थों के समान नारकों को भी केवलज्ञान द्वारा साक्षात् देखता हूँ; अतः तुम्हें जीवादि पदार्थों के समान नारकों की सत्ता भी स्वीकार करनी चाहिए।

अकम्पित—किन्तु मैं तो नारकों को देखता नहीं, अतः मैं उनकी सत्ता कैसे मानूँ ?

किसी को भी प्रत्यक्ष हो, वह प्रत्यक्ष हो है

भगवान्—तो क्या स्वप्रत्यक्ष ही केवल एक प्रत्यक्ष है ? यह नहीं हो सकता। संसार में अन्य आप्त पुरुष के प्रत्यक्ष को भी स्वप्रत्यक्ष के तुल्य महत्व दिया जाता है। सिंह, शरभ^१, हंस का प्रत्यक्ष दर्शन सब को नहीं होता, फिर भी कोई उन्हें अप्रत्यक्ष नहीं कहता। ये सभी पदार्थ प्रत्यक्ष माने जाते हैं, अपि च, तुम स्वयं भी सभी देश, काल, ग्राम, नगर, नदी, समुद्र को साक्षात् नहीं देखते, तथापि वे सब किसी अन्य को प्रत्यक्ष हैं, अतः तुम भी उन्हें प्रत्यक्ष मानते हो। इसी प्रकार नारक मुझे प्रत्यक्ष हैं, तुम उन्हें अप्रत्यक्ष कैसे कहते हो ? नारकों को प्रत्यक्ष हो कहना चाहिए। [१८६०-६१]

अकम्पित—किन्तु चर्म-चक्षुओं से तो इस लोक में किसी को भी नारक प्रत्यक्ष नहीं होते, फिर उन्हें प्रत्यक्ष कैसे कहा जाए ?

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है

भगवान्—तुम्हारी भूल का अब पता चल गया है। क्या इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही केवल प्रत्यक्ष है ? क्या इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है ? वस्तुतः जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसे तुम प्रत्यक्ष समझ रहे हो; और जो प्रत्यक्ष है, उसे तुम प्रत्यक्ष नहीं मानते, यह तुम्हारा महान् भ्रम है। इसी भ्रम के कारण तुम नारकों को प्रत्यक्ष मानने के लिए तैयार नहीं हो। किन्तु हे अकम्पित ! इन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल उपचार से प्रत्यक्ष कहलाता है। अतीन्द्रिय ज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह मात्र आत्मा की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है। इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है, तदपि उसे उपचार से इसलिए प्रत्यक्ष कहते हैं कि जैसे बाह्य लिंग-रूप धूम द्वारा बाह्य अग्नि का ज्ञान अनुमान-जन्य होने से परोक्ष है वैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय में नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धूम जैसी बाह्य वस्तु के ज्ञान की उसमें अपेक्षा नहीं रहती; इसीलिए उसे

1. एक प्रकार का प्राणी जिसके आठ पैर माने जाते हैं। वह बरफ वाले प्रदेश में रहता है, ऐसी लोक-मान्यता है। इस शब्द के ये अर्थ भी प्रसिद्ध हैं—ऊँट, हाथी का बच्चा, तितली, टिट्टी आदि।

औपचारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, किन्तु वस्तुतः इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष ही है। कारण यह है कि जैसे अनुमान में अग्नि का ज्ञान साक्षात् नहीं होता प्रत्युत् धूम द्वारा होता है, वैसे ही प्रस्तुत में अक्ष अर्थात् आत्मा को वस्तु का साक्षात् ज्ञान नहीं होता किन्तु आत्मा से पृथक् ऐसी इन्द्रियों द्वारा बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है; इसलिए अनुमान के समान वस्तुतः वह परोक्ष ही है। इन्द्रियातीत ज्ञान ही वास्तविक प्रत्यक्ष है। ऐसे ज्ञान द्वारा मुझे नारक प्रत्यक्ष हैं, अतः तुम्हें उन्हें प्रत्यक्ष मानना चाहिए। [१८६२]

उपलब्धि-कर्ता इन्द्रियाँ नहीं, आत्मा है

अकम्पित—अक्ष अर्थात् आत्मा इन्द्रियों द्वारा पदार्थ को उपलब्ध करती है, इसलिए आप इन्द्रिय ज्ञान को परोक्ष कहते हैं; किन्तु मैं तो यह कहता हूँ कि आत्मा को उपलब्धि-कर्ता क्यों माना जाए? अक्ष अर्थात् इन्द्रियाँ ही उपलब्धि-कर्ता हैं, अतः यह क्यों न माना जाए कि इन्द्रिय ज्ञान ही प्रत्यक्ष है?

भगवान्—इन्द्रियों को उपलब्धि-कर्ता नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ घटादि पदार्थ के समान अमूर्त और अचेतन हैं। जब वे उपलब्धि-कर्ता ही सिद्ध नहीं होतीं, तो तज्जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे कह सकते हैं? इन्द्रियाँ तो उपलब्धि के द्वार हैं तथा जीव उपलब्धि का कर्ता है। जैसे भरोखा स्वयं कुछ नहीं देख सकता किन्तु उसके द्वारा देवदत्त देखता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी द्वार या करण हैं तथा उनके द्वारा कर्ता जीव उपलब्धि करता है। अतः इन्द्रियाँ उपलब्धि-कर्ता नहीं हैं और तज्जन्य ज्ञान भी वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है। [१८६३]

अकम्पित—इन्द्रियों से भिन्न आत्मा क्यों मानी जाए? इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, इस बात को क्या न स्वोकार किया जाए?

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है

भगवान्—इन्द्रिय-व्यापार समाप्त हो जाने के बाद भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण होता है तथा इन्द्रिय-व्यापार की उपस्थिति में भी अन्य-मनस्कता होने पर उपलब्धि नहीं होती, अतः आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न ही मानना चाहिए और इन्द्रियों को उपलब्धि का केवल साधन ही मानना चाहिए। जैसे घर के पाँच भरोखों द्वारा देखने वाला देवदत्त पाँच भरोखों से भिन्न है, वैसे ही पाँच इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करने वाला ज्ञाता उनसे भिन्न ही है। [१८६४]

अकम्पित—यदि आत्मा इन्द्रियों की सहायता न ले तो वह बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त कर सकती है, अतः अतोन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा इन्द्रिय ज्ञान ही अधिक ज्ञान सकता है।

अनीन्द्रिय ज्ञान का विषय समस्त है

भगवान्—इन्द्रियाँ जिस आत्मा को सहायक नहीं हैं अर्थात् जो केवलज्ञानी आत्मनः है वह अत्यधिक तो क्या, परन्तु सब कुछ जान सकता है। जैसे घर में बैठ कर देवदत्त भण्डों द्वारा जितने पदार्थ देखता है, उनसे कुछ अधिक खुले आकाश में रह कर जान सकता है, वैसे ही जीव के जब ज्ञान-दर्शन के समस्त आवरण दूर हो जाते हैं तब वह इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक जान सकता है, देख सकता है। यही नहीं, अपितु कोई ऐसी वस्तु शेष नहीं रहती जो उसे ज्ञात न हो। [१८६५]

अकम्पित—संसार में सभी लोग इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, आप उसे परोक्ष क्यों मानते हैं ?

इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष क्यों ?

भगवान्—वस्तु में अनन्त धर्म हैं, किन्तु इन्द्रिय द्वारा किसी एक रूपादि धर्म का ही ज्ञान होता है तथा उस ज्ञान से रूपादि किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है। अतः वह अनुमान ज्ञान के समान परोक्ष ही है। जैसे अनुमान ज्ञान द्वारा किसी एक कृतकत्वादि धर्म से किसी एक अनित्यत्वादि धर्म-विशिष्ट घट की सिद्धि होती है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान से भी इन्द्रिय द्वारा किसी एक धर्म के ग्रहण से उस धर्म से विशिष्ट वस्तु की सिद्धि होती है। [१८६६]

पुनश्च, जैसे पूर्वोपलब्ध सम्बन्ध के स्मरण के सहयोग से धूमज्ञान द्वारा होने वाला अग्नि का ज्ञान परोक्ष है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। कारण यह है कि उसमें भी पूर्वगृहीत संकेत-स्मरण आवश्यक है। अभ्यास आदि के कारण यह संकेत-स्मरण प्रायः शोघ्न होता है, इसलिए हमारे ध्यान में नहीं आता। फिर भी वह अनिवार्य है, अन्यथा जिस मनुष्य ने संकेत ग्रहण न किया हो, उसे भी घड़ा देख कर यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि यह घड़ा है। ऐसा नहीं होता, अतः संकेत-स्मरण आवश्यक है। इस प्रकार अनुमान तथा इन्द्रिय ज्ञान दोनों में स्मरण समान रूप से सहायक है, इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं।

अपि च, जिस ज्ञान में आत्मा को निमित्त की अपेक्षा हो, वह परोक्ष हो कहलाता है। जैसे बह्निज्ञान में धूमज्ञान के निमित्त रूप होने से वह ज्ञान अनुमानात्मक परोक्ष है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान में भी अक्ष अर्थात् आत्मा को इन्द्रिय की अपेक्षा होने से इन्द्रिय निमित्त है, इसलिए इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। जो प्रत्यक्ष होता है वह केवलज्ञान के समान किसी भी निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता, वह साक्षात् ज्ञेय को जानता है। [१८७७]

इस लिए केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा अबधिज्ञान के अतिरिक्त शेष सभी ज्ञान अनुमान के समान परोक्ष ही हैं। ये तीन ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष होने के

कारण प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष से नारकों की सिद्धि होती है, अतः उनका सद्भाव मानना चाहिए। वे अनुमान से भी सिद्ध होते हैं। [१८६८]

अकम्पित—कौन से अनुमान से नारकों की सिद्धि होती है ?

अनुमान से नारक-सिद्धि

भगवान्—प्रकृष्ट पाप फल का भोक्ता कोई न कोई होना ही चाहिए, क्योंकि वह भी जघन्य-मध्यम कर्मफल के समान कर्मफल है। जघन्य-मध्यम कर्मफल के भोक्ता तिर्यच तथा मनुष्य हैं। इसी प्रकार प्रकृष्ट पाप फल के जो भोक्ता हैं, उन्हें नारक मानना चाहिए।

अकम्पित—जो तिर्यच, मनुष्य अत्यन्त दुःखी हों, उन्हें ही प्रकृष्ट पाप फल के भोक्ता मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ?

भगवान्—देवों में जैसा सुख का प्रकर्ष दृग्गोचर होता है, वैसा दुःख का प्रकर्ष तिर्यच-मनुष्यों में दिखाई नहीं देता, अतः उन्हें नारक नहीं कह सकते। ऐसा एक भी तिर्यच या मनुष्य नहीं जो केवल दुःखी ही हो। अतः प्रकृष्ट पाप-कर्म-फल के भोक्ता रूप में तिर्यच-मनुष्यों से भिन्न नारक मानने चाहिए। कहा भी है—“नारकों में तीव्र परिणाम वाला सतत दुःख लगा ही रहता है। तिर्यचों में उष्ण ताप, भय, भूख, तृषा इन सबका दुःख होता है तथा अल्प सुख भी होता है।”

“मनुष्य को नाना प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक सुख और दुःख होते हैं, किन्तु देवों को तो शारीरिक सुख ही होता है, अल्प मात्रा में ही मानसिक दुःख होता है।” [१८६६-१९००]

सर्वज्ञ के वचन से सिद्धि

अपि च, हे अकम्पित ! मेरे दूसरे वचनों के समान नारक का अस्तित्व बताने वाला वचन भी सत्य ही है, क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ। अतः तुम्हें स्वेष्ट जैमिनी आदि अन्य सर्वज्ञ के वचन के समान मेरा वचन भी प्रमाण मानना चाहिए। [१९०१]

अकम्पित—सर्वज्ञ होते हुए भी आप झूठ क्यों नहीं बोलते ?

1. सततमनुबद्धमुक्तं दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् ।
तिर्यक्षूष्णभयक्षुत्तृडादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥
सुखदुःखे मनुजानां मनःशरीराश्रये बहुविकल्पे ।
सुखमेव तु देवानामल्पं दुःखं तु मनसिभवम् ॥
यह उद्धरण आचारांग टीका में भी है पृ० 25.

भगवान्—मेरा वचन सत्यरूप तथा अहिंसक ही है, क्योंकि असत्य और हिंसक वचन के कारण रूप, राग, द्वेष, भय, मोह का मुझ में अभाव है। अतः ज्ञाता तथा मध्यस्थ पुरुष के वचन के सदृश तुम्हें मेरा वचन सत्य और अहिंसक ही मानना चाहिए। [१६०२]

अकम्पित—किन्तु आप सर्वज्ञ हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

भगवान्—तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि मैं सभी संशयों का निवारण करता हूँ। क्या सर्वज्ञ के बिना ऐसा निराकरण कोई कर सकता है ? अतः तुम्हें मुझे सर्वज्ञ मानना चाहिए। पुनश्च, भय, राग, द्वेष के कारण मनुष्य अज्ञानी बनता है। मुझ में इनमें से कोई भी दोष नहीं है। तुम उन का कोई भी बाह्य चिह्न मेरे में नहीं देख रहे हो। अतः भयादि दोष से रहित होने के कारण मुझे सर्वज्ञ मान कर तुम्हें मेरा वचन प्रमाण मानना चाहिए।

अकम्पित—युक्ति तथा आपके वचनों से नारकों का सद्भाव मानने के लिए मैं तैयार हूँ, किन्तु पहले कहे गए वेद-वाक्य के विषय में आपका क्या विचार है ? 'न ह वै प्रेत्य नारकाः' इस वाक्य में नारकों का स्पष्ट रूप से अभाव बताया है।

वेद-वाक्यों का समावय

भगवान्—इस वाक्य का तात्पर्य नारकों का अभाव नहीं है। इसका भाव यह है कि परलोक में मेरु आदि के समान नारक शाश्वत नहीं हैं, किन्तु जो यहाँ प्रकृष्ट पाप करते हैं, वे मर कर नारक बनते हैं। अतः ऐसा पाप नहीं करना चाहिए; जिससे नारक बनना पड़े। [१६०३]

इस प्रकार जब जरा-मरण से रहित भगवान् ने अकम्पित के संशय का निवारण किया तब उसने अपने ३५० शिष्यों के साथ दीक्षा अंगीकार की। [१६०४]

नवम गणधर अचलभ्राता पुण्य-पाप-चर्चा

उन सब को दीक्षित हुए सुन कर अचलभ्राता ने भी विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ । तत्पश्चात् वह भगवान् के पास आ पहुँचा । [१९०५]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'अचलभ्राता हारित !' इस नाम-गोत्र से बुलाया । [१९०६]

पुण्य-पाप के विषय में सन्देह

और भगवान् ने उसे कहा—'पुरुष एवेदं ग्नि सर्वम्' इत्यादि वाक्यानुसार तुम्हें यह प्रतीत होता है कि इस संसार में पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है, अतः पुण्य-पाप जैसी वस्तु को भी मानने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु तुम देखते हो कि अधिकतर लोग पुण्य-पाप का सद्भाव मानते हैं । अतः तुम्हें सन्देह है कि पुण्य-पाप का सद्भाव है या नहीं ? किन्तु तुम उक्त वेद-वाक्य का यथार्थ अर्थ नहीं जानते इसीलिए ऐसा संशय करते हो । मैं तुम्हें इसका यथार्थ अर्थ बताऊँगा, उस से तुम्हारा संशय दूर हो जाएगा । [१९०७]

अपि च, पुण्य-पाप के सम्बन्ध में तुम्हारे सन्मुख भिन्न-भिन्न मत उपस्थित हैं । इसलिए भी तुम यह निर्णय नहीं कर सकते कि सच्चा पक्ष कौनसा होगा ? तुम्हारा मन अस्थिर रहता है । तुम्हारे समक्ष पुण्य-पाप के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत उपस्थित हैं—

१. केवल पुण्य ही है, पाप नहीं ।
२. केवल पाप ही है, पुण्य नहीं ।
३. पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है । जैसे मेचक मणि में विविध रंग होने पर भी वह एक ही साधारण वस्तु है, वैसे ही सुख तथा दुःख रूप फल देने वाली कोई एक ही वस्तु है ।
४. सुख रूप फल देने वाला पुण्य तथा पाप रूप फल देने वाला पाप ये दोनों स्वतन्त्र हैं ।
५. कर्म जैसी अर्थान् पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, यह समस्त भव-प्रपञ्च स्वभाव से ही होता है ।

इन पाँचों मतों को मानने वाले अपने-अपने मत के समर्थन के लिए निम्न युक्तियाँ देते हैं—

पुण्यवाद

१. केवल पुण्य ही है, पाप का सर्वथा अभाव है। पुण्य का क्रमशः उत्कर्ष होता है, वह शुभ है। अर्थात् जैसे-जैसे पुण्य थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है वैसे-वैसे क्रमशः सुख की भी वृद्धि होती है। अन्त में पुण्य का परम उत्कर्ष होने पर स्वर्ग का उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। किन्तु यदि पुण्य की क्रमशः हानि होती जाए तो सुख की भी क्रमिक हानि होती है। अर्थात् उसी परिमाण में दुःख बढ़ता जाता है और निदान जब पुण्य न्यूनतम रह जाता है तब नरक में उत्कृष्ट दुःख मिलता है। किन्तु पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार केवल पुण्य को स्वीकार करने से सुख-दुःख दोनों घटित हो जाते हैं तो फिर पाप को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? जैसे पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य-वृद्धि होती है, वैसे ही पुण्य-वृद्धि से सुख-वृद्धि होती है; जैसे पथ्याहार के कम होने पर आरोग्य की हानि होती है, अर्थात् रोग बढ़ता है, वैसे ही पुण्य की हानि से दुःख बढ़ता है। सर्वथा पथ्याहार का त्याग करने पर मरण होता है और सर्वथा पुण्य का क्षय होने पर मोक्ष होता है। इस तरह केवल पुण्य से सुख-दुःख की उपपत्ति हो जाती है, अतः पाप को पृथक् क्यों माना जाए? [१६०५-६]

पापवाद

२. इसके विपरीत केवल पाप का अस्तित्व मानने वाले तथा पुण्य का निषेध करने वाले लोगों का कथन है कि जैसे अपथ्याहार की वृद्धि से रोग की वृद्धि होती है, वैसे ही पाप की वृद्धि से अधमता अथवा दुःख की वृद्धि होती है। जब पाप का परम प्रकर्ष होता है तब नारकों में उत्कृष्ट दुःख मिलता है। पुनश्च, जैसे अपथ्याहार को कम करने से आरोग्य-लाभ की वृद्धि होती है, वैसे ही पाप का अपकर्ष होने पर शुभ अथवा सुख की वृद्धि होती है और न्यूनतम पाप होने पर देवों का उत्कृष्ट सुख मिलता है। अपथ्याहार के सर्वथा त्याग से परम आरोग्य की प्राप्ति होती है तथा पाप के सर्वथा नाश से मोक्ष का लाभ होता है। इस प्रकार केवल पाप को मानने से सुख-दुःख की उपपत्ति हो जाती है, अतः पुण्य को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। [१६१०]

पुण्य-पाप दोनों संकीर्ण हैं

३. पुण्य या पाप ये दोनों ही स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु उभय साधारण एक ही वस्तु हैं। ऐसा मानने वालों का कथन है कि जैसे अनेक रंगों के सम्मिश्रण से एक साधारण संकीर्ण वर्ण की उत्पत्ति होती है, अथवा विविध वर्णयुक्त मेचक मणि एक ही है, अथवा सिंह और नर का रूप धारण करने वाला नरसिंह एक ही है, वैसे ही पाप और पुण्य की संज्ञा प्राप्त करने वाली एक ही साधारण वस्तु है। इस साधारण वस्तु में जब पुण्य की एक मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पुण्य कहते हैं। तथा जब पाप की एक मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पाप कहते हैं। अर्थात् पुण्यांश

का अपकर्ष होने पर उसे पाप कहते हैं और पापांश का अपकर्ष होने पर उसे पुण्य कहते हैं। [१९११]

पुण्य-पाप दोनों स्वतन्त्र हैं

४. इसके विपरीत कुछ लोग यह मानते हैं कि पुण्य व पाप दोनों स्वतन्त्र हैं। उनकी युक्ति यह है कि सुख व दुःख दोनों कार्य हैं, किन्तु इन दोनों का अनुभव एक साथ नहीं होता; अतः इनके कारण भिन्न-भिन्न होने चाहिए। सुख का कारण पुण्य है और दुःख का कारण पाप है।

स्वभाववाद

५. पुण्य-पाप सम्बन्धी उपर्युक्त चारों मान्यताओं को परस्पर विरुद्ध देख कर कुछ लोग मानते हैं कि पुण्य-पाप जैसे कोई पदार्थ इस संसार में नहीं हैं, समस्त भव-प्रपञ्च स्वभाव से ही होता है।

संशय-निवारण

इन पाँचों मतों को देख कर तुम्हारा मन दुविधा में है कि पाप-पुण्य को माना जाए या न माना जाए? मानना ही तो दोनों को स्वतन्त्र मानना अथवा केवल पाप या केवल पुण्य को मानना। किन्तु अचलभ्राता! इनमें चौथा पक्ष ही युक्ति-युक्त है—अर्थात् पाप व पुण्य दोनों स्वतन्त्र हैं। अन्य सभी पक्ष युक्ति-बाधक हैं।

अचलभ्राता—आप स्वभाववाद को क्यों अयुक्त मानते हैं, पहले यह बताएँ।

स्वभाववाद का निराकरण

भगवान्—संसार में सुख-दुःख की जो विचित्रता है वह स्वभाव से घटित नहीं हो सकती। स्वभाव^१ के विषय में मेरे तीन प्रश्न हैं—क्या स्वभाव वस्तु है? क्या स्वभाव निष्कारणता है? क्या स्वभाव वस्तु धर्म है? इनमें स्वभाव को वस्तु तो नहीं मान सकते, क्योंकि आकाश-कुसुम के समान वह अत्यन्त अनुपलब्ध है। [१९१२-१३]

अचलभ्राता—अत्यन्त^२ अनुपलब्ध होने पर भी उसके अस्तित्व में क्या बाधक है?

भगवान्—ऐसी स्थिति में अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी पुण्य-पाप रूप कर्म को ही क्यों न स्वीकार किया जाए? अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी जिन कारणों के आधार पर स्वभाव को माना जाए, उन्हीं के आधार पर कर्म की सत्ता भी मान लेनी चाहिए। [१९१४]

1. यह गाथा पहले भी आई है—1786। स्वभाववाद का निराकरण गाथा 1643 की व्याख्या में देखें।
2. यह गाथा भी पहले आई है—1787।

अथवा कर्म¹ का ही दूसरा नाम स्वभाव है, इसे मानने में क्या आपत्ति है ?

अपि च, स्वभाव से विविध प्रकार के प्रतिनियत आकार वाले शरीरादि कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वभाव एकरूप ही होता है; जैसे कुम्भकार प्रतिनियत आकार वाले घड़े की उत्पत्ति विविध उपकरणों के बिना नहीं कर सकता, वैसे ही विविध कर्मों के अभाव में नाना प्रकार के सुख-दुःख की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। स्वभाव के एकरूप होने के कारण उसे ऐसी उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता। [१६१५]

पुनश्च, यदि स्वभाव² वस्तु है तो वह मूर्त है या अमूर्त ? यदि वह मूर्त है तो केवल नाम का ही भेद है। मैं उसे पुण्य-पाप-रूप कर्म कहता हूँ तथा स्वभाववादी उसे स्वभाव कहता है। यदि स्वभाव-रूप वस्तु अमूर्त है तो वह आकाश के समान कुछ भी काम नहीं कर सकती। फिर देहादि अथवा सुख-दुःख-रूप कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? अथवा देहादि कार्य मूर्त है, अतः उसका कारण स्वभाव भी मूर्त होना चाहिए। यदि उसे मूर्त माना जाए तो स्वभाव और कर्म में, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, नाममात्र का भेद रह जाता है।

अचलभ्राता—स्वभाव³ का अर्थ निष्कारणता मानने में क्या दोष है ?

भगवान्—इसका अर्थ यह होगा कि कार्योंत्पत्ति का कोई भी कारण नहीं है। ऐसी स्थिति में घटादि के समान खर-शृंग की भी उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती ? किन्तु यह उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह है कि खर-शृंग का कोई भी कारण नहीं है। अतः निष्कारण उत्पत्ति मान्य नहीं हो सकती। इसलिए स्वभाव को निष्कारणता कहना अयुक्त है। [१६१६-१७]

अचलभ्राता—फिर स्वभाव को वस्तु-धर्म मानना चाहिए।

अनुमान से पुण्य-पाप कर्म की सिद्धि

भगवान्—स्वभाव को यदि वस्तु-धर्म माना जाए तो वह प्रस्तुत में जीव और कर्म का पुण्य एवं पाप-रूप परिणाम ही सिद्ध होगा।

अचलभ्राता—यह कैसे ?

1. गाथा 1788 के पूर्वार्ध में भी यही कथन है।
2. यहाँ उठाए गए प्रश्न पहले भी स्वभाव का वर्णन करते हुए आ चुके हैं, किन्तु उनका निराकरण कुछ अलग ढंग से किया था। (गाथा 1789-90) यहाँ के समान प्रश्न गाथा 1643 की व्याख्या में टीकाकार ने उठाए हैं तथा उनका उत्तर भी दिया है।
3. इस पक्ष का अन्य प्रकारेण निराकरण गाथा 1643 की व्याख्या में तथा 1791 में है।

भगवान्—कारणानुमान तथा कार्यानुमान द्वारा इस परिणाम की सिद्धि होती है। अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान करके तथा कार्य से कारण का अनुमान करके इस बात को सिद्ध किया जा सकता है। [१६१८]

अचलभ्राता—अनुमान-प्रयोग किस प्रकार का है ?

भगवान्—दानादि क्रिया तथा हिंसादि क्रिया के कारणरूप होने से इनका कोई कार्य होना चाहिए। यह कार्य कोई अन्य नहीं, परन्तु जीव और कर्म का पुण्य व पाप-रूप परिणाम है। इस प्रकार कारणानुमान से जैसे तुम कृषि-क्रिया का कार्य शालि, जौ, गेहूँ आदि मानते हो, उसी प्रकार दानादि क्रिया का पुण्य तथा हिंसादि क्रिया का पाप-रूप कार्य कारणानुमान से मानना चाहिए। कहा भी है—

“समान प्रयत्न का समान फल मिलता है, तथा असमान प्रयत्न का भी समान फल मिलता है। प्रयत्न करने पर भी फल नहीं मिलता तथा प्रयत्न के अभाव में भी फल मिल जाता है। अतः ज्ञात होता है कि प्रयत्न के फल का आधार केवल प्रयत्न ही नहीं है, किन्तु वह जीव के किमी धर्म पर आधारित है। वह धर्म ही कर्म है।”

कार्यानुमान का प्रयोग इस प्रकार है—देहादि का कोई कारण होना चाहिए, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे कि घटादि। देहादि का जो कारण है वह कर्म है। मैंने इस विषय की विशेष चर्चा अग्निभूति से की है। अतः उसके समान तुम्हें भी कर्म को स्वीकार करना चाहिए। [१६१९]

अचलभ्राता—देहादि के कारण माता-पितादि प्रत्यक्ष हैं तो फिर अदृष्ट कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है ?

पुण्य-पाप रूप अदृष्ट कर्म की सिद्धि

भगवान्—दृष्ट-कारण-रूप माता-पिता के समान होने पर भी एक पुत्र सुन्दर देह वाला होता है तथा दूसरा कुरूप। अतः दृष्ट-कारण माता-पिता से भिन्न रूप अदृष्ट कारण कर्म को भी मानना चाहिए। वह कर्म भी दो प्रकार का स्वीकार करना चाहिए पुण्य और पाप। शुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पुण्य कर्म का तथा अशुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पाप कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। शुभ-क्रिया-रूप कारण से शुभ कर्म पुण्य की निष्पत्ति होती है तथा अशुभ-क्रिया-रूप कारण से अशुभ कर्म पाप की निष्पत्ति होती है। इससे भी कर्म के पुण्य व पाप ये दो भेद स्वभाव से ही भिन्नजातीय सिद्ध होते हैं। कहा भी है—

1. समासु तुल्य विषमासु तुल्यं सतीष्वसञ्जाप्यसतीषु सच्च ।

फलं क्रियास्वियथ यन्निमित्तं तद्देहिनां सोऽस्ति नु कोऽपि धर्मः ॥

“दृष्ट हेतुओं के होने पर भी कार्य विशेष असम्भव हो तो कुम्भकार के यत्न के समान एक अन्य अदृष्ट हेतु का अनुमान करना पड़ता है और वह कर्ता का शुभ अथवा अशुभ कर्म है।”

मेरे कहने से भी अग्निभूति के समान तुम्हें शुभाशुभ कर्म स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ का वचन प्रमाणभूत होता है। [१६२०]

कर्म के पुण्य-पाप भेदों की सिद्धि

एक अन्य प्रकार से भी कर्म के पुण्य और पाप इन दो भेदों की सिद्धि हो सकती है। सुख और दुःख दोनों ही कार्य हैं, अतः दोनों के ही उनके अनुरूप कारण होने चाहिए। जैसे घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं तथा पट के अनुरूप कारण तन्तु हैं, वैसे ही सुख का अनुरूप कारण पुण्य कर्म तथा दुःख का अनुरूप कारण पाप कर्म है। इस प्रकार दोनों का पार्थक्य है। [१६२१]

अचलभ्राता—कार्य के अनुरूप कारण का नियम स्वीकार करने पर सुख-दुःख का कारण कर्म भी उनके अनुरूप होना चाहिए। सुख-दुःख आत्मा के परिणाम होने से अरूपी हैं। इसलिए यदि कर्म को अरूपी न मान कर रूपी मानेंगे तो कार्यानुरूप कारण का नियम बाधित हो जाएगा। अतः मानना पड़ेगा कि कारण कार्यानुरूप नहीं होता। [१६२२]

कर्म अमूर्त नहीं

भगवान्—जब मैं यह कहता हूँ कि कारण कार्यानुरूप होना चाहिए तब इसका अर्थ यह नहीं है कि कारण सर्वथा अनुरूप होता है। कारण कार्य के सर्वथा अनुरूप भी नहीं होता तथा उससे सर्वथा अननुरूप अर्थात् भिन्न भी नहीं होता। कार्य-कारण को सर्वथा अनुरूप मानने के दोनों से सभी धर्म एक-समान ही मानने पड़ेंगे, ऐसी स्थिति में दोनों में कोई भेद ही नहीं रहेगा। दोनों कारण ही बन जाएंगे, अथवा कार्य ही। यदि इन दोनों में सर्वथा भेद माना जाए तो कारण या कार्य में से एक को वस्तु तथा दूसरे को अवस्तु मानना पड़ेगा। दोनों वस्तुरूप नहीं हो सकेंगे, क्योंकि इस प्रकार दोनों का ऐकान्तिक भेद बाधित हो जाएगा। अतः कार्यकारण की सर्वथा अनुरूपता अथवा अननुरूपता न मान कर कुछ अंशों में समानता और कुछ अंशों में असमानता माननी चाहिए। इससे सुख-दुःख का कारण कर्म, सुख-दुःख की अमूर्तता के कारण अमूर्त सिद्ध नहीं हो सकेगा। [१६२३]

अचलभ्राता—आपके कहने का भावार्थ यह है कि संसार में सभी कुछ तुल्य और अतुल्य है। फिर इस कथन का क्या प्रयोजन है कि कारण कार्यानुरूप

1. इह दृष्टहेत्वसंभविकायविशेषात् कुलालयत्न इव ।

हेत्वन्तरमनुमेयं तत् कर्म शुभाशुभं कर्तुः ॥

होना चाहिए ? आप न कहें, तो भी यह बात समझ में आने वाली है । यदि संसार में कोई वस्तु ऐकान्तिक अतुल्य हो, तभी उसकी व्यावृत्ति के लिए कार्यान्तरूप कारण का विधान आवश्यक सिद्ध हो । किन्तु यह पक्ष तो किसी का है ही नहीं, फिर विशेषतः कार्यान्तरूप कारण सिद्ध करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

भगवान्—सौम्य ! कार्यान्तरूप कारण को सिद्ध करने का प्रयोजन यह है कि यद्यपि संसार में सभी कुछ तुल्यातुल्य है, तथापि कारण का ही एक विशेष-स्वपर्यायि कार्य है, इसलिए उसे इस दृष्टि से अनुरूप कहा गया है । कार्य के अतिरिक्त समस्त पदार्थ उसके अकार्य हैं—परपर्यायि हैं, इसलिए इस दृष्टि से उन सब को कारण से असमान (भिन्न) कहा गया है । तात्पर्य यह है कि कारण कार्य-वस्तुरूप में परिणत होता है किन्तु उससे भिन्न अन्य वस्तुरूप में परिणत नहीं होता । इसी बात के समर्थन के लिए ही यहाँ विशेषतः कार्यान्तरूप कारण का कथन किया गया है अर्थात् अन्य समस्त वस्तुओं के साथ कारण की इतर प्रकार से समानता होने पर भी पर-पर्यायि की दृष्टि से कार्य-भिन्न सभी पदार्थ कारण के अनुरूप हैं । इस बात का प्रतिपादन करना ही यहाँ इष्ट है ।

अचलभ्राता—प्रस्तुत में सुख और दुःख अपने कारण के स्वपर्यायि किस प्रकार हैं ?

भगवान्—जीव तथा पुण्य का संयोग ही सुख का कारण है । उस संयोग का ही स्वपर्यायि सुख है । जीव व पाप का संयोग दुःख का कारण है । उस संयोग का ही स्वपर्यायि दुःख है । जैसे सुख को शुभ, कल्याण, शिव आदि कह सकते हैं वैसे ही उसके कारण पुण्य के लिए भी यही शब्द प्रयुक्त किए जा सकते हैं । जैसे दुःख को अकल्याण, अशुभ, अशिव आदि संज्ञा दी जाती है, उसके कारण पाप-द्रव्य को भी इन शब्दों से प्रतिपादित किया जाता है । इसीलिए ही विशेषरूपेण सुख-दुःख के अनुरूप कारण के रूप में पुण्य पाप माने जाते हैं । [१६२४]

अचलभ्राता—क्या आपके कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे नीलादि पदार्थ मूर्त होने पर भी अमूर्त-रूप तत्प्रतिभासी ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वैसे मूर्त कर्म भी अमूर्त सुखादि को उत्पन्न करते हैं ?

भगवान्—हाँ ।

अचलभ्राता—तो क्या आप यह भी मानते हैं कि जैसे अन्नादि दृष्ट पदार्थ सुख के मूर्त कारण हैं वैसे कर्म भी मूर्त कारण है ?

भगवान्—हाँ । [१६२५]

अचलभ्राता—तो फिर मूर्त होते हुए भी कर्म दिखाई क्यों नहीं देता ? इसलिए दृष्ट-रूप मूर्त अन्नादि को ही अमूर्त सुख का कारण मानना चाहिए । अतएव अदृष्ट मूर्त कर्म को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है ।

अदृष्ट-रूप कर्म की सिद्धि

भगवान्—अन्नादि दृष्ट मूर्त साधन समान हों, तो भी उनका सुख-दुःख आदि फल समान नहीं होता । जिस अन्न से एक व्यक्ति को आरोग्य का लाभ होता है, उसी से दूसरा व्यक्ति व्याधिग्रस्त बनता है । इस प्रकार दृष्ट अन्न समान होने पर भी सुख-दुःखादि की जो विशेषता दिखाई देती है वह सकारण होनी चाहिए, अतः अदृष्ट कर्म को उसका कारण मानना पड़ता है । यदि सुख-दुःखादि की विशेषता निष्कारण मानी जाए तो वह आकाश के समान या तो सदा विद्यमान रहेगी अथवा खर-विषाण के समान कभी भी उत्पन्न न होगी । किन्तु यह विशेषता कादाचित्क है, अतः उसका कारण अदृष्ट मूर्त कर्म मानना ही चाहिए । [१६२६]

अचलभ्राता—किन्तु वह कर्म दृष्टिगोचर नहीं होता—अदृष्ट है । फिर उसे मूर्त क्यों माना जाए ? अमूर्त क्यों न मान लिया जाए ?

भगवान्—उसे मूर्त इसलिए माना गया है कि वह देहादि मूर्त वस्तु का निमित्त मात्र बन कर घट^१ के समान बलाघायक है । अथवा जैसे घट को तेलादि मूर्त वस्तु से बल प्राप्त होता है वैसे ही कर्म को भी विपाक प्रदान करने में माला, चन्दनादि मूर्त वस्तुओं से बल की प्राप्ति होने के कारण कर्म भी घट के समान मूर्त है । अथवा कर्म को इसलिए भी मूर्त मानना चाहिए कि उसका देहादिरूप कार्य मूर्त है । जैसे परमाणु का कार्य घटादि मूर्त है, अतः परमाणु भी मूर्त या रूपादि युक्त है, वैसे ही कर्म का कार्य शरीर भी मूर्त है, इसलिए कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए ।

अचलभ्राता—किन्तु इस विषय में मेरा पुनः यह प्रश्न है कि क्या कर्म के देहादि कार्य मूर्त हैं, इसलिए कर्म मूर्त है अथवा सुख-दुःखादि कार्य के अमूर्त होने से कर्म अमूर्त है ? अर्थात् यदि आप कार्य को मूर्तता या अमूर्तता के आधार पर कारण की मूर्तता या अमूर्तता मानते हैं तो कर्म के कार्य मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के हैं । अतः सहज ही प्रश्न होता है कि कर्म मूर्त है अथवा अमूर्त ? [१६२७-२८]

भगवान्—मेरे कथन का तात्पर्य यह तो नहीं है कि कार्य के मूर्त या अमूर्त होने पर उसके सभी कारण मूर्त या अमूर्त होने चाहिए । सुखादि अमूर्त कार्य का कारण केवल कर्म ही नहीं है, आत्मा भी उसका कारण है । दोनों में भेद यह है कि आत्मा समवायी कारण है तथा कर्म समवायी कारण नहीं है । अतः सुख-दुःखादि के अमूर्त कार्य होने से उनके समवायी कारण रूप आत्मा की अमूर्तता का अनुमान हो सकता है । सुख-दुःखादि की अमूर्तता के कारण कर्म की अमूर्तता के अनुमान

1. इसका तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि पानी को लाने के लिए केवल शरीर अकिंचत्कर है । घट का सहकार प्राप्त होने पर ही शरीर में पानी लाने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है ।

की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए देहादि कार्य के मृत होने से उसके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए। मेरे इस कथन में कुछ भी दोष नहीं है। [१६२६]

केवल पुण्यवाद का निरास, पापसिद्धि

इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि कर्म रूपी होकर भी सुख-दुःख का कारण बनता है। अतः उसे पुण्यरूप और पापरूप दोनों प्रकार का मानना चाहिए। इससे इस प्रथम पक्ष का निरास हो जाता है कि 'पुण्य का अपकर्ष होने से दुःख की वृद्धि होती है, पाप को पुण्य से स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता नहीं है।' [१६३०]

अचलभ्राता आप यह बात कौन-सी युक्ति के आधार पर कहते हैं ?

भगवान्—दुःख की बहुलता तदनु रूप कर्म के प्रकर्ष से माननी चाहिए, क्योंकि दुःख का अनुभव प्रकृष्ट है। जैसे सुख के प्रकृष्ट अनुभव के आधार पर पुण्य का प्रकर्ष उसका कारण माना जाता है, वैसे ही प्रकृष्ट दुःखानुभव का कारण भी किसी कर्म का प्रकर्ष मानना चाहिए। इसलिए यह कारण पुण्य का अपकर्ष नहीं, प्रत्युत पाप का प्रकर्ष स्वीकार करना चाहिए। [१६३१]

अपि च, जीव को जिस प्रकृष्ट दुःख का अनुभव होता है, उस का कारण केवल पुण्य का अपकर्ष ही नहीं है। कारण यह है दुःख के प्रकर्ष में बाह्य अनिष्ट आहार आदि का प्रकर्ष भी अपेक्षित है। यदि पुण्य के अपकर्ष से ही प्रकृष्ट दुःख स्वीकार किया जाए तो पुण्य-सम्पाद्य इष्ट आहार आदि बाह्य साधनों के अपकर्ष से ही प्रकृष्ट दुःख होना चाहिए, किन्तु उसमें सुख के प्रतिकूल अनिष्ट आहारादि विपरीत बाह्य साधनों के बल के प्रकर्ष की अपेक्षा नहीं रहनी चाहिए। सारांश यह है कि यदि दुःख पुण्य के अपकर्ष से होता हो तो सुख के साधनों का अपकर्ष ही उसका कारण होना चाहिए, दुःख के साधनों के प्रकर्ष की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। वस्तुतः दुःख का प्रकर्ष केवल सुख के साधनों के अपकर्ष से नहीं होता, उसके लिए दुःख के साधनों का प्रकर्ष भी आवश्यक है ही। इसलिए जिस प्रकार सुख के साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पुण्य का प्रकर्ष-अपकर्ष अनिवार्य है, उसी प्रकार दुःख के साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पाप का प्रकर्ष-अपकर्ष भी अनिवार्य है। पुण्य के अपकर्ष से इष्ट साधनों का अपकर्ष हो सकता है, किन्तु उससे अनिष्ट साधनों की वृद्धि कैसे सम्भव है ? अतः उसका अन्य स्वतन्त्र कारण पाप को मानना ही चाहिए। [१६३२]

पुनश्च, यदि पुण्य के उत्कर्ष के आधार पर ही सुखी शरीर की तथा अपकर्ष के आधार पर ही दुःखी शरीर की रचना होती हो और पाप जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ न हो तो शरीर के मूर्त होने के कारण पुण्य के उत्कर्ष से ही उसे बड़ा होना चाहिए तथा पुण्य का अपकर्ष होने पर ही छोटा एवं बड़ा शरीर ही सूखदायक होना चाहिए, छोटा शरीर दुःखद होना चाहिए। मगर वस्तुतः ऐसा नहीं होता।

चक्रवर्ती की अपेक्षा हाथी का शरीर बड़ा है, तथापि पुण्य प्रकर्ष चक्रवर्ती में है, हाथी में नहीं। यदि पुण्य के अपकर्ष से शरीर की रचना अपकृष्ट होती हो तो हाथी में पुण्य का अपकर्ष होने के कारण उसका शरीर अत्यन्त लघु होना चाहिए, किन्तु वह तो बहुत ही विशाल है। फिर पुण्य तो शुभ होता है। अतः अत्यन्त अल्प पुण्य से भी उसका कार्य शुभ होना चाहिए, अशुभ कदापि नहीं। जैसे थोड़े सोने से छोटा सोने का घट बनता है किन्तु वह मिट्टी का नहीं बन जाता, वैसे ही पुण्य से जो कुछ भी निष्पन्न हो वह शुभ ही होना चाहिए, किन्तु भी दशा में अशुभ नहीं। अतः अशुभ का कारण पाप मानना चाहिए। [१६३३]

अचलभ्राता—पाप के उत्कर्ष से दुःख होता है तथा पाप के अपकर्ष से सुख, इस पक्ष को स्वीकार करने में क्या बाधा है ?

केवल पापवाद का निरास, पुण्यसिद्धि

भगवान्—जो कुछ मैंने पुण्य-पक्ष के विषय में कहा है, उसे उलटा कर पाप-पक्ष के विषय में कहा जा सकता है। जैसे पुण्य के अपकर्ष से दुःख नहीं हो सकता, वैसे ही पाप के अपकर्ष से सुख नहीं हो सकता। यदि अधिक परिमाण युक्त विष अधिक हानि करता हो तो न्यूनपरिमाण युक्त विष कम हानि करेगा, किन्तु उससे लाभ कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि थोड़ा पाप थोड़ा दुःख देता है, किन्तु सुख के लिए तो पुण्य की कल्पना ही करनी पड़ेगी।

अचलभ्राता—पुण्य पाप को साधारण (संकीर्ण-मिश्रित) मानने में क्या दोष है ?

संकीर्ण पक्ष का निरास

भगवान्—कोई भी कर्म पुण्य-पाप उभयरूप नहीं हो सकता। कारण यह है कि ऐसा कर्म निर्हेतुक है। [१६३४]

अचलभ्राता—आप यह कैसे कहते हैं कि साधारण कर्म का कोई भी कारण नहीं।

भगवान्—कर्म का कारण है योग। एक समय में योग शुभ होगा अथवा अशुभ, किन्तु वह शुभाशुभ उभयरूप नहीं होता। अतः उसका कार्य कर्म भी पुण्यरूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ होगा, उभय रूप नहीं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्म-बन्ध के हेतु कहलाते हैं। इनमें एक योग ही ऐसा कारण है जिसका कर्म-बन्ध के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिए जहाँ-जहाँ कर्म-बन्ध होता है वहाँ योग अवश्य होता है। इसीलिए यहाँ अन्य कारणों का उल्लेख न कर केवल योग का ही कथन किया है, मन, वचन, काय इन तीन साधनों के भेद के कारण योग के तीन भेद हैं। [१६३५]

अचलभ्राता—मन-वचन-काय योग किसी समय शुभाशुभ अर्थात् मिश्र भी होता है, अतः आप का कथन युक्त नहीं है। अविधिपूर्वक दान देने का विचार करने वाले पुरुष का मनोयोग शुभाशुभ है, क्योंकि उसमें देने की भावना शुभयोग की तथा अविधिपूर्वकता अशुभ योग की सूचक है। इसी प्रकार अविधिपूर्वक दानादि देने का उपदेश करने वाले व्यक्ति का वचन योग शुभाशुभ होगा। जो मनुष्य जिन पूजा, बन्दन आदि अविधिपूर्वक करता है, उसकी वह कायचेष्टा शुभाशुभ काययोग है।

भगवान्—प्रत्येक योग के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। उसमें मन, वचन तथा काययोग के प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य द्रव्ययोग कहलाते हैं और मन, वचन, काय का स्फुरण (परिस्पन्द) भी द्रव्ययोग है। इन दोनों प्रकार के द्रव्ययोग का कारण अध्यवसाय है और उसे भावयोग कहते हैं। द्रव्ययोग में शुभाशुभरूपता हो सकती है, किन्तु उसका कारण अध्यवसायरूप भावयोग एक समय में या तो शुभ होगा या अशुभ, उसका उभयरूप होना सम्भव नहीं है। द्रव्ययोग भी व्यवहार नय की अपेक्षा से ही उभयरूप है, निश्चय नय की अपेक्षा से वह भी एक समय में शुभ अथवा अशुभ होगा। तत्त्वचिन्ता के समय व्यवहार की अपेक्षा निश्चय नय की दृष्टि की प्रधानता माननी चाहिए। अध्यवसाय स्थानों के शुभ और अशुभ ये दो भेद ही हैं, किन्तु शुभाशुभ रूप तीसरा भेद नहीं है। जब शुभ अध्यवसाय होता है तब पुण्य कर्म का तथा जब अशुभ अध्यवसाय हो तब पाप कर्म का बन्ध होता है। शुभाशुभ उभयरूप किसी भी अध्यवसाय के अभाव के कारण शुभाशुभ उभयरूप कर्म भी सम्भव नहीं है। अतः पुण्य तथा पाप को स्वतन्त्र ही मानना चाहिए, संकीर्ण नहीं। [१९३६]

अचलभ्राता—भावयोग को शुभाशुभ उभयरूप न मानने का क्या कारण है ?

भगवान्—भावयोग ध्यान और लेश्यारूप होता है। ध्यान एक समय में धर्म या शुक्लरूप शुभ ही अथवा अर्त या रौद्र रूप अशुभ ही होता है, शुभाशुभ उभयरूप कोई ध्यान ही नहीं है। तथा ध्यान विरति होने पर लेश्या भी तैजसादि कोई एक शुभ अथवा कापोती आदि कोई एक अशुभ होती है, किन्तु उभयरूप लेश्या कोई नहीं है। इसलिए ध्यान और लेश्यारूप भावयोग भी एक समय में शुभ या अशुभ ही हो सकता है। फलतः भावयोग के निमित्त से बद्ध होने वाला कर्म भी पुण्यरूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ ही होना चाहिए। अतः पाप तथा पुण्य को स्वतन्त्र ही मानना चाहिए। [१९३७]

अचलभ्राता—यदि कोई भी कर्म शुभाशुभ उभयरूप नहीं होता, तो फिर मोहनीय कर्म की सम्यङ्-मिथ्यात्व-रूप प्रकृति मिश्ररूप शुभाशुभ क्यों मानी जाती है ?

भगवान्—उक्त मिश्र मोहनीय प्रकृति बन्ध की अपेक्षा से मिश्र नहीं है। अर्थात् योग द्वारा कर्म का जो ग्रहण होता है उसकी अपेक्षा से तो कर्म शुभ या

अशुभ ही होता है, किन्तु वह पूर्वगृहीत कर्म-प्रकृति को शुभ से अशुभ, अथवा अशुभ से शुभ अथवा शुभाशुभ में भिन्न-भिन्न अर्धवसायों के आधार पर परिणत कर सकता है; इस से पूर्वगृहीत मिथ्यात्व रूप अशुभ कर्म का विशुद्ध परिणाम से शोधन कर सम्यक्त्व रूप शुभ कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है तथा अविशुद्ध परिणाम से सम्यक्त्व के शुभ पुद्गलों का मिथ्यात्व रूप में परिवर्तन किया जा सकता है। मिथ्यात्व के कुछ कर्म-पुद्गलों को अर्द्धविशुद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार सत्तागत कर्म की अपेक्षा से मिश्र मोहनीय का सद्भाव सम्भव है। ग्रहणकाल में किसी मिश्र मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं होता। [१६३८]

अचलभ्राता—कर्म प्रकृति के अन्योन्य संक्रम का क्या नियम है ?

कर्म संक्रम का नियम

भगवान्—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय इन आठ मूल कर्म-प्रकृतियों में तो परस्पर संक्रम ही नहीं सकता। अर्थात् एक मूल प्रकृति दूसरी प्रकृति रूप में परिणत नहीं की जा सकती, किन्तु उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम सम्भव है। इस नियम में भी यह अपवाद है कि आयुकर्म की मनुष्य, देव, नारक, तिर्यक् इन चार उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होता तथा मोहनीय कर्म की दर्शनमोह तथा चारित्रमोह रूप दो उत्तर प्रकृतियों में भी परस्पर संक्रम नहीं होता। इनके अतिरिक्त कर्म की शेष उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम की भजना है; जो इस प्रकार है—पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, सोलह कपाय, मिथ्यात्व, भय, जुगप्सा, तैजस, कामगण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, पाँच अन्तराय ये सब मिल कर ४७ ध्रुवबन्धिनी उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इन सब का अपनी-अपनी मूल प्रकृति से अभिन्न रूप उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम हमेशा होता है। शेष समस्त अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के विषय में यह नियम है कि अपनी-अपनी मूल प्रकृति से अभिन्न रूप उत्तर प्रकृतियों में से जो अबध्यमान होती है वही अबध्यमान प्रकृति में संक्रांत होती है, किन्तु अबध्यमान प्रकृति अबध्यमान में संक्रांत नहीं होती। यही प्रकृति-संक्रम की भजना है। [१६३९]

अचलभ्राता—आप पुण्य और पाप का लक्षण बताने की कृपा करें।

पुण्य व पाप का लक्षण

भगवान्—जो स्वयं शुभ वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श युक्त हो तथा जिसका विषाक भी शुभ हो वह पुण्य है और जो इससे विपरीत है, वह पाप है।

पुण्य व पाप ये दोनों पुद्गल हैं, किन्तु वे मेरु आदि के समान अतिस्थूल नहीं हैं और परमाणु के समान अतिसूक्ष्म भी नहीं हैं। [१६४०]

अचलभ्राता—संसार में पुद्गल तो खचाखच भरे पड़े हैं, उनमें से जीव पुण्य-पाप के रूप में कौन से पुद्गलों को ग्रहण करता है तथा कैसे ग्रहण करता है ?

कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया

भगवान्—जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगा कर नग्न शरीर ही खुले स्थान में बैठे तो तेल के परिमाण के अनुसार उसके समस्त शरीर पर मिट्टी चिपक जाती है, वैसे ही राग-द्वेष से स्निग्ध जीव भी कर्म-वर्गणा में विद्यमान कर्म योग्य पुद्गलों को ही पाप-पुण्य रूप में ग्रहण करता है। कर्म-वर्गणा के पुद्गलों से भी सूक्ष्म परमाणु का अथवा स्थूल औदारिकादि शरीर योग्य पुद्गलों का कर्म रूप में ग्रहण नहीं होता। अपि च, जीव स्वयं आकाश के जितने प्रदेशों में होता है उतने ही प्रदेशों में विद्यमान तद्रूप पुद्गलों का अपने सर्व प्रदेश में ग्रहण करता है। इसी विषय को निम्न गाथा में कहा गया है—“एक प्रदेश में विद्यमान (अर्थात् जिस प्रदेश में जीव हो उस प्रदेश में विद्यमान) कर्म योग्य पुद्गल को जीव अपने सर्व प्रदेश से बाँधता है। इसमें जीव के मिथ्यात्वादि हेतु हैं। यह बन्ध सादि अर्थात् नवीन भी होता है तथा परम्परा से अनादि भी।”

उपशम श्रेणी से पतित जीव सर्वथा नए रूप से मोहनीयादि कर्म का बन्ध करता है और जिस जीव ने उपशम श्रेणी प्राप्त ही न की हो उसका बन्ध अनादि ही कहलाता है। [१९४१]

अचलभ्राता—इस समस्त लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश में पुद्गल परमाणु शुभाशुभ के भेद के बिना ही भरे हुए हैं; अर्थात् अमुक आकाश प्रदेश में शुभ पुद्गल तथा अन्यत्र अशुभ पुद्गल हों ऐसी किसी प्रकार की भी व्यवस्था के बिना ही केवल अव्यवस्थित रूप में पुद्गल लोक में खचाखच भरे पड़े हैं। जैसे पुरुष का तेलयुक्त शरीर छोटे और बड़े रजकणों का तो भेद करता है किन्तु शुभाशुभ का भेद किए बिना ही अपने संसर्ग में आने वाले पुद्गलों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीव भी स्थूल तथा सूक्ष्म के विवेक से कर्म योग्य पुद्गलों का ग्रहण करे, यह बात तो उचित है, किन्तु ग्रहण-काल में ही वह उनमें शुभाशुभ का विभाग कर दोनों में से एक का ग्रहण करे और दूसरे का नहीं, यह कैसे सम्भव है? [१९४२]

भगवान्—जब तक जीव ने कर्मपुद्गल का ग्रहण नहीं किया हो तब तक वह पुद्गल शुभ या अशुभ किसी भी विशेषण से विशिष्ट नहीं होता, अर्थात् वह अविशिष्ट ही होता है। किन्तु जीव उस कर्म पुद्गल का ग्रहण करते ही आहार के समान अध्यवसाय-रूप परिणाम तथा आश्रय की विशेषता के कारण उसे शुभ या अशुभ रूप में परिणत कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव का जैसा शुभ या अशुभ अध्यवसाय रूप परिणाम होता है, उस के आधार पर वह ग्रहण-काल में ही कर्म में शुभत्व या अशुभत्व उत्पन्न कर देता है तथा कर्म के आश्रयभूत जीव का

1. एगपएसोगाढं सव्वपएसेहि कम्मणो जोगं ।

बंधइ जहुत्तहेउ' साइयमणाइयं वावि । पंच-संग्रह गाथा 284.

भी एक ऐसा स्वभाव विशेष है कि जिसके कारण वह उक्त रीति से कर्म का परिणामन करते हुए ही कर्म का ग्रहण करता है। पुनश्च, कर्म का भी यह स्वभाव विशेष है कि शुभ-अशुभ अध्यवसाय युक्त जीव के द्वारा शुभ-अशुभ परिणाम को प्राप्त होकर ही वह जीव से गृहीत होता है। इसी प्रकार जीव कर्म में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश के अल्प भाग तथा अधिकांश भाग का वैचित्र्य भी ग्रहण-काल में ही निर्मित करता है। यही बात निम्न गाथा में कही गई है—

“जीव कर्म-पुद्गल के ग्रहण के समय कर्म प्रदेशों में अपने अध्यवसाय के कारण सब जीवों से अनन्त गुणा रसाविभाग गुण उत्पन्न करता है।”

“कर्म प्रदेशों में सब से थोड़ा भाग आयु कर्म का है। उससे अधिक किन्तु परस्पर समान भाग नाम और गोत्र का है। उससे अधिक भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का है, किन्तु इन तीनों का परस्पर भाग समान ही है। इनसे अधिक भाग मोहनीय का है। सर्वाधिक भाग वेदनीय का है। वेदनीय सुख-दुःख का कारण है, अतः उसका भाग सर्वाधिक है। शेष कर्मों का भाग उनके स्थिति बन्ध के परिमाण का है।” [१६४३]

अचलभ्राता—आपने आहार का उदाहरण दिया, कृपया उसका समन्वय करें ताकि अच्छी तरह समझ में आ जाए।

भगवान्—आहार के समान होने पर भी परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उसके विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं; जैसे कि गाय तथा सर्प को एक ही आहार देने पर भी गाय द्वारा खाया गया पदार्थ दूध रूप में परिणत होता है तथा सर्प द्वारा खाया गया विष रूप में। इस बात में जैसे खाद्य पदार्थ में भिन्न-भिन्न आश्रय में जाकर तत्-तद्रूप में परिणत होने का परिणाम स्वभाव विशेष है वैसे ही खाद्य का उपयोग करने वाले आश्रय में भी उन वस्तुओं को तत्-तद्रूप में परिणत करने का सामर्थ्य विशेष है। इसी प्रकार कर्म में भी भिन्न-भिन्न शुभ या अशुभ अध्यवसाय वाले अपने आश्रय रूप जीव में जाकर शुभ या अशुभ रूप में परिणत हो जाने का सामर्थ्य है। आश्रय-रूप जीव में भी भिन्न-भिन्न कर्मों का ग्रहण कर उन्हें शुभ या अशुभ रूप में अर्थात् पुण्य या पाप रूप में परिणत कर देने की शक्ति है। [१६४४]

1. गृहणमपयमि जीवो उपाण्डू गूणे सपञ्चयशो ।

सर्वजीवान्तगुणे कर्मपण्डेसु सञ्चेषु ॥ कर्मप्रकृति-बन्धनकरण-गाथा 29 ।

2. आयुगभापो शोवो नामे गोए समो तस्रो अहिगो ।

आवरणमन्तराए सरिसो अहिगो य मोहे वि ॥

सञ्चुवरि वेद्यणीए भागो अहियो उ कारणं किन्तु ।

सुहदुःखकारणन्ता ठिई विसेसेण सेसामु ॥

—बन्धशतक गाथा 89-90; तुलना—कर्मप्रकृतिचूर्ण बन्धनकरण गाथा 28.

अचलभ्राता—गाय तथा सर्प के दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि अमुक जीव में कर्म का शुभ परिणाम तथा अमुक जीव में कर्म का अशुभ परिणाम उत्पन्न करने की शक्ति है, किन्तु इस बात की पुष्टि के लिए कौनसा दृष्टान्त होगा कि एक ही जीव कर्म के शुभ तथा अशुभ दोनों परिणामों को उत्पन्न करने में समर्थ है ?

भगवान्—एक ही शरीर में अविशिष्ट अर्थात् एकरूप आहार ग्रहण किया जाता है, फिर भी उसमें से सार और असार रूप दोनों परिणाम तत्काल हो जाते हैं। हमारा शरीर खाए हुए भोजन को रस, रक्त तथा मांस रूप सार तत्व में और मलमूत्र जैसे असार तत्व में परिणत कर देता है। यह बात सबजन सिद्ध है। इसी प्रकार एक ही जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणाम द्वारा पुण्य तथा पाप रूप में परिणत कर देता है। [१९४५]

अचलभ्राता—शुभ हो तो पुण्य और अशुभ हो तो पाप, यह बात तो समझ में आ गई है, किन्तु कृपया यह बताएँ कि कर्म प्रकृतियों में कौनसी शुभ हैं और कौन सी अशुभ ?

पुण्य-पाप प्रकृति की गणना

भगवान्—सातावेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, पुरुष वेद, रति, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ हैं। शुभायु में देव, मनुष्य तथा तिर्यच आयु का समावेश है। शुभनाम कर्म प्रकृति में देवद्विक अर्थात् देवगति तथा देवानु-पूर्वी, यशःकीर्ति, तीर्थकर आदि ३७ प्रकृतियों का समावेश हो जाता है। शुभगोत्र का अर्थ है उच्च गोत्र। ये सब मिलाकर ४६ प्रकृतियाँ शुभ होने के कारण पुण्य कहलाती हैं तथा शेष अशुभ होने से पाप कहलाती हैं। यदि मोहनीय के सभी भेदों को (क्योंकि वे जीव में विपर्यास के कारण हैं) अशुभ अथवा पाप प्रकृति में समाविष्ट किया जाए तो पुण्य प्रकृतियों की संख्या ४२ रह जाती है। वह इस प्रकार है—“सातावेदनीय, उच्चगोत्र, मनुष्य-तिर्यच-देवायु, तथा नामगोत्र की निम्न ३७ प्रकृतियाँ—देवद्विक-देवगति तथा देवानुपूर्वी, मनुष्यद्विक—मनुष्यगति तथा मनुष्यानु-पूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर—औदारिक-वैक्रिय-आहारक तैजस और कामेण-अंगोपांग त्रिक—औदारिक-वैक्रिय-आहारक। अंगोपांग, प्रथम संघयण—वज्रकृष्ण-नाराच, चतुरस्रसंस्थान, शुभवर्ण, शुभरस, शुभगन्ध, शुभस्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आताप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थकर। ये सब ४२ प्रकृतियाँ तीर्थकरों ने पुण्य प्रकृतियाँ बतलाई हैं।”

1. किसी आचार्य के मतानुसार मोहनीय की एक भी प्रकृति शुभ नहीं है।
2. सायं उच्चागोत्रं नरतिरिदेवाउद्याई तह नामे । देवदुर्गं मणुयदुर्गं पण्डिकाई य तणुपणगं ।। अंगोवंगणतिगं पढमं संघयणमेवसंठाणं । सुभवण्णाइचउक्कं अगुरुलहू तह य परघायं । ऊसासं आघायवं उज्जाय विहगई विय पसत्था । तस-बायर-पज्जतं पत्तं यथिरं सुभं सुभगं ।। सुस्सर आएज्ज जसं निम्मण तित्थयरमेव एयाओ । बायालं पगईओ पूणं ति जिरोहिं भणिआओ ।

इन ४२ प्रकृतियों को छोड़ कर शेष ८२ कर्म प्रकृतियाँ अशुभ अर्थात् पाप प्रकृतियाँ हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्ड ये पाँच संस्थान, अप्रशस्तविहायोगति, ऋषभनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलिका-छेदवृत्त ये पाँच संहनन, तियंग्गति, तियंग्ग आनुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भंग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, अशुभवर्णा, अशुभगन्ध, अशुभरस, अशुभस्पर्श, केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्तान्निद्रि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण लोभ, मिथ्यात्व, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण, अक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पृवेद, नपुंसक वेद, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय। ये सब मिल कर ८२ प्रकृतियाँ हैं।

अचलभ्राता—मिथ्यात्व के प्रभेदों में सम्यक्त्व भी है। उसे आप अशुभ या पाप प्रकृति कैसे कहते हैं? यदि यह पाप प्रकृति है तो उसे सम्यक्त्व किसलिए कहा जाता है?

भगवान्—जीव की रुचि के रूप जो सम्यक्त्व होता है वह तो शुभ होता है, किन्तु यहाँ उसका विचार नहीं किया गया है। यहाँ मिथ्यात्व के शुद्ध किए गए पुद्गलों को सम्यक्त्व कहा गया है और वे तो शंकादि अनर्थ में निमित्त भूत होने के कारण अशुभ या पाप ही हैं। इन पुद्गलों को उपचार से सम्यक्त्व इसलिए कहते हैं कि ये जीव की रुचि को आवृत्त नहीं करते। वस्तुतः ये पुद्गल मिथ्यात्व के ही हैं।

उक्त पुण्य तथा पाप के सविपाक और अविपाक भेद भी हैं। जो प्रकृति जिस रूप में बान्धी गई हो उसी रूप में उस का विपाक हो तो उसे सविपाक प्रकृति कहते हैं, तथा यदि उसके रस को मन्द कर अथवा नीरस कर उसके प्रदेशों का उदय भोगने में आए तो वह अविपाकी कहलाती है।

पुण्य-पाप के स्वातन्त्र्य का समर्थन

इतनी चर्चा से यह बात तो सिद्ध हो गई है कि पुण्य और पाप संकीर्ण नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र हैं। यदि वे संकीर्ण हों तो सभी जीवों को उनका कार्य मिश्ररूप

में अनुभूत होना चाहिए—अर्थात् केवल दुःख या सुख का कभी भी अनुभव नहीं होना चाहिए, दुःख और सुख हमेशा मिश्रित रूप में ही अनुभव में आना चाहिए । किन्तु ऐसी बात नहीं है । देवों में विशेषतः केवल सुख का अनुभव है तथा नारकादि में विशेषतः केवल दुःख का । संकीर्ण कारण से उत्पन्न कार्य में भी संकीर्णता ही होनी चाहिए । ऐसा नहीं हो सकता कि जिनका संकर हो उनमें से कोई एक ही उत्कट रूप में कार्य में उत्पन्न हो और दूसरे का कोई भी कार्य उत्पन्न न हो । अतः सुख के अतिशय के निमित्त को दुःख के अतिशय के निमित्त से भिन्न ही मानना चाहिए ।

अचलभ्राता—पाप-पुण्य संकीर्ण होने से चाहे एक रूप माना जाए, किन्तु जब पुण्यांश बढ़ जाए और पापांश की हानि हो तब सुखातिशय का अनुभव हो सकता है तथा जब पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की हानि हो तब दुःखातिशय का अनुभव हो सकता है । इस प्रकार पुण्य-पाप को संकीर्ण मान कर भी देवों में सुखातिशय तथा नारकादि में दुःखातिशय का अनुभव शक्य है । फिर पुण्य व पाप को स्वतन्त्र क्यों माना जाए ?

भगवान्—यदि पुण्य व पाप सर्वथा एक रूप हों तो एक की वृद्धि होने पर दूसरे की भी वृद्धि होनी चाहिए । तुम्हारे कथनानुसार ऐसा तो होता नहीं है, क्योंकि पाप की वृद्धि होने पर पुण्य की हानि होती है तथा पुण्य की वृद्धि के समय पाप की हानि होती है । अतः पुण्य व पाप को एक रूप न मान कर भिन्न रूप ही मानना चाहिए । जैसे देवदत्त की वृद्धि होने पर यज्ञदत्त की वृद्धि नहीं होती, अतः वे दोनों भिन्न हैं, वैसे ही पाप की वृद्धि के समय पुण्य की वृद्धि नहीं होती, इसलिए ये दोनों भी स्वतन्त्र मानने चाहिए । वस्तुतः ये दोनों यद्यपि पुण्य व पाप के रूप में भिन्न हैं तथापि कर्म रूप में दोनों अभिन्न हैं । यदि तुम यह बात स्वीकार करते हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है । इस प्रकार पुण्य-पाप सम्बन्धी संकीर्ण पक्ष का भी निरास हो जाता है । अतः पुण्य व पाप दोनों स्वतन्त्र हैं, यह चौथा पक्ष ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है । इसीलिए स्वभाववाद को भी नहीं माना जा सकता । इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा अभिभूति के साथ हो चुकी है । अतः पुण्य व पाप को स्वतन्त्र ही मानना चाहिए और तुम्हें इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए । [१९४६]

अचलभ्राता—तो फिर वेद में पुण्य-पाप का निषेध क्यों किया गया है ?

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—‘संसार म केवल पुरुष (ब्रह्म) ही है तथा उससे बाह्य अन्य कुछ भी नहीं है ।’ वेद का अभिप्राय इस बात का प्रतिपादन करना नहीं है । यदि पुण्य-पाप

जैसी वस्तु ही न हो तो स्वर्ग के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि बाह्य अनुष्ठान का वेद में जो विधान है वह असम्बद्ध हो जाता है तथा लोक में दान का फल पुण्य और हिंसा का फल पाप माना जाता है, यह मान्यता भी असंगत हो जाती है। अतः वेद का अभिप्राय पुण्य-पाप का निषेध नहीं हो सकता । [१९४७]

इस प्रकार जब जन्म-मरण से मुक्त भगवान् ने उसके संशय को दूर किया, तब उसने अपने तीन सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली । [१९४८]



दसवें गणधर मेतार्य परलोक-चर्चा

यह सुनकर कि वे सब दीक्षित हो चुके हैं, मेतार्य ने विचार किया, “मैं भी भगवान् के पास जाऊँ, उन्हें वन्दन करूँ तथा उनकी सेवा करूँ।” तत्पश्चात् वह भगवान् के पास आ गया। [१६४६]

जाति-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे ‘मेतार्य कौण्डिन्य !’ इस नाम-गोत्र से बुलाया और कहा : [१६५०]

परलोक-विषयक सन्देह

तुम्हें संशय है कि परलोक है या नहीं? तुमने ‘त्रिज्ञानवन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः’ इत्यादि परस्पर विरोधी वेद-वाक्य सूने हैं। अतः तुम्हें संशय होना स्वाभाविक है। किन्तु तुम उन वेद-वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए सन्देह में पड़े हो। मैं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताऊँगा, उससे तुम्हारे संशय का निवारण हो जाएगा। [१६५१]

भूत-धर्म चैतन्य का भूतों के साथ नाश

तुम्हें यह प्रतीत होता है कि गुड़, धावड़ी आदि मद्य के अँगों या कारणों से जैसे मद्य-धर्म भिन्न नहीं होता, वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों से यदि चैतन्य-धर्म भिन्न न हो तो परलोक मानने का कोई भी आधार नहीं रह जाता। कारण यह है कि भूतों के नाश के साथ चैतन्य का भी नाश हो जाता है, फिर परलोक किसलिए और किसका मानना? जो धर्म जिससे अभिन्न हो वह उसके नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है। जैसे पट का शुक्लत्व धर्म पट से अभिन्न है, पट का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है वैसे ही यदि भूतों का धर्म चैतन्य भूतों से अभिन्न हो तो भूतों के नाश के साथ उसका भी नाश हो जाएगा। ऐसी दशा में परलोक मानने की आवश्यकता नहीं रहती। [१६५२]

भूतों से उत्पन्न चैतन्य अनित्य है

यदि चैतन्य को भूतों से भिन्न माना जाए तो भी परलोक स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कारण यह है कि भूतों से उत्पन्न होने के कारण वह अनित्य है। जैसे अरणी नामक काष्ठ से उत्पन्न होने वाली अग्नि विनाशी है, वैसे ही भूतों से उत्पन्न होने वाला चैतन्य भी विनाशी होना चाहिए। अतः भूतों से भिन्न होने पर भी वह नष्ट हो जाएगा। फिर परलोक किसका मानना? [१६५३]

अद्वैत आत्मा का संसरण नहीं होता

पुनश्च, यदि प्रतिपिण्ड में भिन्न-स्वरूप अनेक चैतन्य-धर्मों को न मानकर मात्र सकल चैतन्याश्रय-रूप एक ही सर्वव्यापी तथा निष्क्रिय ऐसी आत्मा मानी जाए जिसके विषय में कहा गया है कि “प्रत्येक भूत में व्यवस्थित एक ही भूतात्मा है और वह एक होकर भी एकरूप में तथा बहुरूप में जल में चन्द्र-बिम्ब के समान दिखाई देती है।” तो भी परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि वह सर्वगत और निष्क्रिय होने से आकाश के समान प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त है, अतः उसका संसरण सम्भव नहीं है। संसरण के अभाव में परलोक-गमन कैसे सम्भव हो सकता है ? [१६५४]

और भी, इस मनुष्य लोक की अपेक्षा से देव व नारक का भव परलोक कहलाता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए भी परलोक की सत्ता नहीं है। इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने पर तुम्हें परलोक का अभाव ज्ञात होता है, किन्तु वेद-वाक्यों में लोक का प्रतिपादन भी है। अतः तुम्हें सन्देह है कि परलोक है या नहीं ? [१६५५]

मेतार्य—आप ने मेरी शंका का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया है। कृपया अब उस का निवारण करें।

संशय-निवारण—परलोक-सिद्धि, आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है

भगवान्—भूत(इन्द्रिय) इत्यादि से भिन्न-स्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है तथा यह आत्मा जातिस्मरण आदि हेतुओं द्वारा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य सिद्ध होती है। इस विषय को विशेष चर्चा वायुभूति से की जा चुकी है। अतः तुम्हें भी उसके समान आत्मा स्वीकार करनी चाहिए। [१६५६]

मेतार्य—अनेक आत्माओं के स्थान पर एक ही सर्वगत व निष्क्रिय आत्मा क्यों न मानी जाए ?

आत्मा अनेक हैं

भगवान्—आत्म द्रव्य को एक, सर्वगत और निष्क्रिय नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि उनमें घटादि के समान लक्षण भेद हैं। अतः अनेक घटादि के सदृश आत्मा को भी अनेक मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष विचारणा इन्द्रभूति के साथ हो चुकी है, अतः तुम भी उसकी तरह आत्मा को अनेक मान लो।

1. एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जनचन्द्रवत् ॥ ब्रह्मसिद्धिनिषद्-11

मेतार्य—आत्मा में लक्षण भेद कैसे है ?

भगवान्—आत्मा का लक्षण उपयोग है । राग, द्वेष, कषाय तथा विषयादि भेदों के कारण अनन्त अध्यवसाय भेद होने से वह उपयोग अनन्त प्रकार का दृग्गोचर होता है, अतः उसकी आधारभूत आत्मा भी अनन्त होनी चाहिए ।

मेतार्य—अनन्त होकर भी आत्मा सर्वव्यापी क्यों नहीं होती ?

आत्मा देह-परिमाण है

भगवान्—आत्मा शरीर में ही व्याप्त है, वह सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि उसके गुण शरीर में ही उपलब्ध होते हैं । जैसे स्पर्श का अनुभव समस्त शरीर में होता है और अन्यत्र नहीं होता, इसलिए स्पर्शनेन्द्रिय केवल शरीर-व्यापी ही है; वैसे ही आत्मा को भी शरीर-व्याप्त ही मानना चाहिए ।

मेतार्य—आत्मा को निष्क्रिय किसलिए नहीं माना जाता ?

आत्मा सक्रिय है

भगवान्—आत्मा निष्क्रिय नहीं, क्योंकि वह देवदत्त के समान भोक्ता है । यह सब चर्चा इन्द्रभूति से की है । अतः उसके समान तुम भी आत्मा को अनन्त, असर्वगत तथा निष्क्रिय मान लो । [१६५७]

मेतार्य—प्रमाण-सिद्ध होने के कारण यह माना जा सकता है कि आत्मा अनेक हैं, किन्तु उसका देव-नारक रूप परलोक तो दिखाई नहीं देता, फिर उसे क्यों माना जाए ?

देव-नारक का अस्तित्व

भगवान्—इस लोक से भिन्न देव-नारक आदि परलोक भी तुम्हें स्वीकार करने चाहिए, क्योंकि मौर्य के साथ की गई चर्चा में देव-लोक की तथा अकम्पित के साथ की गई चर्चा में नारक-लोक की प्रमाणतः सिद्धि की गई है । अतः उनके समान तुम्हें भी देव-नारक का अस्तित्व मानना चाहिए । [१६५८]

परलोक के अभाव का पूर्व पक्ष : विज्ञान अनित्य होने से आत्मा अनित्य

मेतार्य—जीव तथा विज्ञान का भेद मानें या अभेद, किन्तु उससे परलोक का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । यदि जीव को विज्ञानमय अर्थात् विज्ञान से अभिन्न माना जाए तो विज्ञान अनित्य होने के कारण नष्ट हो जाता है, इसलिए जीव भी नष्ट ही समझा जाएगा; ऐसी दशा में परलोक किसका होगा ? अतः अभेद पक्ष में परलोक नहीं माना जा सकता । यदि जीव को विज्ञान से भिन्न माना जाए तो जीव ज्ञानी नहीं हो सकता । जैसे ज्ञान आकाश से भिन्न है, इसलिए आकाश अनभिन्न या अज्ञानी समझा जाता है, वैसे ही जीव की भी यही दशा होगी । [१६५९]

एकान्त नित्य में कर्तृत्वादि नहीं

अपि च, अनित्य-ज्ञान से भिन्न होने के कारण यदि आत्मा को एकान्त नित्य माना जाए तो आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी घटित नहीं हो सकता, फिर परलोक का तो कहना ही क्या है ? यदि नित्य में भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व हों तो वे हमेशा होने चाहिए । कारण यह है कि नित्य वस्तु सदा एकरूप होती है, किन्तु वे जीव में सर्वदा नहीं होते । अतः जीव को सर्वथा नित्य मानने से उसमें कर्तृत्व की सिद्धि नहीं होती । आत्मा के कर्ता न होने पर भी परलोक का अस्तित्व माना जाए तो सिद्धों के लिए भी परलोक मानना पड़ेगा । भोक्तृत्व के अभाव में भी परलोक की मान्यता व्यर्थ है । यदि परलोक में आत्मा कर्म-फल न भोगे तो परलोक की सार्थकता ही क्या है ?

अज्ञानी आत्मा का संसरण नहीं

पुनश्च, जैसे अज्ञानी होने के कारण लकड़ी को संसरण—एक भव से दूसरे भव में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार यदि आत्मा भी ज्ञान से भिन्न होने के कारण आकाश के समान अज्ञानी हो तो उसका संसरण भी घटित नहीं होता और आकाश के समान अमूर्त होने के कारण भी आत्मा का संसार नहीं माना जा सकता । जब आत्मा में संसार का ही अभाव होगा तो परलोक की सिद्धि कैसे हो सकती है ? [१९६०]

परलोक सिद्धि—आत्मा अनित्य है, अतः नित्य भी है

भगवान्—तुम ने आत्मा को विनश्वर (अनित्य) सिद्ध किया है । तुम्हारे कथन का तात्पर्य यह है कि जो उत्पत्तिशील हो उसे घटादि के समान अनित्य होना चाहिए । विज्ञान उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य है, अतः विज्ञानाभिन्न आत्मा भी अनित्य माननी चाहिए । तुम शायद यह भी मानते हो कि जो पर्याय होती है, वह अनित्य होती है, जैसे स्तम्भादि की नवीनत्व, पुराणत्व आदि पर्याय । विज्ञान भी पर्याय होने के कारण अनित्य है । इसलिए यदि आत्मा भी विज्ञानमय है तो वह भी अनित्य ही होगी । इससे तुम यह परिणाम निकालते हो कि आत्मा का परलोक नहीं है, किन्तु तुम्हारी यह मान्यता भ्रमपूर्ण है । कारण यह है कि जिन हेतुओं के आधार पर तुम विज्ञान को अनित्य सिद्ध करते हो, उनके आधार पर ही उसे नित्य सिद्ध किया जा सकता है । अर्थात् जो उत्पत्तिशील होता है या पर्याय होता है वह सर्वथा विनाशी न होकर अविनाशी भी होता है ।

मेतार्थ—यह कैसे सम्भव है ?

भगवान्—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वस्तु का स्वभाव है । अर्थात् किसी भी वस्तु में केवल उत्पाद नहीं होता । जहाँ उत्पाद होता है वहाँ ध्रौव्य भी है । अतः यदि उत्पत्ति के कारण वस्तु कथंचित् अनित्य कहलाती है तो ध्रौव्य के कारण

कथंचित् नित्य भी कहलाएगी। अतः यह कहा जा सकता है कि विज्ञान नित्य है क्योंकि वह उत्पत्तिशील है, जैसे कि घट। कथंचित् नित्य-विज्ञान से अभिन्न होने के कारण आत्मा भी कथंचित् नित्य होगी। फिर परलोक का अभाव कैसे होगा? [१९६१]

अपि च, तुमने विज्ञान को विनाशी सिद्ध करने के लिए 'उत्पत्तिशील होने से' हेतु दिया है। वह हेतु प्रत्यनुमान अर्थात् विरोधी अनुमान उपस्थित होने से विरुद्ध व्यभिचारी भी है। अर्थात् विज्ञान में तुमने उसकी उत्पत्ति के कारण अनित्यता सिद्ध की है और तुम अपने हेतु को अव्यभिचारी मानते हो, किन्तु इसके विपरीत नित्यता को सिद्ध करने वाला अन्य अव्यभिचारी हेतु भी है। इससे तुम्हारा हेतु दूषित कहलाएगा।

मेतार्य—प्रत्यनुमान कौनसा है ?

घट भी नित्यानित्य है

भगवान्—विज्ञान सर्वथा विनाशी नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तु है। जो वस्तु होती है वह घट के समान एकान्त विनाशी नहीं होती; क्योंकि वस्तु पर्याय की अपेक्षा से विनाशी होकर भी द्रव्य की अपेक्षा से अविनाशी है।

मेतार्य—आपका दृष्टान्त घट उत्पत्ति युक्त होने से विनाशी ही है, आप उसे अविनाशी कैसे कहते हैं? विनाशी घट के आधार पर आप विज्ञान को अविनाशी कैसे सिद्ध कर सकते हैं? [१९६२]

भगवान्—पहले यह समझना आवश्यक है कि घट क्या है? रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये गुण, संख्या, आकृति, मिट्टी-रूप द्रव्य तथा जलाहरण आदि रूप शक्ति ये सब मिल कर घट कहलाते हैं। वे रूपादि स्वयं उत्पाद-विनाश-ध्रौव्यात्मक हैं। अतः घट को भी अविनाशी कहा जा सकता है। उसके उदाहरण से विज्ञान को भी अविनाशी सिद्ध किया जा सकता है। [१९६३]

मेतार्य—इस बात को कुछ और स्पष्ट करें तो यह समझ में आ सकेगी।

भगवान्—मिट्टी के पिण्ड का गोल आकार तथा उसकी शक्ति ये उभय रूप पर्याय जिस समय नष्ट हो रही हों, उसी समय वह मिट्टी का पिण्ड घटाकार और घट-शक्ति इन उभय रूप पर्याय स्वरूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार उसमें उत्पाद व विनाश अनुभव सिद्ध हैं, अतः वह अनित्य है। किन्तु पिण्ड में विद्यमान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा मिट्टी रूपी द्रव्य का तो उस समय भी उत्पाद या विनाश कुछ नहीं होता, वे सदा अवस्थित हैं; अतः उनकी अपेक्षा से घट नित्य भी है। सारांश यह है कि मिट्टी द्रव्य का एक विशेष आकार और उसकी शक्ति अनवस्थित है। अर्थात् मिट्टी द्रव्य जिस पिण्ड रूप में था, वह अब घटाकार रूप में परिणत हो गया, पिण्ड में जलाहरण आदि की शक्ति नहीं थी, वह अब घटाकार में आ गई। इस प्रकार

घड़े में पूर्वावस्था का व्यय तथा अपूर्व अवस्था की उत्पत्ति होने के कारण वह विनाशी कहलाता है, किन्तु उसका रूप, रस, मिट्टी आदि वही है, अतः उसे अविनाशी भी कहना चाहिए। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ उत्पाद-विनाश ध्रुव स्वभाव वाले समझ लेने चाहिए। इससे सभी पदार्थ नित्य भी हैं और अनित्य भी। अतः 'उत्पत्ति होने से' इस हेतु द्वारा जैसे वस्तु को विनाशी सिद्ध किया जा सकता है वैसे ही अविनाशी भी सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए विज्ञान भी उत्पत्ति-युक्त होने से अविनाशी भी है और विज्ञान से अभिन्न आत्मा भी अविनाशी सिद्ध होती है; अतः परलोक का अभाव नहीं है। [१९६४-६५]

मेतार्य — विज्ञान में उत्पादादि तीनों कैसे घटित होते हैं ?

विज्ञान भी नित्यानित्य है

भगवान् — घट-विषयक ज्ञान घट-विज्ञान अथवा घट-चेतना कहलाता है और पट-विषयक ज्ञान पट-विज्ञान अथवा पट-चेतना। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न चेतनाओं को समझ लेना चाहिए। हम यह अनुभव करते हैं कि घट-चेतना का जिस समय नाश होता है उसी समय पट-चेतना उत्पन्न होती है, किन्तु जीव रूप सामान्य चेतना उन दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। इस प्रकार इस लोक के प्रत्यक्ष चेतन (जीवों) में उत्पाद-व्यय-ध्रुव्य सिद्ध हो जाते हैं। यही बात परलोक-गत जीव के विषय में कही जा सकती है कि कोई जीव जब इस लोक में से मनुष्य-रूप में मर कर देव होता है तब उस जीव का मनुष्य-रूप इह लोक नष्ट होता है तथा देव-रूप परलोक उत्पन्न होता है; किन्तु सामान्य जीव अवस्थित ही है। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से उस जीव को इहलोक या परलोक नहीं कहते, किन्तु मात्र जीव कहते हैं। वह अविनाशी ही है। इस प्रकार इस जीव के उत्पाद-व्यय-ध्रुव्य स्वभाव युक्त होने के कारण परलोक का अभाव सिद्ध नहीं होता। [१९६६-६७]

मेतार्य — सभी पदार्थों को उत्पादादि त्रि-स्वभाव युक्त मानने की क्या आवश्यकता है ? केवल उत्पाद और व्यय मानने में क्या दोष है ? यह बात अनुभव सिद्ध है कि उत्पत्ति से पूर्व घट था ही नहीं, फिर उसे उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान मानने का क्या उद्देश्य है ?

भगवान् — यदि घटादि सर्वथा असत् हो, द्रव्यरूप में भी विद्यमान न हो, तो उसकी उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि सर्वथा असत् की भी उत्पत्ति मानी जाएगी तो खर-विषाण भी उत्पन्न होना चाहिए। खर-विषाण कभी उत्पन्न नहीं होता तथा घटादि पदार्थ कदाचित् उत्पन्न होते हैं, अतः उत्पत्ति सर्वथा असत् की नहीं प्रत्युत् कथंचित् सत् की होती है। इसी प्रकार जो सत् है उसका सर्वथा विनाश भी नहीं होता। यदि सत् का सर्वथा विनाश माना जाएगा तो क्रमशः सभी वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर सर्वोच्छेद का प्रसंग आ जाएगा। [१९६८]

अतः अवस्थित या विद्यमान का ही किसी एक रूप में विनाश तथा दूसरे रूप में उत्पाद मानना चाहिए; जैसे सत् रूप जीव का मनुष्य-रूप में विनाश और

देव-रूप में उत्पाद होता है, वैसे ही समस्त द्रव्यों में उत्पाद व विनाश घटित होते हैं। किन्तु वस्तु का सर्वथा विनाश या उच्छेद नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि इसे मानने से समस्त लोक-व्यवहार का उच्छेद हो जाएगा। जैसे कि राजपुत्री की क्रीड़ा बने हुए सोने के घड़े को तोड़ कर राजपुत्र की क्रीडा के लिए यदि सोने का गेंद बनाया जाए तो राजपुत्री को शोक, राजपुत्र को आनन्द तथा सोने के स्वामी राजा को औदासीन्य-माध्यस्थ्य होगा। इस प्रकार यदि हम वस्तु को उत्पादादि त्रयात्मक न मानेंगे तो अनुभव सिद्ध लोक-व्यवहार विच्छिन्न हो जाएगा। अतः जीव भी त्रयात्मक होने के कारण मृत्यु के पश्चात् भी कथंचित् अवस्थित ही है; फलतः परलोक का अभाव मान्य नहीं हो सकता। [१९६६]

मेतार्थ—इस तरह युक्ति से तो परलोक की सिद्धि हो जाती है, किन्तु वेद-वाक्यों का समन्वय कैसे होगा ?

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—वेद का तात्पर्य किसी भी अवस्था में परलोक का अभाव सिद्ध करना नहीं हो सकता। कारण यह है कि यदि परलोक जैसी कोई वस्तु न हो तो वेद का यह विधान असंगत मानना पड़ेगा कि स्वर्ग के इच्छुक को अग्निहोत्रादि करना चाहिए। लोक में रूढ़ दानादि से स्वर्गफल की प्राप्ति की मान्यता भी अयुक्त हो जाएगी। अतः परलोक का अभाव वेदों को इष्ट नहीं है। [१९७०]

इस प्रकार जब जरा-मरण से रहित भगवान् ने मेतार्थ की शंका का निराकरण किया, तब उसने अपने तीन सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली। [१९७१]

ग्यारहवें गणधर प्रभास निर्वाण-चर्चा

इन सब को दीक्षित हुए सुन कर प्रभास के मन में भी इच्छा हुई कि मैं भी भगवान् के पास जाकर उन्हें वन्दन करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास आया। [१६७२]

निर्वाण-सम्बन्धी सन्देश

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'प्रभास कौण्डिन्य !' के नाम गोत्र से बुलाया। [१६७३]

और वे उसे कहने लगे—हे सौम्य ! तुम्हें यह संशय है कि निर्वाण है अथवा नहीं ? इस संशय का कारण यह है कि वेद में एक स्थल पर कहा है कि 'जरामर्यं वतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्'¹। इससे तुम यह समझते हो कि जीवन-पर्यन्त जीवों की हिंसा कर यज्ञ करना चाहिए। यह दोष पूर्ण है, अतः इस क्रिया से स्वर्ग तो मिल सकता है किन्तु अपवर्ग या निर्वाण नहीं। अपि च, यह क्रिया मृत्यु पर्यन्त की जाने वाली है, इसलिए अपवर्ग योग्य साधना का अवकाश ही नहीं रहता। जब अपवर्ग योग्य साधना का अवकाश ही नहीं है तब उसका फल अपवर्ग कैसे मिल सकता है ? अतः तुम समझते हो कि वेद में निर्वाण या अपवर्ग का उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सैषा गुहा दुरवगाहा'² 'द्वे ब्रह्मणी परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानममन्तं ब्रह्म'³ इन वेद-वाक्यों के आधार पर तुम्हें यह प्रतीत होता है कि वेद भी मोक्ष (निर्वाण) का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि गुहा अर्थात् मुक्ति उन्हें इष्ट है और वह संसार में आसक्त मनुष्यों के लिए दुरवगाह अथवा दुष्प्रवेश है। पर व अपर ब्रह्म में परब्रह्म का अर्थ भी मोक्ष है। इस प्रकार तुमने वेद-वाक्यों का जो अर्थ समझा है उसके आधार पर इस शंका का होना स्वाभाविक है कि निर्वाण का अस्तित्व है या नहीं ? किन्तु तुम उन वाक्यों का सच्चा अर्थ नहीं जानते, इसीलिए संशय करते हो। मैं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताऊँगा जिससे तुम्हारा संशय दूर हो जाएगा। [१६७४]

1. अग्निहोत्र यावज्जीवन कर्तव्य है। शतपथब्राह्मण (12.4.1.1.) में यह पाठ है—“एतद् जरामर्यं सत्त्वं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्यवास्मान् मुच्यते मृत्युना वा”
2. यह गुहा दुरवगाह है।
3. ब्रह्म दो है—पर व अपर। परब्रह्म सत्य है, अनन्त है, ब्रह्म है।

निर्वाण-विषयक मतभेद

तुम यह भी सोचते हो कि वस्तुतः निर्वाण कैसा होगा ? कोई कहता है कि दीप-निर्वाण के समान जीव का नाश ही निर्वाण है। जैसे कि “जैसे दीप जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी में नहीं समाता, आकाश में नहीं जाता, किसी दिशा अथवा विदिशा में भी नहीं जाता, किन्तु तेल के समाप्त हो जाने पर वह केवल शान्त हो जाता है—बुझ जाता है; वैसे ही जीव भी जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी या आकाश में नहीं जाता, किसी दिशा या विदिशा में नहीं जाता परन्तु क्लेश का भास होने से केवल शान्ति प्राप्त करता है—समाप्त हो जाता है।”

और भी, कोई कहता है कि सत् अर्थात् विद्यमान जीव के राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, दुःख, रोगादि का क्षय हो जाने से जो एक विशिष्ट अवस्था उत्पन्न होती है, वही मोक्ष है। जैसे कि—

“केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभाव वाला, सर्व प्रकार के दुःख से रहित, राग-द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं को शीघ्र कर देने वाला मुक्ति में गया हुआ जीव आनन्द का अनुभव करता है।”

इस प्रकार के विरोधी मत सुन कर तुम्हें सन्देह होता है कि इन दोनों में से निर्वाण का कौन सा स्वरूप वास्तविक माना जाए ? [१६७५]

तुम यह भी मानते हो कि जीव तथा कर्म का संयोग-आकाश के समान अनादि है, इसलिए जीव और आकाश के अनादि संयोग के समान जीव व कर्म के संयोग का भी नाश नहीं होता। अर्थात् कभी भी संसार का अभाव नहीं होता, फिर निर्वाण की बात कैसे की जा सकती है ?

इस प्रकार तुम अनेक विकल्पों के जाल में फँसे हुए हो, जैसे कि निर्वाण का स्वरूप क्या माना जाए ? अथवा निर्वाण का सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाए या नहीं ? तुम इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके, किन्तु मैं इस विषय में तुम्हारे सन्देहों का समाधान करता हूँ। तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो। [१६७६]

प्रभास—आप पहले यह स्पष्ट करें कि जीव-कर्म के अनादि संयोग का वियोग कैसे सम्भव हो सकता है ?

1. दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
जीवस्तथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।
विशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
सौन्दरनन्द 16.28-29
2. केवलसंविद्दर्शनरूपाः सर्वातिदुःखपरिमुक्ताः ।
मोदन्ते मुक्तिगता, जीवाः क्षीणान्तरारिगणाः ॥

सन्देह-निवारण—निर्वाण-सिद्धि, जीव-कर्म का अनादि संयोग नष्ट होता है

भगवान्—यद्यपि कनक-पाषाण तथा कनक का संयोग अनादि है तथापि प्रयत्न द्वारा कनक को कनक-पाषाण से पृथक् किया जा सकता है, इसी प्रकार सम्यग् ज्ञान तथा क्रिया द्वारा जीव-कर्म के अनादि संयोग का अन्त हो सकता है तथा जीव से कर्म को पृथक् किया जा सकता है। मैंने इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण मण्डिक के साथ की गई चर्चा में किया है। अतः उसके समान तुम्हें भी मानना चाहिए कि जीव-कर्म का सम्बन्ध नष्ट हो सकता है। [१६७७]

प्रभास—नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव-रूप में जो जीव दिखाई देते हैं वस्तुतः वही संसार है। उक्त नारकादि अवस्था से रहित शुद्ध जीव तो कभी दिखाई नहीं देता। अर्थात् पर्याय-रहित केवल शुद्ध जीव-द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। अतः जब नारकादि-रूप संसार का नाश हो जाता है तब तद्-अभिन्न जीव का भी नाश हो जाता है, फिर मोक्ष किस का होगा ? [१६७८]

संसार-पर्याय का नाश होने पर भी जीव विद्यमान रहता है

भगवान्—नारकादि जीव-द्रव्य की पर्यायों हैं। इन पर्यायों का नाश हो जाने से जीव-द्रव्य का भी सर्वथा नाश हो जाता है, यह धारणा अयुक्त है। जैसे अँगूठी का नाश होने पर भी सुवर्ण का सर्वथा नाश नहीं होता, उसी प्रकार जीव की नारकादि भिन्न-भिन्न पर्यायों का नाश होने पर भी जीव-द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे सुवर्ण की अँगूठी पर्याय का नाश होता है और कर्ण मूल पर्याय का उत्पाद होता है किन्तु सुवर्ण स्थित रहता है; वैसे ही जीव की नारकादि पर्याय का नाश होता है, मुक्ति पर्याय का उत्पाद होता है परन्तु जीव-द्रव्य विद्यमान रहता है। [१६७९]

प्रभास—जैसे कर्म के नाश से संसार का नाश होता है वैसे ही जीव का भी नाश हो जाना चाहिए; अतः मोक्ष का अभाव ही मानना चाहिए।

कर्म-नाश से संसार के समान जीव का नाश नहीं

भगवान्—संसार कर्मकृत है, अतः कर्म के नाश से संसार का नाश होना सर्वथा उपयुक्त है; किन्तु जीवत्व कर्मकृत नहीं है, अतः कर्म के नाश से जीव का नाश किसलिए मानना चाहिए ? यदि कारण की निवृत्ति हो तो कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है और व्यापक के निवृत्त होने पर व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है, यह नियम है। किन्तु कर्म जीव का न तो कारण है और न व्यापक, अतः कर्म को निवृत्ति पर जीव की निवृत्ति आवश्यक नहीं है। कर्म का चाहे अभाव हो जाए किन्तु जीव का अभाव नहीं होता, अतः मोक्ष मानने में क्या आपत्ति है ? [१६८०]

प्रभास—जीव का सर्वथा नाश नहीं होता, इसमें क्या कोई अनुमान प्रमाण है ?

जीव सर्वथा विनाशी नहीं

भगवान्—जीव विनाशी नहीं है, क्योंकि उसमें आकाश के समान विकार (प्रवयव-विच्छेद) दिखाई नहीं देता। जो विनाशी होता है उसका विकार अर्थात्

अवयव- विच्छेद घटादि की मुद्गरकृत ठीकरी के समान दिखाई देता है, अतः जीव के नित्य होने से मोक्ष भी नित्य मानना चाहिए । [१६८१]

प्रभास—हम मोक्ष को चाहे प्रतिक्षण विनाशी न मानें, किन्तु उसका कालान्तर में तो नाश मानना ही चाहिए, क्योंकि वह कृतक है जो कृतक होता है वह घट के समान कालान्तर में विनष्ट होता ही है, अतः मोक्ष का भी किसी समय नाश होना ही चाहिए ।

कृतक होने पर भी मोक्ष का नाश नहीं

भगवान्—यह ऐकान्तिक नियम नहीं है कि जो कृतक होता है वह विनाशी ही होता है । घट का प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है, अविनाशी है । अतः कृतक होने से मोक्ष विनाशी है, यह नहीं कहा जा सकता । [१६८२]

प्रभास—प्रध्वंसाभाव का उदाहरण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह खर-शृंग के समान तुच्छ है । किसी ऐसी विद्यमान वस्तु का उदाहरण देना चाहिए जो कृतक होकर भी अविनाशी हो ।

प्रध्वंसाभाव तुच्छ नहीं

भगवान्—घट का प्रध्वंसाभाव खर-शृंग के समान सर्वथा अभाव-रूप या तुच्छ-रूप नहीं है । कारण यह है कि घट के विनाश से विशिष्ट स्वरूप विद्यमान पुद्गल द्रव्य को ही घट-प्रध्वंसाभाव कहते हैं । [१६८३]

मोक्ष कृतक ही नहीं है

अब तक मैंने जो स्पष्टीकरण किया है वह तुम्हारी इस बात को सच मान कर किया है कि मोक्ष कृतक है । किन्तु मैं तुम्हें एक बात यह पूछता हूँ कि जीव में से कर्म-पुद्गलों का संयोग नष्ट हो जाने पर ऐसी क्या बात हो गई कि जिससे तुम मोक्ष को कृतक कहते हो ? तुम ही बताओ कि आकाश में संयोग सम्बन्ध से विद्यमान घट का नाश होने पर आकाश में कौनसी नवीनता का प्रादुर्भाव होता है ? आकाश तो वैसे का वैसे ही रहता है । इसी प्रकार जीव में से कर्म के संयोग का नाश हो जाने पर जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है । इससे अधिक जीव में कोई नवीनता नहीं आती । अतः मोक्ष को एकान्त कृतक नहीं मान सकते । [१६८४]

प्रभास—मुक्तात्मा की नित्यता का क्या प्रमाण है ?

मुक्तात्मा नित्य है

भगवान्—मुक्तात्मा नित्य है, क्योंकि वह द्रव्य होकर भी अमूर्त है । जैसे आकाश द्रव्य होकर भी अमूर्त होने के कारण नित्य है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी नित्य है ।

प्रभास—फिर तो आकाश के समान मुक्तात्मा को भी व्यापक मानना चाहिए ?

मुक्तात्मा व्यापक नहीं

भगवान्—आत्मा की व्यापकता अनुमान प्रमाण से बाधित है, अतः जीवात्मा को व्यापक नहीं माना जा सकता । बाधा यह है—शरीर में ही आत्मा के गुणों की उपलब्धि होने से तथा शरीर से बाहर आत्मा के गुण अनुपलब्ध होने से आत्मा शरीर-व्यापी ही है, वह सकल आकाश में व्याप्त नहीं है ।

प्रभास—किन्तु जीव आकाश के समान द्रव्य होकर भी अमूर्त होने के कारण बद्ध या मुक्त नहीं होना चाहिए । आकाश किसी भी वस्तु से बद्ध नहीं होता । यदि आकाश में बन्ध नहीं है तो मुक्ति भी नहीं है, क्योंकि मुक्ति बन्ध-सापेक्ष होती है । इसी प्रकार जीव भी आकाश-सदृश अमूर्त द्रव्य होने के कारण बन्ध मोक्ष से रहित होना चाहिए ।

जीव में बन्ध व मोक्ष हैं

भगवान्—जीव में बन्ध सम्भव है, क्योंकि उसकी दान अथवा हिंसादि क्रिया फलयुक्त होती है । बन्ध का विद्योग भी जीव में शक्य है, क्योंकि वह बन्ध संयोग-रूप होता है । जिस प्रकार सुवर्ण तथा पाषाण का अनादि-रूप संयोग भी संयोग है, इसीलिए किसी कारणवशात् उसका विद्योग होता है; उसी प्रकार आत्मा के बन्ध-रूप कर्म-संयोग का भी सम्यग् ज्ञान व क्रिया द्वारा नाश होता है । वही मोक्ष है । इस तरह आकाश-सदृश मुक्तात्मा नित्य है, इसलिए मोक्ष भी नित्य सिद्ध होता है । [१९८५]

मोक्ष नित्यानित्य है

किन्तु मेरे इस कथन से तुम्हें यह नहीं समझना चाहिए कि मैं मोक्ष को एकान्त नित्य मानने का आग्रह रखता हूँ । कारण यह है कि जब सभी वस्तुएँ उत्पाद-विनाश-स्थिति रूप हैं तब मोक्ष के लिए एकान्त नित्यता का आग्रह कैसे रखा जा सकता है ? मोक्षादि सभी पदार्थों को पर्याय नय की अपेक्षा से अनित्य कहा जा सकता है । [१९८६]

प्रभास—यदि पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं हैं तो बौद्ध यह क्यों मानते हैं कि दीप-निर्वाण के समान मोक्ष में जीव का भी नाश हो जाता है? मोक्ष दीप-निर्वाण के समान नहीं, दीप का सर्वथा नाश नहीं!

भगवान्—दीप की अग्नि का भी सर्वथा नाश नहीं होता । दीप भी प्रकाश-परिणाम को छोड़ कर अन्धकार-परिणाम को धारण करता है; जैसे कि दूध दधि रूप परिणाम को धारणा करता है और घड़े की ठीकरियाँ बनती हैं तथा ठीकरियों

की धूल । ये सभी विकार प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हैं, अतः दीप के समान जीव का भी सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता । [१६८७]

प्रभास—यदि दीप का सर्वथा नाश नहीं होता तो वह बुझने के उपरान्त साक्षात् दिखाई क्यों नहीं देता ?

भगवान्—बुझने के बाद वह अन्धकार परिणाम को प्राप्त करता है और यह प्रत्यक्ष ही है । अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह दिखाई नहीं देता । फिर भी बुझने के बाद दीप दीप के रूप में क्यों दिखाई नहीं देता? इस का समाधान यह है कि दीपक उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर परिणाम को धारणा करता है, अतः विद्यमान होकर भी वह दृष्टिगोचर नहीं होता । जैसे काले बादल बिखर जाने के बाद अपने सूक्ष्म परिणामों के कारण विद्यमान होते हुए भी आकाश में दृग्गोचर नहीं होते तथा जैसे हवा के कारण उड़ जाने वाला अंजन (सुरमा) विद्यमान होकर भी अपनी सूक्ष्म रज के कारण दिखाई नहीं देता, वैसे ही दीप भी बुझने के पश्चात् अस्तित्व-रूप होते हुए भी सूक्ष्म परिणाम के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता । अर्थात् वह अस्त होने के कारण नहीं, अपितु सूक्ष्म होने के कारण हमारे देखने में नहीं आता, इसलिए दीप का सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता । फलतः उसके दृष्टान्त से निर्वाण में जीव का सर्वथा अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता । [१६८८]

प्रभास—पहले दीप आँखों से दिखाई देता था किन्तु बुझने के बाद वह सूक्ष्मतादि के कारण दिखाई नहीं देता, यह बात आपने कही है, किन्तु वह सूक्ष्म क्योंकर हो जाता है ?

पुद्गल के स्वभाव का निरूपण

भगवान्—पुद्गल का ऐसा स्वभाव है कि वह विचित्र परिणाम धारण करता है । इसीलिए सुवर्णपत्र, नमक, सूँठ, हरड़, चित्रक, (एरण्ड), गुड़ ये सभी पुद्गल-स्कन्ध प्रथम चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं, किन्तु अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव-रूप सामग्री मिलने से वे ऐसे बन जाते हैं कि तत्-तद् इन्द्रिय ग्राह्य न रह कर अन्य इन्द्रिय से ग्राह्य हो सकते हैं अथवा वे किसी अवस्था में इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य भी बन जाते हैं । जैसे कि यदि सोने का पत्र बनाया हो तो वह सोना चक्षु इन्द्रियों से गृहीत किया जाता है, किन्तु यदि उसे शुद्धि के उद्देश्य से भट्टी में डाला जाए और वह राख के साथ मिल जाए तो वह आँखों से दिखाई नहीं देता किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उसका ज्ञान हो सकता है । तदुपरान्त यदि पुनः प्रयोग द्वा । सुवर्ण को भस्म से पृथक् किया जाए तो वह पुनः आँखों से दिखाई देने लगता है । इसी प्रकार नमक, सूँठ, हरड़, एरण्ड, गुड़ ये सब पहले तो आँखों द्वारा उपलब्ध होते हैं, किन्तु यदि उन्हें सूप में मिला दिया जाए अथवा उनका चूर्ण बनाया जाए तो वे क्वाथ, चूर्ण, अवलेह आदि परिणामान्तर को प्राप्त करते हैं, अतः वे केवल आँखों

से गृहीत नहीं होने, परन्तु जीभ उसका ग्रहण कर सकती है। कस्तूरी अथवा कपूर के सन्मुख रखे हुए पुद्गल आँखों से दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु यदि वायु उन्हें अन्यत्र ले जाए तो उनका ग्रहण आँख के स्थान पर नाक से हो सकता है; यदि उसमें व्यवधान बढ़ जाए तो सूक्ष्म हो जाने के कारण वे नाक से भी गृहीत नहीं होते। नाक अधिक से अधिक नव-योजन तक के प्रदेश से आने वाली गन्ध को जान सकता है। इसी तरह नमक चक्षुर्ग्राह्य है परन्तु पानी में मिला देने के पश्चात् वह रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है, चक्षुर्ग्राह्य नहीं रहता। उसी पानी को यदि उवाला जाए तो नमक पुनः आँखों से दिखाई देने लगता है। इस प्रकार पुद्गलों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे देश कालादि की सामग्री के भेद से विचित्र परिणाम प्राप्त करते हैं। इसीलिए दीपक पहले चक्षुर्ग्राह्य होता है परन्तु बुझ जाने के बाद वह आँख से दिखाई नहीं देता, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। [१६८६]

अपि च, वायु स्पर्शनेन्द्रिय से ही ग्राह्य है, रस जीभ से ही, गन्ध नाक से ही, रूप चक्षु से ही तथा शब्द श्रोत्र से ही। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थ किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने पर भी परिणामान्तर को प्राप्त कर अन्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने की योग्यता वाले बन जाते हैं, उसी प्रकार दीपाग्नि भी पहले आँखों से उपलब्ध थी, किन्तु बुझ जाने पर उसकी गन्ध आती है, अतः वह घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य बन जाती है, ऐसा मानना चाहिए। अतः यह नहीं माना जा सकता कि दीप का सर्वथा नाश हो जाता है। [१६९०]

इस प्रकार दीप जब निर्वाण प्राप्त करता है तब वह परिणामान्तर को प्राप्त होता है, सर्वथा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी जब परिनिर्वाण प्राप्त करता है तब वह सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। वह तो निराबाध—आत्यन्तिक सुख-रूप परिणामान्तर को प्राप्त करता है। अतः दुःख-क्षय से युक्त जीव का विशेषावस्था को ही निर्वाण मानना चाहिए। [१६९१]

प्रभास—यदि आत्मा की दुःख-क्षय वाली अवस्था ही मोक्ष है और उसमें शब्दादि विषयों का उपभोग नहीं है तो फिर मुक्तात्मा को सुख कहाँ से प्राप्त होता है? दुःख का अभाव ही सुख नहीं कहलाता?

विषय-भोग के अभाव में भा मुक्त को सुख होता है

भगवान्—मुक्त जीव को परम मुनि के समान अकृत्रिम, मिथ्याभिमान से रहित स्वाभाविक प्रकृष्ट सुख होता है, क्योंकि प्रकृष्ट ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसमें जन्म, जरा, व्याधि, मरण, इष्ट-विद्योग, अरति, शोक, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, काम, क्रोध, मद, शाठ्य, तृष्णा, राग-द्वेष, चिन्ता, औत्सुक्य आदि समस्त बाधाओं का अभाव होता है। काष्ठादि जड़ पदार्थों में भी जन्मादि की बाधा नहीं होती, किन्तु उन्हें सुखो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें ज्ञान का अभाव है। मुक्तात्मा में ज्ञान भी है और बाधा-विरह भी, अतः उसमें सुख भी है।

प्रभास—यह कैसे ज्ञात होगा कि मुक्तात्मा परम जानी है और उसमें जन्म-जरादि कोई भी बाधा नहीं है ?

भगवान्—ज्ञान के आवरण का सर्वथा अभाव होने से मुक्तात्मा परम जानी है। आवरण का अभाव इसलिए है कि मुक्तात्मा में ज्ञानावरण के हेतुओं का ही अभाव है। मुक्तात्मा में जन्म-जरादि बाधा का भी अभाव है, क्योंकि बाधा के हेतु-भूत वेदनीय आदि समस्त कर्मों का मुक्तात्मा में अभाव होता है। इसी वस्तु को अनुमान प्रमाण से हम निम्न प्रकारेण कह सकते हैं—मुक्तात्मा चन्द्र के समान स्वाभाविक स्वप्रकाश से प्रकाशित है, क्योंकि उसमें प्रकाश के समस्त आवरणों का अभाव हो गया है। कहा भी है—

“स्वाभाविक भावशुद्धि सहित जीव चन्द्र के समान है, चन्द्रिका के समान उसका विज्ञान है तथा बादलों के सङ्घन उसका आवरण है।” तथा मुक्तात्मा ज्वरापगम से नोरोग हुए व्यक्ति के समान अनाबाध सुख वाला है क्योंकि उसमें बाधा के समस्त हेतुओं का अभाव है। कहा भी है—“बाधा के अभाव तथा सर्वज्ञता के कारण मुक्त जीव परमसुखी होता है। बाधा का अभाव ही स्वच्छ ज्ञान का परम सुख होता है।” [१६६२]

प्रभास—प्रायः मुक्तात्मा को परम जानी कहते हैं, किन्तु वस्तुतः वह अज्ञानी है; क्योंकि प्राकाश के समान उसमें भी करण (ज्ञान साधन इन्द्रियों) का अभाव है।

इन्द्रियों के अभाव में भी मुक्त जानी है

भगवान्—करणों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के अभाव के कारण यदि तुम मुक्त जीव को अज्ञानी सिद्ध करते हो तो उसी हेतु से आकाश के दृष्टान्त से मुक्तात्मा अजीव भी सिद्ध होगी। ऐसी स्थिति में तुम्हारे द्वारा दिया गया हेतु ‘ज्ञानेन्द्रिय का अभाव’ विरुद्ध हो जाएगा, अर्थात् वह सद्धेतु नहीं रहेगा। विरुद्ध ही जाने का कारण यह है कि इस हेतु से मुक्तात्मा के तुम्हें अभाष्य जीव-स्वरूप के सर्वथा विरुद्ध अजीवत्व की सिद्धि होगी। मुक्तात्मा को अज्ञानी मान कर भी तुम उसे जीव तो मानते ही हो, किन्तु ‘करण का अभाव’ हेतु मुक्तात्मा को अजीव सिद्ध करेगा।

प्रभास—उक्त हेतु विरुद्ध नहीं है। कारण यह है कि मैं मुक्तात्मा को जीव ही मानने का आग्रह नहीं करता। मुझे इतने कोई आपत्ति नहीं कि उक्त हेतु से

1. स्थितः शीतोऽगुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया ।

चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत् ॥ योगदृष्टिममुच्चय 181.

2. स व्याबाधाभावात् सर्वज्ञत्वाच्च भवति परमसुखी ।

व्याबाधाभावोऽत्र स्वच्छस्य तस्य परमसुखत्वं ॥ तत्त्वार्थ-भाष्य-टीका पृ० 318 (द्वितीयः भागः)

मुक्तात्मा अजीव सिद्ध होती है, किन्तु यदि आप उसी हेतु से मुक्तात्मा को अजीव मानते हैं तो आपका सिद्धान्त अवश्यमेव दूषित हो जाता है; क्योंकि आप मुक्तात्मा को अजीव न मान कर जीव ही स्वीकार करते हैं। फलतः यह आपत्ति मेरे सिद्धान्त पर लागू न होकर आपके सिद्धान्त पर ही लागू होती है।

भगवान्—केवल करणाभाव के कारण तुम आत्मा में आकाश के समान अज्ञान सिद्ध करते हो, इसलिए मैंने तुम्हारी बात पर उक्त आपत्ति की है कि मुक्तात्मा अजीव भी सिद्ध होगी। वस्तुतः मुक्तात्मा अज्ञानी भी नहीं है और अजीव भी नहीं है। [१६६३]

प्रभास—पहले यह बताएँ कि मुक्तावस्था में जीव अजीव क्यों नहीं बन जाता? आकाश में करण का अभाव है, इसलिए वह अजीव है। इसी प्रकार मुक्त में भी करणाभाव हो जाता है, अतः यह बात भावनी चाहिए कि वह भी अजीव हो जाता है।

मुक्तात्मा अजीव नहीं बनता

भगवान्—मुक्तावस्था में जीव अजीव रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु को स्वाभाविक जाति अत्यन्त विपरीत जाति-रूप में परिणत नहीं हो सकती। जीव में जीवत्व, द्रव्यत्व तथा अमूर्तत्व के समान स्वाभाविक जाति है, इसलिए जैसे जीव कभी भी द्रव्य के स्थान पर अद्रव्य तथा अमूर्त के स्थान पर मूर्त नहीं हो सकता उसी प्रकार जीव के स्थान पर अजीव भी नहीं हो सकता। जैसे आकाश की अजीव जाति स्वाभाविक है, इसलिए वह कभी भी अत्यन्त विपरीत-रूप जीवत्व जाति में परिणत नहीं हो सकती, वैसे ही जीव की स्वाभाविक जीवत्व जाति अत्यन्त विपरीत स्वरूप अजीवत्व जाति में परिणत नहीं हो सकती।

प्रभास—यदि मुक्तात्मा कभी भी अजीव नहीं बनता तो आपने यह बात कैसे प्रतिपादित की कि करणाभाव से मुक्तात्मा अजीव भी बन जाएगा?

भगवान्—मैं तुम्हें यह बता ही चुका हूँ कि मेरा यह हेतु स्वतन्त्र हेतु नहीं है, अर्थात् मैंने स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग कर मुक्तात्मा को अजीव सिद्ध नहीं किया है किन्तु जो लोग करणों के अभाव के कारण मुक्त जीवों को अज्ञानी मानते हैं, उन्हें उसी आधार पर मुक्त जीवों को अजीव भी मानना चाहिए, यह प्रसंगापादन (अनिष्टापादन) मैंने किया है। वस्तुतः इस हेतु से अर्थात् करण के अभाव से मुक्तात्मा अजीव सिद्ध नहीं होती है।

प्रभास—यह कैसे?

भगवान्—उक्त हेतु में व्याप्ति (प्रतिबन्ध) का अभाव है, अतः इस से साध्य सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रभास—आप यह किसलिए कहते हैं कि व्याप्ति का अभाव है?

भगवान्—व्याप्ति के नियामक दो सम्बन्ध हैं कार्य-कारण भाव तथा व्याप्य-व्यापक भाव । इन दोनों में से प्रस्तुत हेतु (भाव्य) में एक भी सम्बन्ध घटित नहीं होता, इसलिए प्रतिबन्ध का अभाव है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— यदि जीवत्व करणों या इन्द्रियों का कार्य हो, जैसे कि धूम अग्नि का कार्य है तो अग्नि के अभाव में धूम के अभाव के समान, करणों के अभाव में जीवत्व का भी अभाव हो जाए । किन्तु जीवत्व जीव का अनादि-निधन पारिणामिक भाव होने से नित्य है, इसलिए वह किसी का भी कार्य नहीं बन सकता, अतः करणों का अभाव होने पर भी जीवत्व का अभाव नहीं माना जा सकता ।

अपि च, यदि जीवत्व करणों का व्याप्य हो जैसे कि शिक्षा वृक्षत्व का व्याप्य है, तो व्यापक वृक्षत्व के अभाव में शिक्षा के समान करणों के अभाव में जीवत्व का भी अभाव हो जाएगा, किन्तु जीवत्व तथा करणों में व्याप्य-व्यापक भाव ही नहीं है, क्योंकि दोनों अत्यन्त विलक्षण हैं । करण मूर्त या पौद्गलिक है जब कि जीव अमूर्त होने के कारण उनसे अत्यन्त विलक्षण है, अतः करणभाव में भी जीवत्व का अभाव नहीं होता । फलतः मुक्तावस्था में भी जीवत्व है ही । [१६६४]

प्रभास—मुक्तात्मा में जीवत्व चाहे मान लिया जाए किन्तु आकाश के समान करण-हीन होने के कारण उसे जानो कैसे माना जा सकता है ?

इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान है

भगवान्—इन्द्रियादि करण मूर्त होने के कारण घटादि के समान उपलब्धि क्रिया (ज्ञान-क्रिया) का कर्ता नहीं बन सकते । वे केवल ज्ञान-क्रिया के द्वार हैं, साधन हैं । उपलब्धि का कर्ता तो जीव ही है । [१६६५]

ज्ञान का अन्वयव्यतिरेक आत्मा के साथ है, इन्द्रियों के साथ नहीं । कारण यह है कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाने पर भी स्मरणादि ज्ञान होते हैं तथा इन्द्रियों के व्यापार के अस्तित्व में भी अन्यमनस्क आत्मा को ज्ञान नहीं होता । अतः यह नहीं माना जा सकता कि इन्द्रियों के होने पर ही ज्ञान होता है तथा मुक्तात्मा में इन्द्रियों का अभाव होने से वह अज्ञानो (ज्ञानाभावयुक्त) है । करणों से भिन्न आत्मा ही ज्ञान प्राप्त करती है । जैसे घर के भरोखे से देवदत्त देखता है वैसे ही आत्मा इन्द्रियरूपो भरोखों से ज्ञान प्राप्त करती है । घर का ध्वंस होने पर देवदत्त के ज्ञान का विस्तार बढ़ जाता है । इसी प्रकार शरीर का नाश हो जाने पर इन्द्रिय-रहित आत्मा ही निर्बाध रूप से समस्त वस्तुओं का ज्ञान करने में समर्थ होती है ? । [१६६६]

1.-2. इस भावार्थ वाली गाथाएं पहले भी आई हैं—1657-1660.

अपि च, यह कहना विरुद्ध है कि मुक्तात्मा में ज्ञान का अभाव है । कारण यह है कि ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है । जैसे परमाणु कभी भी रूपादि से रहित नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी ज्ञानरहित नहीं हो सकती । अतः यह कहना परस्पर विरुद्ध है कि 'आत्मा है' और 'वह ज्ञानरहित है ।' स्वरूप के बिना स्वरूपवात् की स्थिति सम्भव नहीं है । मैं तुम्हें पहले ही यह समझा चुका हूँ कि जीव¹ कभी भी विलक्षण जाति के परिणाम को प्राप्त नहीं करता । अर्थात् यदि जीव ज्ञान-रहित हो जाए तो वह जड़ बन जाएगा । जीव व जड़ परस्पर अत्यन्त विलक्षण जाति वाले द्रव्य हैं, अतः जीव कभी भी जड़ नहीं बन सकता । अर्थात् जीव में कभी भी ज्ञान का अभाव नहीं होता । [१६६७]

प्रभास—आप यह कैसे कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है ?

आत्मा ज्ञान स्वरूप है

भगवान्—यह बात सब को स्वानुभव से ज्ञात है कि हमारी आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अर्थात् स्वात्मा की ज्ञान-स्वरूपता स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है । हमारा यह अनुभव है कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाने पर भी आत्मा इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण कर सकती है तथा इन्द्रिय-व्यापार की उपस्थिति में भी अन्वयमनस्कता के कारण उसे ज्ञान नहीं होता । इसके अतिरिक्त कभी-कभी आँखों से अदृष्ट तथा कानों से अश्रुत अर्थ का भी स्फुरण हो जाता है । इन सब कारणों के आधार पर हम यह निर्णय कर ही लेते हैं कि हमारी आत्मा ज्ञान स्वरूप है । तुम्हें भी यह अनुभव होता ही होगा । अतः आश्चर्य है कि तुम आत्मा की ज्ञान-स्वरूपता में सन्देह करते हो ।

जैसे हमारी आत्मा ज्ञान स्वरूप है वैसे ही परदेह में विद्यमान आत्मा भी उसी प्रकार की है, यह बात तुम अनुमान से जान सकते हो । इस अनुमान का रूप यह होगा—परदेह-गत आत्मा भी ज्ञान स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति है । यदि परदेह-गत आत्मा ज्ञान-स्वभाव न हो तो वह स्वात्मा के समान इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति नहीं कर सकती, अतः उसे ज्ञान स्वरूप ही मानना चाहिए । [१६६८]

पुनश्च, मुक्तात्मा को अज्ञानी कह कर तुम महान् विपर्यास करते हो । देह युक्त अवस्था में जब तक जीव वीतराग नहीं हो जाता तब तक उसके ज्ञान पर आवरण होते हैं, अतः वह सब कुछ नहीं जान सकता; किन्तु देह का नाश होने पर उस आत्मा के सभी आवरण दूर हो जाते हैं, अतः वह शुद्धतर होकर स्वच्छ आकाश में विद्यमान सूर्य के समान अपने सम्पूर्ण ज्ञान-स्वरूप में प्रकाशित होती है । इन्द्रियाँ प्रकाश या ज्ञान-स्वरूप नहीं है जिससे कि उनके अभाव में आत्मा में ज्ञान

का अभाव हो जाए, अर्थात् यदि इन्द्रियाँ प्रकाश रूप होती तो उनके अभाव में आत्मा अज्ञानी बन जाती, किन्तु वस्तुतः इन्द्रियाँ प्रकाश रूप नहीं हैं, अतः उनके अभाव में आत्मा में ज्ञान का अभाव नहीं होता । [१६६६]

जैसे प्रकाशमान प्रदीप को छिद्र युक्त आवरण से ढक देने पर वह अपना प्रकाश उन छिद्रों द्वारा फेलाने के कारण उसे किञ्चिन्मात्र ही फेला सकता है, वैसे ही प्रकाश-स्वरूप आत्मा भी आवरणों का क्षयोपशम होने पर इन्द्रियरूप छिद्रों द्वारा अपना प्रकाश अत्यन्त अल्प हो फेला सकती है । [२०००]

किन्तु मुक्तात्मा में आवरणों का सर्वथा अभाव होता है, अतः वह अपने सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित होती है । अर्थात् संसार में जो कुछ है, वह उसे जान सकती है—वह सर्वज्ञ बन जाती है । जैसे घर में बैठ कर खिड़की, दरवाजे से देखने वाला मनुष्य बहुत कम देख सकता है, किन्तु घर का ध्वंस होने पर या घर से बाहर आने पर उसके ज्ञान का विस्तार अधिक हो जाता है, अथवा जैसे प्रदीप पर पड़े हुए छिद्र युक्त आवरण को दूर करने देने पर वह अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित होता है, वैसे ही आत्मा भी अपने समस्त आवरणों के दूर हो जाने के कारण सम्पूर्ण रूपेण प्रकाशित होती है । इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि मुक्त आत्मा ज्ञानी है । [२००१]

प्रभास—आत्मा ज्ञान स्वरूप है अतः मुक्तात्मा सर्वज्ञ है, यह बात तो समझ में आ गई, किन्तु आप का यह कथन कि मुक्तात्मा का सुख निराबाध होता है, युक्त नहीं है । कारण यह है कि पुण्य से सुख होता है और पाप से दुःख । मुक्तात्मा के सर्व कर्मों का नाश हो जाता है, अतः उसमें सुख-दुःख दोनों में से कुछ भी नहीं होता । इसलिए मुक्तात्मा में आकाश के समान सुख अथवा दुःख कुछ भी नहीं होना चाहिए । [२००२]

अन्य प्रकार से भी मुक्तात्मा सुख-दुःख विहीन सिद्ध होती है । सुख या दुःख की उपलब्धि का आधार देह है, मुक्त में देह या इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं होती, अतः उसमें भी आकाश के सदृश सुख-दुःख का अभाव होना चाहिए । [२००३]

पुण्य के अभाव में भी मुक्त सुखी हैं, पुण्य का फल सुख नहीं है

भगवान्—तुम पुण्य के फल को सुख कहते हो, यह तुम्हारा महान् भ्रम है । वस्तुतः पुण्य का फल भी दुःख ही है । कारण यह है कि वह कर्म के उदय से होता है, अर्थात् वह कर्म-जन्य है । जो कर्म-जन्य होता है वह पाप के फल के समान सुख नहीं हो सकता, केवल दुःख रूप होता है ।

प्रभास—फिर तो पाप के फल के विषय में मैं भी विरोधी अनुमान उपस्थित कर सकता हूँ कि पाप का फल भी वस्तुतः सुख रूप ही है, क्योंकि वह कर्म के उदय

से होता है। जो कर्म के उदय से सम्पन्न हो वह पुण्य के फल के समान सुख रूप ही होता है। पाप का फल भी कर्मोदयजन्य होने के कारण सुख रूप होना चाहिए।

अपि च, पुण्य के फल का संवेदन जीव को अनुकूल प्रतीत होता है, अतः वह सुख रूप है। फिर भी आप उसे दुःख रूप कहते हैं। इससे आप की यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है। जो बान स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से सुख रूप प्रतीत होती है उसे आप दुःख रूप मानते हैं, अतएव आपका कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। [२००४]

भगवान्—सौम्य ! तुम जिसे सुख का प्रत्यक्ष कहते हो वह अभ्रान्त अथवा यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु भ्रान्त या अयथार्थ प्रत्यक्ष है। इसलिए मैं तुम्हारे द्वारा मान्य प्रत्यक्ष सुख को दुःख रूप बताता हूँ। इस में प्रत्यक्ष विरोध नहीं है। तुम जिसे प्रत्यक्ष सुख कहते हो वह सुख नहीं किन्तु दुःख ही है। सच्ची बात तो यह है कि संसार में ग्रस्त जीव को कहीं भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। तुम जिसे सुख मानते हो वह व्याधि के प्रतिकार के समान है। किसी मनुष्य के दाद हो गया हो और मीठी खुजली होती हो, तो उसे खुजलाते हुए जिस सुख का अनुभव होता है वह वस्तुतः सुख न होकर सुखाभास अथवा दुःख है। अविवेक के कारण जीव सुखाभास को भी सुख समझ लेता है। सब जानते हैं कि खुजलाने से खुजली बढ़ती ही है, अतः जिसका परिणाम दुःख रूप हो उसे सुख न समझ कर दुःख ही मानना चाहिए। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों के विषय में भी यह बात कही जा सकती है। मनुष्य में एक लालसा (औत्सुक्य, वामना) होती है, उसकी तृप्ति या प्रतिकार के लिए वह काम-भोग भोगता है। वस्तुतः उसका भोग केवल लालसा का प्रतिकार ही है। उसमें यथार्थरूपेण दुःख होता है, किन्तु मूढ़तावश मनुष्य उसे सुख मान लेता है। इसीलिए जो सुख रूप नहीं है, वह अयथार्थतः सुख रूप प्रतीत होता है। जैसे कि “जो कामावेशी पुरुष होता है वह प्रेत के समान नग्न होकर शब्द करती हुई उपस्थित स्त्री का आलिंगन कर अपने समस्त अँगों में अत्यन्त क्लान्ति प्राप्त करके भी मानो वह सुखी हो इस प्रकार मिथ्या रति (शान्ति, आराम) का अनुभव करता है।”

राज्य में सुख है, यह बात भी मूढमति ही मानते हैं, किन्तु अनुभवी राजा का तो वचन है कि “जब तक व्यक्ति राजा नहीं बनता, तब तक ही उत्सुकता होती है, केवल इस उत्सुकता को ही पूर्ण राज्य को प्रतिष्ठा द्वारा होती है। परन्तु तदुपरान्त प्राप्त राज्य को सार-सम्भार का विना ही दुःख दिया करती है। इस

1. नग्नः प्रेत इवाविष्टः क्वणन्तीमुपगृह्यताम् ।

गाढःपासितसर्वाङ्गः स सुखी रमते क्विल ॥

प्रकार राज्य उस छत्र के समान है जिसका दण्ड हाथ में पकड़ना पड़ता है और जो परिणाम-स्वरूप श्रम कम करने के स्थान पर उसे बढ़ाता है।”

संसार के काम-भोगों में छद्मस्थ (रागी) को सुख प्रतीत होता है। वैराग्य-युक्त पुरुष तब उनके विषय में यह सोचता है कि—“अपनी सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले वैभवों का उपभोग किया, इससे क्या? अपने धन से प्रियजनों को सन्तुष्ट किया, इससे क्या? अपने शत्रुओं के मस्तक के ऊपर पग रखा, इससे क्या? इस देहधारी का शरीर कल्प पर्यन्त रहे, इस से भी क्या?”

“इस प्रकार सभी साधन-साध्य कोई भी वस्तु सत् नहीं है। यह केवल स्वप्नजाल के समान परमार्थ-शून्य है। हे मनुष्यों! यदि तुम में समझ है तो तुम एकान्त शान्ति करने वाले सर्वथा निराबाध-रूप ब्रह्म की अभिलाषा करो।” अतः पुण्य के फल को तत्त्वतः दुःख ही मानना चाहिए। [२००५]

मेरे इस कथन के समर्थन में अनुमान भी उपस्थित किया जा सकता है। विषयजन्य सुख दुःख ही है, क्योंकि वह दुःख के प्रतिकार के रूप में है। जो वस्तु दुःख के प्रतिकार रूप में हो वह कुष्ठादि रोग के प्रतिकार रूप ववाथ-पानादि चिकित्सा के समान दुःख रूप ही होती है।

प्रभास—यदि यह बात है तो सब लोग इसे सुख क्यों कहते हैं?

भगवान्—सुख रूप न होने पर भी लोग इसे उपचार से सुख कहते हैं तथा उपचार किसी भी स्थान में विद्यमान पारमार्थिक सुख के बिना घट नहीं सकता। [२००६]

अतः मुक्त जीव के सुख को पारमार्थिक या सच्चा सुख मानना चाहिए तथा विषयजन्य सुख को औपचारिक सुख मानना चाहिए। कारण यह है कि विशिष्ट ज्ञानी तथा बाधा रहित मुनि के सुख के समान मुक्त के सुख की उत्पत्ति भी सर्व दुःख के क्षय द्वारा होने से स्वाभाविक है; अर्थात् इस सुख की उत्पत्ति बाह्य वस्तु के

1. औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा, क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तगतदण्डमियातपत्रम् ॥

अभिज्ञानशाकुन्तल 5.6.

2. भुक्ताः श्रियः सकलकामदुष्वास्ततः किम् ?
संप्रीणिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ? ॥
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ?
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ? ॥

3. इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यजातं स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
अत्यन्तनिर्वृत्तिकरं यदपेतबाधं तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति ॥

संसर्ग से निरपेक्ष है । इसलिए मात्र व्याधि के प्रतिकार रूप में उत्पन्न होने वाले संसार के सुखों के समान मुक्त का सुख प्रतिकार रूप में नहीं, किन्तु निष्प्रतिकार रूप में उत्पन्न होता है । अतः वह मुख्य सुख है तथा प्रतिकार रूप सांसारिक सुख औपचारिक है । अर्थात् वस्तुतः वह दुःख ही है । कहा भी है—

“जिसने मद तथा मदन पर विजय प्राप्त की है, जो मन-वचन-काय के समस्त विकारों से शून्य है, जो परवस्तु की आकांक्षा से रहित है, ऐसे संयमी महापुरुष के लिए यही मोक्ष है।” [२००७]

अथवा अन्य प्रकार से भी मुक्त में ज्ञान के समान सुख की सिद्धि हो सकती है । वह इस प्रकार होगी—जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञानमय है, किन्तु उसके उस ज्ञान का मतिज्ञानावरणादि से उपघात होता है, जैसे बादल सूर्य के प्रकाश का उपघात करते हैं । आवरण रूप बादलों में छिद्र हों तो वे सूर्य के प्रकाश के उपकारी बनते हैं, उसी प्रकार आत्मा के सहज प्रकाश ज्ञान पर भी इन्द्रिय रूपी छिद्र अनुग्रह करते हैं, क्योंकि उन छिद्रों के द्वारा आत्मा का प्रकाश स्वल्प रूप में प्रकाशित होता है किन्तु ज्ञानावरण का सर्वथाभाव होने पर सूर्य के प्रकाश के समान ज्ञान अपने सम्पूर्ण शुद्ध रूप से प्रकाशित होता है । [२००८]

इसी प्रकार आत्मा स्वरूपतः स्वाभाविक अनन्त सुखमय भी है । उसके उस सुख का पाप-कर्म द्वारा उपघात होता है तथा पुण्य-कर्म उस सुख का अनुग्रह या उपकार करने वाला है, किन्तु जब सर्व कर्म का नाश हो जाता है तब प्रकृत ज्ञान के समान सकल, परिपूर्ण, निरुपचरित तथा निरुपम स्वाभाविक अनन्त सुख सिद्ध में प्रकट होता है । [२००९]

प्रभास—संसार में सुख पुण्य-रूप कारण से उत्पन्न होता है, वह स्वाभाविक नहीं है । मोक्ष में पुण्य कर्म है ही नहीं । अतः कारण के अभाव से सुख रूप कार्य का सिद्ध में अभाव ही मानना चाहिए ।

भगवान्—मैं ने सुख को स्वाभाविक सिद्ध किया है । फिर भी तुम्हारा उपर्युक्त बात पर आग्रह हो तो मैं कहूँगा कि तुम इस विषय में भी भूल करते हो । सकल कर्म का क्षय ही सिद्ध के सुख का कारण है, अतः तुम यह नहीं कह सकते कि इसमें कारण का अभाव । जैसे जीव सकल कर्मों के क्षय होने से सिद्धत्व परिणाम को प्राप्त करता है वैसे ही वह संसार में अनुपलब्ध तथा विषयजन्य सुख से सर्वथा विलक्षण निरुपम सुख सकल कर्म क्षय के कारण प्राप्त करता है । [२०१०]

1. निजितमदमदानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।

विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ प्रशमरति 238.

प्रभास—किन्तु देह के बिना सुख की उपलब्धि नहीं होती, देह ही सुख का आधार है। सिद्ध में देह नहीं होता, अतः उसे सुख का अनुभव नहीं हो सकता। आपने मेरी इस आपत्ति का अब तक उत्तर नहीं दिया है।

देह के बिना भी सुख का अनुभव

भगवान्—मैं तुम्हें समझा चुका हूँ कि लोकलुब्धि से तुम जिस पुण्य के फल को सात (सुख) समझ रहे हो वह वस्तुतः दुःख ही है। पाप का फल तो असात या दुःख है ही। अतः शरीर से जिसकी उपलब्धि होती है वह तो केवल दुःख ही है। संसार के अभाव में यह दुःख नहीं होता, अतः सच्चा सुख सिद्ध को ही मिलता है। अर्थात् यह बात फलित होती है कि शरीर-इन्द्रिय आदि साधनों से जो उपलब्ध होता है वह दुःख ही है तथा सुख की प्राप्ति के लिए शरीरादि का अभाव आवश्यक है। परिणामतः सिद्ध हो शरीर आदि के अभाव के कारण सुख को उपलब्धि कर सकते हैं। [२०११]

अथवा, तुमने जो आपत्ति उपस्थित की है वह एक अपेक्षा से ठीक भो है। जो लोग संसाराभिनन्दी अथवा मोहमूढ हैं वे परमार्थ को नहीं देख सकते, अतः उन्हें जो विषयजन्य सुख शरीरेन्द्रिय द्वारा उपलब्ध होता है, उसे ही वे सुख मान लेते हैं। उनके मतानुसार विषयातीत सुख सम्भव ही नहीं है क्योंकि उन्हें स्वप्न में भी ऐसे सुख का अनुभव नहीं होता। तुम्हारी यह आपत्ति कि, सिद्ध में शरीरेन्द्रिय के अभाव के कारण सुख भी नहीं होता, उक्त मत की अपेक्षा से घटित हो जाती है। किन्तु मैं तो सिद्ध के सुख को सांसारिक सुख की सीमा को पार करने वाला धर्मान्तर रूप अत्यन्त विलक्षण सुख मानता हूँ। उसके अनुभव के लिए सांसारिक सुख के अनुभव के समान शरीरादि की अपेक्षा ही नहीं है। [२०१२]

प्रभास—आपके मानने से क्या होना है? इसे प्रमाण से सिद्ध करना चाहिए।

सिद्ध का सुख व ज्ञान नित्य है

भगवान्—मैं प्रमाण पहले ही बता चुका हूँ कि मुक्तात्मा में प्रकृष्ट सुख है, क्योंकि वह मुनि के समान प्रकृष्ट ज्ञानो होकर बाधा रहित है।

प्रभास—सिद्ध के सुख व ज्ञान चेतन-धर्म होने के कारण रागादि के समान अनित्य होने चाहिएँ। इसके आतिरिक्त वे तपस्यादि से साध्य होने के कारण कृतक हैं, इसलिए भी वे घटादि के समान अनित्य होने चाहिएँ। अपूर्व-रूप में उत्पन्न होने के कारण भी वे अनित्य ही समझे जाने चाहिएँ किन्तु आप उन्हें नित्य मानते हैं, यह अयुक्त है।

भगवान्—यदि ज्ञान व सुख का सिद्ध में नाश होता हो तो उन्हें अनित्य माना जा सकता है। ज्ञान का नाश ज्ञानावरण के उदय से होता है तथा सुख का नाश असात वेदनीयादि के उदय से हाने वाली बाधा से होता है, किन्तु सिद्ध में सहज ज्ञान तथा सुख के नाश के उक्त दोनों कारणों का अभाव है, अतः उनका नाश नहीं होता; फिर उन्हें अनित्य कैसे माना जाए ?

यह नियम भी ठीक नहीं है कि जो चेतन-धर्म हो उसे रागादि के समान अनित्य ही होना चाहिए, क्योंकि द्रव्यत्व, अमूर्तत्व आदि चेतन-धर्म होने पर भी वे नित्य हैं।

तुम्हारा यह कथन भी असंगत है कि कृतक होने से तथा अपूर्व उत्पन्न होने से सिद्ध के ज्ञान व सुख अनित्य हैं।

प्रध्वंसाभाव कृतक है और अपूर्व उत्पन्न होता है, परन्तु वह अनित्य न होकर नित्य है। इसके अतिरिक्त सिद्ध के ज्ञान व सुख स्वाभाविक हैं, अतः उन्हें कृतकादि रूप नहीं माना जा सकता; इसलिए ये हेतु ही असिद्ध हैं। आवरण के कारण उनका जो तिरोभाव था वह आवरण के दूर हो जाने से निवृत्त हो जाता है। फिर यह कैसे कह सकते हैं कि ज्ञान और सुख सर्वथा नवीन उत्पन्न हुए हैं। बादलों से ढका हुआ सूर्य बादलों के हट जाने से उसके प्रकट होने पर कृतक अथवा अपूर्वोत्पन्न नहीं कहलाता, वैसे ही आवरण और बाधा का अभाव होने पर सिद्ध के स्वाभाविक ज्ञान व सुख प्रकट होते हैं; उन्हें कृतक या अपूर्वोत्पन्न नहीं कह सकते।

सुख व ज्ञान अनित्य भी हैं

अपि च, मैं तो सभी पदार्थों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त मानता हूँ, अर्थात् नित्यानित्य मानता हूँ। अतः मेरे मत में ज्ञान व सुख नित्य भी हैं और अनित्य भी। यदि तुम आविर्भाव रूप विशिष्ट पर्याय की अपेक्षा से सुख और ज्ञान को कृतक होने से अनित्य मानों तो यह बात युक्त ही है। प्रत्येक क्षण में पर्याय रूप से ज्ञेय का विनाश होने के कारण ज्ञान का भी नाश होता है तथा सुख का भी प्रत्येक क्षण नवीन परिणाम उत्पन्न होता है। इस आधार पर ज्ञान और सुख को यदि तुम अनित्य मानो तो इसमें कोई नवीनता नहीं है। इस तरह तुम उसी बात को सिद्ध करते हो जो मुझे भी इष्ट है। [२०१३-१४]

प्रभास—आपकी युक्तियों से मैं यह तो समझ गया हूँ कि निर्वाण है, उसमें जीव विद्यमान रहता है तथा निर्वाणावस्था में जीव को निरूपम सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु इस बात को वेद के आधार पर कैसे सिद्ध किया जाए और वेद-वाक्यों की असंगति कैसे दूर हो ? कृपा कर यह भी आप बताएँ।

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—यदि मोक्ष न हो, मोक्ष में जीव का नाश हो जाता हो तथा मोक्ष में निरूपम सुख का अभाव हो तो निम्न वेद-वाक्य असंगत हो जाता है—“न ह वै अशरीरस्य प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।” अतः इस वाक्य का तात्पर्य मोक्ष का अस्तित्व, मोक्ष में जीव का अस्तित्व तथा निरूपम सुख का अस्तित्व प्रतिपादित करना है । इसलिए ‘मतिरपि न प्रजायते’ इस वाक्य का आधार लेकर मोक्षावस्था में जीव का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता । [२०१५]

प्रभास—‘मतिरपि न प्रजायते’ इस वाक्य में जो यह कहा गया है कि जीव का मोक्ष में नाश हो जाता है, उसी का समर्थन आप द्वारा कथित उक्त वेद-वाक्य के ‘अशरीरं वा वसन्तम्’ इत्यादि अंश से होता है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—उक्त वाक्य में ‘अशरीर’ शब्द का अर्थ है कि जब शरीर सर्वथा नष्ट हो जाता है तब जीव भी खर-विषाण के समान अस्त ही है, क्योंकि वह भी नष्ट है । अर्थात् अशरीर शब्द खर-विषाण के समान नष्ट जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है । अतः वेद में कहा गया है कि अशरीर (नष्ट रूप जीव) को प्रिय या अप्रिय अर्थात् सुख या दुःख स्पर्श नहीं करते । इस प्रकार उक्त दोनों वेद-वाक्यों की संगति हो जाती है । अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि मोक्ष में जीव का नाश ही वेद सम्मत है । ‘मतिरपि न प्रजायते’ का अर्थ यही समझना चाहिए कि मोक्ष में जीव का तथा सुख-दुःख का अभाव है । फलतः यह सिद्ध होता है कि वेद में दीप-निर्वाण के सदृश मोक्ष प्रतिपादित है । [२०१६]

भगवान्—तुम वेद-वाक्य का वास्तविक अर्थ नहीं जानते । इसीलिये तुम्हारा यह मत है कि वेद के अभिप्रायानुसार मोक्ष में जीव का नाश हो जाता है और सुख-दुःख भी नहीं होता । मैं तुम्हें उस वेद-वाक्य का यथार्थ अर्थ बताता हूँ तुम उसे सुनो । वेद में ‘अशरीर’ शब्द ‘अधन’ शब्द के समान विद्यमान में निषेध का द्योतक है । अर्थात् जैसे विद्यमान देवदत्त के विषय में ‘अधन’ शब्द का प्रयोग कर यह बताया जाता है कि देवदत्त के पास धन नहीं, अथवा विद्यमान देवदत्त में ‘अधन’ शब्द से धन का निषेध सूचित होता है वैसे ही विद्यमान जीव के लिए ‘अशरीर’ शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि उस जीव का शरीर नहीं है । ‘अशरीर’ शब्द का अर्थ है बिना शरीर का जीव । यदि खर-विषाण के समान देवदत्त का सर्वथा अभाव हो तो उसके लिए ‘अधन’ शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता । इसी प्रकार यदि जीव का भी सर्वथा अभाव हो तो उसके लिए भी ‘अशरीर’ शब्द का प्रयोग न हो । [२०१७]

प्रभास—‘अशरीर’ शब्द में नञ्-निषेध पर्युदास अर्थ के लिए है । अतः उसका अर्थ होगा कि ‘कोई ऐसा पदार्थ जिसका शरीर नहीं है ।’ किन्तु आप यह कैसे कहते हैं कि वह पदार्थ जीव ही है ?

भगवान्—जहाँ पर्युदास नञ्-निषेध अभिप्रेत होता है वहाँ अत्यन्त विलक्षण-नहीं परन्तु तत्सदृश अन्य पदार्थ समझना चाहिए। व्याकरण का नियम है कि “नञ् इव न युक्तं अन्य सङ्गधिकरणे लोके तथा ह्यर्थगतिः”—लोक में नञ् तथा इव शब्द का जिसके साथ योग हो उस शब्द से भिन्न रूप तत्सदृश अर्थ समझना चाहिए। जैसे अब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्राह्मण से भिन्न-स्वरूप किन्तु ब्राह्मण सदृश अत्रियादि, परन्तु अभाव-रूप खर-शृंग नहीं; वैसे ही प्रस्तुत में प्रथम वाक्य में प्रयुक्त ‘सशरीर’ शब्द के अर्थ से अन्य रूप परन्तु तत्सदृश अर्थ ही समझना चाहिए। अर्थात् शब्द का अर्थ है सशरीर सदृश जीव पदार्थ, सर्वथा तुच्छ खर-शृंग रूप अभाव नहीं। सशरीर (जीव तथा अशरीर) जीव इन दोनों का सादृश्य उपयोगमूलक है। संसारावस्था में जीव और शरीर क्षीर-नीर के समान मिले हुए हैं, इसलिए अशरीर जीव को सशरीर जीव-सदृश कहने में सशरीर बाधक नहीं बनता।

इस प्रकार ‘अशरीरं वा’ इत्यादि वाक्य में अशरीर का अर्थ शरीर-रहित जीव ही है। उस वाक्य का अर्थ यह होगा—‘अशरीर जीव जो लोकाग्र में निवास करता है’ इत्यादि। [२०१८]

पुनश्च, उक्त वाक्य में ‘वसन्तं’ शब्द का प्रयोग भी मोक्ष में जीव की सत्ता सिद्ध करता है, नाश नहीं। यदि मुक्तावस्था में जीव सर्वथा विनष्ट हो जाता हो तो उसके निवास का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। फिर वेद में यह क्यों कहा गया कि, ‘अशरीरं वा वसन्तम्’ ?

और भी, ‘अशरीरं वा वसन्तं’ में ‘वा’ शब्द के प्रयोग से यह फलित होता है कि अकेले मुक्त को ही नहीं किन्तु सशरीर जीव को भी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते।

प्रभास—ऐसा सदेह कौन है जिसमें सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते ?

भगवान्—वीतराग मूनि। उसके चार घाती कर्म नष्ट हो चुके हैं, किन्तु अभी वे शरीर धारण किए हुए हैं। ऐसे जीवन-मुक्त वीतराग को भी सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता, क्योंकि उन्हें न कुछ डष्ट है और न कुछ अनिष्ट। [२०१९]

अथवा, ‘अशरीरं वा वसन्तम्’ इस वेद-वाक्य का पदच्छेद निम्न प्रकार से भी हो सकता है—‘अशरीरं वा वसन्तम्’। इसमें ‘वाव’ शब्द ‘वा’ के अर्थ में ही निपात है। ‘वसन्तम्’ का अर्थ है ‘भवन्तम्’। अब इस वाक्यांश का अर्थ यह होगा कि जब जीव अशरीर बन जाता है तब उसे तथा वीतराग सशरीर जीव को भी प्रिया-प्रिय का स्पर्श नहीं होता।

उक्त वाक्य का पदच्छेद इस गीति से भी हो सकता है—‘अशरीरं वा अवसन्तम्’ इसमें ‘अव’ शब्द ‘अव्’ धातु का आज्ञार्थक रूप है। ‘अव्’ धातु के कई अर्थ हैं—रक्षण, गति, प्रीति आदि। गति अर्थ वाले धातु जानार्थक भी बन जाते हैं। इस नियमानुसार ‘अव्’ धातु जानार्थक भी है। अतः ‘अव’ का अर्थ होगा ‘जानो’।

समस्त वाक्यांश का अर्थ होगा—हे शिष्य ! तुम यह समझो कि मुक्ति अवस्था में 'अशरीरम्' रूप 'सन्तम्' विद्यमान जीव को अथवा 'सन्तम्' ज्ञानादि से विशिष्ट-रूपेण विद्यमान जीव को प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं होता । [२०२०]

प्रभास—आपने स्वेष्ट अर्थों को प्रतिपादित करने के लिए उक्त वेद-वाक्य का अनेक प्रकार से पदच्छेद किया, किन्तु इसका पदच्छेद ऐसे ढंग से भी हो सकता है जिससे मेरे मत की पुष्टि हो । जैसे कि 'अशरीरं वा अवसन्तम्' इसका अर्थ यह होगा कि ऐसा अशरीरी जो कहीं भी नहीं रहता अर्थात् जो सर्वथा है ही नहीं । इस पदच्छेद से इस मत को पुष्टि होती है कि मुक्तावस्था में जीव का सर्वथा नाश हो जाता है ।

भगवान्—तुम्हारे द्वारा किया गया पदच्छेद असंगत है ; कारण यह है कि मैं पहले बता चुका हूँ कि 'अशरीर' शब्द से जीव की विद्यमानता सिद्ध होती है । अतः ऐसा पदच्छेद नहीं हो सकता जो इस शब्द के अर्थ के साथ संगत न हो ।

फिर उक्त वाक्य में आगे जाकर कहा गया है कि 'प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं होता' । स्पर्श की बात तभी घटित हो सकती है जब जीव को सत् या विद्यमान माना जाए । यदि जीव बन्ध्यापुत्र के समान सर्वथा असत् हो तो जैसे यह कहना निरर्थक है कि 'बन्ध्यापुत्र को प्रियाप्रिय किसी का भी अनुभव नहीं होता' वैसे ही यह कहना भी व्यर्थ होगा कि अशरीर को प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं होता । जिसमें कभी प्रियाप्रिय की प्राप्ति होती हो अथवा ऐसा प्राप्ति सम्भव हो उसी में उसका निषेध किया जा सकता है; जो जिसमें सम्भव ही न हो उसका निषेध नहीं किया जाता । जीव में सशरीरावस्था में प्रियाप्रिय की प्राप्ति होती है, अतः मुक्तावस्था में उनका निषेध युक्तियुक्त है । 'अशरीर' शब्द से मुक्तावस्था में विद्यमान स्वरूप जीव का ज्ञान होता है । अतः 'अवसन्तम्' पदच्छेद नहीं हो सकता । [२०२१]

प्रभास—यह बात वेदाभिमत भी है कि मुक्तावस्था में जीव विद्यमान होता है । अतः चाहे उसकी सत्ता मान ली जाए, परन्तु वेद के उक्त वाक्य में यह भी कहा है कि मुक्त जीव को प्रियाप्रिय दोनों का ही स्पर्श नहीं होता । अतः वेद में आपके इस मत का विरोध है कि मुक्त जीव को परम सुख प्राप्त होता है । मुक्त को हम सुखी या दुःखी नहीं मान सकते ।

भगवान्—यह बात तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि मुक्त में पुण्यकृत सुख और पापकृत दुःख नहीं है । वेद में जिस प्रियाप्रिय का निषेध है वह उस सांसारिक सुख और दुःख का है जो पुण्य व पाप से होते हैं । ये सांसारिक सुख-दुःख बीतराम तथा बीतदोष मुक्त पुरुष का स्पर्श नहीं कर सकते क्योंकि वे पूर्ण ज्ञानी हैं और उनमें कोई भी बाधा नहीं है । वेद में यही बात कही गई है । इससे यह कैसे फलित हो सकता है कि मुक्त में स्वाभाविक निरुपम विषयातीत सुख का भी अभाव है ?

मुक्त पुरुष वीत राग होता है, अतः पुण्यजनित सुख उसके लिए प्रिय नहीं होता। वह वीतद्वेष भी होता है, फलतः पापजनित दुःख उसके लिए अप्रिय नहीं होता। इस प्रकार उसमें प्रियाप्रिय दोनों का ही अभाव है। किन्तु मुक्त पुरुष में जो सुख स्वाभाविक है, अकर्षजन्य है, निरुपम है, निष्प्रतिकार रूप है, अनन्त है और इसलिए जो पूर्वोक्त पुण्यजन्य सुख से अत्यन्त विलक्षण है, उसका अभाव उक्त वेद-वाक्य से फलित नहीं होता। अतः तुम्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि मोक्ष है, मोक्ष में जीव है और उसे सुख भी है। ये तीनों बातें वेदसम्मत भी हैं।

प्रभास—अब केवल एक शंका और है। वह यह है कि यदि वेद को उक्त तीनों बातें इष्ट हैं तो फिर यह विधान क्यों किया गया कि 'जरामयं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्'—वृद्धावस्था में मरणपर्यन्त भी स्वर्गदायक अग्निहोत्र करना चाहिए। इससे तो केवल स्वर्ग की प्राप्ति हो सकेगी, मोक्ष की आशा केवल दुराशा रहेगी। अतः मन में यह विचार होता है कि मोक्ष की सत्ता ही नहीं होगी, अन्यथा वेद में मोक्षोपाय का अनुष्ठान करने का विधान न कर स्वर्गोपाय का विधान ही क्यों किया जाता ?

भगवान्—तुम इस वेद-वाक्य का अर्थ भी ठीक नहीं समझे। इस वाक्य में 'वा' शब्द भी है, उस ओर तुमने ध्यान नहीं दिया। यह 'वा' शब्द सूचित करता है कि यावज्जीवन अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिए तथा साथ ही मोक्षाभिलाषी जीव को मोक्ष के निमित्तभूत अनुष्ठान भी करने चाहिए। इस प्रकार युक्ति से तथा वेद-पदों से मोक्ष सिद्ध होता है। तुम्हें इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए।
[२०२२-२३]

जरा-मरण से रहित भगवान् ने जब इस प्रकार उसके संशय का निवारण किया तब प्रभास ने अपने ३०० शिष्यों के साथ दीक्षा अंगीकार की। [२०२४]

टिप्पणियाँ

(१)

पृ० 3 पं० 2. जीव के अस्तित्व की चर्चा—प्रथम गणधर इन्द्रभूति के साथ हुए विवाद में जीव के अस्तित्व का प्रश्न मुख्य है। इन्द्रभूति द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिविन्दु भारतीय दर्शनों में चार्वाक अथवा भौतिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक पक्ष जब यह कहता है कि आत्मा का अभाव है, तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा का सर्वथा अस्तित्व ही नहीं है। उसका तात्पर्य केवल यह है कि आत्मा चार भूतों के समान स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है अथवा स्वतन्त्र तत्व नहीं है। अर्थात् चार्वाक पक्ष की मान्यता है कि भूतों के विशिष्ट समुदाय से जो वस्तु निर्मित होती है वह आत्मा कहलाती है। इस समुदाय के नाश के साथ ही आत्मा नामक वस्तु भी नष्ट हो जाती है। सारांश यह है कि आत्मा एक भौतिक पदार्थ है, भूतव्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं है। चार्वाक को उसका सर्वथा अभाव अभीष्ट नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए न्यायवातिकार उद्योतकर ने कहा है कि, “सामान्यतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में विवाद ही नहीं है, यदि विवाद है तो वह विशेष विषयक है। अर्थात् कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय को तथा कोई मन को ही आत्मा स्वीकार करता है, कोई संघात को आत्मा की संज्ञा देता है तथा कोई इन सबसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है।” (न्याय वा०पृ० 336)

प्रस्तुत चर्चा में यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि आत्मा भौतिक नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र तत्व है। समस्त चर्चा इसी विषय से सम्बन्ध रखती है कि आत्मा स्वतन्त्र तत्व है या नहीं? अन्त में यह सिद्ध किया गया है कि आत्म-तत्व स्वतन्त्र है, केवल भौतिक नहीं। यहाँ पर प्रतिपादित की गईं युक्तियाँ भारतीय दर्शनों में साधारण हैं। किसी ग्रन्थ में उनका विस्तार है तथा किसी में संक्षेप। ब्राह्मण-बौद्ध-जैन किसी भी दर्शन का ग्रन्थ देखने से ज्ञात होगा कि उनमें इन युक्तियों द्वारा ही आत्मा का स्वातन्त्र्य सिद्ध किया गया है।

चार्वाक व बौद्ध ये दोनों इतनी बातों में सहमत हैं कि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य तथा नित्य द्रव्य नहीं है, अर्थात् शाश्वत द्रव्य नहीं है। अथवा दोनों के मत में आत्मा उत्पन्न होने वाली है। इन दोनों मतों में मतभेद यह है कि बौद्ध तो यह मानते हैं कि बुद्धि, आत्मा, ज्ञान या विज्ञान नामक एक स्वतन्त्र वस्तु है और चार्वाक कहते हैं कि आत्मा चार या पाँच भूतों से उत्पन्न होने वाली केवल एक परतन्त्र वस्तु है। बौद्ध अनेक कारणों से ज्ञान को उत्पन्न तो मानते हैं और इस अपेक्षा से ज्ञान को परतन्त्र भी कहते हैं, किन्तु ज्ञान के कारणों में ज्ञान और ज्ञानेतर दोनों प्रकार के कारणों को स्वीकार करते हैं। जबकि चार्वाक ज्ञान निष्पत्ति में केवल भूतों को अर्थात् ज्ञानेतर कारणों को ही मानते हैं। तात्पर्य यह है कि बौद्धों के अनुसार ज्ञान

जैसी एक मूल तत्त्वभूत वस्तु है जो अनित्य है, परन्तु चार्वाक उसे मूल तत्त्व के रूप में नहीं मानते, वे केवल भूतों को ही मूल तत्त्वों में स्थान देते हैं ।

बौद्ध ज्ञान, विज्ञान तथा आत्मा इन सबको एक ही वस्तु मानते हैं; आत्मा और ज्ञान में नाम-मात्र का अन्तर है, वस्तु भेद नहीं । इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसक आत्मा और ज्ञान को भिन्न-भिन्न वस्तु मानते हैं । नैयायिकादि सम्मत ज्ञान गुण ही बौद्ध मत में आत्मा है ।

सांख्य मत में आत्मा या पुरुष स्वतन्त्र तत्त्व है तथा बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होने वाला विकार है जिसमें ज्ञान, सुख, दुःख आदि वृत्तियाँ आविर्भूत होती हैं । बौद्ध आत्मा और ज्ञान को एक ही मानते हैं अतः उनके मतानुसार आत्मा या ज्ञान भी अनित्य है । अन्य दार्शनिकों के मत में आत्मा या पुरुष नित्य है तथा बुद्धि या ज्ञान अनित्य ।

शांकर वेदान्त के अनुसार आत्मा चित्स्वरूप है, कूटस्थ नित्य है, ज्ञान उसका गुण या धर्म नहीं अपितु अस्तःकरण की एक वृत्ति है जो अनित्य है ।

पृ० 3 पं० 3 वैशाख सुदि एकादशी—श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार इस दिन भगवान् महावीर का गणधरों से समागम हुआ; किन्तु दिगम्बर मान्यता के अनुसार केवलज्ञान की प्राप्ति के 66 दिन बाद गणधरों का समागम हुआ । अतः वे उक्त तिथि को नहीं मानते । इसके लिए कषायपाहुड टीका पृ० 76 देखना चाहिए । भगवान् महावीर की आयु 72 वर्ष की थी तथा दूसरी मान्यतानुसार 71 वर्ष 3 मास व 25 दिन थी । इस प्रकार भगवान् महावीर की आयु सम्बन्धी दो मान्यताओं का उल्लेख कर कषायपाहुड की टीका में वीरसेन ने इस बात का उत्तर देते हुए कि इन दोनों में से कौन सी ठीक है, बताया है कि, इस विषय में उन्हें उपदेश नहीं मिला अतः मौन रहना ही उचित है; (पृ० 81 देखें) । दिगम्बरों के अनुसार वैशाख शुक्ल एकादशी के स्थान पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा तीर्थोत्पत्ति की तिथि स्वीकार की जाती है ।—षट्खंडागम ध्वला पृ० 63.

पृ० 3 पं० 4 महसेन वन—श्वेताम्बरों की मान्यता है कि गणधरों का समागम महसेन वन में हुआ था और वहीं तीर्थ प्रवर्तन हुआ था । दिगम्बर मानते हैं कि यह समागम राजगृह के निकटस्थ विपुलाचल पर्वत पर हुआ था और तीर्थ की प्रवर्तना भी वहीं हुई थी । कषायपाहुड टीका पृ० 73 देखें ।

पृ० 3 पं० 11. सन्देह—अर्थात् संशय । एक योग का निर्णय कराने वाले साधक प्रमाण तथा वाधक प्रमाण के अभाव में वस्तु के अस्तित्व का या निषेध का निर्णय न होता हो तो अस्तित्व और नास्तित्व जैसी दोनों कोटि को स्पर्श करने वाला जो ज्ञान होता है उसे संशय कहते हैं । जैसे कि जीव है या नहीं ? यह साँप है या नहीं ? अथवा यह साँप है या रस्सी ?

पृ० 3 पं० 12 सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा वस्तु का निर्णय करना ।

पृ० 3 पं० 12. प्रमाण—जिससे वस्तु का सम्यग् ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं । चार्वाक मतानुसार केवल प्रत्यक्ष (इन्द्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान) ही प्रमाण है । बौद्ध तथा कुछ वैशेषिक

आचार्य प्रत्यक्ष व अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। साधन (हेतु) लिंग द्वारा साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। जैसे कि दूर से पटरी पर धुआं देख कर गाड़ी के आने का ज्ञान करना अनुमान है। सांख्य, कुछ वैशेषिक तथा प्राचीन बौद्ध तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। आप्त पुरुष के वचन अथवा शास्त्र को आगम कहते हैं। नैयायिकों तथा प्राचीन जैनागमों ने इन तीन प्रमाणों के अतिरिक्त उपमान को भी प्रमाण माना है। सादृश्य से ज्ञान करने को उपमान कहते हैं। जैसे कि गवय (रोझ) गाय के समान होता है। प्रभाकर आदि मीमांसक पूर्वोक्त प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को तथा कुमारिल आदि मीमांसक अर्थापत्ति और अभाव को प्रमाण मानते हैं। कुछ लोग अर्थापत्ति का अर्थ यह करते हैं कि एक प्रमाण सिद्ध अर्थ की उपस्थिति के आधार पर अन्य परोक्ष अर्थ की कल्पना की जाए। जैसे कि देवदत्त मोटा है, परन्तु वह दिन के समय भोजन नहीं करता। इस आधार पर उसके रात्रि भोजन की कल्पना करना अर्थापत्ति है। मीमांसकों का कथन है कि अनुमान में दृष्टान्त होता है, किन्तु अर्थापत्ति में नहीं।

मीमांसक यह भी मानते हैं कि जहाँ पूर्वोक्त प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों की उत्पत्ति न हो वहाँ अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। घटादि वस्तु के ज्ञान के अभाव को अभाव प्रमाण कहते हैं अथवा घटादि से भिन्न भूतल आदि वस्तु के ज्ञान को। अर्थात् केवल भूतल का ज्ञान होने से प्रमाता समझे कि यहाँ घड़ा नहीं है।

जैन दार्शनिकों ने केवल दो प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। अनुमानादि सभी प्रत्येक्षतर प्रमाणों का समावेश परोक्ष में होता है।

पृ० 3 पं० 15. जीव प्रत्यक्ष नहीं—'आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है' यह मत केवल चार्वाकों का ही नहीं है अपितु प्राचीन नैयायिक तथा वैशेषिक भी आत्मा को अप्रत्यक्ष मानते थे। यही कारण है कि न्यायसूत्र (1.1.10) में इच्छा, द्वेषादि को आत्मा के लिये कहे गये हैं। उसके उत्थान में भाष्यकार ने स्पष्टतः कहा है कि आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु उसका ज्ञान आगम के अतिरिक्त अनुमान से भी हो सकता है। वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी आत्म-निरूपण के प्रसंग में (भाष्य पृ० 360) कहा है कि, आत्मा सूक्ष्म होने के कारण अप्रत्यक्ष है, किन्तु उसका कारण द्वारा अनुमान किया जा सकता है। ऐसा होने पर भी प्राचीन नैयायिक-वैशेषिकों ने योगिज्ञान द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष ही माना है।¹ अर्थात् आत्मा साधारण मनुष्य को प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु योगियों को प्रत्यक्ष है। तर्क के क्षेत्र में योगिप्रत्यक्ष तथा आगम में भेद नहीं रहता, अतः नैयायिक वैशेषिकों ने आत्मा को अनुमान से सिद्ध करना उचित समझा। किन्तु तर्क के विकास ने आगे जाकर यह सिद्ध किया कि आत्मा साधारण मनुष्य को भी प्रत्यक्ष है तथा चार्वाकों को छोड़ कर सभी दार्शनिक यह मानने लगे कि अहंप्रत्यय के आधार से आत्मा प्रत्यक्ष है। विशेष विवरण के लिए देखें—प्रमाणमीमांसा टि० पृ० 136.

1. न्यायभाष्य 1.1.3; वैशेषिक सूत्र 9.1.11.

पृ० 3 पं० 29. परमाणु - इस कथन की तुलना ईश्वरकृष्ण के प्रकृति सम्बन्धी कथन से करें—'सौक्ष्म्यात् तदनुलब्धिर्भावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः' सा० का० 8.

पृ० 3 पं० 29. अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है—न्यायसूत्र में कहा गया है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है—1.1.5 तथा उसके भाष्य में स्पष्टीकरण किया गया है कि प्रस्तुत में लिंग और लिंगी के सम्बन्ध तथा दर्शन लिंग इनको प्रत्यक्ष समझना । लिंगलिंगी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष हुआ हो तो भविष्य में स्मरण होता है । इस स्मरण-सहकृत लिंग के प्रत्यक्ष होने पर परोक्ष अर्थ का अनुमान होता है । आचार्य जिनभद्र ने यहाँ इसी बात का उल्लेख किया है ।

पृ० 4 पं० 2. लिंग—साध्य के साथ जिस वस्तु का अविनाभाव सम्बन्ध हो, अर्थात् जो वस्तु साध्य के अभाव में कभी भी सम्भव न हो उसे लिंग अथवा साधन कहते हैं । इसी से यह अनुमान किया जाता है कि यदि लिंग उपस्थित हो तो साध्य वस्तु अवश्यमेव होनी चाहिए ।

पृ० 4 पं० 3. लिंगी—अर्थात् साध्य । जिस वस्तु को साधन या लिंग द्वारा सिद्ध किया जाए उसे साध्य कहते हैं ।

पृ० 4 पं० 4. अविनाभाव—अर्थात् व्याप्ति । इसका शब्दार्थ यह है कि उसके बिना न होना । साधन का साध्य के बिना न होना यह उसका अविनाभाव है ।

इसी सम्बन्ध के कारण ही जहाँ साधन होता है वहाँ साध्य का अनुमान किया जा सकता है । कुछ पदार्थों में सहभाव का नियम होता है और कुछ में क्रमभाव का । जहाँ सहभाव होता है वहाँ दोनों एक काल में रहते हैं और जहाँ क्रमभाव होता है वहाँ वे पदार्थ कालक्रम में नियत होते हैं । इस प्रकार अविनाभाव दोनों प्रकार का हो सकता है—सहभावी तथा क्रमभावी । देखें प्रमाणमीमांसा 1.2.10.

पृ० 4 पं० 5. स्मरण—अर्थात् स्मृति । वस्तु का अनुभव होने के बाद वह अनुभव संस्कार रूप में स्थिर रहता है । इस संस्कार का जब किसी निमित्त के कारण प्रबोध होता है अर्थात् जब वह संस्कार जागता है तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे स्मृति या स्मरण कहते हैं ।

पृ० 4 पं० 10. सूर्य की गति—सर्वथा अप्रत्यक्ष होकर भी जो अनुमान-गम्य है, उसके उदाहरण के रूप में सूर्य की गति का उल्लेख प्राचीन काल से किया जाता रहा है । बौद्धों के उपायहृदय में, न्याय-भाष्य में तथा शाबर-भाष्य में यह उपलब्ध है, किन्तु न्यायवार्तिककार (पृ० 47) ने इस का विरोध किया है । इस विरोध को दृष्टि सन्मुख रख कर ही इस गाथा का पूर्वपक्ष दिया गया है ।

पृ० 4 पं० 16. सामान्यतोद्घट अनुमान—वस्तु के दो रूप हैं—सामान्य तथा विशेष । साध्य वस्तु के सामान्य तथा विशेष दोनों रूप नहीं, किन्तु किसी समय केवल सामान्य रूप ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) हो तो वैसी वस्तु जिसमें साध्य हो, उस अनुमान को सामान्यतोद्घट अनुमान कहते हैं । इस से विपरीत, पूर्ववत् तथा शेषवत् अनुमान में साध्य वस्तु के कभी दोनों रूप ही प्रत्यक्ष होते हैं । अनुमान के उक्त तीन प्रकार के इतिहास के विषय में प्रमाणमीमांसा टिप्पणी पृ० 139 तथा न्यायावतार-वार्तिक-वृत्ति प्रस्तावना पृ० 71 व सांख्य कारिका 6 देखें ।

पृ० 4 पं० 27. **आगम**—शास्त्र के वचन को आगम कहते हैं। मीमांसक मानते हैं कि आगम अगौरुष्येय है प्रयत्न वे किसी पुरुष द्वारा कथित नहीं हैं। नैयायिकादि उसे ईश्वरकृत मानते हैं तथा जैन व बौद्ध उसे वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत मानते हैं।

पृ० 4 पं० 27. **आगम-प्रमाण अनुमान से पृथक् नहीं है**—इस मत का समर्थन प्रशस्त राव (पृ० 576) ने किया है तथा दिरनाग आदि बौद्ध विद्वानों ने भी यही कहा है—प्रमाण-वातिक-स्वोपज्ञवृत्ति पृ० 416; हेतुबिन्दु टीका पृ० 2-4; न्यायसूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में है—2 1. 49-51.

पृ० 4 पं० 30. **दृष्टार्थ विषयक आगम**—आगम के दो भेदों के लिए न्याय सू० 1.1 8. देखें।

पृ० 5 पं० 11. **अविसंवादी**—विसंवाद अर्थात् पूर्वापर विरोध। जिसमें यह विरोध न हो उसे अविसंवादी कहते हैं।

पृ० 5 पं० 12. **आप्त**—जिसका वचन प्रमाण रूप माना जाए उसे आप्त कहते हैं। माता-पिता आदि लौकिक आप्त हैं तथा रागद्वेष से रहित पुरुष अलौकिक आप्त है।

पृ० 5 पं० 22 **विज्ञानघन**—यहाँ पर उद्धृत किए गए पाठ का पूरा सन्दर्भ यह है—“स यथा सौन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुविलीयेत न द्वास्योद्ग्रहणायैव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैव वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः।

बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.12.

उक्त अवतरण में पदच्छेद शांकर-भाष्य के अनुसार किया गया है। उसी भाष्य के अनुसार इसका भावार्थ यह है—जैसे नमक का एक टुकड़ा पानी में डाला जाए तो वह पानी में विलीन हो जाता है—नमक पानी का ही एक विकार है, भूमि तथा तेज के सम्पर्क से जल नमक रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु इसी नमक को जब उसकी योनि (जल) में डाला जाता है तब उसका अन्य सम्पर्क-जन्य काठिन्य नष्ट हो जाता है। इसी को नमक का पानी में विलय कहते हैं। विलय होने के पश्चात् कोई व्यक्ति नमक के टुकड़े को पकड़ नहीं सकता, किन्तु पानी किसी भी जगह से लिया जाए वह खारा ही होगा। इस आशय पर हम कह सकते हैं कि नमक के टुकड़े का सर्वथा अभाव नहीं हुआ, किन्तु वह पानी में मिल गया, अपने मूल रूप में आ गया, अब वह टुकड़े के रूप में नहीं है। इसी प्रकार है मंत्रेयी! यह महान् भूत है (परमात्मा है) वह अनन्त है, अपार है। इसी महान् भूत से अर्थात् परमात्मा से अविद्या के कारण तुम पानी में से नमक के टुकड़े के समान मर्त्यरूप बन गई हो, किन्तु जब तुम्हारे इस मर्त्यरूप का विनश्यत एवं अपार महान् भूत परमात्मा विज्ञानघन में हो जाता है तब केवल यही एक अनन्त और अपार महान् भूत रह जाता है, अन्य कुछ नहीं रहता। किन्तु परमात्मा मर्त्यभाव को कैसे प्राप्त करता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, जैसे स्वच्छ जल में फेन और बुद्बुद हैं वैसे ही परमात्मा में कार्य, कारण, विषयकारक रूप में परिणत स्वरूप नाम और रूपात्मक भूत हैं। इन भूतों से पानी से नमक के टुकड़े के समान मर्त्य की उत्पत्ति सम्भव है। किन्तु शास्त्र-श्रवण द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर जब मर्त्यजीव अपने ब्रह्मभाव (परमात्म भाव) को समझ

लेता है तब कार्य-कारण विषयाकार में परिणत नाम-रूपात्मक भूत भी जल में फेन व बुदबुद के समान नष्ट हो जाते हैं तथा तदनन्तर मर्त्य भी परमात्मा में लीन हो जाता है। केवल अनन्त अपार प्रज्ञानघन विद्यमान रहता है। इस अवस्था में जीव की कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती है। कारण यह है कि 'मैं अमुक हूँ तथा अमुक का पुत्र पिता आदि हूँ' ये संज्ञाएँ अविद्याकृत हैं और अविद्या का समूल नाश हो चुका है।

अद्वैतवादी शंकराचार्य ने उक्त अवतरण का इस प्रकार यह अर्थ किया है। उनके मत में भूत आविद्यक होने के कारण मायिक हैं। अपि च, उन्होंने परम महान् भूत का अर्थ परमात्मा या ब्रह्म किया है। नाश का अर्थ सर्वथा अभाव नहीं, किन्तु स्वयोनिरूप में विलीन हो जाना किया है। इसके अतिरिक्त 'विज्ञानघन' शब्द से नवीन वाक्य का आरम्भ नहीं किया, किन्तु वह पूर्व वाक्य का उपांत्य पद है; जबकि प्रस्तुत अवतरण में इसी पद से वाक्य शुरू होता है। शंकर के मत में जीव विज्ञानघन से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है, ऐसा अर्थ है; जबकि प्रस्तुत अवतरण में इन्द्रभूति के विचारानुसार भूतों से विज्ञानघन उत्पन्न होता है और भूतों के नाश के पश्चात् उसका भी नाश हो जाता है।

नैयायिक लोग उपनिषद् के इस वाक्य को पूर्वपक्ष के रूप में समझते हैं और उसका अर्थ वही करते हैं जो इन्द्रभूति ने किया है—

“यद्विज्ञानघनादिवेदवचनं तत् पूर्वपक्षे स्थितम् ।

पौर्वापर्याविमर्शान्नन्यहृदयैः सोऽर्थो गृहीतस्तदा ॥ न्यायमञ्जरी पृ० ४७२

पृ० 5 पं० 23. भूत—पृथ्वी, जल, अग्नि (तेज) और वायु ये चार अथवा पृथ्वी, जल; तेज, वायु तथा आकाश ये पाँच भूत माने गए हैं।

पृ० 6 पं० 1. रूप—पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार महाभूत तथा इनके कारण जो कुछ है वह सब बौद्ध मत में रूपा कहलाता है। अभिधम्म संग्रह परिच्छेद 6 देखें।

पृ० 6 पं० 1. पुद्गल—जैन तथा अन्य दार्शनिक जिसे जीव कहते हैं उसे बौद्ध पुद्गल कहते हैं। कथावस्तु 1.156 पृष्ठ 26; मिलिन्द प्रश्न पृ० 27,95,304 आदि देखें; तथा पुगलपञ्जति जिसमें जीवों के त्रिविध रूप से भेद पुद्गल के नाम से किए गए हैं भी देखें। तत्त्वार्थ० 5.23.

जैन मत में पुद्गल का सामान्य अर्थ जड़ परमाणु पदार्थ है, किन्तु भगवती में (8.3.20.2) पुद्गल शब्द जीव के अर्थ में भी प्रयुक्त है।

पृ० 6 पं० 4. सशरीर आत्मा—इस अवतरण का छांदोग्य उपनिषद् में जो पाठ है वह सम्पूर्ण सन्दर्भ सहित यह है—“मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याशरीरस्या-
ऽऽत्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरेप-
हृतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।” 8.12.1.

इसमें 'वाव सन्तं' यह पदच्छेद आचार्य जिनभद्र के सम्मुख भी था। गाथा 2020 देखें। इस अवतरण के जिनभद्र सम्मत अर्थ के लिए गा० 2015-2023 देखें। आचार्य शंकर

को इस अवतरण का वही अर्थ मान्य है जो प्रस्तुत में किया गया है। उनका कथन है कि धर्म तथा अर्थ-रहित सुख और दुःख संसारी जीव के होते हैं किन्तु मुक्त के नहीं। मुक्त को निरतिशय सुख (आनन्द) की प्राप्ति होती है। नैयायिकों को भी इस अवतरण का वही अर्थ इष्ट है—
न्यायमञ्जरी पृ० 509.

पृ० 6 पं० 7. स्वर्ग का इच्छुक—इसका मूल मुद्रित प्रति के अनुसार मैत्रायणी उपनिषद् में नहीं किन्तु मैत्रायणी संहिता (1.8.7.) में है। प्रस्तुत में 'उपनिषद् महावाक्य कोष' के आधार पर उल्लेख किया गया है। यह वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी है—2.1, तथा तैत्तिरीय संहिता में भी—1.5.9.1.

पृ० 6 पं० 7. अग्निहोत्र—एक प्रकार का यज्ञ।

पृ० 6 पं० 8. आत्मा अरुता—सांख्य-सम्मत पुरुष-निरूपण के लिए सांख्यका० 17-19 देखें।

पृ० 7 पं० 6. जीव प्रत्यक्ष है—जीव तथा ज्ञान का अभेद मान कर यहाँ जीव को प्रत्यक्ष कहें है, क्योंकि ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस विषय में दार्शनिकों के विविध मत हैं।

नैयायिक-वंशेषिक ज्ञान और जीव का भेद मानते हैं। उनके मतानुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष होने पर भी आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सांख्ययोग मत में भी ज्ञान और पुरुष का भेद है, अर्थात् यह सम्भव है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष होने पर भी पुरुष अप्रत्यक्ष रहे। वेदान्त में आत्मा को चिन्मय अर्थात् विज्ञानमय माना गया है, अतः विज्ञान का प्रत्यक्ष यही आत्मा का भी प्रत्यक्ष है। गुण-गुणी का भेद मान कर भी न्यायमञ्जरीकार जयन्त ने आत्म-प्रत्यक्ष सिद्ध किया है—न्यायमञ्जरी पृ० 433.

ज्ञान के प्रत्यक्ष के विषय में भी दार्शनिकों में ऐकमत्य नहीं है। जैन, बौद्ध, प्रभाकर, वेदान्त-दर्शन ज्ञान को स्वप्रकाश (स्वसंविदित) स्वप्रत्यक्ष मानते हैं, अर्थात् उनकी मान्यतानुसार ज्ञान स्वयमेव अपना प्रत्यक्ष करता है, ज्ञान का ज्ञान करने के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत नैयायिक-वंशेषिक ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष नहीं मानते, किन्तु एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से प्रत्यक्ष मानते हैं। सांख्ययोग मत में पुरुष द्वारा सभी बुद्धिवृत्तियाँ प्रतिभासित होती हैं। किन्तु कुमारिल और उसके अनुयायी तो ज्ञान को परोक्ष ही मानते हैं, अर्थात् वे अनुमान व अर्थापत्ति से ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उनके मत में ज्ञान का प्रत्यक्ष है ही नहीं। इस विषय में विशेष विवरण के लिये देखें—प्रमाणमीमांसा टि० पृ० 13.

पृ० 7 पं० 10. स्वसंवेदन—स्व का ज्ञान स्वयमेव ही करना स्वसंवेदन है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान का ही एक प्रकार है।

पृ० 7 पं० 10. स्वसंविदित—जिसका ज्ञान स्वयमेव हुआ हो वह स्वसंविदित है।

पृ० 7 पं० 15. प्रत्यक्षेतर—प्रत्यक्ष से इतर अर्थात् भिन्न अनुमानादि।

पृ० 7 पं० 24. बाधक—किसी भी वस्तु के विरोध में जो प्रमाण उपस्थित किया जाता है उसे बाधक प्रमाण कहते हैं।

पृ० 8 पं० 12. अहंप्रत्यय—अहंप्रत्यय द्वारा आत्मा की सिद्धि करने की पद्धति अति-प्राचीन है। न्याय-भाष्य (3.1.15) में भी त्रैकालिक अहंप्रत्यय के प्रतिबंधान के आधार पर आचार्य जिनभद्र के समान ही आत्म-सिद्धि की गई है। प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० 360) में तथा न्याय-मंजरी (पृ० 429) में भी अहंप्रत्यय को आत्म-विषयक बताया गया है। न्यायवार्तिक (पृ० 341) में तो अहंप्रत्यय को प्रत्यक्ष कहा है।

पृ० 8 पं० 15. अहंप्रत्यय देह विषयक नहीं है—इसके लिए न्यायसूत्र की आत्म-परीक्षा (3.1.1.) तथा प्रशस्तपाद भाष्य का आत्म-प्रकरण (पृ० 360) देखें। विशेष के लिए आत्म-तत्त्वविवेक (पृ० 366) तथा न्यायावतारवार्तिक की तुलनात्मक टिप्पणी पृ० 206—208 देखें।

पृ० 8 पं० 2). संशयकर्ता जीव ही है—आचार्य जिनभद्र की इन गथाओं में दी गई युक्तियों के साथ आचार्य शंकर की उक्ति की तुलना करने योग्य है। आचार्य शंकर ने कहा है कि, सभी लोगों को आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति है, 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती। यदि लोगों को अपना अस्तित्व अज्ञात हो तो उन्हें यह प्रतीति होनी चाहिए कि 'मैं नहीं हूँ'—ब्रह्मसूत्र शंकर-भाष्य 1.1.1.

पृ० 9 पं० 4. अननुरूप—इस युक्ति के साथ न्यायसूत्र (3.2.54) की युक्ति की तुलना करने योग्य है। उसमें कहा है कि, शरीर के गुणों में तथा आत्मा के गुणों में बंधर्म्य है।

पृ० 9 पं० 4. गुण-गुणी भाव—यह इस का गुण है और यह इसका गुणी है, ऐसी व्यवस्था।

पृ० 9 पं० 13. पक्ष—साध्य—जिसे सिद्ध करना हो उस धर्म से जो विशिष्ट हो उसे पक्ष कहते हैं। अथवा उस साध्य को भी पक्ष कहते हैं। उसकी प्रतीति पहले से ही नहीं होनी चाहिए, यथात् वह पहले से ही ज्ञात न होना चाहिए। दूसरे शब्दों में जिस विषय में सन्देह विपरीत ज्ञान अथवा अनध्यवसाय हो वह साध्य बनना है। जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न हो, वही साध्य हो सकता है। पुनः जो हमें अनिष्ट हो, वह भी साध्य नहीं हो सकता। देखें—प्रमाणनयतत्त्वालोक 3.14-17.

पृ० 9 पं० 13. पक्षाभास—पक्ष के उक्त लक्षण से जो विपरीत हो उसे पक्षाभास कहते हैं। विशेष विवरण के लिये देखें—प्रमाणमीमांसा भा० टि० पृ० 88.

पृ० 9 पं० 26. स्वाभ्युपगम—जो हमें स्वीकार हो।

पृ० 10 पं० 7. विपक्षवृत्ति—जिसका साध्य में अभाव हो उसे विपक्ष कहते हैं। उसमें जो हेतु हो वह विपक्षवृत्ति कहलाता है।

पृ० 10 पं० 11. गुणों के प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष—प्रशस्तपाद (पृ० 553) ने बुद्धि (सुखादि आत्म) गुणों का प्रत्यक्ष आत्मा और मन के मन्निर्कर्ष से माना है। किन्तु जिसके गुण प्रत्यक्ष हो और वह वस्तु भी प्रत्यक्ष हो यह नियम प्रशस्तपाद को मान्य नहीं है। कारण यह है कि उसके मतानुसार आकाश का गुण शब्द और वायु का गुण स्पर्श प्रत्यक्ष होने पर भी आकाश व वायु अप्रत्यक्ष हैं—(पृ० 508, 249); अतः आचार्य जिनभद्र ने गुणगुणी के भेदाभेद की चर्चा की है और अपना मन्तव्य सिद्ध किया है।

पृ० 10 पं० 23. शब्द पौद्गलिक है—न्याय-वैशेषिक मत में शब्द यह नित्य आकाश का गुण है। किन्तु सांख्य के मत में शब्द (तन्मात्रा) से आकाश नामक भूत उत्पन्न होता है और उसका गुण शब्द है। वैयाकरण भर्तृहरि के मत में शब्द ब्रह्म है और यह विश्व उसी का प्रपंच है—वाक्यपदीय 1.1.। मीमांसक वर्ण को शब्द मानते हैं और उसकी अनेक अवस्थाएं स्वीकार करते हैं (शःस्त्रदी० पृ० 261, 263)। वे उसे नित्य भी मानते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान् शब्द को अनित्य मानते हैं। मीमांसक मत में शब्द द्रव्य होकर भी पौद्गलिक नहीं है, जबकि जैन मतानुसार वह पौद्गलिक है। मीमांसक मत में शब्द व्यापक है, किन्तु जैनमतानुसार शब्द लोक में सर्वत्र गमन की शक्ति वाला है।

पृ० 10 पं० 19. गुण-गुणी का भेदाभेद—न्याय-वैशेषिक गुण-गुणी का भेद स्वीकार करते हैं। बौद्ध मत में गुणी (द्रव्य) जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, केवल गुणों की सत्ता है। जैन व मीमांसक गुण-गुणी का भेदाभेद मानते हैं। सांख्यमत में दोनों का अभेद है।

पृ० 11 पं० 18. गुण कभी भी गुणी के बिना नहीं होते—यह युक्ति प्रशस्तपाद ने भी दी है (पृ० 360)। सुख-दुःखादि गुण हैं, अतः गुणी का अनुमान करना चाहिए। वे शरीर और इन्द्रियों के गुण तो हैं नहीं, अतः आत्म-द्रव्य मानना चाहिए। इसी प्रकार न्यायसूत्र में भी पारिशेष्य से आत्मसिद्धि की गई है (3.2.40); न्यायभाष्य भी देखें 1.1.5.

पृ० 11 पं० 26. गाथा 1561—इस गाथा का पूर्वपक्ष न्यायसूत्र में भी है। न्यायसूत्र 3.2.47 से।

पृ० 11 पं० 32. गाथा 1562—गाथागत युक्ति प्रशस्तपाद (पृ० 360) में है।

पृ० 12 पं० 18. गाथा 1563—आ० जिनभद्र ने नियुक्ति का अनुसरण कर जिस प्रकार व द का उपक्रम किया है तदनुसार इन गाथा में दी गई युक्ति ठीक है।

पृ० 13 पं० 5. गाथा 1564—प्रशस्तपाद ने भी यह युक्ति दी है (पृ० 360)। विशेष के लिये देखें—व्योमवती पृ० 404.

पृ० 13 पं० 26. गाथा 1567—ऐसी ही युक्तियों के लिए देखें—प्रशस्तपाद पृ० 360, व्योमवती पृ० 391.

पृ० 14 पं० 6. आत्मा को केवल जैन ही संसारी अवस्था में कथंचित् मूर्त मानते हैं।

पृ० 14 पं० 27. ईश्वर—न्याय-वैशेषिक ईश्वर को जगत्कर्ता के रूप में मानते हैं। जैनों के समान बौद्ध, सांख्ययोग तथा मीमांसक ईश्वर को जगत्कर्ता नहीं मानते। ईश्वरकर्तृत्व सिद्धि के लिए न्यायवातिक 457, आत्मतत्त्वविवेक 377 देखें; निराकरण के लिए मीमांसा श्लोकवातिक सम्बन्धाक्षेप परिहार 42 से; तत्त्वसंग्रह 46 से, आप्तपरीक्षा करिका 8; अष्टसहस्री पृ० 268; स्यादवादरत्नाकर पृ० 406 देखें। वेदान्त में आचार्य शंकर ने ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता और उपादानकारण रूप सिद्ध किया है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2.2.37-41.

पृ० 15 पं० 9 गाथा 1571-72—न्यायवातिक (3.11) में भी ऐसी युक्तियाँ हैं पृ० 366.

पृ० 15 पं० 31. विपर्यय—जो वस्तु जिस रूप में न हो, उसमें उस रूप का ज्ञान करना।

पृ०16 पं०7 प्रतिपक्षी—विरोधी :

पृ०16 पं०28. खर-विषाण नहीं है—इसी बात को शण-विषाण के उदाहरण द्वारा न्यायवार्तिक (पृ० 340) में कहा गया है ।

पृ०17 पं०12. समवाय—गुण-गुणी का, द्रव्य-कर्म का, द्रव्य-सामान्य का, द्रव्य-विशेष का जो सम्बन्ध है, उसे नैयायिक समवाय कहते हैं ।

पृ०19 पं०2. गाथा 1575—व्योमवती पृ०407—‘अहंशब्दो बाह्य बाधितै—(शब्दो-ह्यबाधितै) कपदत्वादवश्यं वाच्यमपेक्षते ।’—न्यायवार्तिक पृ० 337; तत्त्वसंग्रह पृ० १1.

पृ०20 पं०11. गाथा 1578 आप्त वचन की प्रमाणता के लिए न्यायवार्तिककार ने तीन कारण बताए हैं—1. वस्तु का साक्षात्कार, 2. भूतदया, 3. जैसा ज्ञान किया हो वैसा ही कथन करने की इच्छा—न्यायवा० 2.1.69.

पृ०20 पं०22. उपयोग लक्षण—ज्ञान तथा दर्शन को उपयोग कहते हैं, वे जिसके लक्षण हों उसे उपयोगलक्षण कहा जाता है ।

पृ०21 पं०2. विकल्पशून्य—भेदरहित ।

पृ०21 पं०5. जिसका मूल—यहाँ वटवृक्ष के साथ संसार की तुलना करके रूपक का वर्णन किया है । जैसे वटवृक्षों के मूल ऊँचे होते हैं और वे जमान की ओर नीचे फँलते हैं, वैसे ही संसार भी एक ही ईश्वर का प्रपंच है । वह ईश्वर ऊपर है अर्थात् उच्चदशा में है, किन्तु उससे उत्पन्न होने वाले जीव निम्न अर्थात् पतित्तावस्था में हैं ।

पृ०21 पं०6. छन्द—वेद को छन्द कहते हैं ।

पृ. 21 पं०9. जो कांपता है—शंकराचार्य की व्याख्या के अनुसार आत्मा व्यापक है, अतः उसमें कम्पन या चलन बटित नहीं होता; फलतः वह स्वतः अचल होकर भी चलित के समान प्रतीत होता है, इसका यह अर्थ समझना चाहिए । दूर का अर्थ देशकृत दूर नहीं है, किन्तु अविद्वान् पुरुष के लिए करोड़ों वर्षों तक उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, इस अर्थ में दूर का प्रयोग समझना चाहिए । विद्वान् पुरुष के लिए आत्मा निकट है, क्योंकि उसे वह साक्षात् दिखाई देती है । नाम-रूपात्मक जगत् मर्यादित है, किन्तु आत्मा व्यापक है, अतः वह उस के भी बाहर है । तथा आत्मा निरतिशयरूपेण सूक्ष्म होने के कारण सभी वस्तुओं के अन्तर में है ।

पृ०21 पं०13. जीव अनेक है—‘आत्मा अनेक है’ यह मत न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक, जैन तथा बौद्धों का है । इससे विपरीत शांकर-वेदान्त आत्मा को एक मानता है ।

पृ०22 पं०6. गाथा 1582 आत्मा अनेक है, इस विषय की युक्तियाँ सांख्यकारिका 18 में देखें ।

पृ०23 पं०14. जीव सर्वव्यापी नहीं है—उपनिषदों में आत्मा के परिमाण के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं—कौषीतकी उपनिषद में आत्मा को शरीरव्यापी वर्णित किया गया

है। उसमें बताया गया है कि जैसे तत्रवार अपनी म्यान में व्याप्त है वैसे ही प्रजातमा शरीर में नख और रोम पर्यन्त व्याप्त है (4.20)। बृहदारण्यक के अनुसार आत्मा चाँवल अथवा पद के कण जितनी है—5.6.1। विविध उपनिषदों में आत्मा को अँगुष्ठ प्रमाण बताया गया है—कठोप 2.2.12; श्वेता० 3.13.5.8-9; किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में उसे बालिस्त जितनी बताया गया है। अनेक बार आत्मा को उपनिषदों में व्यापक रूप में प्रतिपादित किया गया है—मुण्डको० 1.6.1। इस प्रकार के विरोधी मन्तव्य सम्मुख उपस्थित होने के कारण कुछ ऋषि तो उक्त सभी परिमाण वाली आत्मा का ध्यान करने की प्रेरणा करते हैं और कुछ उसे अणु से भी अणु तथा महान् से भी महान् मानने की बात करते हैं—मैत्रुपनिषद् 6.3.8; कठो० 1.2.20; छान्दो० 3.14.3। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा ये सभी दर्शन तथा शंकराचार्य आत्मा को व्यापक मानते हैं। इसके विपरीत जैन तथा रामानुजादि वेदान्त के अन्य आचार्य जीव को क्रमशः देह-परिमाण तथा अणु-परिमाण मानते हैं।

पृ० 23 पं० 16. उपलब्धि—ज्ञान द्वारा प्राप्ति अथवा ग्रहण।

पृ० 24 पं० 24. गाथा 1593-96. उपनिषद् के वाक्य का यहाँ जो अर्थ किया गया है वह बौद्ध प्रक्रिया का अनुसरण करके किया गया है। जैन द्रव्य-पर्याय उभयवादी है, अतः वे इस प्रक्रिया को पर्यायाश्रित घटित कर लेते हैं। इस प्रकार जैन वाक्य का युक्त अर्थ करने का प्रयत्न करते हैं।

पृ० 26 पं० 19. अन्वय-व्यतिरेक—किसी एक वस्तु की सत्ता के आधार पर अन्य वस्तु की सत्ता हो तो कहा जाता है कि वहाँ अन्वय है, तथा एक वस्तु की सत्ता के अभाव में अन्य वस्तु की असत्ता हो तो वहाँ व्यतिरेक माना जाता है।

पृ० 26 पं० 21. विज्ञान भूत-धर्म नहीं—चार्वाक की मान्यता है कि विज्ञान भूत-धर्म है। बौद्धों ने इसका खण्डन किया है—प्रमाण-वातिक अ० पृ० 67-112; देखें—न्यायावतार वा० टि० पृ० 206 विशेषतः द्रष्टव्य है।

पृ० 27 पं० 3. अस्तमिते आदित्ये—यह वाक्य बृहदा० 4.3.6 में है।

पृ० 27 पं० 22. पद का क्या अर्थ है—इसकी चर्चा के लिए न्यायसूत्र 2.2.60 से। देखें—न्यायमञ्जरी पृ० 297.

कोई पद का अर्थ व्यक्ति, कोई जाति तथा कोई आकृति मानता था। इन तीनों पक्षों का निरास कर न्यायसूत्र में शौणमुख्य भाव से इन तीनों को पद का वाच्यार्थ माना गया है। मीमांसकों ने आकृति और जाति को एक ही मानकर जाति को पदार्थ माना है किन्तु बौद्धों ने अन्यायोह (अन्यव्यावृत्ति) को शब्दार्थ माना है। जैन मत में वस्तु सामान्य विशेषात्मक होने से वही वाच्य है।

इस गाथा में जो तीन विकल्प किए गए हैं वे शब्द-ब्रह्मवादी वैगाकरण, विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध तथा अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों की अपेक्षा से किए गए प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि शब्दब्रह्मवादी के मत में बाह्य विश्व भी शब्द का ही प्रपंच होने से शब्दात्मक है। अतः शब्द का अर्थ शब्द ही होता है। विज्ञानाद्वैतवादी के मत में आन्तर-बाह्य सब कुछ

विज्ञान ही है, अतः उनके अनुसार विज्ञान ही शब्दार्थ बनता है तथा मीमांसकादि अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों के मत में वस्तुएं ही शब्दार्थ बनती हैं। पदों के दो भेद किए जाते हैं— नाम पद तथा आख्यात पद। नाम पद के चार भेद हैं—जातिशब्द, गुणशब्द, द्रव्यशब्द, क्रियाशब्द। इन भेदों को ध्यान में रख कर प्रस्तुत में शब्द का अर्थ जाति, द्रव्य, क्रिया अथवा गुण है, ये विकल्प किए गए हैं—न्यायमंजरी पृ० 297.

(२)

पृ० 29 पं० 2. कर्म के अस्तित्व की चर्चा—कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया होता है, किन्तु यहाँ इस विषय की चर्चा नहीं है। कारण यह है कि क्रिया तो सबको प्रत्यक्ष है। किन्तु इस क्रिया के कारण आत्मा में वासना, संस्कार अथवा पौद्गलिक कर्म के नाम से विख्यात जिस पदार्थ का समर्ग होता है, उसके सम्बन्ध में अग्निभूति को संशय है। वह पदार्थ अतीन्द्रिय है, अतः उसकी सत्ता के विषय में सन्देह का अवकाश भी है।

भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक ने कर्म का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया, शेष सभी दर्शनों में वह स्वीकृत है। अतः यह समझ लेना चाहिए कि यहाँ अग्निभूति द्वारा उपस्थित की गई शंका चार्वाक मत के अनुसार है।

पृ० 30 पं० 2. पुरुष—इस वाक्य का तात्पर्य पहले कहा जा चुका है। उसके अनुसार संसार में केवल पुरुष ही है। उससे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है, अतः कर्म के अस्तित्व का भी अवकाश नहीं रहता। इससे यदि वेद के अन्य वाक्यों के आधार पर कर्म का अस्तित्व सूचित होता हो तो कर्म के सम्बन्ध में सन्देह होना स्वाभाविक है।

पृ० 30 पं० 12. कर्म का फल—जयन्त ने कर्म की सिद्धि के लिए जो युक्तियाँ दी हैं वे यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

तथा च केचिज्जायन्ते लोभमात्रपरायणाः ।
 द्रव्यसंग्रहणैकाग्रमनसो मूषिकादयः ॥
 मनोभवमयाः केचित् सन्ति पारावतादयः ।
 कूजत्प्रियतमा चञ्चुचुम्बनासक्तचेतसः ॥
 केचित् क्रोधप्रधानाश्च भवन्ति भुजगादयः ।
 ज्वलद्विषानलज्वालाजालपल्लविताननाः ॥
 जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदुःखादिभेदतः ।
 कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणाफलोदयः ॥
 अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
 क्वचित् फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
 तदेतद् दुर्घटं दृष्टात् काणात् व्यभिचारिणः ।
 तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥

अदृष्टो भूतधर्मस्तु जगद्वैचित्र्यकारणम् ।
 यदि कश्चिदुपेयेत को दोषः कर्मकल्पने ॥
 संज्ञामात्रे विवादश्च तथा सत्यावयोर्भवेत् ।
 भूतवद् भूतधर्मस्य न चादृश्यत्वसम्भवः ॥
 दृष्टश्च साध्वीसुतयोर्मयोस्तुल्यजन्मनोः ।
 विशेषो वीर्यविज्ञानसौभाग्यारोग्यसम्पदाम् ॥
 स्वाभाविकत्वं कार्याणामधुनैव निराकृतम् ।
 तस्मात् कर्मभ्य एवैष विचित्रजगदुद्भवः ॥

—न्यायमंजरी पृ० 48 ।

पृ०32 पं०६. अन्तराल गति—मृतजीव को जब तक नए शरीर की प्राप्ति न हुई हो तब तक की गति को 'अन्तराल गति' कहते हैं। स्थूल शरीर मृत्यु के समय ही अलग हो जाता है, अतः उस समय जीव कर्मण शरीर अथवा आत्म-सम्बद्ध कर्म की सहायता से गति करता है। बौद्ध कर्मण शरीर को 'अन्तराभव शरीर' कहते हैं, वह भी जैनों के समान मूर्त है—प्रमाण-व्याक्तिक 1.85 (मनोरथ) ।

पृ०32 पं०20. योग—प्रथात् व्यापार वह तीन प्रकार का है—मन से, वचन से, शरीर से। यहाँ कर्मण नामक शरीर का व्यापार विवक्षित है।

पृ०35 पं०10 न चाहने पर भी अदृष्ट फल—गीता में फल की आसक्ति छोड़ने की जो बात कही है उसका तात्पर्य भी यही है कि इन्द्रियों का जो सुखादि रूप फल है उसकी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। किन्तु जो दानादि हमारे कर्तव्य हैं उनका आचरण अनासक्त भाव से यदि कोई करे तो उसे उसका फल मोक्ष सुख मिलता ही है।

गीता के मतानुसार ब्राह्मण आदि जातियों के कर्तव्य स्वाभाविक माने गए हैं; (18.42)। जिस जाति का जो स्वाभाविक कर्तव्य है उसे उस कर्तव्य को छोड़ना नहीं चाहिए। किन्तु जैन दृष्टि से जातिगत स्वाभाविक कर्तव्य कोई नहीं है। सद्गुरुओं की जो भी सूची है, वह सर्वसाधारण है। गीता ने ब्राह्मणों के शम आदि जो कर्तव्य गिनाए हैं उनका आचरण शूद्र भी कर सकते हैं और उससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, यह जैन मान्यता है।

पृ. 36 पं. 29. कर्म मूर्त है—यहाँ मूर्त का अर्थ है रूप, रसादि से युक्त। इसी प्रकार की युक्तियों के लिए देखें—अष्टसहस्री का० 98.

पृ० 37 पं० 2. उपादान कारण—घट मिट्टी से उत्पन्न होता है, अतः मिट्टी घड़े का कारण है। इसी प्रकार कुम्हार घट को दण्ड, चक्रादि द्वारा उत्पन्न करता है, अतः दण्डादि भी घट के कारण हैं। इन दोनों प्रकार के कारणों का अन्तर बताने के लिए मिट्टी को उपादान कारण कहते हैं तथा दण्डादि को निमित्त कारण। कार्य निष्पत्ति किसी एक से न होकर दोनों से होती है।

पृ० 40 पं० 9. धर्म-अधर्म—अग्निभूति ने नैयायिक-वैशेषिक, सांख्य-योग की परिभाषा का उपयोग कर यह पूर्वपक्ष रखा है। कारण यह है कि वे शुभाशुभ कर्म को धर्म-अधर्म की संज्ञा देते हैं।

पृ० 42 पं० 16. ईश्वरादि कारण नहीं—इसके विस्तारार्थ के लिये देखें स्याद्वाद-मंजरी का० 6.

पृ० 44 पं० 4 स्वभाववाद—वस्तु के स्वभाव को ही कार्य-निष्पत्ति में कारण मानना स्वभाववाद है। यह वाद अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषदों में भी इसका उल्लेख है। इसी वाद का आश्रय ले कर गीता में जाति-भेद के आधार पर कर्तव्य-भेदों का प्रतिपादन किया गया है (18.41)। अन्त में यह भी सूचित किया है कि—

“यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥१८॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।” १८।६०॥

गीता में इस स्वभाववाद का समर्थन ग्रन्थ अनेक स्थलों में भी है—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥३॥५॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३॥३३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५॥१४॥

पृ० 47 पं० 1. विधिवाद—‘विधिविधायकः’ न्यायसूत्र 2.1.63.

पृ० 47 पं० 2. अर्थवाद—‘स्तुतिनिन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः’ न्यायसूत्र 2.1.64.

पृ० 47 पं० 4. अनुवाद—‘विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः’ न्यायसूत्र 2.1.65.

(३)

पृ० 49 पं० 2. जीव-शरीर—जीव और शरीर एक ही हैं, यह वाद भी चार्वाकों का ही है। प्राचीन ग्रन्थों में इस वाद का उल्लेख ‘तज्जीव तच्छरीरवाद’ के नाम से उपलब्ध होता है। इस वाद में चार्वाकों का यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है कि, शरीर भूत-निष्पन्न है, अतः चेतना भी भूतों के समुदाय से निष्पन्न होती है। यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि भूत चैतन्य का उत्पादन कारण नहीं है किन्तु आत्मा (चेतन) यह एक स्वतन्त्र तत्व है तथा चैतन्य उसका धर्म है।

पृ० 49 पं० 17 समवसरण—भगवान् की व्याख्यान-सभा को समवसरण कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि उसमें देव भी उपस्थित रहते थे।

पृ० 49 पं० 24. गाथा 1650 —इसका मूल चार्वाक के इस सूत्र में है कि 'पृथ्वी-अप्-तेजो-वायुरिति तत्वानि । तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ।' यह सूत्र चार्वाकों के 'तत्त्वोपप्लवसिह' नामक ग्रन्थ में है (पृ० 1) । न्यायकुमुदचन्द्र पृ० 341 देखें । चार्वाकों का सूत्र-ग्रन्थ में यह सूत्र भी उपलब्ध होता है कि 'तेभ्यश्चैतन्यम्' न्यायकुमुदचन्द्र पृ० 342 देखें ।

चार्वाकों के इस मत के निरास के लिए निम्न ग्रन्थ देखें—न्यायसूत्र 301 से; न्यायमंजरी पृ० 437; श्लोकवती 391; श्लोकवार्तिक—आत्मवाद; प्रमाणवार्तिक 1.37 से; तत्त्वसंग्रह कारिका 1857-1964; ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य 3.3.53; धर्म संग्रहणी गा० 36 से; अष्टसहस्री पृ० 63; तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० 26; प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० 110; न्याय-कुमुदचन्द्र पृ० 341; स्याद्वादरत्नाकर पृ० 1080; न्यायावतारवार्तिक वृत्ति पृ० 45 ।

गाथागत मद्यांग से मद का उदाहरण भी चार्वाक के सूत्र में दिया हुआ है 'मदशक्तिवद् विज्ञानम्' यह सूत्रांश न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० 342) में उद्धृत है, किन्तु शांकर भाष्य में (3.3.53) यह सूत्र अपने पूरे रूप में इस प्रकार है—'तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद् विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' इस युक्ति का खण्डन आचार्य समन्तभद्र ने भी किया है—युक्त्यनुशासन 35 ।

पृ० 53 पं० 10. गाथा 1657-60. यही युक्ति प्रशस्तपाद ने (पृ० 360) भी दी है । अपि च न्यायसूत्र 3.1.1-3 देखें ।

पृ० 55 पं० 6. गाथा 1661—इसके साथ न्यायसूत्र 3.1.19 की तुलना करें ।

पृ० 55 पं० 18. प्रतिज्ञा—जिस वाक्य में स्वेष्ट साध्य का निर्देश हो उसे प्रतिज्ञा कहते हैं । प्रतिज्ञा असिद्ध होती है, अतः उसका अंश भी असिद्ध होता है । अतएव जो प्रतिज्ञा का अंश हो उसे हेतु नहीं बनाया जा सकता । कारण यह है कि हेतु असिद्ध होता है । वायुभूति का यहाँ यही आशय है ।

पृ० 55 पं० 30. आप्तम—तुलना करें—योगदर्शन कारिका 101.

पृ० 56 पं० 3. गाथा 1662—इस युक्ति के लिए देखें न्यायसूत्र 3.1.22.

पृ० 56 पं० 29. गाथा 1663—न्यायभाष्य 3.1.25.

पृ० 59 पं० 1. विज्ञान क्षण के संस्कार—इसके लिए देखें—

प्रतिक्षणविनाशे हि भावानां भावसन्ततेः ।

तथोत्पत्तेः सहेतुत्वादाश्रयोऽयुक्तमन्यथा ॥प्रमाणवार्तिक १.६६.

बौद्धों का निम्न श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध है—

यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।

फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा ॥

विशेष विवरण के लिये देखें बोधिचर्यावितार पंजिका पृ० 472.

पृ० 59 पं० 24. एक ज्ञान—बौद्धों के इस सिद्धान्त का मूल इस कारिका में है—
 'विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा ।
 एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा ॥

सर्वार्थ सिद्धि (1.12) में उद्धृत है ।

पृ० 59. पं० 24. 'क्षणिका'—क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रिया ।
 भूतियेषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥

—बौद्धचर्यावितार पंजिका में उद्धृत पृ० 376.

पृ० 60 पं० 31. प्रसिद्ध धर्मो—अनुमान की प्रतिज्ञा का आकार यह है—'पर्वत धूम वाला है' । इसमें जो पर्वत है उसे पक्ष या धर्मो कहते हैं । कारण यह है कि उसमें वह्नि रूप धर्म को सिद्ध करना है । इसमें वह्नि रूप धर्म अप्रसिद्ध होता है, अतः वह साध्य बनता है, किन्तु पर्वत तो प्रसिद्ध ही होना चाहिए । इसीलिए कहा जाता है कि पक्ष प्रसिद्ध धर्मो होता है ।

पृ० 63 पं० 3. क्षयोपशम—कर्म का क्षय और उपशम होना 'क्षयोपशम' है । अर्थात् कर्म के अमुक अंश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय हो तथा जो कर्म सत्ता में हो उसके उदय को रोका जाए अर्थात् उपशम किया जाए ।

पृ० 63 पं० 16. भाषा 1682—तुलना—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
 सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥

सांख्यकारिका 7.

(४)

पृ० 67 पं० 1. गणधर व्यक्त—दिगम्बर परम्परा में शुचिदत्त नाम भी उपलब्ध होता है—हरिवंशपुराण 3.42.

पृ० 67 पं० 2. शून्यवाद—यह चर्चा वेद-वाक्य का आधार ले कर शुरू की गई है किन्तु सारी चर्चा में पूर्व पक्ष के रूप में माध्यमिक बौद्धों की युक्तियों का प्रयोग किया गया है । बौद्ध जब 'शून्य' शब्द का प्रयोग करते हैं तब उसका अर्थ 'सर्वथा अभाव' नहीं समझना चाहिए, किन्तु सभी वस्तुएँ स्वभाव-शून्य हैं अर्थात् किसी भी वस्तु में उसकी आत्मा नहीं (द्रव्य नहीं) यही अर्थ समझना चाहिए । आनन्द ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि, आप बार-बार यह कहते हैं कि लोक शून्य है, इस शून्य का अर्थ क्या समझना चाहिए ? इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने कहा कि—

"यस्मा च खो आनन्द सुञ्ज अत्तेन वा अत्तनियेन वा तस्मा सुञ्जो लोको ति वुच्चति । किं च आनन्द सुञ्जं अत्तेन वा अत्तनियेन वा ? चक्खुं खो आनन्द सुञ्जं अत्तेन वा अत्तनियेन वा....रूपं....रूपं—विञ्जाराणं ।"—इत्यादि संयुक्तनिकाय 35.85.

सारांश यह है कि आँख आदि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों के विषय रूपादि तथा उनसे होने वाले विज्ञान और अन्य सब पदार्थों में उन ही आत्मा जैसी या आत्मीय (स्वभाव) जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसी अर्थ को मन्मुत्र रख लोक को शून्य कहा गया है। बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, अतः उनके अनुसार कोई भी वस्तु निरपेक्ष (स्वभाव) से नहीं होती, अर्थात् नित्य नहीं होती। प्रत्येक वस्तु सामग्री से उत्पन्न होने के कारण सापेक्ष है, अर्थात् कृतक है और अनित्य है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्वभाव के कारण नहीं किन्तु उसके उत्पादक कारणों पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है, किसी न किसी कारण की अपेक्षा रख कर उत्पन्न हुई है। बौद्ध 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' को ही 'शून्य' कहते हैं। जैसे कि—

स यदि स्वभावतः स्याद् भावो न स्यात् प्रतीत्यसमुद्भूतः ।
यश्च प्रतीत्य भवति आहो ननु शून्यता सैव ॥
यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमेकार्थम् ।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसम्बुद्धमिति ॥

—विग्रहव्यावर्तनी, बौध्दिव्यावहार पृ० 356.

यहाँ दिए गए शून्यवाद के पूर्वपक्ष का आधार मध्यमकारवतार ज्ञात होता है। उपनिषदों में भी शून्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। वहाँ भी उसका अर्थ 'सर्वथा अभाव' घटित नहीं होता। जैसे कि—

सर्वदा सर्वशून्योऽहं सर्वात्मानन्दवानहम् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽह्यात्माकाशोऽस्मि नित्यदा ।३।२७।।
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनकः ।
देवात्मा देवहीनात्मा मेयात्मा मेयवर्जितः ।४।४३।।

तेजोविन्दु उपनिषद्

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥

मंत्रेयुपनिषद् 3.5.

पृ० 67 पं० 12. स्वप्नोपमम्—इसके समर्थन के लिए देखें—

दृश्यते जगति यद्यद्यज्जगति वीक्ष्यते ।
वर्तते जगति यद्यत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥५५॥
इदं प्रपञ्चं यत्किञ्चिद्यज्जगति विद्यते ।
दृश्यरूपं च दृग्रूपं सर्वं ज्ञानविषाणवत् ॥७५॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकारश्च तेजश्च लोकं भुवनमण्डलम् ॥७६॥

तेजोविन्दूपनिषद् अ० 5

पूर्वोक्त अवतरण उपनिषद् में से है । माध्यमिक कारिका तथा वृत्ति में भी इसी अर्थ का द्योतक अवतरण है—

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा ।

तथात्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥मूलमाध्यमिक का० 7.34.

फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा ।

मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः ।

मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ॥माध्यमिक-वृत्ति पृ० 41.

न्यायसूत्र में इस प्रकार का पूर्वपक्ष भी है—

‘स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः । मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णि-
कावद्वा ।’ न्यायसूत्र 4.2.31-32.

पृ०67 पं०26. तुलना—

यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपितं यथैव ।

स्वभावशून्या तु निमित्तभावना तथोपमान् जानथ सर्वभावान् ॥

माध्यमिक-वृत्ति पृ० 178

पृ० 68 पं० 10. सापेक्ष—इस वाद का पूर्वपक्ष न्यायसूत्र में भी है और उसका वहाँ निराकरण भी किया है । न्यायसूत्र 4.1.39-40 देखें ।

इस वाद का मूल नागार्जुन की निम्न कारिका में है—

योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः तमेवापेक्ष्य सिध्यति ।

यदि योऽपेक्षितव्यः स सिध्यतां कमपेक्ष्य कः ॥

योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः सोऽसिद्धोऽपेक्षते कथम् ।

अथाप्यपेक्षते सिद्धस्त्वपेक्षाऽस्य न विद्यते ॥

मूल माध्यमिक कारिका : 0.10.11.

सापेक्ष वस्तु का अभाव उपनिषद् में भी वर्णित उपलब्ध होता है—

अक्षरोच्चारणं नास्ति गुरुञ्जिह्वादि नास्त्यपि ।

एकाभावे द्वितीयं न द्वितीयेऽपि न चैकता ॥२१॥

बन्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता ।

मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ॥२४॥

त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव न ।

इदं यदि तदेवास्ति तदभावादिदं न च ॥२५॥

अरतीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किञ्चन ।

कार्यं चेत् कारणं किञ्चित् कार्याभावे न कारणम् ॥२६॥

द्वैतं यदि तदाद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं न च ।

दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृशेव न ॥२७॥

अन्तर्यामि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च ।

पूर्णात्वमस्ति चेत्किञ्चिदपूर्णात्वं प्रसज्यते ॥२८॥

तस्मादेतत्त्ववचिन्नास्ति त्वं चाहं वा इमे इदम् ।
नास्ति दृष्टान्तिकं सत्ये नास्ति दाढान्तिकं ह्यजे ॥२६॥

इत्यादि विचार तेजोबिन्दूपनिषद् के पाँचवें अध्याय में मिलते हैं । उसमें निष्प्रपञ्च ब्रह्म की सिद्धि के लिए जिस प्रकार के विचार हैं उसी प्रकार के विचार नागार्जुन के भी हैं । भेद केवल यह है कि एक को ब्रह्म की सिद्धि करनी है और दूसरे को शून्य की ।

पृ० 68 पं० 9. ह्रस्व-दीर्घत्व—न्यायवार्तिक में भी यही उदाहरण है—न्याय-वार्तिक 4.1.39.

पृ० 68 पं० 10. स्वतः—यह नागार्जुन की युक्ति है—
न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जानु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥११॥
न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते ।
न स्वतः परतश्चैव जायते जायते कुतः ॥२१॥१३॥मूलमा०

पृ० 71 पं० 6. उत्पत्ति—यह चर्चा माध्यमिक वृत्ति 1.4 में है । तुलना करें—
उत्पद्यमानमुत्पादो यदि चोत्पादयत्ययम् ।
उत्पादयेत् तमुत्पादं उत्पादः कतमः पुनः ॥१८॥
अन्य उत्पादयत्येनं यद्युत्पादोऽनवस्थितिः ।
अथानुत्पाद उत्पन्नः सर्वमुत्पद्यते तथा ॥१९॥
सतश्च तावदुत्पत्तिरसतश्च न युज्यते ।
न सतश्चासतश्चेति पूर्वमेवोपपादितम् ॥२०॥मूलमा०का० 7

पृ० 71 पं० 25. गाथा 1695—तुलना करें—
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्या जायते यदि ।
फलमस्ति च सामग्र्यां सामग्र्या जायते कथम् ॥१॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्या जायते यदि ।
फलं नास्ति च सामग्र्यां सामग्र्या जायते कथम् ॥२॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्यामस्ति चेत् फलम् ।
गृह्यते ननु सामग्र्यां सामग्र्यां च न गृह्यते ॥३॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्यां नास्ति चेत् फलम् ।
हेतवः प्रत्ययाश्च स्युरहेतुप्रत्ययैः समाः ॥४॥मूलमा०का० 20
हेतुप्रत्ययसामग्र्यां पृथग्भावेऽपि मद्ब्रह्मो न यदि ।
ननु शून्यत्वं सिद्धं भावानामस्वभावतः ॥विग्रहव्यावर्तनी 2॥

पृ० 74 पं० 8. गाथा 1702—इसके साथ न्यायसूत्र 'स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्न-विषयाभिमानः' (4.2 34) तथा उसके भाष्य की तुलना करने योग्य है ।

पृ० 74 पं० 11. गाथा 1703. स्वप्न के विषय में प्रश्नस्तपाद पृ० 548 देखें ।

पृ० 75 पं० 2. त्रि अवयव वाला वाक्य—यहाँ वाक्य का अर्थ अनुमान वाक्य है। उसके तीन अवयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण।

पृ० 75 पं० 3. पाँच अवयव वाला वाक्य—उपर्युक्त तीन तथा उपनय और निगमन ये दो और मिला कर पाँच अवयव हैं—

1. पर्वत में वह्नि है—इसे प्रतिज्ञा कहते हैं। अतः इसमें साध्य वस्तु का निर्देश किया जाता है।

2. क्योंकि उसमें धुआँ है—यह हेतु है। साध्य को सिद्ध करने वाले साधन का निर्देश हेतु कहलाता है। साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति (अविनाभाव) हो वही साधन हो सकता है—अर्थात् जो वस्तु साध्य के अभाव में कभी भी उपलब्ध न होती हो, जो साध्य के होने पर ही हो, उसे साधन कहते हैं। उसको देख कर अनुमान ही सकता है कि साध्य अवश्य होना चाहिए।

3. जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है—जैसे कि रसोई घर में। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुआँ भी नहीं होता, जैसे कि पानी के कुण्ड में। इस प्रकार जो व्याप्ति दर्शन का स्थान हो उसे दृष्टान्त कहते हैं। उसका निर्देश करना उदाहरण है। प्रस्तुत में रसोई घर साध्यम्यं दृष्टान्त कहलाता है, क्योंकि उसमें अन्वय व्याप्ति अर्थात् साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव बताया गया है। कुण्ड वैधर्म्य दृष्टान्त है, क्योंकि इसमें व्यतिरेक व्याप्ति अर्थात् साध्य के अभाव के कारण साधन का भी अभाव बताया गया है।

4. पर्वत में धुआँ है—इस प्रकार पक्ष में साधन का उपसंहार करना उपनय कहलाता है।

5. अतः पर्वत में अग्नि है—इस प्रकार साध्य का उपसंहार निगमन कहलाता है।

पृ० 76 पं० 1—सापेक्ष नहीं—न्यायसूत्र 4.1.40 देखें।

पृ० 76 पं० 23. सापेक्ष—आचार्य समन्तभद्र ने इन दोनों एकान्तों का निराकरण किया है कि, सब कुछ सापेक्ष ही है अथवा निरपेक्ष ही है। आप्तमीमांसा का० 73-75.

पृ० 77 पं० 33—अग्निर्दहति—पूरा श्लोक यह है—

इदमेवं न वेत्येतत् कस्य पर्यनुयोज्यताम् ।
अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम् ॥

प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० 43

पृ० 79 पं० 5. व्यवहार और निश्चय—आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार और निश्चय का जिस प्रकार पृथक्करण किया है उसके लिए न्यायावतारवार्तिक वृत्ति प्रस्तावना पृ० 139 देखें।

पृ० 84 पं० 7. परमाणु—न्यायभाष्य (4.2.16) में परमाणु को निरवयव कहा है, किन्तु बौद्धों ने इस लक्षण में त्रुटि बताई है और कहा है—

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ।

षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का० 17

इसके उत्तर के लिए व्योमवती पृ० 225 देखें ।

पृ० 84 पं० 7. द्व्यणुकादि—दो परमाणुओं के स्कन्ध को द्व्यणुक कहते हैं । किन्तु त्र्यणुक की रचना के विषय में दार्शनिकों में ऐक्य नहीं है । कुछ तीन परमाणुओं के स्कन्ध को त्र्यणुक कहते हैं जबकि अन्य दार्शनिकों का मत है कि तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक स्कन्ध बनता है ।

पृ० 84 पं० 30. मूर्तेः—इसमें मिलता हुआ श्लोक वाचक उमास्वांत ने उद्धृत किया है—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्याश्च भवति परमाणुः ।

एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥तत्त्वार्थ-भाष्य 5.25

पृ० 85 पं० 25. अदर्शन अभाव साधक नहीं होता—इस बात का समर्थन आचार्य धर्मकीर्ति ने निम्न शब्दों में किया है—

“विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाण-निवृत्तावापि अर्थाभावासिद्धेरिति” न्यायविन्दु पृ० 59-60.

पृ० 87 पं० 4. सद्हेतु—हेतु सपक्षवृत्ति हो या न हो, अर्थात् वह चाहे सभी पक्षों में रहे या न रहे, केवल इसी बात से वह सद्हेतु अथवा असद्हेतु नहीं बन जाता, किन्तु यदि उसकी वृत्ति विपक्ष में हो तो वह अवश्यमेव असद्हेतु हो जाता है । इसका कारण यह है कि विपक्ष में साध्य का अभाव होता है । इसलिए यदि साध्य के अभाव वाले स्थान में भी हेतु विद्यमान हो तो वह साध्य का सद्भाव सिद्ध करने में कैसे समर्थ हो सकता है ?

पृ० 88 पं० 20. वायु का अस्तित्व—वायु-साधक युक्तियों के लिए व्योमवती पृ० 27 : देखें ।

पृ० 88 पं० 25 आकाश साधक अनुमान—न्याय-वैशेषिक इस अनुमान से आकाश की सिद्धि करते हैं कि शब्द गण-गुणी के बिना सम्भव नहीं है और शब्द पृथ्वी आदि किसी भी द्रव्य का गुण नहीं हो सकता, अतः उसे आकाश का गुण मानना चाहिए—व्योमवती पृ० 322 । परन्तु जैन तो शब्द को गुण नहीं मानते, अतः उक्त अनुमान के स्थान में आचार्य ने यहाँ जैन-सम्मत आकाश के अवगाहान की योग्यता रूप गुण का उपयोग किया है और कहा है कि पृथ्वी आदि मूर्त द्रव्यों का कोई आधार होना चाहिए, जो आधार है वही द्रव्य आकाश है, इत्यादि ।

पृ० 91 पं० 4. शस्त्रोद्भूत—किस जीव का घात कौन से शस्त्र से होता है, इसके परिचय के लिए आचारांग का प्रथम ग्रन्थयत्न देखें ।

पृ० 92 पं० 2. पाँच समिति—1. ईर्ष्या समिति—ऐसी सावधानी से चळना कि किसी जीव को क्लेश न हो । 2. भाषा समिति—सत्य, हितकारी, परिमित, असंदिग्ध वचन का व्यवहार । 3. एषणा समिति—जीवन-यात्रार्थ आवश्यक भोजन के लिए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति । 4. आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपण समिति—पात्रादि वस्तु के लेने, रखने आदि में सावधानी । 5. उच्चार-प्रस्रवण-खेज-जल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति—मलमूत्रादि को योग्य स्थान में त्यागने की सावधानी ।

पृ० 93 पं० 2. तीन गुप्ति—मन, वचन, काय ये तीन गुप्ति हैं । गुप्ति अर्थात् असत् प्रवृत्ति से निवृत्ति ।

(५)

पृ० 94 पं० 2. इस भव तथा पर-सव का सदृश—इस चर्चा में पूर्व पक्ष यह है कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही होता है तथा पशु मर कर पशु ही होता है । अब तक यह ज्ञात नहीं हो सका कि यह पूर्वपक्ष तिवहा है, किन्तु उक्त पूर्वपक्ष के आधार पर 'कार्य-कारण सदृश ही होता है या नहीं' इस विषय पर जो चर्चा की गई है वह बहुत महत्वपूर्ण है ।

चार्वाक असत् कार्यवादी हैं, तो भी वे कार्य को सदृश और विसदृश मानते हैं । चैतन्य जैसे कार्यों को वे कारण से विसदृश मानते हैं तथा भौतिक कार्यों को सदृश । चार्वाकों ने एक ही भूत न मानकर चार या पाँच भूत स्वीकार किए हैं । इससे ज्ञात होता है कि उनके मत में सर्वथा विसदृश कार्य का सिद्धान्त मान्य नहीं है ।

वेदान्त और सांख्य दोनों सत्कार्यवादी हैं, अतः वे स्वीकार करते हैं कि कार्य-कारण सदृश होता है । वेदान्त के मतानुसार कार्य की समस्त विलक्षणता का समन्वय ब्रह्म में है तथा सांख्य के मतानुसार प्रकृति में । कोई भी कार्य वेदान्त मत में ब्रह्म से तथा सांख्य मत में प्रकृति से सर्वथा विलक्षण नहीं है । ब्रह्म के एक होने पर भी उसके कार्यों में जो विलक्षणता दृग्गोचर होती है उसका कारण वेदान्त के अनुसार अविद्या है । प्रकृति के एक होने पर भी उसके कार्यों में जो विलक्षणता है उसका कारण सांख्य मत में प्रकृति के गुणों का वैषम्य माना गया है ।

नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध ये तीनों असत् कार्यवादी हैं, अतः उनके मतानुसार कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है । कारण सदृश कार्य होता है, इस विषय में इन तीनों को कोई आपत्ति या विवाद नहीं है । जैन भी इन सब के समान कार्य को कारण से सदृश और विसदृश मानते हैं ।

पृ० 102 पं० 9. मनुष्य ताम कर्म—ताम-कर्म की प्रकृति जिस से जीव मर कर मनुष्य बनता है ।

पृ० 102 पं० 9. मनुष्य गोत्र कर्म—गोत्र कर्म के मूल भेद दो हैं—उच्च और नीच । इन मूल भेदों के अनेक उपभेद समझ लेने चाहिए । जैसे कि मनुष्य व देव उच्च में और नरक व तिर्यच नीच में ।

(६)

पृ० 103 पं० 2. बन्ध-मोक्ष चर्चा—इस प्रकरण में मुख्य रूपेण यह चर्चा है कि बन्ध-मोक्ष सम्भव हैं या नहीं ?

भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा है कि जिसमें जीव के बन्ध-मोक्ष को स्वीकार नहीं किया गया है । अन्य दर्शनों में इसे स्वीकृत किया गया है । सांख्यों ने बन्ध-मोक्ष मग्ना तो है किन्तु पुरुष के स्थान पर उन्होंने इसे प्रकृति में माना है । किन्तु यह केवल परिभाषा का भेद है, क्योंकि सांख्य यह मानता है कि अन्त में प्रकृति और पुरुष का विवेक होना ही मोक्ष है, अर्थात् तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष की जो एकता समझ ली गई थी, उसका स्थान विवेक ग्रहण कर लेता है और यही मोक्ष है । अन्य दर्शनों में भी यही बात मान्य है । अन्य दर्शन चेतन, अचेतन के विवेक को (चेतन अचेतन के बन्ध के अभाव को) ही मोक्ष कहते हैं । तत्त्वज्ञान प्रकृति का धर्म हो या पुरुष का, किन्तु सभी यह मानते हैं कि वह अत्यन्त आवश्यक है । अतः सांख्य तथा अन्य दर्शनों में इस विषय में परिभाषा का ही भेद है ।

पृ० 103 पं० 9. 'स एष विगुणः'—यह वाक्य कहीं का है, इसकी शोध नहीं हो सकी । किन्तु इसमें संशय नहीं कि, इस पर सांख्य मत का प्रभाव है । कारण यह है कि सांख्यों के मत में आत्मा में बन्ध, मोक्ष, संसार कुछ भी नहीं माना गया, किन्तु प्रकृति में ये सब स्वीकार किए गए हैं । इस वाक्य के साथ श्वेताश्वतर के इस वाक्य की तुलना करने योग्य है :

“कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च” ६.१.

पृ० 108 पं० 2. अभव्य—भव्य और अभव्य जीव के दो स्वाभाविक प्रकार हैं । अन्य दर्शनों में अभव्य शब्द का प्रयोग हुआ हो तो उसका अर्थ 'दुर्भव्य' के समान समझना चाहिए । जीव के ये दो भेद किसलिए किए गए हैं, इसका कुछ भी कारण नहीं बताया जा सकता । अतः आचार्य सिद्धसेन ने इस विषय को आगमगम्य अर्थात् अहेतुवादान्तर्गत गिना है ।

पृ० 109 पं० 2. गाथा 1827—इस गाथा में इस आक्षेप का उत्तर दिया गया है कि, भव्यों के मोक्ष जाने से संसार खाली हो जाएगा । उत्तर में बताया गया है कि, जीव अनन्त हैं, अतः ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होगी । 'किसी भी समय संसार की समाप्ति होगी या नहीं' ऐसे प्रश्न के उत्तर में योगभाष्यकार ने कहा है कि, यह प्रश्न अवचनीय है और लिखा है कि यह नहीं बताया जा सकता कि संसार का अन्त है या नहीं, किन्तु कुशल का संसार क्रमशः समाप्त होता है तथा अकुशल का संसार समाप्त नहीं होता, यह बात कही जा सकती है । समस्त संसार के विषय में समान निर्णय नहीं दिया जा सकता । योग-भाष्य की टीका भास्वती में एक प्राचीन वाक्य उद्धृत किया गया है—'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः' । इसका

अर्थ है कि, अधुना के समान कभी भी संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। इसके साथ जैन मान्यता की तुलना करने योग्य है। जैन मान्यता है कि, किसी भी तीर्थंकर से पूछा जाए, उत्तर एक ही प्राप्त होगा कि, भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है। जीव अनन्त हैं और उनका अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध है। भास्वती ने उपनिषद् का निम्न मार्मिक वाक्य भी उद्धृत किया है—'पूर्णास्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' एक अन्य श्लोक भी उद्धृत किया है, वह यह है—

अतएव हि विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा ।

ब्रह्माण्डजीवलोकानामनन्तत्वादशून्यता ॥

योगभाष्य 4.33 देखें ।

पृ० 111 पं० 19. गद्या 1839 — इसमें मोक्ष को कृतक मानने की जो बात कही गई है, उसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं अर्थात् संस्कृत (कृतक) मानते हैं। किन्तु उन्होंने भी निर्वाण को असंस्कृत ही माना है। राजा मिलिन्द ने प्रश्न किया था कि, क्या कोई ऐसी वस्तु है जो कर्मजन्य न हो, हेतुजन्य न हो तथा ऋतुजन्य न हो। इसके उत्तर में भदन्त नागसेन ने बताया था कि, आकाश प्रौर निर्वाण ये दो ऐसी वस्तुएँ हैं जो कर्म, हेतु, अथवा ऋतु से उत्पन्न नहीं होती हैं। यह सुन कर राजा मिलिन्द ने तत्काल ही प्रश्न किया कि, ऐसी अवस्था में भगवान् ने मोक्ष मार्ग का उपदेश क्यों दिया? उसके अनेक कारणों की चर्चा किसलिए की? नागसेन ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि, मोक्ष का साक्षात्कार करना तथा उसे उत्पन्न करना ये दोनों भिन्न-भिन्न बातें हैं। भगवान् ने जो कुछ कारण बताए हैं वे मोक्ष का साक्षात्कार करने के कारण हैं। भगवान् ने मोक्ष को उत्पन्न करने के कारणों की चर्चा नहीं की है। इस बात के समर्थन के लिए दृष्टान्त दिया गया है कि, कोई भी मनुष्य अपने प्राकृतिक बल से हिमालय तक पहुँच तो सकता है, किन्तु वह अपने उसी बल से हिमालय को उखाड़ कर अन्यत्र नहीं रख सकता। एक मनुष्य नौका का आश्रय लेकर सामने के तीर पर पहुँच तो सकता है किन्तु उस तीर को उखाड़ कर वह किसी भी प्रकार अपने समीप नहीं ला सकता। उसी प्रकार भगवान् निर्वाण के साक्षात्कार का मार्ग दिखा सकते हैं किन्तु निर्वाण को उत्पन्न करने के हेतु नहीं बना सकते। कारण यह है कि निर्वाण असंस्कृत है, जो संस्कृत ही वह उत्पन्न हो सकता है, किन्तु असंस्कृत वस्तु उत्पन्न ही ही नहीं सकती।

विशेष स्पष्टीकरण करते हुए भदन्त नागसेन ने बताया है कि, निर्वाण के असंस्कृत होने के कारण उसे उत्पन्न, अनुत्पन्न, उत्पाद्य, प्रतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान), चक्षुर्विज्ञेय श्रोत्र विज्ञेय, घ्राण विज्ञेय, जिह्वा विज्ञेय, स्पर्श विज्ञेय जैसे किसी भी शब्द से वर्णित नहीं किया जा सकता। फिर भी 'निर्वाण नहीं है' यह नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि वह मनोविज्ञान का विषय बनता है। विशुद्ध स्वरूप मन द्वारा उमका ग्रहण हो सकता है। जैसे वायु दिखाई नहीं देती है, उसके संस्थान का पता नहीं चलता है, हाथ में पकड़ी नहीं जाती है, फिर भी उसकी सत्ता है। इसी प्रकार निर्वाण भी है—मिलिन्द प्रश्न 4.7. 12-15, पृ० 263. इस प्रकार असंस्कृत निर्वाण सभी बौद्ध सम्प्रदायों को इष्ट है।

वेदान्त मत में भी मोक्ष अथवा निर्वाण उत्पन्न किए जाने वाला नहीं है, किन्तु उस का साक्षात्कार किया जाना है। आत्मा के शुद्धस्वरूप सम्बन्धी अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को दूर कर उसके शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करना ही मोक्ष है। अतः वेदान्त मत में भी निर्वाण के कारणों की जो चर्चा है वह ज्ञापक कारणों की है, उत्पादक कारणों की नहीं है।

अन्य दर्शनों को भी यही मान्यता स्वीकृत है, क्योंकि यह बात सर्वसम्मत है कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप आवृत्त हो गया है। वैदिक दर्शन आत्मा में विकार स्वीकार नहीं करते। वैदिकों में केवल कुमारिल-सम्मत मीमांसा पक्ष ही एक ऐसा पक्ष है जिस के मत में आत्मा परिणामी नित्य होने के कारण विकार-युक्त सम्भव है। जैन दर्शन भी आत्मा को परिणामी नित्य मानता है, अतः इस मत में मोक्ष या निर्वाण कृतक भी है और अकृतक भी। पर्याय दृष्टि से उसे कृतक कहा जा सकता है, क्योंकि विकार को नष्ट कर शुद्धावस्था को उत्पन्न किया गया है। किन्तु द्रव्य दृष्टि से आत्मा और उसकी शुद्धावस्था भिन्न नहीं हैं, अतः उसे अकृतक भी कहते हैं। कारण यह है कि आत्मा तां विद्यमान थी ही, उसे किसी ने उत्पन्न नहीं किया।

पृ० 112 पं० 23. सौगत—महायानी बौद्ध मानते हैं कि, बुद्ध बार-बार इस संसार में जीवों के उद्धार के लिए आते हैं और निर्माणकाय को धारण करते हैं। इसके साथ गीता का अवतारवाद का सिद्धान्त तुलनीय है।

पृ० 113 पं० 26. लोक के अग्रभाग में—मुक्त लोक के अग्रभाग में स्थिर होते हैं। जैनों का यह सिद्धान्त स्पष्ट है, तथापि अनेक लेखक जैन मुक्ति के विषय में लिखते हुए लिख देते हैं कि सिद्ध के जीव सतत गमनशील हैं! इस भ्रम का मूल सर्वदर्शन संग्रह में है।

आत्मा को व्यापक मानने वाले सांख्य, न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों के मत में मुक्तावस्था के समय लोकाग्र पर्यन्त गमन कर वहाँ स्थिर रहने का प्रश्न ही नहीं रहता। वे व्यापक होने के कारण सर्वत्र हैं। आत्मा से केवल शरीर का सम्बन्ध दूर हो जाता है।

भक्तिमार्गीय सम्प्रदायों के मत में मुक्त जीव वैकुण्ठ अथवा विष्णुधाम में विष्णु के निकट रहते हैं।

हीनयानी बौद्ध जैनों के समान निर्वाण का कोई निश्चित स्थान नहीं मानते। देखें मिलिन्द 4.8.93 पृ० 320. किन्तु महायानी बौद्ध तुषित-स्वर्ग, सुखावती-स्वर्ग जैसे स्थानों की कल्पना करते हैं जहाँ बुद्ध विराजते हैं तथा अवसर आने पर निर्माणकाय धारण कर अवतार लेते हैं।

सिद्धों के निवास स्थान के वर्णन के लिए देखें—महावीरस्वामी नो अन्तिम उपदेश पृ० 251, अथवा उत्तराध्ययन 36, 57-62.

पृ० 114 पं० 16. आत्मा सक्रिय है—जिन दर्शनों में आत्मा को व्यापक माना गया है, उनमें परिस्पन्दात्मक क्रिया नहीं मानी गई है, किन्तु जैन दर्शन के मतानुसार आत्मा संकोच और विकासशील है, अतः उसमें परिस्पन्दात्मक क्रिया का कोई विरोध नहीं है।

पृ० 114 पं० 31. 'लाउय' यह गाथा आवश्यक निर्युक्ति की है—गाथा 957.

पृ० 114 पं० 27. प्रयत्न—न्याय-वैशेषिकों ने आत्मा में प्रयत्न नाम का एक गुण माना है और वह कर्म (क्रिया) से भिन्न है, क्योंकि वह गुण है।

पृ० 115 पं० 31. नित्य सत्त्वं—यह आ० धर्मकीर्ति की कारिका है। इसका पूरा रूप यह है—

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।

अपेक्षातश्च भावानां कादाचित्कस्य सम्भवः ॥ प्रमाणवातिक 3.34.

(७)

पृ० 121 पं० 2. देव-चर्चा—चार्वाक को छोड़ कर जब सभी भारतीय दर्शनों ने देवों का अस्तित्व स्वीकार किया है। अतः देवों के अस्तित्व के विषय का सन्देह चार्वाकों का समझना चाहिए।

पृ० 122 पं० 9. देव प्रत्यक्ष हैं—यह कथन भी आगमाश्रित ही समझना चाहिए। कारण यह है कि सूर्य तथा चन्द्रादि ज्योतिष्कों को देव मान कर यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि देव प्रत्यक्ष हैं। किन्तु इस बात में सन्देह का अवकाश है ही कि सूर्य-चन्द्रादि को देव मानना या नहीं। शास्त्र में उन्हें देव माना गया है, इस बात को स्वीकार करके ही उन्हें प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ आगमाश्रय है। इस आगमाश्रय को आगे अनुमान द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

पृ० 122 पं० 12. समवसरण में देव कथावस्तु नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी यह बताया गया है कि इस लोक में देवागमन होता है।

(८)

पृ० 128 पं० 2. नारक-चर्चा—इस चर्चा में भी यह समझ लेना चाहिए कि नारकों के अस्तित्व के सम्बन्ध का सन्देह चार्वाकों का ही पक्ष है, अन्य भारतीय दर्शनों ने देवों के समान नारक भी माने ही हैं।

पृ० 129 पं० 1. सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष हैं—सर्वज्ञ-साधक अनुमान में भी यही बात कही गई है कि सर्वज्ञ को अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ सर्वज्ञ-प्रत्यक्ष से नारकों का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। वस्तुतः सर्वज्ञत्व व नारक ये दोनों साधारण लोगों के लिए परोक्ष ही हैं।

पृ० 129 पं० 19. इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है—अन्य दार्शनिक इन्द्रिय ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं, जबकि जैन उसे सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कहते हैं। यहाँ उसकी परोक्षता का समर्थन किया गया है। प्रत्यक्ष शब्द में जो 'अक्ष' शब्द है, उसका अर्थ जैनों के अनुसार आत्मा है; जो केवल आत्म सापेक्ष हो उसे वह प्रत्यक्ष कहते हैं। अन्य दार्शनिक 'अक्ष' शब्द का अर्थ इन्द्रिय करते हैं तथा जो इन्द्रियजन्य हो उसे वे प्रत्यक्ष या लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

(६)

पृ० 134 पं० 16. पुण्य-पाप सम्बन्धी भेद—जिस प्रकार के मतभेद प्रस्तुत में वर्णित किए गए हैं उनमें स्वभाववाद तथा पाप-पुण्य को पृथक् मानने वाले तो सर्वविदित हैं, किन्तु केवल पुण्य अथवा केवल पाप या पुण्य-पाप का संकर (मिश्रण) ये पक्ष किसके हैं, यह बात ज्ञात नहीं हो सकी। यहाँ पुण्य-पाप विषयक जो विकल्प हैं, वे वस्तुतः किसी की मान्यता रूप हैं या केवल विकल्प हैं, इस बात का परिचय प्राप्त करने का भी कोई साधन उपलब्ध नहीं हुआ। केवल इनसे एकांश में मिलती हुई वस्तु सांख्य-कारिका की व्याख्या में सत्त्वादि गुणों के वर्णन के प्रसंग में दृग्गीचर होती है, उसका निर्देश करना आवश्यक है। माठर ने पूर्वपक्ष रखा है कि, सत्व, रज, तम इन तीनों को पृथक् क्यों माना जाए? केवल एक ही गुण क्यों न स्वीकार किया जाए? सां० का० 13 का उत्थान देखें।

पृ० 143 पं० 25. योग—मन, वचन, काय के व्यापार को 'योग' कहते हैं।

पृ० 143 पं० 27. मिथ्यात्व—अतत्त्व को तत्त्व समझना अथवा वस्तु का यथार्थ श्रद्धान न करना 'मिथ्यात्व' है।

पृ० 143 पं० 27. अविरति—पाप-प्रवृत्ति में निवृत्त न होना 'अविरति' है। अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य (मिथ्याचार) व परिपह में प्रवृत्ति करना।

पृ० 143 पं० 27. प्रमाद—आत्म-विस्मरण 'प्रमाद' है। अर्थात् कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान न रखना।

पृ० 143 पं० 28. कषाय—क्रोध, मान, मद्या, लोभ इन चारों को कषाय कहते हैं।

पृ० 144 पं० 10. अध्यवसाय—आत्मा के शुभाशुभ भाव(परिणाम) 'अध्यवसाय' है।

पृ० 144 पं० 22. लेश्या—कषायानुरजित योग के परिणाम को 'लेश्या' कहते हैं। उसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल। ये उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं। प्रथम तीन अशुभ तथा शेष तीन शुभ लेश्याएँ हैं।

पृ० 144 पं० 22. ध्यान—चार हैं—आतं, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल। प्रथम दो अशुभ तथा अन्तिम दो शुभ हैं। अप्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर वह कैसे दूर हो इसकी सतत चिन्ता करना, दुःख दूर करने की चिन्ता करना, प्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर उसे स्थिर रखने की चिन्ता करना, अप्राप्त की प्राप्ति के लिए संकल्प करना आर्तध्यान है। हिंसा, असत्य, चोरी तथा विषय संरक्षण के लिए सतत चिन्ता करना रौद्र ध्यान है। वीतराग की आज्ञा के विषय में विचार, दोषों के स्वरूप तथा उन से मुक्त होने के उपाय का विचार, कम विपाक की विचारणा, तथा लोकस्वरूप का विचार धर्म ध्यान है। पूर्वश्रुत के ज्ञाता तथा केवली का ध्यान शुक्ल ध्यान कहलाता है। इसका विशेष विवरण तत्त्वार्थ सूत्र 9.27 से देखें।

पृ० 144 पं० 31. सम्यङ् मिथ्यात्व—दर्शन मोहनीय कर्म के तीन भेद हैं—

1. मिथ्यात्व मोहनीय—जिसके उदय से तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धान न हो, 2. सम्यङ् मिथ्यात्व

अथवा मिश्र मोहनीय --जिसके उदय के समय यथार्थ श्रद्धा अथवा अश्रद्धा न हो किन्तु डोलाय-मान स्थिति रहे, 3. सम्बन्ध मोहनीय --जिसका उदय यथार्थ श्रद्धा का निमित्त तो बने किन्तु औपनिषदिक अथवा क्षायिक प्रकार की श्रद्धा न होने दे ।

पृ० 145 पं० 9. संक्रम—एक कर्म प्रकृति के परमाणु अन्य सजातीय कर्मप्रकृति रूप में परिणत हो जाएँ, इसे संक्रम या संक्रमण कहते हैं । जैसे कि सुख-वेदनीय कर्म परमाणु दुःख वेदनीय रूप हो जाएँ तो उसे संक्रमण कहेंगे ।

पृ० 145 पं० 20. ध्रुवबंधिनी—जो कर्म प्रकृति अपने बन्ध का कारण विद्यमान होने पर अवश्यमेव बन्ध को प्राप्त हो, उसे ध्रुवबंधिनी कहते हैं ।

पृ० 145 पं० 22 अध्रुवबंधिनी --जो कर्म प्रकृति अपने बन्ध का कारण विद्यमान होने पर बद्ध भी हो सके और बद्ध न भी हो, उसे अध्रुवबंधिनी कहते हैं ।

पृ० 146 पं० 2 तेल लगा कर—यही दण्डान्त भगवती भूष में भी शिवा है—भगवती सर पृ० 436, शतक 1, उद्देश 6.

पृ० 146 पं० 4. कर्मवर्गणा—समान जातीय पुद्गलों के समुदाय को 'वर्गणा' कहते हैं । जैसे कि स्वतन्त्र एक-एक पृथक् परमाणु जो संसार में हैं वे प्रथम वर्गणा कहलाते हैं । इसी प्रकार दो परमाणुओं के मिलने से जो स्कन्ध बनते हैं उनकी दूसरी वर्गणा, तीन परमाणुओं के मिलन से जितने स्कन्ध बनते हैं उन सबकी तीसरी वर्गणा, चार परमाणुओं से बने हुए स्कन्धों की चौथी वर्गणा, इस प्रकार एकाधिक परमाणु वाले स्कन्धों की गिनती करते-करते अन्तिम संख्या तक की वर्गणाओं की गिनती कर लेनी चाहिए । ये सब संख्यात वर्गणाएँ हैं । तत्पश्चात् असंख्यात अणु वाली वर्गणाओं की गिनती करें तो वे असंख्यात वर्गणाएँ होंगी । तदनन्तर अनन्त अणु वाली वर्गणाएँ अनन्त होंगी तथा अनन्तानन्त अणुओं द्वारा निमित्त स्कन्धों की वर्गणाएँ अनन्तानन्त होंगी । उसमें अब यह विचार करना शेष है कि, जीव कौनसी वर्गणाओं को ग्रहण कर सकते हैं । सभी वर्गणाओं में सबसे स्थूल वर्गणा औदारिक वर्गणा कहलाती है, जिसे ग्रहण कर जीव अपने औदारिक शरीर की रचना करता है । यह वर्गणा यद्यपि स्थूल कही जाती है तथापि इस वर्गणा में समाविष्ट स्कन्ध अन्य वैकिक शरीर योग्य वर्गणा की अपेक्षा अल्प परमाणुओं से निमित्त होते हैं । अर्थात् जीव द्वारा ग्रहण योग्य न्यूनतम परमाणुओं वाले स्कन्धों की जो वर्गणा है, वह औदारिक वर्गणा है । उसके स्कन्धों में अनन्तानन्त परमाणुओं के बने हुए स्कन्ध भी होते हैं किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओं से बने हुए स्कन्धों वाली वर्गणाएँ तो अनन्तानन्त भेद वाली हैं । उनमें से कौनसी वर्गणा औदारिक योग्य है, इसका स्पष्टीकरण शास्त्र में किया गया है और कहा गया है कि, जिस वर्गणा के स्कन्ध अधव्य जीवों की राशि से अनन्तगुण तथा सिद्ध जीवों की राशि के अनन्तवै भाग जितने परमाणुओं से बने हुए हों वह औदारिक योग्य वर्गणा है । यह संख्या भी न्यूनतम परमाणुओं के स्कन्धों से निमित्त औदारिक वर्गणा की समझनी चाहिए । उसमें एक-एक परमाणु बढ़ा कर बने हुए स्कन्धों की जो अनेक वर्गणाएँ औदारिक शरीर के योग्य हैं, उनकी संख्या अनन्त है ।

श्रीदारिक शरीर योग्य वर्गणा के पश्चात् अनन्त ऐसी वर्गणाएँ हैं जो वैक्रिय शरीर के अयोग्य हैं तथा उनके बाद की वर्गणाएँ वैक्रिय शरीर के योग्य हैं। इस प्रकार बीच वाली अग्रहण योग्य वर्गणाओं को निकाल कर जो ग्रहण योग्य वर्गणाएँ हैं वे ये हैं—श्रीदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तेजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनो वर्गणा तथा कर्म वर्गणा। इससे ज्ञात होता है कि कर्म वर्गणा सबसे सूक्ष्म परिणामी परमाणुओं की बनी हुई होती है, अतः वह सर्वाधिक सूक्ष्म है, किन्तु उसके स्कन्धों में परमाणुओं की संख्या सर्वाधिक है। इसके विशेष विवरण के लिए देखें—विशेषा० गाथा 635-639 तथा पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 75-76.

पृ० 146 पं० 13. उपशम श्रेणी—जिस श्रेणी में मोहनीय कर्म का भय नहीं किन्तु उपशम किया जाता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं। उसका क्रम यह है—सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम होता है; तत्पश्चात् मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का; फिर तपुंसक वेद का; फिर स्त्री वेद का; तदनन्तर हास्य, रति, अरति, शोक, भय व जुगुप्सा का; फिर पुरुष वेद का; फिर अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण क्रोध का; तदुपरान्त संज्वलन क्रोध का; फिर अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का; फिर संज्वलन मान का; बाद में अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण माया का; फिर संज्वलन माया का; तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण लोभ का; तथा अन्त में संज्वलन लोभ का उपशम होता है।

पृ० 147 पं० 4. प्रकृति—कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, जैसे कि ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव है कि वह ज्ञान का आवरण करता है।

पृ० 147 पं० 5. स्थिति—कर्म का आत्मा के साथ जितने समय तक सम्बन्ध बना रहता है उसे उसकी स्थिति कहते हैं।

पृ० 147 पं० 5. अनुभाग—कर्म की तीव्र-मन्द भाव द्वारा विपाक देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं।

पृ० 147 पं० 5. प्रदेश—कर्म के जितने परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध हों वे उसका प्रदेश कहलाते हैं।

पृ० 147 पं० 8. रसाविभाग—कर्म के विपाक की मन्दतम मात्रा को रसाविभाग कहते हैं। यह मात्रा कर्म के जो उत्तरोत्तर मन्दतर आदि प्रकार हैं उन्हें मापने में मापदण्ड का काम देती है।

(१०)

पृ० 152 पं० 2. परलोक-धर्वा—इस वाद में कोई नई बात नहीं है, अधिकतर पूर्वकथित की पुनरावृत्ति है।

पृ० 158 पं० 4. सीने के घड़े को—इसके साथ आ० समन्तभद्र की निम्नकारिका तुलनीय है—

‘घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥ आप्तमीमांसा 59.

(११)

पृ० 159 पं० 2. निर्वाण-चर्चा—निर्वाण के अस्तित्व की शंका का आधार मीमांसा-दर्शन की यह मान्यता है कि वैदिक कर्मकाण्ड जीवन-पर्यन्त करना आवश्यक है। इस प्रकार की शंका न्याय-दर्शन में भी पूर्वपक्ष के रूप में उपलब्ध होती है—न्यायसूत्र 4.1.59 का भाष्य तथा अन्य टीकाएँ देखें।

पृ० 160 पं० 3. दीप-निर्वाण—सौन्दरनन्द के श्लोक से मिलती हुई माया माध्यमिक वृत्ति में उद्धृत है। वह यह है—

‘अथ पंडितु कश्चि मार्गते कुतोऽयम्मागतु कुत्र याति वा ।

विदिशो दिश सर्वा मार्गतो नागतिस्य गतिश्च लभ्यति ॥

मा०वृ०पृ० 216.

चतुःशतक की वृत्ति (पृ० 59) में कहा गया है कि, निर्वाण यह नाममात्र है, प्रतिज्ञा-मात्र है, व्यवहार मात्र है, संवृत्ति मात्र है। और चतुःशतक (22!) में तो कहा है—

‘स्कन्धाः सन्ति न निर्वाणो पुद्गलस्य न सम्भवः ।

यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत् ॥’

बोधिचर्यावतार पंजिका में लिखा है—निर्वाण उपशमः पुनरनुत्पत्तिधर्मकतया आत्यन्तिकसमुच्छेद इत्यर्थः (पृ० 350)। यह भी दीप-निर्वाण पक्ष का समर्थन है। पुनश्च बोधिचर्यावतार (9.35) में जो यह कहा है कि—

‘यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः ।

तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥

वह भी दीप-निर्वाण पक्ष का ही समर्थन है। उसकी व्याख्या में लिखा है—

‘बुद्धिः प्रशाम्यति उपशाम्यति सर्वविकल्पोपशमात् निरिन्धनवह्निवत् निर्वृति- (निवृत्ति ?) मुपयातीत्यर्थः ।’ पृ० 418.

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि, शून्यवादी के मत में निर्वाण सर्वथा अभाव रूप है, क्योंकि वह परमार्थ तत्व तो है ही, जिसका वर्णन बोधिचर्यावतार पंजिका में इस प्रकार है—

‘बोधिः बुद्धत्वमेकानेकस्वभावविविक्तं अनुत्पन्नानिरुद्धं अनुच्छेदमशाश्वतं सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्तं आकाशप्रतिसमं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते । एतदेव च प्रज्ञापारमिता-शून्यता-तथता-भूतकोटिधर्म-वात्वादिशब्देन संवृत्तिमुपादाय अभिधीयते ।’ पृ० 421.

नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न (पृ० 72) में निर्वाण को निरोध रूप कहा है। फिर भी उन्होंने उसे सर्वथा अभाव रूप नहीं किन्तु 'अस्तित्व' कहा है (पृ० 265)। यह भी कहा है कि, निर्वाण सुख है (पृ० 72)। यही नहीं, उसे 'एकान्त सुख' कहा गया है (पृ० 306)। उसमें दुःख का लेश भी नहीं है। नागसेन ने, यह स्वीकार किया है कि, अस्तित्व होते हुए भी निर्वाण का रूप, संस्थान, वय, प्रमाण यह सब कुछ नहीं बताया जा सकता (पृ० 309)।

पृ० 160 पं० 11. मोक्ष—यह पक्ष जैनों को मान्य है।

पृ० 161 पं० 28. व्यापक—जिसका विस्तार अधिक हो उसे व्यापक कहते हैं तथा जिसका विस्तार न्यून हो उसे व्याप्य कहते हैं। जैसे कि वृक्षत्व और आम्रत्व। वृक्षत्व विस्तृत है, व्यापक है और आम्रत्व वृक्षत्व से व्याप्य है। ऐसी स्थिति में जहाँ वृक्षत्व न हो वहाँ आम्रत्व भी नहीं होता, किन्तु जहाँ आम्रत्व हो वहाँ वृक्षत्व अवश्य होगा। अतः आम्रत्व को हेतु बना कर वृक्षत्व को साध्य बनाया जा सकता है। किन्तु इससे विपरीत साध्य साधन भाव नहीं बन सकता।

पृ० 162 पं० 9. प्रध्वंसाभाव—प्रध्वंस अर्थात् विनाश। घट का विनाश होने पर उसका जो अभाव हुआ वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। अर्थात् ठीकरियाँ घट का प्रध्वंसाभाव हैं।

पृ० 165 पं० 24. आत्मा की—यह शंका नैयायिक-वंशेषिक मत के अनुसार है। उनके मत में मोक्ष में आत्मा में सुख या ज्ञान नहीं है।

पृ० 167 पं० 25. स्वतन्त्र हेतु—जिस साधन या हेतु द्वारा स्वेष्ट वस्तु की सिद्धि की जाए वह स्वतन्त्र-साधन है, परन्तु जिस हेतु द्वारा स्वेष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं किन्तु परवादी के अनिष्ट पर केवल आपत्ति की जाए वह प्रसंग-हेतु कहलाता है।



वृद्धि पत्र

(1) आचार्य जिनभद्र की कृतियों में एक चूर्ण की वृद्धि करनी चाहिये। यह चूर्ण अनुयोगद्वार के शरीर-पद पर है। इसका अक्षरशः उद्धरण जिनदास की चूर्ण तथा हरिभद्र की वृत्ति में हुआ है।

(2) विशेषावश्यक भाष्य की टीकाओं में मलयगिरिकृत टीका की भी गणना करनी चाहिये। इसका उल्लेख स्वयं मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका में किया है। सम्भव है इस टीका की प्रति मिल जाए।

(3) सामान्यतः निर्युक्तिकार के रूप में ये भद्रबाहु ज्ञात हैं, उनका समय मुनि श्री पुण्यविजय जी के लेख के आधार पर प्रस्तावना में प्रथम सूचित किया जा चुका है, किन्तु निर्युक्ति नाम के व्याख्या ग्रन्थों की रचना बहुत पहले से चली आ रही है। इसके प्रमाण के लिए यहाँ श्री अग्रस्त्यसिंह की चूर्ण का निर्देश किया जा सकता है। इस चूर्ण का अब तक नाम भी ज्ञात न था, किन्तु जैसलमेर के भण्डार से यह दो वर्ष पूर्व उक्त मुनिश्री को मिली है। यह चूर्ण दशवंकालिक सूत्र पर है। इसमें दशवंकालिक पर लिखी गई एक वृत्ति का भी निर्देश है। इस चूर्ण में व्याख्यात की गई गाथाएँ जिनदास की चूर्ण में भी उसी रूप में हैं। हरिभद्रीय वृत्तियों में इन गाथाओं के अतिरिक्त अन्य निर्युक्ति गाथाएँ भी हैं। अग्रस्त्यसिंह का समय माथुरी वाचना तथा बालभी वाचना के अन्तरकाल में कहीं है। अग्रस्त्यसिंह द्वारा स्वीकृत किया गया सूत्र-पाठ श्री देवद्विगणि द्वारा स्थिर किए गए सूत्र-पाठ से भिन्न ही है, इससे यह कल्पना की जा सकती है कि वह सूत्र-पाठ माथुरी या नागार्जुनीय वाचना सम्मत होगा। अतः हम कह सकते हैं कि अग्रस्त्यसिंह की चूर्ण में वर्णित निर्युक्ति भाग प्राचीन है। हाँ, नवीन रचित निर्युक्ति में प्राचीन निर्युक्ति समाविष्ट हो जाती है। इसलिए जैसे चूर्ण ग्रन्थों की रचना-परम्परा जिनदास से पहले से चली आ रही है, उसी प्रकार निर्युक्ति के विषय में भी यही बात है। यह देख कर यह विचार भी उत्पन्न होता है कि चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्युक्तियों की रचना की परम्परा में कुछ तथ्य तो अवश्य होना चाहिए।

(4) जीतकल्प की चूर्ण के कर्ता के रूप में बृहत्क्षेत्रसमास वृत्ति के रचयिता विक्रम की 12वीं शताब्दी में विद्यमान सिद्धसेनसूरि का उल्लेख सम्भावना के रूप में प्रस्तावना पृ० 46 पर किया गया है, किन्तु जीतकल्प एक आगमिक ग्रन्थ है। अतः प्रतीत होता है कि उसकी चूर्ण का कर्ता कोई आगमिक होना चाहिए। ऐसे एक आगमिक सिद्धसेन क्षमाश्रमण का निर्देश पंचकल्प चूर्ण तथा हरिभद्रीय वृत्ति में उपलब्ध होता है। सम्भव है कि जीतकल्प चूर्ण के कर्ता यही क्षमाश्रमण सिद्धसेन हों। यह संकेत एक विकल्प के रूप में है।

(5) क्षेत्रसमास वृत्ति के कर्ता के रूप में हरिभद्र का निर्देश तथा उनका समय 1185 प्रस्तावना में सूचित किया गया है, किन्तु जैसलमेर की ताडानोय प्रति में जो अब तक प्राप्त

इस वृत्ति की प्रतियों में सबसे प्राचीन है, 1185 का निर्देश नहीं है; केवल 85 सूचक अक्षर स्पष्ट हैं। अतः 'जन साहित्य नो इतिहास' के आधार पर निर्दिष्ट 1185 के समय पर पुनः विचार होना चाहिये।

(6) प्रस्तावना में कहा गया है कि आचार्य हेमचन्द्र मलघारी के हस्ताक्षर की प्रति खम्भात के भण्डार में है, किन्तु इस प्रति की प्रशस्ति में प्रयुक्त विशेषणों को देखकर यह अनुमान होता है कि शायद वह प्रति मलघारी के हाथों की न हो। हाँ, यह सम्भव है कि उन्होंने किसी और से वह प्रति अपने सामने लिखाई हो तथा उस लिखने वाले ने उन विशेषणों का प्रयोग किया हो। अतः हस्तलिपि के प्रश्न पर भी पुनः विचार होना चाहिये।

—मुखलाल

विशेषावश्यकभाष्यान्तर्गते गणधरवाद की गाथाएँ

विशेषावश्यक भाष्य की व्याख्या करते हुये मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने गणधरवाद में जिन गाथाओं की व्याख्या की है, अथवा जिन गाथाओं को उद्धृत किया है उन्हीं का प्रस्तुत पाठ में समावेश किया गया है; क्योंकि इस पुस्तक में मुद्रित गुजराती अनुवाद उक्त व्याख्या के आधार पर ही किया गया है।

निम्नांकित गाथाओं की पाठ-शुद्धि के लिये मैंने तीन प्रतियों का आधार लिया है—

1. मु० = विशेषावश्यक भाष्य की मलधारीकृत व्याख्या।
2. को० = विशेषावश्यक भाष्य की कोट्याचार्यकृत व्याख्या।
3. ता० = जेसलमेर स्थित ताडपत्र पर लिखी हुई विशेषावश्यक भाष्य की प्रति के आधार से पू० मुनि श्री पुण्यविजय जी महाराज द्वारा पं० अमृतलाल द्वारा की गई प्रतिलिपि।

सामान्यतया ताडपत्रीय प्रति प्राचीन और शुद्ध होने से उसी के पाठ को मैंने प्रधानता दी है। जहाँ रचना भेद या अर्थ भेद के कारण पाठान्तर हैं उनको मैंने टिप्पणी में प्रदान किये हैं किन्तु सामान्यतया वर्णविकार के कारण जो पाठान्तर हैं, उनको मैंने छोड़ दिया है।

[१]

जीवे तुह संदेहो पच्चक्खं जण्ण धेप्पति घड्डी व्वे ।
 अच्चंतापच्चक्खं च एत्थि लोए खपुष्कं व ॥१५७६॥
 ण य सोऽणुमाणगम्मो जम्हा पच्चक्खपुव्वर्यं तं पि ।
 पुव्वोव्वलद्धसम्बंधसरणतो लिंगलिमीणं ॥१५७७॥
 ण य जीवे लिंगसंबंधदरिसिणमभू जतो पुणो सरतो ।
 तल्लिंगदरिसणातो जीवो संपच्चओ होज्जा ॥१५७८॥
 णागमगम्मो वि ततो भिज्जति र्ज णागमोऽणुमाणातो ।
 ए य कासइ पच्चक्खो जीवो जस्सागमो वेयणं ॥१५७९॥

1. कस्ता० ता० ।

जं चागमा विरुद्धा परोप्परमतो वि संसओ जुत्तो ;
सव्वप्पमाणविसयातीतो जीवो त्ति ते¹ बुद्धी ॥१५५३॥

गोतम ! पच्चक्खोच्चिय जीवो जं संसयातिविण्णाराणं ।
पच्चक्खं च ण सज्झ जध सुहदुक्खं² सदेहम्मि ॥१५५४॥

कतवं करेमि काहं चाहमहंपच्चयादिमातो य ।
अप्पा सप्पच्चक्खो³तिकालकज्जोवदेसातो ॥१५५५॥

किह⁴ पडिवण्णमहं ति य किमत्थि त्ति संसओ किध सु ?।
सइ संसयम्मि वाऽयं⁵ कस्साहंपच्चओ जुत्तो ॥१५५६॥

जति एत्थि संसयि च्चिय किमत्थि णत्थि त्ति संसओ कस्स ?।
संसइते व सरूवे गोतम ! किमसंसयं होज्जा ॥१५५७॥

गुणपच्चक्खत्तएतो गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो ।
घडओ वि घेप्पति गुणी गुणमेत्तग्गहणतो जम्हा ॥१५५८॥

अण्णोणणो व्व गुणी होज्ज गुणोहिं जति एताम सोऽण्णो ॥
एतासु गुणमेत्तग्गहरो घेप्पति जीवो गुणी सक्खं ॥१५५९॥

अथ अण्णो तो एवं गुणिणो न घडातयो वि पच्चक्खो ।
गुणमेत्तग्गहणातो जीवम्मि कतो वियारोऽयं ? ॥१५६०॥

अथ मण्णसि अत्थि गुणी ए तु देहत्थंतरं तओ कित्तु ।
देहे णाणातिगुणा सो च्चिय ताणं⁶ गुणी जुत्तो ॥१५६१॥

णाणादयो न देहस्स⁷ मुत्तिमत्तातितो घडस्सेव ।
तम्हा णाणातिगुणा जस्स स देहाधियो जीवो ॥१५६२॥

इय तुह देसेणायं पच्चक्खो सव्वधा महं जीवो ।
अविहतणाणत्तएतो तुह विण्णाराणं व पडिवज्ज⁸ ॥१५६३॥

एवं चिय परदेहेऽणुमागतो गेण्ह जीवमत्थि त्ति ।
अणुवित्ति-एवित्तीतो विण्णाराणमयं सरूवे व्व⁹ ॥१५६४॥

1. तो-मू० । 2. दुक्खा-मू० । 3. कज्जावएसाओ-को० । 4. कंह को० मू० ।
5. अस्सां-को० । 6. तसि मु० को० । 7. देहस्सऽमु-को० । 8. पडिवज्जा-मू० ।
9. सरूवं व ता० ।

जं¹ च एण लिंगेहि समं मण्णसि लिंगी जतो पुरा गहिती ।
रंगं ससेण व समं एण लिंगतो तोऽणुमेयो सो ॥१५६५॥

²सोऽण्णेतो जम्हा लिंगेहि समं ण दिट्ठपुव्वो विं ।
गह्लिगदरिसणातो गहोऽणुमेयो,सरीरम्मि ॥१५६६॥

³देहस्सत्थि विघाता पतिणियताकारतो घडस्सेव ।
अक्खाणं च करणतो दण्डातीणं कुलालो व्व ॥१५६७॥

⁴अत्थिदियविसयाणं आदाणादेयभावतोऽवस्सं ।
कम्मर इवादाता लोए ⁵संदास-लोहाणं ॥१५६८॥

भोत्ता देहादीणं भोज्जत्तणतो णरो व्व भत्तस्स ।
संघातात्तित्तणतो अत्थि य अत्थि ⁶घरस्सेव ॥१५६९॥⁷

⁸जो कत्ताति स जीवो सज्झविरुद्धो त्ति ते मती होज्जा ।
मुत्तातिपसंगातो तण्णो संसारिणोऽ⁹दोसो ॥१५७०॥

अत्थि च्चिय ते जीवो संसयतो सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व ।
जं संदिद्धं गोतम ! तं तत्थणत्थ वत्थि धुवं ॥१५७१॥

¹⁰एवं णाम विसाणं खरस्स पत्तं ण तं खरे चेव ।
अण्णत्थ तदत्थि च्चिय एवं विवरीतगाहे वि ॥१५७२॥

अत्थि अजीवविदक्खो पडिसेधातो घडोऽघडस्सेव ।
एत्थि घडोत्ति ¹¹व जीवत्थित्तपरो एत्थिसदोऽ¹²यं ॥१५७३॥

असतो एत्थि ण्णिसेधो संजोगातिपडिसेधतो सिद्धं ।
संजोगातिचतुक्कं पि सिद्धमत्थंतरे णियतं ॥१५७४॥

जीवोत्ति सत्थयमितं सुद्धत्तणतो घडाभिधाणं व ।
जेणत्थेण सयत्थं सो जीवो अधमती होज्ज ॥१५७५॥

1. यहाँ ता० प्रति में प्रश्नकर्ता के अर्थ वाला 'चोःक' शब्द का संक्षिप्त रूप 'चोः' दिया हुआ है। इसी प्रकार 'आ०' शब्द आचार्य का वाचक है, वह भी आचार्य के कथन के प्रारम्भ में ता० प्रति में दिया हुआ है। 2. आ०-ता०। 3. देखें गाथा 1667। 4. देखें गाथा 1668। 5. संदास को० मु०। 6. घडस्सेव ता०। 7. देखें गाथा 1669। 8. देखें, गाथा 1670। 9. णो दोसो मु०। 10. चो० ता०। 11. य ता०। 12. सदो य ता०।

अत्थो देहो च्चिय से तं णो पज्जायवयणभेतातो ।
 एणादिगुणो य जतो भणितो जीवो ण देहोत्ति ॥१५७६॥
 जीवोऽत्थि वयो सच्चं मव्वयणातोऽवसेसवयणं व ।
 सव्वण्णुवयणतो वा अणुमतसव्वण्णु वयणं व^१ ॥१५७७॥
 भयराममोहदोसाभावतो^२ सच्चमणतिवातिं च ।
 सव्वं चिय मे वयणं जाणयमज्भत्थवयणं व ॥१५७८॥
 ३कध सव्वण्णु त्ति मती जेणाहं सव्वसंसयच्छेता^४ ।
 पुच्छसु व जं ण याणसि जेण व ते पच्चओ होज्जा ॥१५७९॥
 एवमुवयोगलिंगं गोतम ! सव्वप्पमाणसंसिद्धं ।
 संसारीतरथावरतसातिभेतं मुणे जीवं ॥१५८०॥
 ५जति पुण सो एगोच्चिय हवेज्ज वीमं व सव्वपिण्डेसु ।
 ६गोतम ! ७तमेगलिंगं पिण्डेसु तथा ण जीवो यं ॥१५८१॥
 एणा जीवा कुम्भातयो व्व भुवि लक्खणातिभेदातो ।
 सुह-दुक्ख-बंध-मोक्खाभावो य जतो तदेगत्ते ॥१५८२॥
 जेणोवयोगलिंगो जीवो भिण्णो य सो पतिसरीरं ।
 उवयोगो उक्करिसावगरिसतो तेण तेऽणंता ॥१५८३॥
 ८एगत्ते सव्वगतत्ततो ए ९सोक्खादयो णभस्सेव ।
 कत्ता भोत्ता मंता ण य संसारी जधाऽऽमासं ॥१५८४॥
 एगत्ते णत्थि सुहो बहुवघातो त्ति देसणिरुयो व्व ।
 बहुतरबद्धत्तणतो ण य मुक्को देसमुक्को व्व ॥१५८५॥
 जीवो तण्णुमेत्तत्थो जध कुम्भो तम्भुणोवलंभातो ।
 अधवाऽणुवलंभातो भिण्णम्मि घडे पडस्सेव ॥१५८६॥
 तम्हा कत्ता भोत्ता बंधो मोक्खो सुहं च दुक्खं च ।
 संवरणं च बहुत्ता सव्वगतत्तेसु जुत्ताइं ॥१५८७॥
 गोतम ! वेदपदानं व्माण नत्थं च तं न याणासि ।
 जं विण्णाराणघणो ि चय भूोहितो समुत्थाय ॥१५८८॥

1. वा ता० । 2. भवाओ को० मु० । 3. कह को० मु० । 4. -च्छेई को० मु० ।
 5. चो० ता० । 6. आ० ता० । 7. तदेग-को० मु० । 8. एगंते ता० ।
 9. मोक्खा को० मु० ।

मण्णसि मज्जंसेसु व मतभावो भूतसमुदयवभूतो ।
 विण्णाराणमेसमाता भूतेऽणुविणस्सति स भूयो ॥१५८६॥

अत्थि ए य पेच्चसण्णा जं पुव्वभवेऽभिघाराणममुओ त्ति ।
 जं भणितं न भवातो भवंतरं जाति जीवो त्ति ॥१५८७॥

गोतम ! पतत्थमेतं मण्णंतो एत्थि मण्णसे जीवं ।
 वक्कंतरेसु य पुणो^१ भणितो जीवो जमत्थि त्ति ॥१५८८॥

अग्गिहवणात्तिकिरियाफलं तो संसयं कुणसि जीवे ।
 मा कुरु ण पदत्थोऽयं इमं पदत्थं णिसामेहि ॥१५८९॥

विण्णाणातोऽण्णो विण्णाराणघणो त्ति सव्वसो^२ वाऽवि ।
 स भवति भूतेहितो घडविण्णाणादिभावेणं ॥१५९०॥

ताइं चिय भूताइं सोऽणुविणस्सइ विणस्समाणाइं ।
 अत्थंतरोवयोगे कमसो विण्णेयभावेणं ॥१५९१॥

पुव्वावरविण्णाणोवयोगतो विगमसंभवसभावो ।
 विण्णाराणसंततीए विण्णाराणघणोऽयमविणासी ॥१५९२॥

ए य णारासण्णाऽवतिट्ठते संपतोवयोगातो ।
 विण्णाराणघणाभिकखो जीवोऽयं वेदपत^३विहितो ॥१५९३॥

एवं पि भूतधम्मो णाणं तवभावभावतो बुद्धी ।
 तण्णो तदभावम्मि वि जं णाणं वेतसमयम्मि ॥१५९४॥

अत्थमित्ते आतिच्चे चंदे संतासु अग्गिवायासु ।
 किं जोत्तिरयं पुरिसो ? अप्पज्जोत्ति त्ति णिट्ठो ॥१५९५॥

तदभावे भावातो भावे चा^४ऽभावओ ण तद्धम्मो ।
 जध घडभावाभावे विवज्जयातो पडो भिन्नो ॥१५९६॥

एसि वेतपदारं ए तमत्थं वियसि अधव सव्वेसि ।
 अत्थो किं होज्ज सुती विण्णाराणं वत्थुभेतो वा ॥१६००॥

जाती दव्वं किरिया गुणोऽधवा संसओ स^५ चायुत्तो ॥
 अयमेवेति ण वाऽयं ण वत्थुधम्मो जतो जुत्तो ॥१६०१॥

१. पृण ता० । २. सव्वओ वावि मु० । ३. वेदययभिहिओ मु० को० ।
 ४. वाभा० ता० । ५. संसओ तवाजुत्तो मु० को० ।

सर्वं चिय सर्वमयं सपरपज्जायतो जतो शियतं ।
 सर्वमसर्वमयं अपि य विचित्तरुवं विवक्खातो ॥१६०२॥
 सामण्णविसेसमयो तेण पतत्थो विवक्खया जुत्तो ।
 वत्थुस्स विस्सरुवो पज्जायावेक्खता सर्वो ॥१६०३॥
 *छिण्णम्मि संसयम्मी जिणेण जरमरणाविप्पमुक्केण ।
 सो समणो पव्वइतो पंचहि सह खण्डियसएहि ॥१६०४॥
 एवं कम्मादीसु वि जं सामण्णं तयं समायोज्जं ।
 जो पुण एत्थ विसेसो समासतो तं पवक्खामि ॥१६०५॥

[२]

तं पव्वइतं सोतुं वित्तिओ आमच्छति अमरिसेणं ।
 वच्चामि एमाणेमि परायिणित्ताण तं समणं ॥१६०६॥
 छलितो छलातिणा सो मण्णे माइदजालतो वावि^१ ।
 को जाणति किध^२ वत्तं एत्ताहे वट्टमाणी^३ से ॥१६०७॥
 सो पक्खंतरमेगं पि जाति जति मे ततो मि तस्सेव ।
 सीसत्तं होज्ज गतो वोत्तुं पत्तो जिणसगासं^४ ॥१६०८॥
 *आभट्ठो य जिणेणं जाइ-जरा-मरणाविप्पमुक्केणं ।
 णामेण य गोत्तेण य सर्वण्णू सर्वदरिसीणं ॥१६०९॥
 *किं मण्णे अत्थि कम्मं उदाहु णत्थि त्ति संसयो तुज्जं ।
 वेतपताणय अत्थं ए याणसे^५ तेसिमो अत्थं ॥१६१०॥
 कम्मे तुह संदेहो मण्णसि तं एणणगोयरातीतं ।
 तुह तमणुमाणसाधणमणुभूतिमयं फलं जस्स ॥१६११॥
 अत्थि सुह-दुक्खहेतू कज्जातो बीयमंकुरस्सेव ।
 सो दिट्ठो चेव मती वभिचारातो ए तं जुत्तं ॥१६१२॥

1. चिय-ता० । 2. वाइ ता० । 3. कह मु० को० । 4. वट्टमाणीं से को० ।
 5. सगासे को० म० । 6. याणसी-मु० को० ।

* चिह्नंकित गाथाएँ निर्युक्ति की हैं ।

जो तुल्लसाधणाणं फले विसेत्तो ए सो विराा हेतुं ।
 कज्जत्तरातो गोतम ! घडो व्व हेतू य सो¹ कम्मं ॥१६१३॥

बालसरीरं देहंतरपुव्वं इं दियातिमत्तातो ।
 जध बालदेहपुव्वो जुवदेहो पुव्वमिह कम्मं ॥१६१४॥

किरियाफलभावातो दाणादीणां फलं किसीए व्व ।
 श्तं चिय दाणादिफलं मणप्पसांदाति जति बुद्धी ॥१६१५॥

किरियासामण्णातो जं फलमस्सावि तं मतं कम्मं ।
 तस्स परिणामरूवं सुह-दुवखफलं जतो भुज्जो ॥१६१६॥

होज्ज मणोवित्तीए दाणातिकिये व जति फलं बुद्धी ।
 तं ए शिमित्ततातो पिण्डो व्व घडस्स विण्णयो ॥१६१७॥

३एवं पि दिट्ठफलता ४किया ए कम्मफला पसत्ता ते ।
 सा ५तम्मत्तफल च्चिय जध मंसफलो पसुविणासो ॥१६१८॥

पायं च जीवलोओ वट्टति ६दिट्ठफलासु किरियासु ।
 ७अदिट्ठफलासु पुणो वट्टति णासंखभागो वि ॥१६१९॥

सोम्म ! जतो च्चिय जीवा पायं दिट्ठफलासु वट्टन्ति ।
 ७अदिट्ठफलाओ ८वि हु ताओ पडिवज्ज तेणेव ॥१६२०॥

इधरा अदिट्ठरहिता सब्बे मुच्चेज्ज ते अपयत्तेणं^९ ।
 १०अदिट्ठारम्भो चेव ११किलेसबहुलो भवेज्जाहि ॥१६२१॥

जमणिट्ठभोगभाजो बहुतरया जं च रोह मतिपुव्वं ।
 अदिट्ठाणिट्ठफलं कोइ वि किरियं समारभते^{१२} ॥१६२२॥

तेण पडिवज्ज किरिया अदिट्ठेगंतियफला सब्बा ।
 दिट्ठाणेगंतफला सा वि अदिट्ठाणुभावेणं^{१३} ॥१६२३॥

अधव फलातो कम्मं कज्जत्तरातो पआहितं पुव्वं ।
 परमाणवो घडस्स व किरियाए तयं फलं भिन्नं ॥१६२४॥

1. से को० । 2. दाणादिफल तं चिय ता० । 3. चो० ता० । 4. किरिया—मु० को० ।
5. तम्मत्त मु० । 6. दिट्ठफलासु मु० । 7. अदिट्ठ—मु० । 8. वि य ताओ मु० ।
9. त्तेण ता० । 10. अदिट्ठा० मु० । 11. केस०मु० । 12. समारभइ मु० को० ।
13. —भावेण मु० को० ।

१आह रागु मुत्तमेवं^२ मुत्तं चिय कज्जमुत्तिमत्ताओ ।
इध जह मुत्तत्तणतो घडस्स परमाणवो मुत्ता ॥१६२५॥

तध सुहसंवित्तीतो संबंधे वेतरुग्गुभवातो य ।
बज्जभलाधाणातो परिणामातो य विण्णयं ॥१६२६॥

आहार इवाणल इव घडो व्व रोहादिकतबलाधारो ।
खीरमिदोदाहरणाइं कम्मरूवित्तगमगाइं ॥१६२७॥

अध मतमसिद्धमेतं परिणामातो त्ति सो वि कज्जाओ ।
सिद्धो परिणामो से दधिपरिमाणातिव पयस्स ॥१६२८॥

अव्भातिविगाराणं जध वइचित्त विणा वि कम्मणा ।
तध जति संसारीणं हवेज्ज को णाम तो दोसो ? ॥१६२९॥

कम्मम्मि व को भेतो जध बज्जभक्खंधचित्तता सिद्धा ।
तध कम्मपुग्गलाण वि विचित्तता जीवसहिताणं ॥१६३०॥

बज्जाण चित्तता जति पडिदण्णा कम्मणो विसेसेणं ।
जीवाणुगतस्स मता भत्तीण व सिप्पिणत्थाणं ॥१६३१॥

तो जति तणुमेत्तं चिय हवेज्ज का कम्मकप्पणा णाम ।
कम्मं पि रागु तणु च्चिय सण्हतरब्भंतरा रावरं ॥१६३२॥

को तीय विणा दोसो थूलातो सब्बधा विप्पमुक्कस्स ।
देहग्गहणाभावो ततो य संसारवोच्छित्ती ॥१६३३॥

सब्बविमोक्खावत्ती णिक्कारणतो व्व सब्बसंसारो ।
भवमुक्ककाणं च पुणो संसरणमतो अणासासो ॥१६३४॥

मुत्तस्सामुत्तिमता जीवेण कधं हवेज्ज संबंधो ?
सोम्म ! घडस्स व णभसा जध वा दव्वस्स किरियाए ॥१६३५॥

अधवा पच्चक्खं चियं जीवोवणिबंधणं जध सररीरं ।
चेट्ठइ^३ कम्मयमेवं भवंतरे जीवसंजुत्तं ॥१६३६॥

मुत्तेणामुत्तिमतो उवघाताणुग्गहा कधं होज्ज^४ ।
जध विण्णाणादीणं मदिरापाणोसधादीहि ॥१६३७॥

1. चो० ता० । 2. आ० ता० । 3. चिट्ठइ को० मु० । 4. होज्जा मु० को० ।

अधवा रोगतोऽयं संसारी सब्बहा¹ अमुत्तो त्ति ।
जमणातिकम्मसंततिपरिणामावणरूवो सो ॥१६३५॥
+ संताणोऽणातीओ परोप्परं हेतुहेउभावातो ।
देहस्स² य कम्मस्स य गोतम ! बीयंकुराणं व ॥१६३६॥
कम्मे चासति गोतम ! जमग्गिहोत्तादि सम्गकामस्स ।
वेतविहितं विहण्णत्ति दाणातिफलं च लोयम्मि ॥१६४०॥
कम्ममण्णिच्छंतो वा सुद्धं चिय जीवमीस³राइं वा ।
मण्णसि देहातीणं जं कत्तारं ण सो जुत्तो ॥१६४१॥
उवकरणाभावातो णिच्चेट्ठामुत्ततादितो वा वि ।
ईसरदेहारमभे वि तुल्लता वाऽणवत्था वा ॥१६४२॥
अधव सभावं मण्णसि⁴ विण्णाणघरादिदेवक्कातो ।
तध⁵ बहुदोसं गोतम ! ताणं च पत्ताणमयमत्थो ॥१६४३॥
*छिण्णम्मि संसयम्मी⁶ जिण्णेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पंचहिं⁷ सह खंडियसत्तेहिं ॥१६४४॥

[३]

*ते पव्वइते सोत्तुं ततियो आगच्छति जिणसयासे ।
वच्चामि णं⁸ वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१६४५॥
सीसत्ते णोवगता संपदमिदग्गिभूतिणो जस्स ।
तिभुवणाकतप्पराणो स महाभागोऽभिगमण्णिज्जो ॥१६४६॥
*तदभिगमणावंदणोवासणाइणा होज्ज पूतपावोऽहं ।
वोच्छिण्णसंसओ वा वोत्तुं पत्तो जिणसगासं¹⁰ ॥१६४७॥

1. सब्बतो ता० । 2. जीवस्स य ता० । 3. जीवमीसरसि वा (?) ता० ।
4. -वेयवुत्ताओ मु० को० । 5. तो को० । तह मु० । 6. संसयम्मि वि ता० । संसयम्मि मु० । 7. पंचहिं अ खं-ता० । 8. णं (नहीं है) मु० । 9. तदभिगमवंदणमसंनयादिणा होज्ज ता० । 10. सगासे मु० को० ।

+ यह माया आये भी आती है—गञ्जांक 1665.

*आभट्ठो य जिणेणं जाइ-जरा-मरणविण्णमुक्केसं ।
 णामेण य गोत्तेण य सब्बण्णु सब्बदरिसी णं ॥१६४८॥

*तज्जीवतस्सरीरं ति ^१संसओ ण वि य पुच्छसे किञ्चि ।
 वेतपताण य अत्थं ण याणसे^२ तैसिमो अत्थो ॥१६४९॥

वसुधातिभूतसमुदयसंभूता चेतण त्ति ते संका ।
 पत्तेयमदिट्ठा वि हु मज्जंगमदो व्व समुदाये ॥१६५०॥

जघ मज्जंगेसु मदो वीसुमदिट्ठो वि समुदये होतुं ।
 कालंतरे विणस्सति तघ भूतगणम्मि चेतणं ॥१६५१॥

पत्तेयमभावातो ण रेणुतेल्लं व समुदये चेत ।
 मज्जंगेसुं तु मत्तो वीसुं पि ण सब्बसो णत्थि ॥१६५२॥

भामि-धणि-वितण्हतादी पत्तेयं पि हु जघा मतंगेसुं ।
 तघ जति भूतेसु भवे चेता तो^३ समुदए होज्जा ॥१६५३॥

जति वा सब्बाभावो वीसुं तो किं तदंगणियमोस्यं ।
 तस्ममुदयणियमो वा अण्णेसु वि तो भवेज्जाहि ॥१६५४॥

भूताणं पत्तेयं पि चेतणा समुदये दरिसणातो ।
 जघ मज्जंगेसु मदो मति त्ति हेतू ण सिद्धोस्यं ॥१६५५॥

णणु पच्चक्खविरोधो गोतम ! तं णाणुमाणभावातो ।
 तुह पच्चक्खविरोधो पत्तेयं भूतचेत त्ति ॥१६५६॥

भूतिदियोवलद्धाणुसरतो तेहिं भिण्णरूवस्स ।
 चेता पंचगवक्खोवलद्धपुरिसस्स वा सरतो ॥१६५७॥

तट्टवरमे वि सरणतो तव्वावारेवि णोवलंभातो ।
 इ दिवभिण्णस्स मत्ती पंचगवक्खाणुभविणो व्व ॥१६५८॥

उवल्लभण्णेण विमारग्हणातो तदधिओ धुवं अत्थि ।
 पुट्ठावरवादायगमहरा विमारादिपुरिसो व्व ॥१६५९॥

सव्विदियोवलद्धाणुसरणतो तदधियोणुमन्तव्वो ।
 जघ पंचभिण्णविण्णाणपुरिसविण्णाणसंपणो ॥१६६०॥

1. गणसे ण ता० । 2. याणसी म० को० । 3. ता ३० ।

विष्णाणंतरपुव्वं बालणाणमिह राराभावातो ।
 जध बालराणापुव्वं जुवराणं तं च देहधियं ॥१६६१॥
 पढमोत्थराभिलासो अणाहाराभिलासपुव्वोऽयं ।
 २जध संपताभिलासोऽणुभूतितो सो य देहाधियो ॥१६६२॥
 बालशरीरं देहंतरपुव्वं इंदियातिमत्तातो ।
 जुवदेहो बालात्तिव स जस्स देहो स देहि त्ति ॥१६६३॥
 अणुसुहदुक्खपुव्वं सुहाति बालस्स संपतसुहे व ।
 अणुभूतिमयत्तरातो अणुभूतिमयो य जीवो त्ति ॥१६६४॥
 ३संतराणातीओ परोप्परं हेतुहेतुभावातो ।
 देहस्स य कम्मस्स य गोतम ! बीयंकुराणं व ॥१६६५॥
 तो कम्मसरीराणं कत्तारं करणकज्जभावातो ।
 पडिवज्ज तदवभधियं दंडघडाणं कुलालं व ॥१६६६॥
 ४अत्थि सरीरविधाता पतिणियताकारतो घडस्सेव ।
 अक्खाणं च करणतो दण्डातीणं कुलालो व्व ॥१६६७॥
 ५अत्थिदियविसयाणं आदारादेयभावतोऽवस्सं ।
 कम्मार इवादाता लोए संडासलोहाणं ॥१६६८॥
 ६भोत्ता देहातीणं भोज्जत्तरातो रारो व्व भन्तस्स ।
 संघातात्तिरातो अत्थी य अत्थी चरस्सेव ॥१६६९॥
 ७ओ कत्तात्ति स जीवो सज्झविरुद्धो त्ति ते मती होज्ज ।
 मुत्तात्तिपसंगातो तं एणो संसारिणोऽदोसो ॥१६७०॥
 जातिस्सरो ए विगतो सररातो बालजातिसररो व्व ।
 जध वा सदेसवत्तां¹⁰ एरो सरतो विदेसम्मि ॥१६७१॥

1. पढमो थणा० को० मु० । 2. जह बालाहिलासपुव्वो जुवाहिलासो स देहहिओ को० ।
 3. यह गाथा क्रमांक 1639 पर आ चुकी है । 4. यह गाथा क्रमांक 1567 पर आ गई है ।
 वहां देहस्सत्थि विघाता ऐसा पाठान्तर है । 5. यह गाथा क्रमांक 1568 पर पहले आ गई
 है । 6. यह गाथा पुनः आई है, देखें क्रमांक 1569 । 7. घडस्सेव-ता० । 8. यह गाथा
 क्रमांक 1570 पर पहले आ चुकी है । 9. -णो दोसो मु० ता० । 10. सदेहवत्तां ता० ।

अथ मण्णसि खण्णिओ वि हु सुमरति विण्णाणसंततिगुणातो ।
तह्वि सरीरादण्णो सिद्धो विण्णाणसंताणो ॥१६७२॥

ए य सब्बधेव खण्णियं णाणं पुब्बोवलद्धसरणातो ।
खण्णिओ ए सरति भूतं जध जम्माणंतरविणट्ठो ॥१६७३॥

जस्सेगमेगबंधणमेगतेण खण्णियं च विण्णाणं ।
सब्बखण्णियविण्णाणं तस्साजुत्तं कदाचिदवि ॥१६७४॥

जं सविसयणियत्तं चियं जम्माणंतरहत्तं च तं कध णु ।
णाहिति सुबहुअविण्णाणविसयं खणभंगतादीणि ॥१६७५॥

शेण्हेज्ज सब्बभंगं जति य मती सविसयाणुमाणातो ।
तं पि ए जतोऽणुमाणं जुत्तं सत्ताइसिद्धीओ ॥१६७६॥

जाणेज्ज वासणातो^४ सा वि हु^५ वासेन्तवासणिज्जाणं ।
जुत्ता^६ समेच्च दोण्हं ए तु जम्माणंतरहत्तस्स ॥१६७७॥

बहुविण्णाणण्णभवो जुगवमणोगत्थलाऽधवो गस्स ।
विण्णाणावत्था वा पडुच्चवित्तीविधातो वा ॥१६७८॥

विण्णाणखणविण्णामे दोसा इच्चादथो पस्सजंति ।
ए तु ठितसंभूतचुतविण्णाणमयम्मि जीवम्मि ॥१६७९॥

तस्स विचित्तावरणाक्खणोवसमजाइं चित्तरूवाइं ।
खण्णियाणि य कालंतरवित्तीणि य मइविधाणाइं ॥१६८०॥

णिच्चो संताणो सिं सब्बावरणपरिसंखये जं च ।
केवलमुदितं केवलभावेणाणंतमविकप्पं ॥१६८१॥

सो जति देहादण्णो तो पविसंतो^७ विणिस्मरंतो वा ।
कीस ए दोसति गोत्तम ! दुविधाणुवलद्धिदो सा^८ य ॥१६८२॥

असतो खरसिगस्स व सतो वि दूरादिभावतोऽभिहिता ।
सुहमामुत्तणतो कम्माणुगतस्स जीवस्स ॥१६८३॥

देहाण्णे व जिए जमग्गिहोत्तादिसग्गकामस्स ।
वेतविहितं विहण्णति दाणादिफलं च लोयम्मि ॥१६८४॥

- i. -खयभं-मु० । 2. णिण्हज्ज मु० । 3. -सिद्धीय-ता० । 4. वासणाओ को० ।
वासणा उ मु० । 5. वासित्तवा-को० मु० । 6. जुत्तो-ता० । 7. -संतो व निस्स-मु० ।
संतो व नीसरंतो को० । 8. सात ता० ।

विष्णाणघणादीणं वेदपताणं¹पदत्थमविदंतो ।
 देहाणणं मण्णसि ताणं च पताणमयमत्थो ॥१६८५॥
 *द्विष्णाणम्मि संसयम्मी जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
 सो समणो पव्वइतो पंचहि सह खंडियसएहि ॥१६८६॥

[४]

*ते पव्वइते सोतुं वियत्तो आगच्छति जिणसगासं ।
 वच्चामि ए वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१६८७॥
 *²आभट्ठो य जिणेणं जातिजरामरणविप्पमुक्केणं ।
 णामेण य गोत्तेण य-सव्वण्णू सव्वदरिसी एं ॥१६८८॥
 *किं मण्णे³ पंचभूता अत्थि व एत्थि त्ति संसयो तुज्झ ।
 वेतपताण य अत्थं ए याणसी तेसिमो अत्थो ॥१६८९॥
 भूतेसु तुज्झ संका सुविणय-मायोवमाइं होज्ज त्ति ।
 ए विवारिज्जताइं भयन्ति जं सव्वधा जुत्तिं ॥१६९०॥
 भूतातिसंसयातो जीवातिसु का कथ त्ति ते बुद्धी ।
 तं सव्वसुण्णसंकी मण्णसि मायोवमं लोयं ॥१६९१॥
 जध किर ए सतो परतो णोभयतो णावि अण्णतो सिद्धी ।
 भावाणमवेक्खातो वियत्त ! जध दीह-⁴हस्साणं ॥१६९२॥
 अत्थित्त-घडेकाणेकता य सव्वेकदादिदोसातो ।
 सव्वेऽणभिलप्पा वा सुण्णा वा सव्वधा भावा ॥१६९३॥
 जाताजातोभयतो ए जायमाणं च जायते जम्हा ।
 अणवत्थाभावोभयदोसातो सुण्णता तम्हा ॥१६९४॥
 हेतू-पच्चयसामग्गिवीसु भावेसु णो य जं कज्जं ।
 दीसति सामग्गिमयं सव्वाभावे ए सामग्गी ॥१६९५॥

1. तमत्थ-मु० को० । 2. देखें, नाश 1609 । 3. किं मण्णे प्रतिथ भूया उदाहु नत्थि को० मु० । 4. दीह-हस्साणं ता० ।

परभागादरिसृष्टो सव्वाराभागसुहुमतातो य ।
 उभयाणुवलंभातो सव्वाणुवलद्धितो सुण्णं ॥१६६६॥
 मा कुरुण वियत्त ! संसयमसति ए संसयसमुभभवो जुत्तो ।
 खकुमुम-खरसिगेसु व जुत्तो सो थाणु-पुरिसेसु ॥१६६७॥
 को वा विसेसहेतू सव्वाभावे वि थाणु-पुरिसेसु ।
 संका ए खपुप्फादिसु विवज्जयो वा कधण्ण भवे ॥१६६८॥
 पच्चक्खतोणुमाणादाममतो वा पसिद्धिरत्थाणं ।
 सव्वप्पमाणविसयाभावे किध संसओ जुत्तो ॥१६६९॥
 जं संसयादयो णाणपज्जया तं च णेयसम्बद्धं ।
 सव्वण्णेयाभावे ण संसयो तेण ते जुत्तो ॥१७००॥
 संति च्चियंते भावा संसयतो सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व ।
 अथ दिट्ठंतमसिद्धं मण्णसि एणु संसयाभावो ॥१७०१॥
 सव्वाभावे वि मती संदेहो सिमिणए व्व णो तं च ।
 जं सरणातिनिमित्तो सिमिणो ण तु सव्वधाभावो ॥१७०२॥
 अणुभूतदिट्ठंचित्तिसुतपयतिविकारदेवतानूया^३ ।
 सिमिणस्स निमित्ताइ पुण्णं पावं च णाभावो ॥१७०३॥
 विण्णाणमयत्तणतो घडविण्णाणं व सिमिसओ भावो ।
 अथवा विहितणिमित्तो घडो व्व णंमित्तियत्तातो ॥१७०४॥
 सव्वाभावे च कतो सिमिणोऽसिमिणो त्ति सच्चमलियं ति ।
 गंधव्वपुरं पाडलिपुत्तं अत्तच्चोवयारो त्ति ॥१७०५॥
 कज्जं ति कारणं ति य सज्जमियां साधरणं ति कत्त त्ति ।
 वत्ता वयणं वच्चं परपक्खोऽयं सपक्खोऽयं ॥१७०६॥
 किचेह थिरदवोसिणचलताऽरुवित्तणाइ णियताइ ।
 सदादयो य गज्ज्जा सोत्तादीयाइ गहणाइ ॥१७०७॥
 सभता विवज्जओ वा सव्वागहरणं च किण्ण सुण्णम्मि ।
 किं सुण्णता व सम्मं सग्गाहो किं व मिच्छत्तं ॥१७०८॥

1. कुरु को० मु० । 2. चो० ता० । 3. -ताणूया ता० । 4. तत्थोव -को० मु० ।

किध सपरोभयबुद्धी कधं च तेसिं परोप्परमसिद्धी ।
 अघ परमतीए भण्णति सपरमतिविसेसरां कत्तो ॥१७०६॥
 जुगवं कमेण वा ते विण्णाणं होज्ज ^१दीहहस्सेसु ।
 जति जुगवं कावेक्खा कमेण पुव्वम्मि काऽवेक्खा ॥१७१०॥
 आतिमविण्णाणं वा जं बालस्सेह तस्स काऽवेक्खा ।
 तुल्लेसु वि^२ कावेक्खा परोप्परं लोयरादुगे व्वं ॥१७११॥
 किं ^३हस्सातो दीहे दीहातो चेव किण्ण दीहम्मि ।
 कीस व एण खपुप्फातो किण्ण खपुप्फे खपुप्फातो ॥१७१२॥
 किं वाऽवेक्खाए^४च्चिय होज्ज मती वा सभाव एवायं ।
 सो ^५भावो त्ति सभावो वंज्झापुत्तो ण सो जुत्तो ॥१७१३॥
 होज्जावेक्खातो वा विण्णाणं वाभिधाणमेत्तं वा ।
 दीहं ति व ^६हस्सं ति व एण तु सत्ता सेसधम्मा वा ॥१७१४॥
 इधरा हस्साभावे सव्वविणासो ह्वेज्ज दीहस्स ।
 रा य सो तम्हा सत्तादयोऽरावेक्खा घडादीरां ॥१७१५॥
 जाऽवि अवेक्खऽवेक्खणमवेक्खयावेक्खणिज्जमणवेक्खा ।
 सा एण मत्ता सव्वेसु वि संतेसु एण सुण्णता णाम ॥१७१६॥
 किंचि सतो तध परतो तदुभयतो किंचि णिच्चसिद्धं पि ।
 जलदो घड्ढो पुरिसो ^७राभं च ववहारतो एयेयं ॥१७१७॥
 णिच्छयतो पुण वाहिरिणमित्तमेत्तोवयोगतो सव्वं ।
 होति सतो जमभावो एण सिज्झति णिमित्तभावे वि ॥१७१८॥
 अत्थित्तघडेकारोगता य पज्जायमेत्तचित्तेयं ।
 अत्थि घडे पडिदण्णे इधरा सा किं एण खरसिगे ॥१७१९॥
 घडसुण्णअण्णताए वि सुण्णता का घडाधिया सोम्म ! ।
 एकत्ते घड्ढो च्चिय एण सुण्णता णाम घडधम्मो ॥१७२०॥
 विण्णाणवयणवादीराभेगता तो तदत्थिता सिद्धा ।
 अण्णत्ते अण्णाणी णिव्वयणो वा कधं वादी ॥१७२१॥

1. दीहहस्सेसु ता० । 2. व मु० को० । 3. हस्सा-ता० । 4. सा भावो ता० ।
 5. हस्सं ता० । 6. तहं मु०, नहं को० ।

घडसत्ता घडधम्मो¹ ततोऽण्णो पडादितो भिण्णो ।
 अत्थि त्ति तेण भणिते को घड एवेति शियमोऽयं ॥१७२२॥
 जं वा जदत्थि तं तं घडो त्ति सब्वन्नडतापसंगो को ।
 भणिते घडोत्थि² व कथं सब्वत्थितावरोधो त्ति ॥१७२३॥
 अत्थि त्ति तेण भणिते घडोऽघडो वा घडो तु अस्थेव ।
 चूतोऽचूतो व्व दुमो चूतो तु जधा दुमो शियमा ॥१७२४॥
 किं तं जातं ति मती जाताजातोभयं पि जमजातं³ ।
 अथ जातं पि ए जातं किं ए खपुप्फे वियारोऽयं ॥१७२५॥
 जति सब्वधा ए जातं किं जम्माणंतरं तदुवलम्भो ।
 पुव्वं वाऽणुवलम्भो पुणो वि कालांतरहत्तस्स ॥१७२६॥
 जध सब्वधा ए जातं जातं सुण्णवयणं तथा भावा ।
 अथ जातं पि ए जातं पभासिता⁴ सुण्णता केण ? ॥१७२७॥
 जायति जातमजातं जातजातमध जायमाणं च ।
 कज्जमिह विवक्खयाए ए जायए सब्वधा किंचि ॥१७२८॥
 रुवि त्ति जाति जातो कुंभो संठारगतो पुणरजातो ।
 जाताजातो दोहि वि तस्समयं जायमाणो त्ति ॥१७२९॥
 पुव्वकतो तु घडतया परपज्जाएहि तदुभएहि च ।
 जायंतो य पडतया ए जायते सब्वधा कुंभो ॥१७३०॥
 वोमातिरिच्च जातं ए जायते तेण सब्वधा सोम्म !
 इय दव्वतया सब्वं भयणीज्जं पज्जवगतीयं⁵ ॥१७३१॥
 दीसति सामग्गीमयं सब्वमिहत्थि ए य सा एणु विरुद्धं ।
 घेप्पति व ए पच्चक्खं किं कच्छपरोमसामग्गी ॥१७३२॥
 सामग्गिमयो वत्ता वयणं चत्थि जति तो कतो सुण्णं ।
 अथ एत्थि केण भणितं वयणाभावे सुतं केण ? ॥१७३३॥
 जेण चेव ए वत्ता वयणं वा तो ए संति वयणिज्जा ।
 भावा तो सुण्णमिदं वयमिणं⁷ सच्चमलियं वा ॥१७३४॥

1. -धम्मा ता० । 2. घडो त्ति ता० को० । 3. जदजायं को० मु० । 4. पयासिया मु० ।
 5. पज्जवगईए मु० को० । 6. कच्छपरोम-मु० । 7. वयणमिदं मु० को० ।

जति सच्चं एाभावो अधालियं एा प्पमारामेतं ति ।
अब्भुवगतं ति ध मती एाभावे 1जुज्जए तं पि ॥१७३५॥

सिकतासु किण्ण तेरुलं सामग्गीतो तिलेसु व² किमत्थि ।
किं व एा सच्चं सिज्झइ सामग्गीतो खपुप्फाणं ॥१७३६॥

सच्चं सामग्गिमयं रोगंतोयं जतोऽणुरप्पदेशो ।
अध सो वि सप्पदेशो जत्थावत्था स परमाणू ॥१७३७॥

दीसति सामग्गिमयं एा याणवो संति एाणु विरुद्धमिदं³ ।
किं वाण्णमभावे निप्फणमिणं खपुप्फेहि ॥१७३८॥

देसस्साराभागो घेप्पति एा य सो त्थि⁴ एाणु विरुद्धमितं ।
सच्चाभावे वि एा सो घेप्पति किं खरविसाणस्स ॥१७३९॥

परभागादरिसणतो एाराभागो वि किमणुमाणं ते ।⁵
आराभागग्गहणं किं व एा परभागसंसिद्धी ? ॥१७४०॥

सच्चाभावे वि कतो आरा-पर-मच्चभागणाणत्तं ।
अध परमती य भण्णति स-परमइविसेसणं कत्तो ॥१७४१॥

आर-पर-मच्चभागा पडिवण्णा जति ण सुण्णता णाम ।
अप्पडिवण्णेसु वि का विक्कप्पणा खरविसाणस्स ॥१७४२॥

सच्चाभावे वाराभागो किं दीसते ण⁶ परभागो ।
सच्चागहणं व ण किं किं वा ण विवज्जओ हीति ? ॥१७४३॥

परभागदरिसणं वा फलिहादीसं ति ते धुवं संति ।
जति वा ते वि ण संता परभागादरिसणमहेऊ ॥१७४४॥

सच्चादरिसणतो च्चिय ण भण्णते कीस भण्णति तं णाम ।
पुव्वब्भुवगतहाणि⁷ पच्चक्खविरोधता चेव ॥१७४५॥

णत्थि पर-मच्चभागा अप्पच्चक्खत्ततो मती होज्ज ।
णणु अक्खत्थावत्ती अप्पच्चक्खत्तहाणी वा ॥१७४६॥

-
1. जुत्तमेत्तं पि ता०; जुत्तमेयं ति मु० । 2. वि० मु० को० । 3. -मितं ता०; -मिणं को० । 4. सो ति णण् मु० को० । 5. ति-मु० ता० । 6. परिभागो ता० । 7. -हाणी मु० को० । 8. विरोहओ मु० को० ।

अत्थि अपचचवखं पि हु जध भवतो संसयातिविण्णाणं ।
 अध एत्थि सुण्णता का कास व केणोवलद्धा वा ॥१७४७॥
 पचचवखेसु ए जुत्तो तुह भूमि-जलाणलेसु संदेहो ।
 अणिलागासेसु भवे सो वि ए १कज्जोणुमाणातो ॥१७४८॥
 अत्थि २अदेस्सापादित्तरिसातीरां गुणी गुणत्तणतो ।
 रुवस्स घडो व्व गुणी जो तेसि सोऽणिलो णामं ॥१७४९॥
 अत्थि वसुधातिभाणं तोयस्स घडोव्व मुत्तिमत्तातो ।
 जं भूताणं भाणं तं वोमं वत्त ! सुव्वत्तं ॥१७५०॥
 एवं पचखादिप्पमाणसिद्धाइं सोम्म ! पडिवज्ज ।
 जीवसरीराधारोवयोगधम्माइं भूताइं ॥१७५१॥
 किध सज्जीवाइं मती तल्लिगतोऽणिलावमाणाइं ।
 वोमं विमुत्तिभावादाधारो चेव ए सजीवं ॥१७५२॥
 जम्म-जरा-जीवण-मरण-रोहणा-हारदोहलामयतो ।
 रोग-तिमिच्छातीहि य एणरि व्व सचेत्तणा तरवो ॥१७५३॥
 ३छिक्कपरोइया ४छिक्कमतसंकोयतो कुत्तिगो व्व ।
 आसयसंचारातो विचत्त ! वल्लीविताणाइं ॥१७५४॥
 सम्मादयो य सावप्पबोधसंकोयणादितोऽभिमया ५ ।
 वडलातओ य सहातिविसय ६कालोवलम्भातो ॥१७५५॥
 मंसंकुरोव्व सामाणजातिरूवंकुरोवलम्भातो ।
 तरुण-विद्दुम-लवणो-वलादयो सासयावत्था ॥१७५६॥
 भूमिक्खतसाभावियसंभवतो ददुदुरो व्व लमुत्तं ।
 अहवा मच्छो व्व सभाववोमसम्भूतपातातो ॥१७५७॥
 अपरप्पेरित्तिरियाण ७मित्तिग्गमणतोऽणिलो गो व्व ।
 अणलो आहारातो विद्धि-विकारोवलम्भातो ॥१७५८॥
 तणवोऽणभ्मातिविकारमुत्तजात्तित्ततोऽणिलंताइं ।
 सत्थासत्थहताओ णिज्जोवसजीवरूवाओ ॥१७५९॥

1. ण जुत्तोऽणुमाणाओ को० मु० । 2. अदिस्सा-मु०; अदिसा-को० । 3. छिक्कपरो को० मु० । 4. मेत्त को० मु० । 5. -भिमतो ता० । 6. -कालाव -तः० ।

सिञ्जन्ति सोमम ! बहुसो जीवा एवसत्संभवो एा वि य ।
परिमित्तदेसो लोगो एा संति चेसिदिया जेसि ॥१७६०॥

तेसि भवविच्छिती पावति रोट्टा य सा जतो तेरां ।
सिद्धमरांतए जीवा भूताघारा य तेऽवस्सं ॥१७६१॥

एदमहिंसाऽभावो जीवघरां ति एा य तं जतोऽभिहितं ।
सत्थोवहतमजीवं एा य जीवघरां ति तो हिंसा ॥१७६२॥

एा य घायड^१ ति हिंसो एाघरातेतो ति एिच्छितमहिंसो ।
एा विरलजीवमहिंसो एा य जीवघरां ति तो हिंसो^२ ॥१७६३॥

अहरांतो वि हु हिंसो दुट्ठतराओ मतो अहिमरो व्व ।
बाधेतो^३ वि एा हिंसो सुद्धतरातो जघा वेज्जो ॥१७६४॥

पंचसमितो तिगुत्तो एाणी अविहिंसओ एा विवरीतो ।
होतु व संपत्ती से मा वा जीवोवरोधेरां ॥१७६५॥

असुभो जो परिणामो सर हिंसा सो तु बाहिरणिमित्तं ।
को वि अवेक्खेज्ज ण वा जम्हाऽणोरगतयं वज्जं ॥१७६६॥

असुभपरिणामहेऊ^४ जीवाबाधो ति तो मतं हिंसा ।
जरस तु ण सो णिमित्तं संतो वि ण तस्स सा हिंसा ॥१७६७॥

सदातयो रतिफला ण वीतमोहस्स भावसुद्धीतो ।
जघ तघ जीवाबाधो ण सुद्धमणसो वि हिंसाए ॥१७६८॥

*छिणम्मि संसयम्मि जिणेण जत्तमरणविप्पमुक्केरां ॥
सो समणो पव्वइतो पंचहिं सह खंडियसतेहिं ॥१७६९ ॥

१. घातइ ति ता० । २. हिंसा ता० । ३. बाहितो न वि मु० को० । ४. हैउं ता० ।

[५]

*ते पव्वइते सोतुं सुधम्मो^१ आगच्छती^२ जिणसगासं ।
 वच्चामि ए वंदामि^३ वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१७७०॥

*आभट्ठो य जिणोसं जाति-जरा-मरणाविप्पमुक्केसं ।
 रामेसं य गोत्तेसं य सब्बणू सब्बदरिसी सं ॥१७७१॥

*कि मण्णे जारिसो इधभवम्मि सो तारिसो परभवे वि ।
 वेतपताण य अत्थं ए याणसी तेसिमो अत्थो ॥१७७२॥

कारणसरिसं कज्जं बीयस्सेवंकुरो^४ त्ति मण्णतो ।
 इधभवसरिसं सब्बं जमवेसि परे वि ^५तदजुत्तं ॥१७७३॥

जाति सरो ^६संगातो भूतणओ ^७सरिसवाणुलित्तातो ।
 संजायति गोलोमाऽविलोमसंजोगतो दुब्बा ॥१७७४॥

^८इति हक्खायुव्वेते जोणविधाणे य विसरिसेहितो ।
 दीमति जम्हा जम्मं सुधम्म ! ^९तं णायमेगंतो ॥१७७५॥

अधव जतो च्चिय बीयाणुरूवजम्मं मत्तं ततो चेव ।
^{१०}जीवं गेण्ह भवातो भवंतरे चित्तपरिणामं ॥१७७६॥

जेण भवंकुरवीयं कम्मं चित्तं च तं जतोऽभिहितं ।
^{११}हेतु विचित्तत्तणओ ^{१२}भवंकुरविचित्तया तेसं ॥१७७७॥

जति पडिवण्णं कम्मं हेतुविचित्तत्ततो विचित्तं च ।
 तो तप्फलं पि चित्तं ^{१३}पव्वज्ज संसारिणो सोम्म ! ॥१७७८॥

चित्तं संसारित्तं विचित्तकम्मफलभावतो हेतु ।
 इध चित्तं चित्ताणं कम्माण फलं व लोमम्मि ॥१७७९॥

चित्ता कम्मपरिणती पोण्णलपरिणामतो जधा बज्झा ।
 कम्माण चित्तता पुण तद्धेतुविचित्तभावातो ॥१७८०॥

-
1. सुहुम मु०; सुहुम्म को० । 2. आगच्छद् को० मु० । 3. वंदामी मु० । 4. -कुरोव्व ता० । 5. तमजुत्तं मु० को० । 6. सिगाओ-मु० को० । 7. सासवाणु-मु० को० । 8. जति ता० । 9. तो मु० । 10. जीयं ता० । 11. विद्यत्तत्ततो ता० । 12. विद्यत्ता ता० । 13. पव्वज्ज ता० । 14. बज्जं ना० ।

अधवा इधभवसरिसो परलोगो वि जति सम्मतो तेरां ।
 कम्मफलं पि इधभवसरिसं पडिदज्ज परलोगे ॥१७८१॥

किं भणितमिधं मणुया साणागतिकम्मकारिणो संति ।
 जति ते तप्फलभाजो परे वि तो सरिसता जुत्ता ॥१७८२॥

अध इध सफलं कम्मं ण परे तो सव्वधा ण सरिसत्तां ।
 अकतागमकतणासो^१ कम्माभावोऽधवा पत्तो ॥१७८३॥

कम्माभावे वि^२ कतो भवंतरं सरिसता व तदभावे ।
 णिवकारणतो य भवो जति तो णासो वि तध चेव ॥१७८४॥

कम्माभावे वि मती को दोसो होज्ज जति सभावोऽयं ।
 जध कारणाणुरूवं घडातिकज्जं सभावेरां ॥१७८५॥

होज्ज सभावो वत्थुं णिवकारणता व वत्थुधम्मो वा ।
 जति वत्थुं णत्थि तत्रोऽणुवलद्धीतो खपुप्फं व ॥१७८६॥

अच्चंतमणुवलद्धो वि अध तत्रो अत्थि एत्थि किं कम्म ।
 हेतु व तदत्थित्तो जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१७८७॥

कम्मस्स वाभिहाणं हेतु^३सभावो त्ति हेतु को दोसो ।
 णिच्चं व सो सभावो सरिसो एत्थं च को हेतु ॥१७८८॥

सो मुत्तोऽमुत्तो वा जति मुत्तो तो ण सव्वधा सरिसो ।
 परिणामतो पयं पि व ण देहहेतु जति अमुत्तो ॥१७८९॥

उवकरणाभावातो ण य भवति सुधम्म ! सो अमुत्तो त्ति^४ ।
 कज्जस्स मुत्तिमत्ता सुहसंवितातितो चेव ॥१७९०॥

अधवाऽकारणतो च्चिय सभावतो तो वि^५ सरिसता कत्तो ।
 किमकारणतो ण भवे विसरिसता किं व विच्छिन्ती ॥१७९१॥

अध^६ वि सभावो धम्मो वत्थुस्स ण सो वि सरिसत्रो णिच्चं ।
 उप्पात्त-ट्ठित्ति-भंगा चित्ता जं वत्थुपज्जाया ॥१७९२॥

कम्मस्स वि परिणामो सुधम्म ! धम्मो स योगलमयस्स ।
 हेतु चित्तो जगतो होति सभावो त्ति को दोसो ॥१७९३॥

1. -णासा मु० । 2. य कतो मु० को० । 3. होज्ज सभावो मु० को० । 4. अमुत्तो वि को० मु० । 5. तो व ता० । 6. अहव मु० ।

अथवा सर्व्वं वत्थुं पतिवखणं चिय सुधम्म ! धम्मैहि !
 संभवति वेत्ति केहि य¹ केहि य¹ तदवत्थमच्चंतं ॥१७६४॥
 तं अप्पणो वि सरिसं ए पुव्वधम्मैहि पच्छिमिल्लाराणं ।
 सकलस्स तिभुवणस्स य सरिसं सामणघम्मैहि ॥१७६५॥
 को सर्व्वधेव सरिसोऽसरिसो वा इधभवे परभवे वा ।
 सरिसासरिसं सर्व्वं णिच्चाणिच्चातिरूवं च ॥१७६६॥
 जध णियएहि वि सरिसो ए जुवा भुविवालदुद्धधम्मैहि ।
 जगतो वि² समो सत्तादिएहि तध परभवे जीवो ॥१७६७॥
 मणुओ देवीभूतो सरिसो सत्तादिएहि जगतो वि ।
 देवादीहि विसरिसो णिच्चाणिच्चो वि एमेय ॥१७६८॥
 उक्करिसावकरिसता ए समाराए वि होति³ जातीए ।
 सरिस्सगाहे जम्मा दाणातिफलं विथा तम्हा⁴ ॥१७६९॥
 जं च सियालो वइ⁵ एस जायते वेतविहितमिच्चादि ।
 सग्गीयं⁶ जण्णफलं तमसम्बद्धं सरिसताए ॥१८००॥
 *छिण्णम्मि संसयम्मिं जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
 सो समणो पव्वइतो पंचहिं सह खंडियसएहि ॥१८०१॥

[६]

*ते पव्वइते सोतुं मंडिओ अगच्छती जिणसमास ।
 वच्चामि ए वंदांमिं वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१८०२॥
 *आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
 रामेणं य गोत्तेण य सर्व्वण्णू सर्व्वदरिसी णं ॥१८०३॥
 *कि मण्णे बंध-मोक्खा संति त्ति संसयो तुज्झं ।
 वेतपताणं य अत्थं ए याणसी तेसिमो अत्थो ॥१८०४॥

1. वि मु० को० । 2. य ता० । 3. वि जेण जातीए मु० को० । 4. जम्हा ता० ।
 5. इव एस ता० । 6. सग्गीयं जं च फलं मु० को० ।

तं मण्णसि जति बंधो जोगो जीवस्स कम्मणा समयं ।
 पुव्वं पच्छा जीवो कम्मं व समं व ते होज्जा ॥१८०५॥

एा हि पुव्वमहेतूतो खरसिगं वातसंभवो जुत्तो ।
 णिक्कारणाजातस्स य णिक्कारणतो च्चिय विणासो ॥१८०६॥

अधवाणाति च्चिय सो णिक्कारणतो एा कम्मजोगो से ।
 १अह णिक्कारणतो सो मुक्कस्स वि होहिति स भुज्जो ॥१८०७॥

होज्ज २व स णिक्कमुक्को बंधाभावम्मि को व से मोक्खो ।
 एा हि मुक्कव्ववदेसो बंधाभावे मतो एाभसो ॥१८०८॥

एा य कम्मस्स वि पुव्वं कत्तुरभावे समुभवो जुत्तो ।
 णिक्कारणतो सो वि य तध जुगवुप्पत्तिभावो ३ य ॥१८०९॥

ण हि कत्ता कज्जं ति य जुगवुप्पत्तीय ४जीवकम्माराणं ।
 जुत्तो ववदेसोऽयं जध लोए गोविसाणाणं ॥१८१०॥

होज्जाणातीयो वा संबंधो तध वि एा धडते मोक्खो ।
 जोऽणाती सोऽणतो जीव-एाभाणं व संबंधो ॥१८११॥

इय जुत्तीय ण धडते सुव्वति य सुतीसु ५ बंधमोक्खो ६त्ति ।
 तेएा तुह संसमोऽयं एा य कज्जो यं जघा सुणसु ॥१८१२॥

संताणोऽणातीओ परोप्परं हेतुहेतुभावातो ।
 देहस्स य कम्मस्स य मंडिय ! बीयंकुराणं व ॥१८१३॥

अत्थि स देहो जो कम्मकारणं जो य कज्जमण्णस्स ।
 कम्मं च देहकारणमत्थि य जं कज्जमण्णस्स ॥१८१४॥

कत्ता जीवो कम्मस्स करणतो जध घडस्स घडकारो ।
 एवं चिय देहस्स वि कम्मकरणसंभवातो त्ति ॥१८१५॥

कम्मं करणमसिद्धं व ते मती कज्जतो ७ य तं सिद्धं ।
 किरियाफलदो य पुणो पडिवज्ज तमग्गिभूति व्व ॥१८१६॥

जं संताणोणाती तेणाणंतोऽवि णायमेगंतो ।
 दोसति संतो वि जतो कत्थ ८त्ति बीयंकुरादीणं ॥१८१७॥

1. अवि ता० । 2. होज्ज स मु० । 3. -भावे य मु० को० । 4. कम्मजीवाणं ता० ।
 5. सुतीए को० 6. मोक्खा त्ति मु० । 7. कज्जतो तयं सिद्धं मु० को० । 8. कत्थइ
 मु० को० । 9. -कुराणं मु० को०; -दीणं व ता० ।

अण्णतरमणिव्वत्तितकज्जं बीयंकुराणं जं विहितं ।
 तत्थ हतो संतारणो कुक्कुडि-अण्डातियारं च ॥१८१८॥
 जधवेह कंचणोवलसंजोगोऽणातिसंततिगतो वि ।
 वोच्छिज्जति सोवायं तध जोगो जीवकम्माणं ॥१८१९॥
 तो किं जीवणभाणं व^१ जोगो अथ कंचणोवलाणं व ।
 जीवस्स य कम्मस्स य भण्णति दुविधो वि ण विरुद्धो ॥१८२०॥
 पढमोऽभव्वारं चिय भव्वारं कंचणोवलाणं व ।
 जीवत्ते सामण्णे भव्वोऽभव्वो त्ति को भेतो ॥१८२१॥
 होतु व^३ जति कम्मकतो ण विरोधो एणरगातिभेदो व्व ।
 भण्णथ य भव्वाऽभव्वा सभावतो तेण संदेहो ॥१८२२॥
 दव्वात्तित्ते तुल्ले जीवणभाणं सभावतो भेतो ।
 जीवाजीवातिगतो जध तध भव्वेतरविसेसो ॥१८२३॥
 एवं पि भव्वभावो जीवत्तं पि व सभावजातीतो ।
 पावति णिच्चो तम्मि य तदवत्थे णत्थि भण्णव्वारं ॥१८२४॥
 जध घडपुव्वाभावोऽणातिसभावो वि सनिधणो एवं ।
 जति भव्वत्ताभावो भवेज्ज किरियाय को दोसो ॥१८२५॥
 अणुदाहरणमभावो खरसिगं पि व मती ण तं जम्हा ।
 भावो च्चिय स विसिट्ठो कुम्भाणुप्पत्तिभेत्तेणं ॥१८२६॥
 एवं भव्वुच्छेतो कोट्ठागारस्स वावचयतो त्ति ।
 तं णाणंतत्तणतोऽणागतकालंवरणं व ॥१८२७॥
 जं चातीताणगतकाला तुल्ला जतो य संसिद्धो ।
 एवको अणंतभागो भव्वारणमतीतकालेणं ॥१८२८॥
 एस्सेण तत्तियो च्चिय जुत्तो जं तो वि सव्वभव्वारं ।
 जुत्तो ण समुच्छेदो होज्ज मती भिकध मत्तं सिद्धं ॥१८२९॥
 भव्वाणमणंतत्तणमणंतभागो व किध व मुक्को सिं ।
 कालादओ व्व मंडिय ! मह वयणातो व पडिवज्ज ॥१८३०॥

1. व अह जोगो कंचणो—मु० को० । 2. पढमो वाभव्वारं भव्वारं मु० को० । 3. होतु
 जति मु० । 4. णेव्वारं ता० । 5. वो० ता० । 6. कहमिणं सिद्धं मु० को० ।
 7. य ता० ।

सबभूतमिरां गेण्हसु मह वयणातोऽवसेसवयरां व ।
सव्वणुत्तादितो वा ¹जाणयमज्झत्थवयरां व ॥१८३१॥

मण्णसि किध सव्वणू सव्वेसि सव्वसंसयच्छेत्ता ।
दिट्ठंताभावम्मिं वि पुच्छतु जो संसयो जस्स ॥१८३२॥

भव्वा वि एण सिज्झस्संति केइ कालेण जति वि सव्वेण ।
एणु ते वि अमव्वच्चिय किं वा भव्वत्तरां तेसि ॥१८३३॥

अभणति भव्वो जोग्गो एण य जोग्गतेण⁴ सिज्झते सव्वो ।
जध जोग्गम्मिं वि दलिते ⁵सव्वत्थ एण कीरते षडिमा ॥१८३४॥

जध वा स एण पासाण-करणजोग्गो विद्याम जोग्गो वि ।
एण विजुज्जति सव्वो च्चिय स विउज्जति जस्स संपत्ती ॥१८३५॥

किं पुण जा संपत्ती सा जोग्गस्स⁶ एव एण तु ⁷अजोग्गस्स ।
तध जो मोक्खो गियमा सो भव्वराणं एण इतरेसि ॥१८३६॥

अकत्तादिमत्तणातो मोक्खो गिच्चो एण होति कुंभो व्व ।
एणो पद्धसाभावो भुवि तद्धम्मा वि जं गिच्चो ॥१८३७॥

अणुदाहरणमभावो एसो वि मती एण तं जतो गियमो⁹ ।
कुम्भविणासविसिट्ठो भावो च्चिय पोम्मलमयोऽयं¹⁰ ॥१८३८॥

¹¹किं वेगंतेण कतं पोम्मलमेत्तविलयम्मि जीवस्स ।
किं गिच्चत्तितमधियं एभसो घडमेत्तविलयम्मि ॥१८३९॥

सोऽणवराधो व्व पुणो एण बज्झते बंधकारणाभावा ।
जोग्गो¹² य बंधहेतू एण य सो¹³ तस्सासरोरो त्ति ॥१८४०॥

एण पुणो तस्स पसूती बीजाभावादिहं कुरस्सेव ।
वोयं च तस्स कम्मं एण य तस्स तयं ततो गिच्चो ॥१८४१॥

दव्वामुत्तणतो एणं व्व गिच्चो मतो स दव्वतया ।
सव्वगतत्तावत्ती मति त्ति तं एणणुमाणातो ॥१८४२॥

1. जाणसु को० । 2. चो० ता० । 3. आ० ता० । 4. जोग्गो तेण ता० । 5. सव्वम्मिं मु० । 6. जोग्गस्स ता० । 7. अजोग्गस्स ता० । 8. चः० ता० । 9. गियतं तः० । 10. मवो य मु० । 11. अथवा किं ता० । 12. जोग्गो मु० को० । 13. ए व ते मु० को० ।

को वा णिच्चग्गाहो सव्वं चियं वि भवभंगथितिमतिर्यं ।
 पज्जायंतरमेतप्पणाः^१ दण्णिच्चातिववदेसो ॥१८४३॥
 मुत्तस्स कोऽवकासो सोम्म ! तिलोगसिहरं गती किधं से ।
 कम्मलघुतातवागतिपरिणामादीहि भणितमिदं ॥१८४४॥
 किं सविकरियमरूवं मंडिय ! भुवि चेतणं च किमरूवं ।
 जधं से^२ विसेसघम्मो चेतणं तधं मता किरिया ॥१८४५॥
 कत्तादित्तातो वा सविकरियोऽयं मतो कुलालो व्व ।
 देहप्फंदरातो वा पच्चवखं जंतपुरिसो व्व ॥१८४६॥
 देहप्फंदराहेतू होज्ज पयत्तो त्ति सो वि णाकिरिए ।
 होज्जादिट्ठो व्व मतो त्थदरूवित्ते णणु समारं ॥१८४७॥
 रूवित्तम्मि स देहो वच्चो तप्फंदरो पुरो हेतू ।
 पतिणायतपरिप्फंदरात्मचैतराणं ण वि य जुत्तं ॥१८४८॥
 होतु किरिया भवत्थस्स कम्मरहितस्स किं णिमित्ता सा ।
 णणु तग्गतिपरिणामो^३ जधं सिद्धत्तं तधा सा वि ॥१८४९॥
 किं सिद्धालयपरतो ण गती धम्मत्थिकायविरहातो ।
 सो गतिउवग्गहकरो लोगम्मि जमत्थि णालोए ॥१८५०॥
 लोगस्स त्थि विवक्खो सुद्धत्तणतो घडस्स अघडो व्व ।
 स घडाति च्चियं मती ण णिसेधातो तदणरूवो ॥१८५१॥
 तम्हा धम्माऽधम्मा लोगपरिच्छेतकारिणो जुत्ता ।
 इधरागासे तुल्ले लोगोऽलोगोति को भेती ॥१८५२॥
 लोगविभागाभावे पडिघाताभावतोऽणवत्थातो ।
 संबवहाराभावो संबंधाभावतो होज्जा ॥१८५३॥
 णिरणुग्गहत्तणातो ण गती परतो जलादिव भसस्स ।
 जो गमणाणुग्गहिया^४ सो धम्मो लोगपरिमाणो ॥१८५४॥
 अत्थि परिमाणकारी लोगस्स पमेयभावतोऽवस्सं ।
 णा, णं पि व णेयस्सालोगत्यत्ते य सोऽवस्सं ॥१८५५॥

1. -प्पणा हि णिच्चा-ता० । 2. सो ता० । 3. देहप्फंडण ता० । 4. तदरूवत्ते मु० को० ।
 5. परिणामा को० मु० । 6. -गहितो ता० ।

पङ्खं पसत्तमेवं थगणातो तं च एणो जतो छट्ठी ।
 इध कत्तिलक्खण्येयं कत्तुरणत्थंतरं थारुं ॥१८५६॥

राभणिव्वत्तराओ वा थगणविणसपतरां एण जुत्तं से ।
 तथ कम्माभवातो पुणक्कियाभावतो वा वि ॥१८५७॥

एणिव्वत्तराणतो वा वोमातीरुं पङ्खं पसज्जेज्जा ।
 अथ एण मत्तमणेमंतो थगणतोऽवस्सपङ्खं ति ॥१८५८॥

भवतो सिद्धो त्ति मती तेणमत्तिमसिद्धसंभवो जुत्तो ।
 कालाणात्तित्तणतो पढमशरीरं व तदजुत्तं ॥१८५९॥

परिमियदेसेऽणंता किध माता मुत्तिविरहितत्तातो ।
 एण्यम्मि व णाणाइं दिट्ठीओ वेगरूवम्मि ॥१८६०॥

ण ह वइ ससरीरस्स प्पियऽप्पियावहत्तिरेवमादीरुं ।
 वेतपदारुं च तुमं एण सदत्थं मुणसि तो संका ॥१८६१॥

तुह बंधे मोक्खम्मि य सव य एण कज्जा जतो फुडो च्चैव ।
 ससरीरेतरभावो एणु जो सो बंध-मोक्खो त्ति ॥१८६२॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जरमरणविप्पमुक्केरां ।
 सो समणो पव्वइतो अद्दुट्ठेहि सह खंडियसत्तेहि ॥१८६३॥

[७]

*ते पव्वइते सोतुं मोरिओ आगच्छती जिणसगासं ।
 वच्चामि ए बंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१८६४॥

*आभट्ठो य जिणेणं जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
 णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥१८६५॥

*किं मण्णे अत्थि देवा उदाहु णत्थि त्ति संसयो तुज्जं ।
 वेतपतारा य अत्थं एण यग्गासी तेसिमो अत्थो ॥१८६६॥

तं मण्णसि णेरइया परतंता दुक्खसंपउत्ता य ।
 एण तरंति इहायंतुं सद्धेया सुव्वमाराणा वि ॥१८६७॥

1. जिणम्मि मु० । 2. प्पियाप्पिय मु० । 3. अद्दुट्ठेहि की०; अद्दुट्ठेहि मु० ।
 4. संपतत्ता त्त० ।

सच्छन्दचारिणो पुण देवा दिव्यपभावजुता य ।
 जं ए कताइ वि दरिसणमुवेति तो संसतो तेसु ॥१८६८॥
 मा कुरु संसयमेते सुदूरं मणुयादिभिण्णजातीए ।
 पेच्छसु पच्चक्खं चिय चतुव्विधे देवसंघाते ॥१८६९॥
 पुव्वं पि ण संदेहो जुत्तो जं जोतिसा सपच्चक्खं ।
 दीसंति तक्कता वि य उवघाताऽणुग्गहा जगतो ॥१८७०॥
 आलयमेत्तं च मती पुरं व तव्वासिणो तथ वि सिद्धा ।
 जे ते देव त्ति मता ण थ निलया णिच्चपरिसुण्णा ॥१८७१॥
 को जाणति व किमेतं ति श्होज्ज णिस्संसयं विमाराणं ।
 रतणमयणभोममणादिह जघ विज्जाधरादीणं ॥१८७२॥
 होज्ज मती माएयं तधावि तक्कारिणो सुरा जे ते ।
 ण य मायादिविकारा पुरं व णिच्चोवलभातो ॥१८७३॥
 जति णारणा पवण्णा पकिट्ठपावफलभोतिणो तेरां ।
 सुबहुगपुण्णफलभुजो पवज्जितव्वा सुरगणा वि ॥१८७४॥
 संकंतदिव्वपेम्मा विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा ।
 अराधीणमणुअकज्जा णरभवमसुहं ण एंति सुरा ॥१८७५॥
 रावरि जिण जम्म-दिव्खा-केवल-^३णिव्वाराणमहणियोगेरां ।
 भत्तीय सोम्म ! संसयवोच्छेतत्थं व एज्जण्ह^४ ॥१८७६॥
 पुव्वाणुरागतो वा समयणिबद्धा तवोगुणातो वा ।
 णरगणपीडाऽणुग्गह कंदप्पादीहि वा केइ ॥१८७७॥
 जातिस्सरकधणातो कासति पच्चक्खदरिसणातो य ।
 विज्जामंतोवायणसिद्धीतो गहविकारा तो ॥१८७८॥
 उविकट्ठपुण्णसंचयफलभावातोभिधानसिद्धीतो ।
 सव्वागमसिद्धीतो य संति देव त्ति सद्धेयं ॥१८७९॥
 देव त्ति सत्ययमितं सुद्धत्तणतो घडाभिधानं व ।
 अथ व मती मणुओ चिय देवो गुण-रिद्धिसंपण्णो ॥१८८०॥

१. दूरं ता० । २. भोज्ज ता० । ३. णेव्वाण ता० । ४. एज्जण्ह^४ मु०; एज्जण्हा को० ।

तं एा यतो तच्चत्थे सिद्धे उवयारतो मता सिद्धी ।
तच्चत्थसिहे सिद्धे माणवसिघोवयारो व्व ॥१८८१॥

देवाभावे विकलं^१ जमग्निहोत्तादियाण किरियाणं ।
सग्गीयं जण्णाण य दाणातिकलं च तदयुत्तं ॥१८८२॥

जम-सोम-सूर-सुरगुरु-सारज्जादीणि जयति जण्णेहिं ।
संतावाहणमेव य इंदादीणं विघा सव्वं ॥१८८३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिरोण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो अद्दुट्ठेहि सह खंडियसतेहिं ॥१८८४॥

[८]

*ते पव्वइते सोतुं अंकपिओ आगच्छती जिणसगासं ।
वच्चांमि एा वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१८८५॥

*आभट्ठो य जिरोणं जाइ-जरा-मरण-विप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य सब्बणू सब्बदरिसी णं ॥१८८६॥

*किं मण्णे णेरइया अत्थि एत्थि त्ति संसयो तुज्झं ।
वेतपताण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१८८७॥

तं मण्णसि पच्चक्खा देवा चंदातयो तधण्णे वि ।
विज्जामंतोवायणफलाइसिद्धीए गम्मंति ॥१८८८॥

ते पुण सुतिमेत्तफला णेरइय त्ति किध ते गहेतव्वा ।
सक्खमणुमाणतो वाऽणुबलंभा भिण्णजातीया ॥१८८९॥

मह पच्चक्खत्तरातो जीवाइय व्व^२ एारए गेण्ह ।
किं जं सप्पच्चक्खं तं पच्चक्खं एावरि एक्कं ॥१८९०॥

जं कासति पच्चक्खं पच्चक्खं तं पि धेप्पते लोए ।
अधवा जमिदियाणं पच्चक्खं किं तदेव पच्चक्खं ॥१८९१॥

जध सीहातिदरिसणं सिद्धं एा य सब्बपच्चक्खं ।
उवयारमेत्ततो तं पच्चक्खमणिदियं तच्चं^३ ॥१८९२॥

1. व फलं ता० । 2. जीवादीए य ता० । 3. तत्थं म० ।

मुत्तातिभावतो एणोवलद्धिमंतिदियाइं कुंभो व्व ।
उवलंभद्वाराणि तु^१ ताइं जीवो तदुवलद्धा ॥१८६३॥
तदुवरमे वि सरणतो तव्वावारे वि एणोवलंभातो ।
इइयभिण्णो णाता पंचमवक्खोवलद्धा वा ॥१८६४॥
जो पुणा अण्णिवियो च्चिय जीवो सव्वापिघ्घाणविगमातो ।
सो सुवहुअं विजाणति अवणीतघरो जया दट्ठा ॥१८६५॥
एण हि पच्चक्खं धम्मंतरेण तद्धम्ममेत्तगहणातो ।
कतकत्ततो^२ व सिद्धी कुंभाणिच्चत्तमेत्तस्स ॥१८६६॥
पुव्वोवलद्धमंबंध^३सरणतो वारातो व्व धूमातो ।
अधव णिमित्तंतरतो णिमित्तमक्खस्स करणाइं ॥१८६७॥
केवलमणोधिरहितस्स सव्वमणुणाणमेत्तयं जम्हा ।
एणारगसव्भावम्मि य तदत्थि जं तेण ते संति ॥१८६८॥
पावफलस्स पकिट्ठरस्स भोइणो कम्मतोऽवसेस व्व ।
संति धुवं तेभिमता एरइया अध मती होज्जा ॥१८६९॥
अच्चत्थदुक्खिता जे तिरिय-एण एणारग त्ति तेऽभिमता ।
तं एण जतो सुरसोक्खप्पगरिससरिसं एण तं दुक्खं ॥१९००॥
सच्चं चेतमकंपिय ! मह वयणातोऽवसेसवयणं व ।
सव्वणुत्तणतो वा अणुमतसव्वणुवयणं व ॥१९०१॥
^४भयरगदोसमोहाभावतो सच्चमणत्तिवाइं^५ च ।
सव्वं चिय मे वयणं जाणायमज्झत्थवयणं वा ॥१९०२॥
^६किध सव्वणु त्ति मती पच्चक्खं सव्वसंसयच्छेत्ता ।
^७भयरगदोसरहितो तल्लिगाभावतो सोम्म ! ॥१९०३॥
^८द्धिणम्मि संसयम्मिं जिणोण जर-मरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो तीहि ^९समं खंडियंतेहि ॥१९०४॥

1. --राणि ताइं मु० । 2. सव्वप्पिहाण-मु० को० । 3. सम्बद्धमर ता० । 4. यह गाथा
गाथांक 1578 पर पहले आ चुकी है । 5. --णतिवातं च ता० । 6. ता० में यह गाथा
ऊपर की गाथा से पहले है । 7. भयरोग-मु० । 8. तिहि ओ सह खं-मु०; तिहि च सह
खं-को० ।

[६]

*ते पवइते सोतुं अयलभाता आगच्छती जिरासगासं ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१६०५॥

*आभट्ठो य जिसेरां जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केरां ।
णामेण य गोत्ते ण य सव्वण्णू सव्वदरिसी रां ॥१६०६॥

*किं मण्णे पुण्ण-पावं अत्थि व णत्थि त्ति संसयो तुज्झं ।
वेतपताण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१६०७॥

मण्णसि पुण्णं पावं साधारणमधव दो वि भिण्णाइं ।
होज्ज ण वा कम्मं चिय सभावतो भवपपंचोऽयं ॥१६०८॥

पुण्णुक्करिसे^१ सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी ।
तस्सेव खये मोक्खो थपत्थाहारोवमाणातो ॥१६०९॥

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खये मोक्खो अत्थमत्तोवमाणातो ॥१६१०॥

साधारणवण्णादि व अथ साधारणमधेगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥१६११॥

एवं चिय दो भिण्णाइं होज्ज होज्ज व सभावतो चेव ।
भवसंभूती भण्णति ण सभावतो जतोऽभिमतो ॥१६१२॥

*होज्ज सभावो वत्थुं णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थुं एत्थि तत्रोऽणुवलद्धीतो खपुप्फं व ॥१६१३॥

अच्चंतमणुवलद्धो वि अथ तत्रो अत्थि एत्थि किं कम्मं ।
हेतू व तदत्थिते जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१६१४॥

कम्मस्स वाभिधारां होज्ज सभावो त्ति हेतु को दोसो ।
पत्तिणियताकारातो ण य सो कत्ता घडस्सेव ॥१६१५॥

मुत्तोऽमुत्तो व तत्रो जति मुत्तो^६ तोऽभिधानतो भिण्णो ।
कम्मं त्ति सहावो त्ति य जति वाऽमुत्तो ण कत्ता तो ॥१६१६॥

1. -क्करिसे मु० । 2. पच्छा ता० । 3. अपच्छ-ता० । 4. -भिमत्तं ता० । 5. यह गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6. मुत्ता तो ता० । 7. कम्म त्ति मु० को० ।

देहाणं वोमं पि व जुत्ता कज्जातितो य मुत्तिमता ।
 अध सो गिक्कारणया¹ तो खरसंगादयो होंतु ॥१६१७॥
 अध वत्थुणो स धम्मो परिणामो तो स २जीवकम्मणं ।
 पुण्णेतराभिधानो³ कारणकज्जाणुमेयो सो । १६१८॥
 किरियाणं कारणतो देहातीणं च कज्जभावातो ।
 कम्मं मदभिहितं ति य पडिवज्ज तमग्गिभूति व्व ॥१६१९॥
 तं चिय देहादीणं किरियाणं पि य सुभासुभत्तातो ।
 पडिवज्ज पुण्णपावं सभावतो भिण्णजातीयं ॥१६२०॥
 सुह-दुक्खाणं कारणमणुरूवं कज्जभावतोऽवस्सं ।
 परमाणवो घडस्स व कारणमिह पुण्णपावाइं ॥१६२१॥
 सुह-दुक्खकारणं जति कम्मं कज्जस्स तदणुरूवं च ।
 पत्तमरूवं⁴ तं पि ह्ठु अध रूवि णाणुरूवं तो ॥१६२२॥
 ण हि सव्वधाणुरूवं भिण्णं वा कारणं अध मतं ते ।
 किं कज्ज-कारणत्तणमधवा वत्थुत्तणं तस्स । १६२३॥
 सव्वं तुल्लातुल्लं जति तो कज्जाणुरूवता केयं ।
 जं सोम्म ! सपज्जायो कज्जं⁵ परप जयो सेसो । १६२४॥
 किं जध मुत्तममुत्तस्स कारणं तध सुहातिणं कम्मं ।
 दिट्ठं सुहातिकारणमण्णाति जधेह तध कम्मं ॥१६२५॥
 होत्तु तयं चिय किं कम्मणा ण जं तुल्लसाधणाणं पि ।
 फलभेतो सोऽवस्सं सकारणो कारणं कम्मं ॥१६२६॥
 ए.ो च्चिय तं मुत्तं मुत्तबलाधानतो जधा कुंभो ।
 देहातिकज्जमुत्तातितो य⁶ भणिते पुणो भवति ॥१६२७॥
 तो किं देहादीणं मुत्तत्तणतो तयं हवइ⁷ मुत्तं ।
 अध सुख-दुक्खातीणं कारणभावादरूवं ति ॥१६२८॥
 ण सुहातीणं हेतु कम्मं चिय कित्तु ताण जीवो वि ।
 होति समवायिकारणमितरं कम्मं ति को दोसो ॥१६२९॥

1. गिक्कारणतो ता० । 2. स कम्मजीवाणं मु० को० । 3. -धाणे ता० । 4. -रूवत्तं
 पि ता० । 5. पज्ज-ता० । 6. -तितो व्व मु० को० । 7. हवतु ता० ।

इयं कृत्वित्ते सुहृदुक्खकारणत्ते यं कम्मणो सिद्धे ।
 पुण्णावकरिसमेत्तेरा दुक्खवहुलत्तरामजुत्तं ॥१६३०॥

कम्मप्पकरिसजगितं तदवस्सं पगरिसाणुभूतीतो ।
 सोक्खप्पगि भूती जघ पुण्णप्पगरिसप्पभवा ॥१६३१॥

तथ बज्जसाधराप्पगरिसंगभावादिहण्णधा ण तयं ।
 विवरीतवज्जसाधराबलप्पकरिसं अवेक्खैज्जा ॥१६३२॥

देहो एणवचयकतो पुण्णुक्करिसे व मुत्तिमत्तातो ।
 होज्ज थ्व स हीणत्तरओ कधमसुभतरो महल्लो य ॥१६३३॥

एतं चिय विवरीतं जोएज्जा सब्बपावपक्खे वि ।
 एण य साधारणरूवं कम्मं तक्कारणाभावा ॥१६३४॥

कम्मं जोगणमित्तं सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।
 होज्ज एण तूभयरूवो कम्मं वि तओ तदणुरूवं ॥१६३५॥

एणणु मरा-वइ-काययोगा सुभासुभा वि समयम्मि दीसंति ।
 दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज एण तु भावकरणाम्मि ॥१६३६॥

भाणं सुभमसुभं वा एण तु मीसं जं च भाणाविरमे वि ।
 लेसा सुभासुभा वा सुभमसुभं वा तओ कम्मं ॥१६३७॥

पुअवगहितं च कम्मं परिणामवसेरा मीसतं एज्जा ।
 इतरेतरभावं वा सम्मा-मिच्छादि एण तु गहरणे ॥१६३८॥

मोत्तूण आउअं खलु दंसणामोहं चरित्तमोहं च ।
 सेसाणं पगडोणं उत्तरविधिसंकमो भज्जो ॥१६३९॥

सोभणवण्णातिगुणं सुभाणुभावं जं तयं पुण्णं ।
 विवरीतमतो पावं एण वातरं एणत्तिमुहमं च ॥१६४०॥

गेण्हति तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जघा कतभंगो ।
 एगक्खेत्तो गाढं जीवी सब्बप्पदेसेहि ॥१६४१॥

अविसिट्ठधोगलघणो लोए थूलतणुकम्मपविभागो ।
 जुज्जेज्ज गहरणकाले सुभासुभविवेचणं कत्तो ॥१६४२॥

1. कम्मणो ता० । 2. व्व को० । 3. चो० ता० ।

१अविसिद्धं चिद्य तं सो परिणामाऽऽसयसभावतो खिप्पं ।
 कुरुते सुभमसुभं वा महरो जीवो जघाऽऽहारं ॥१६४३॥
 परिणामाऽऽसयवसतो धेणूये जघा पयो विसमहिस्स ।
 तुल्लो वि तदाहारो तध पुण्णापुण्णपरिणामो ॥१६४४॥
 जध वेगसरीरम्मि वि सारासारपरिणामतामेति ।
 अविसिद्धो २आहारो तध कम्मसुभासुभविभागो ॥१६४५॥
 सातं सम्मं हासं पुरिस-रति-सुभायु-राम-गोत्ताइं ।
 पुण्णं सेसं पावं रोयं सविवागमविवागं ॥१६४६॥
 असति बहि पुण्णपावे जमग्गिहोत्तादि सग्गकामस्स ।
 तदसंबद्धं सव्वं दाणातिफलं च लोगम्मि १६४७॥
 *छिण्णम्मि संसयम्मि जिरोणं जर-मरणविप्पमुक्केणं ।
 सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खंडियसतेहिं ॥१६४८॥

[१०]

१ते पव्वइते सोतुं मेतज्जो आगच्छतो जिणसगासं ।
 वच्चामिं ए वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१६४९॥
 *आभट्ठो य जिरोणं जाति-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
 रामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसीं एं ॥१६५०॥
 *किं मण्णे परलोगो ३अत्थि ए अत्थि त्ति संसयो तुज्जं ।
 वेतपत्ताणं य अत्थं ण याणसीं तेसिमो अत्थो ॥१६५१॥
 मण्णसि जति चेतण्णं मज्जंममतो व्व भूतधम्मो त्ति ।
 तो णत्थि परो^१ लोगो तण्णासे जेण तण्णासो ॥१६५२॥
 अध वि तयत्थंतरता ण य णिच्चत्तणमओ वि तदवत्थं ।
 अणलस्स व अरणीओ भिण्णस्स विणासधम्मस्स ॥१६५३॥
 अध एगो सव्वग्गओ णिकरिओ तह वि णत्थि परलोगो ।
 संसरणाभावाओ वोमस्स व सव्वपिडेसु ॥१६५४॥

1. आ० ता० । 2. वाहारो मु० को० । 3. अत्थि णत्थि मु० को० । 4. परलोगा मु० ।

इध लोमातो व परो सुरादिलोगो ए सो वि पच्चक्खो ।
 एवं पि ए परलोगो सुव्वति य सुतीसु तो संका ॥१६५५॥

भूतिदियातिरित्तस्स चेतया सो य दव्वतो ग्गिच्चो ।
 जातिस्सरणातीहि पडिवज्जसु वायुभूति व्व ॥१६५६॥

ए य एगो सव्वगतो ग्गिक्करियो लक्खणातिभेतातो ।
 कुंभात्तो व्व बहवो पडिवज्ज तमिदभूति व्व ॥१६५७॥

इधलोमातो य परो सोम्म ! सुरा गारगा य परलोमो ।
 पडिवज्ज सोऱयाकंपिय व्व विहितप्पमाणातो ॥१६५८॥

जीवो विण्णाणमयो तं चाग्गिच्च ति तो ए परलोगो ।
 अथ विण्णाणादण्णो तो अणभिण्णो जघागासं ॥१६५९॥

एतो च्चिय ए स कत्ता भोत्ता य अतो वि एत्थि परलोगो ।
 जं च ए संसारी सो अण्णाणामुत्तिओ खं व ॥१६६०॥

मण्णसि विणासि चेतो उप्पत्तिमदादितो जधा कुंभो ।
 एग्गु एतं चिय साधरामविणासित्ते वि से सोम्म ! ॥१६६१॥

अथत्रा वत्थुत्तएतो विणासि चेतो ए हांति कुंभो व्व ।
 उप्पत्तिमतात्ति कधमविणासी घडो बुद्धी ॥१६६२॥

रूव-रस-गंध-फासा संखा संठाण-दव्व-सत्तीओ ।
 कुंभो ति जतो ताओ पसूति-विच्छित्ति-धुवधम्मा ॥१६६३॥

इध पिंडो पिंडागार-सत्ति-पज्जाय-विलयसमकालं ।
 उपज्जति कुंभागार-सत्तिपज्जायरूवेण ॥१६६४॥

रूवातिदव्वताए ए जाति थु य वेति तेण सो ग्गिच्चो ।
 एवं उप्पात-वरय-धुवस्सहावं मतं सव्वं ॥१६६५॥

घडचेतएया शासो पडचेतएया समुबभवो समयं ।
 संताणेणावत्था तधेह-परलोगजीवाणं ॥१६६६॥

मण्णुएह्लोगणासो सुरातिपरलोगसंभवो समयं ।
 जीवत्थाऽवत्थाणं एहेभवो एव^१ परलोगो ॥१६६७॥

असतो एतत्थि पसूति होज्ज व जति होतु खरविसारास्स ।
रा य सब्बधा विणासो सब्बुच्छेदप्पसंगातो ॥१६६८॥

तोऽवत्थितस्स केरावि विलयो धम्मेषा भवणमण्णं ।
भवत्थुच्छेतो ए मतो ^२संबवहारावरोघातो ॥१६६९॥

असति व परम्मि लोए जमग्गिहोत्ताति सम्गकामस्स ।
तदसंबद्धं सब्बं दाणातिफलं च^३ परलोए ॥१६७०॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणोएा जर-मरणविप्पमुक्केरां ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खंडियसतेहिं ॥१६७१॥

[११]

*ते पव्वइते सेतुं पभासो आगच्छई जिणसगासं ।
वच्चाभि रा वंदाभि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१६७२॥

*आभट्ठो य जिणोएां जाति-जरा-मरणविप्पमुक्केरां ।
एामेरा य गोत्तेरा य सब्बणू सब्बदरिसी एां ॥१६७३॥

*किं मण्णे णेव्वाणं अत्थि एतत्थि त्ति संसयो तुज्झं ।
वेतपतारा य अत्थं न याणासी तेसिमो अत्थो ॥१६७४॥

मण्णसि किं दीवस्स व णासो णेव्वाणमस्स जोवस्स ।
दुक्खक्खयादिरूवा कि होज्ज व से सतोऽवत्था ॥१६७५॥

अधवाऽणातित्तरातो खस्स व किं कम्म-जीवजोगस्स ।
अविजोगातो ण भवे संसाराभाव एव त्ति ॥१६७६॥

पडिवज्ज मंडिओ इव विजोगमिह ^४जीवकम्मजोगस्स ।
तमणातिणो वि कंचण-घातूण व णाणकिरियाहिं ॥१६७७॥

जं णारगातिभावो संसारो णारगातिभिण्णो य ।
को ^५जीवो ^६तो मण्णसि तण्णासे जीवणासो त्ति ॥१६७८॥

ण हि णारगातिपज्जायमेत्तणासम्मि सब्बधा णासो ।
जीवद्ववस्स मतो मुद्दारासे व हेमस्स ॥१६७९॥

1. सब्बुच्छे -मु० । 2. संबवहारोव-मु० को० । 3. च लोअम्मि मु० को० ।
4. कम्मजीवजोगस्स मु० को० । 5. जीवः ता० । 6. तं मु० को० ।

कम्मकतो संसारो तण्णासे तस्स जुज्जते णासो ।
 जीवत्तमकम्मकत्तं तण्णासे तस्स को णासो ॥१९८०॥
 एा विकाराणुवलंभादागासं पिव विणासधम्मो सो ।
 इध णासिणो विकारो दीसति कुंभस्स वाऽवयवा ॥१९८१॥
 कालंतरणासी वा घडो व्व कतकादितो मती होज्जा ।
 णो पद्धंसाभावो भुवि तद्धम्मा वि जं णिच्चो ॥१९८२॥
 अणुदाहरणमभावो खरसिगं पिव मती एा तं जम्हा ।
 कुंभविणासविसिट्ठो भावो च्चिय पोग्गलमयो सो ॥१९८३॥
 किं वेगंतेण कत्तं पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स ।
 किं णिव्वत्तितमधियं णभसो घडमेत्तविलयम्मि ॥१९८४॥
 दव्वामुत्तत्तणतो मुत्तो णिच्चो णभं व दव्वतया ।
 णाणु विभुतातिपसंगो एवं सति णाणुमाणातो ॥१९८५॥
 २को वा णिच्चग्गाहो सव्वं चिय विभवभंगठितिमइयं ।
 पज्जायंतरमेत्तप्पणादणिच्चातिववदेसो ॥१९८६॥
 एा य सव्वधा विणासोऽणलस्स परिणामतो पयस्सेव ।
 कुंभस्स कवालाण व तधाविकारोवलंभातो ॥१९८७॥
 जति सव्वधा एा णासोऽणलस्स किं दीसते एा सो सव्वखं ।
 परिणामसुहुमयातो जलदविकारंजरारयो व्व ॥१९८८॥
 होतूणामिदियंतरगज्झा पुणारिदियंतरग्गहरणं ।
 खंधा एंति एा एंति य पोग्गलपरिणामता चित्ता ॥१९८९॥
 एगेणिदियगज्झा जध वायव्वादयो तहग्गेया ।
 होतुं चक्खुग्गज्झा ३धाणातिग्गज्झतामेति ॥१९९०॥
 जध दीवो णिव्वाणो परिणामंतरमितो तधा जीवो ।
 भण्णति परिणेव्वाणो षत्तोऽणाबाहपरिणामं ॥१९९१॥
 मुत्तस्स परं सोव्वखं णाणाणाबाधतो जधा मुण्णिणो ।
 तद्धम्मा पुण विरहादावरणाऽऽबाधहेऊणं ॥१९९२॥

1. इस गाथा की पुनरावृत्ति हुई है : गाथांक 1839 । 2. इस गाथा की भी पुनरावृत्ति हुई है : गाथांक 1843 । 3. घाणिदियगज्झ-मु० को० ।

मुक्तोकरणाभावादण्णाणी खं व राणु विरुद्धोऽयं ।
जमजीवता वि पावति एतो च्चिय भगति तं राणम ॥१९६३॥

द्वामुत्तसभावजातितो तस्स दूरविबरीतं ।
ए हि जच्चंतरगमरां जुत्तं एभसो व जीवत्तं ॥१९६४॥

मुत्तातिभावतो णोवलद्धिमंतिदियाइं कुंभो व्व ।
उवलंभहारारिण उ ताइं जीवो तदुवलद्धा ॥१९६५॥

तदुवरमे वि सरणतो तव्वावारे वि एोवलंभातो ।
इंदियभिण्णो णता पंचगवक्खोवलद्धा वा ॥१९६६॥

राणारहितो ण जीवो सरूवतोऽणु व्व मुत्तिभावेणं ।
जं तेण विरुद्धमितं अत्थि य सो राणारहितो य ॥१९६७॥

किध सो राणसखो एणु पच्चक्खाणभूतितो णियए ।
परदेहम्मि वि गज्झो स पवित्तिणिवित्तिंलगतो ॥१९६८॥

सव्वावरणावगमे सो सुद्धतरो हवेज्ज सूरु व्व ।
तम्मयभावाभावादण्णाणित्तं ण जुत्तं से ॥१९६९॥

एवं पयासमइओ जीवो छिद्दावरभासयत्तातो ।
किच्चिम्मत्तं भालति छिद्दावरणप्पदीवो व्व ॥२०००॥

सुबहुअतरं वियाणगति मुत्तो सव्वप्पिहाणविगमातो ।
अवणीतधरो व्व णरो विगतावरणो^३ पदीवो व्व ॥२००१॥

पुण्णापुण्णकताइं जं सुह-दुक्खाइं तेण तण्णासे ।
तण्णासो णतो मुत्तो णिस्सुह-दुक्खो जघागासं ॥२००२॥

अधवा णिस्सुह-दुक्खो णभं व देहिदियादि^६भावातो ।
आहारो देहो च्चिय जं सुह-दुक्खोवलद्धीणं ॥२००३॥

पुण्णफलं दुक्खं चिय कम्मोत्तयतो फलं व पावस्स ।
णणु पावफले वि समं पच्चक्खविरोधितः चेव^६ ॥२००४॥

जत्तो च्चिय पच्चक्खं सोम्म ! सुहं णत्थि दुक्खमेवेत्तं ।
तपाडिकारविभत्तं तो पुण्णफलं ति दुक्खं ति ॥२००५॥

1. अय मु० को०; देखें नाथा 1894 । 2. वियए को० । 3. विगयावरणप्पदीवो मु०को० ।
4. तन्तासाओ मुत्तो मु० को० । 5. -य.दभावा-मु० को० । 6. चेव मु० को० ।

विसयसुहं दुक्खं चिय दुक्खपडिगारतो तिगिच्छ व्व ।
 तं सुहमुक्खयारातो ३रा योक्खयारो विणा तच्चं ॥२००६॥
 तम्हा जं मुत्तसुहं तं तच्चं दुक्खसंखएऽवस्सं ।
 मुण्णिणोऽणाबाधस्स व णिप्पडिकारप्पमूतीतो ॥२००७॥
 जध वा णाणमयोऽयं जीवो णाणोवघाती चावरणं ।
 करणमणुग्गहकारिं सव्वावरणक्खए सुद्धी ॥२००८॥
 तध सोक्खमयो जीवो पावं तस्सोवघातयं^२ रोयं ।
 पुण्णमणुग्गहकारिं सोक्खं सव्वक्खए सयलं ॥२००९॥
 ३जध वा कम्मक्खयतो सो सिद्धतादिपरिणतिं लभति ।
 तध संसारातीतं पावति तत्तो च्चिय सुहं पि^४ ॥२०१०॥
 सातासातं दुक्खं तव्विरहम्मि य सुहं जतो तेणं ।
 देहिंदिएसु दुक्खं सोक्खं देहिंदियाभावे ॥२०११॥
 जो वा देहिंदियजं सुहमिच्छति तं पडुच्च दोसोऽयं ।
 संसारातीतमितं धम्मंतरमेव सिद्धिसुहं ॥२०१२॥
 कधमणुमेयं^५ ति मती णाणाणाबाधतो त्ति णणु भणितं ।
 तदणिच्चं णाणं पि य चेतणधम्मो त्ति रागो व्व ॥२०१३॥
 कतकातिभावतो वा णावरणाबाधकारणाभावा ।
 उप्पातट्ठित्तिभंगस्स भावतो वा ण दोसोऽयं ॥२०१४॥
 ण ह वइ^६ ससरीरस्स प्पियप्पियावहतिरेवमादि च जं ।
 तदमोक्खो णासम्मि व सोक्खाभावम्मि व ण जुत्तं ॥२०१५॥
 णट्ठो असरीरो च्चिय सुह-दुक्खाइं पियप्पियाइं च ।
 ताइं ण फुसंति णट्ठं फुडमसरीरं ति को दोसो ॥२०१६॥
 वेतपताण ७य अत्थं ण सुट्ठु जाणसि इमाणं तं सुणसु ।
 असरीरव्ववदेसो अघणो व्व सतो णिसेधातो ॥२०१७॥
 ण णिसेधतो य अणम्मि तव्विहे चेव पच्चओ जेण ।
 तेणसरीरग्गहणं जुत्तो जीवो ण खरसिगं ॥२०१८॥

1. ण य उक्खयारो मु० को० । 2. -वाइयं मु० को० । 3. अइवा कम्म-को० । 4. सुहं
 ति मु० को० । 5. कह नणु मेयं मु० । 6. वे हा० । 7. -अथ इमत्तां ता० ।

जं च १वसंतं तं संतमाह वासदत्तो सदेहं पि ।
ण फुसेज्ज वीतरागं जोगिणमिट्ठेत्तरविसेसा^२ ॥२०१६॥

वावेति वा णिवातो वासदत्थो भवंतमिह संतं ।
१बुज्झाऽवत्ति व संतं णाणातिविसिट्ठमधवाह ॥२०२०॥

ण वसंतं अबसंतं ति वा मतीं णासरीरगहणातो ।
फुसणाविसेसणं पि य जतो मतं संतविसयं ति ॥२०२१॥

एवं पि होज्ज मुत्तो णिस्सुह-दुक्खत्तणं तु तदवत्थं ।
तं णो पियप्पियाइं जम्हा पुण्णयरकयाइ ॥२०२२॥

णाणाऽबाधत्तणतो ण फुसंति वीतरागदोसस्स ।
तस्सप्पियमप्पियं वा मुत्तसुहं को पसंगोज्जथ ॥२०२३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जर-भरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खंडियसतेहिं ॥२०२४॥

गणधरा सम्मत्ता^४ ।

१. वसंतं संतं तमाह सु०; वसंतं संतं तथाह को० । २. विसेसां तां० । ३. बुज्झा तां० ।
४. तां० ।

टीका के अवतरणों की सूची

अमोवंगण तिमं	1946	केवलसम्बिद्धशंकरूपाः	1975
अग्निदंहेति नाकाशं (प्रमाणभा० अ०पू० 43)	1713	की जानाति	1866, 1882
अग्निष्टोमेन धमराज्यं	1800	अग्निकाः सर्वसंस्काराः	1674
अग्निहोत्रं जुहुयात् 1553, 1592		गतं न गम्यते तावद्	169 ✗
(मैत्रायणीसं० 1.8.7.)	1643, 1800,	(माध्यमिक० 2.1)	
	1882	गृहणसमयमिमि (कर्मप्रकृति 29)	1943
अपाम सोम (ऋग्वेद 6.4.11)	1866	जरामर्यं वेतत्	1974, 2023
अस्तमिते आदित्ये (बृहदा 4.3.6)	1598	जीवस्तथा (सौन्दरनन्दं 16.29)	1975
अस्ति पुरुषोऽकर्ता	1553	जोएण कम्मएरां (सूत्रकृ०नि०177)	1614
आगमप्रचोपपत्तिश्च	1660	सत्र पक्षः (न्यायप्रवेश पृ० 1)	1676
आपो देवता (एतरेय ब्रा० 2.1 .)	1689	तथेदममलं ब्रह्म (बृहदा०भा०वा० 3.5.44)	1581
आयुगभागो थोवो (बन्धशतक 89)	1943	क्षीपो यथा निवृत्ति (सौन्दरनन्दं 16.28)	1975
इत्थं न किञ्चिदपि	2005	देह एवाज्यं	1576
इन्द्र आगच्छ	1883	द्यावा पृथिवी (तैत्तिरीय ब्रा० 1.1.2)	1689
इह दृष्टहेत्वसम्भवि	1920	दादश भासाः (तैत्तिरीय ब्रा० 1.1.4)	1643
उर्ध्वमूलं (योगशिखोपनिषद् 6.14., भगवद्गीता 15.1)	1581	द्वे ब्रह्मणी	1974
ऊसासं आयाधं	1946	मनः प्रते इवाविष्टः	2005
एक एव हि भूतात्मा 1581, 1953		मञ्जु-इव मुक्तं (परिभाषेन्दु शेखर 74)	1851, 2018
(ब्रह्मविन्दु 11)		मञ्जुयुक्तम्	1851
एकया पूर्णयाहृत्या	1643	न दीर्घेऽस्तीह	1692
(तैत्तिरीय ब्रा० 3.8.10.5)		न रूपं भिक्षवः	1553
एमपएसो गाहं (पंचसंग्रह 284; बन्धशतक 87)	1941	न ह वै प्रेत्य	1887, 1903
एतावानेव लोकोऽयं (जड्दर्शन समुच्चय 81)	1553	न हि वै क्षणरीरस्य	1553, 1591
एष धः प्रथमो यज्ञः (ताण्ड्य० 16.1.2)	1643	(छान्दोग्य० 8.12.1)	1651, 1804
श्रीत्सुक्यमात्रं (शाकुन्तले 5.6)	2005		1861, 2015-23
कदाचित्कं यदत्रास्ति	1643	नारको वा एष	1887
कामस्वप्नभयोन्मादैः	1732	नित्यं सत्त्वं (प्रमाणभा० 3.34)	1848

निरालम्बनाः सर्वे (प्रमाणवा० अलं० पृ० 22)	1554	शृगालो वै	1772, 1800
निजितमदमदनानां (प्रश्नम० 238)	2007	स एष यज्ञायुधी	1866, 1882
पुण्यः पुण्येन (बृहदा० 4.4.5)	1643	स एष विगुणो	1804, 1861
पुरुष एवेदं ग्नित्वाजसनेयी सं० 1581, 1643		सततमनुबद्धं	1900
31.2; श्वेता० 3.15)	1907	सत्येन लभ्यः (मुण्डक० 3.1.5)	1685
पुरुषो वै	1772, 1800	समासु तुल्यं	1919
पृथिवी देवता	1689	सर्वहेतुनिराशंसं	1643
मृक्ताः श्वियः	2005	सव्यावाधाभावात् (तत्त्वार्थ भा० टी० द्वि० भाग पृ० 318)	1992
मतिरपि न प्रजायते	2016	सव्वविरि वेयणीए (बन्धनतक भा० 90)	1943
मूर्तेरणुरप्रदेशः	1736	स सर्ववित्	1643
यत् सत् तत् (हेतुविन्दु पृ० 44)	1574	सायं उच्चागोयं	1946
यथा विशुद्धं (बृहदा० भा० वा० 3.5.43)	1581	(प्रवचनसारोद्धार 1283)	
यम-सोम-सूर्य	1883	सिद्धो न भव्यः	1824
यावद् दृश्यम्	1696	सुखदुःखे मनुजानां	1900
राजीवकण्ठकादीनां	1643	सुस्तर आएज्ज	1946
लाउ य एरंड (आव० नि० 957)	1844	सैषा गुहा	1974
नोके यावत् संज्ञा	1695	स्थितः शीतांशुवज्जीवः	1992
विज्ञानघन एव	1553, 1588	(योगदृ० 101)	
(बृहदा. 2.4.12)	1592-94, 1597, 1643, 1951	स्वप्नोपमं वै	1689, 1768
		हेतुप्रत्यय	1695
		ह्रस्वं प्रतीत्य	1692

शब्द-सूची

अ		अनुपलब्धि	
अंजन	164	—के कारण	63
अन्तरालगति	32	अनुमति	3, 7, 31, 73, 96, 114, 128, 131, 172
अन्धकार	164	—सामान्यतो दृष्ट	4
अकम्पित	128, 154	—त्रि अन्वय, पंच अन्वय	75
अक्ष		अनेकान्तवाद	82
—इन्द्रियाँ	130	—जातादि में	82
—प्रात्मा	131	अन्वय	62
अग्नि	90	—व्यतिरेक	27
अग्निभूति	29, 49, 99, 107, 138, 139, 150	अपवर्ग	159
अग्निष्टोम	47, 101	अपूर्व	42
अग्निहोत्र	6, 65, 101, 126, 151, 158, 179	अभिज्ञानशाकुन्तल	172
अचलभ्राता	134	अभिलाषा	
अतीन्द्रिय ज्ञान		—स्तवपानाभिलाषा	56
— समस्त विषयक	131	अभ्युपगम	83
अदर्शन		अमूर्तत्व	167, 175
— अभाव साधक नहीं है	86	—निश्चय है	175
अदृश्य	85	अर्थापत्ति	6, 50
अदृष्ट		अलोक	
—क्रिया का फल	34	—में गति नहीं है	116
—अनिच्छा होने पर भी फल मिले	35	—साधक प्रमाण	116
अधर्म	40	अवधिज्ञान	131
अधर्मास्तिकाय		—आवरण	63
— सिद्धि	117	अवाच्य	70
अध्यवसाय	144, 145, 147	अविद्यमान	
अननुरूप	9	—का निषेध नहीं है	17
अनभिलाष	70, 72	अविद्या	21
		अविनाभाव	4
		अविरति	143
		अविरम्बादी	5

अव्यक्त-प्रधान	42
अशरीर	176
असत्	18
अहंप्रत्यय	8
—देहविषयक नहीं है	8
अहिंसा	
—सर्वत्र जीव होने पर भी सम्भव	91
अहेतुक	45

अ

आकाश	6, 10, 21, 98, 108, 109, 163, 168
—साधक अनुमान	88
—निर्जीव है	92
आगम	4, 73
—दो भेद	4
—परस्पर विरोध	5
आत्मा	6, 41, 46, 52, 104
—सशरीर-अशरीर	6
—सांख्यमत में	6
—का अन्य देह में अनुमान	13
—साधक अनुमान	13
—कर्ता, अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता, अर्थी	14, 58
—संशय का विषय होने से जीव है	15
—संसारी मूर्त भी है	41
—भूतभिन्न	53, 55
—इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं	53, 130
—क्षणिक नहीं है	58
—उत्पादादि युक्त	62
—व्यापक नहीं है	113

—नित्यानित्य	113
—द्रुवित का स्थान	113
—अरूपी होने पर भी सक्रिय	114, 154
—उपलब्धि कर्ता	130
—स्वतन्त्र द्रव्य	153
—अनेक हैं	153
—अद्वैत आत्मा का संसरण नहीं है	153
—लक्षण भेद	154
—देहप्रमाण	154
—एकान्त नित्य में कर्तृत्वादि घटित नहीं होते हैं	155
—अज्ञानी (जड) का संसरण नहीं है	155
—नित्यानित्य	155
—ज्ञानस्वरूप	169
—परदेहगत का अनुमान	169
आप्त	5, 129
आहार	
—परिणाम	147

इ-ई

इन्द्र	121, 127
इन्द्रजालिक	67
इन्द्रभूति	3, 29, 49, 153, 154
इन्द्रिय	
—ग्राहक नहीं	54
—उपलब्धिकर्ता नहीं है	130
—कारण-द्वार है	130
—बिना भी ज्ञान	168
—अन्य ज्ञान परोक्ष	131
ईशावास्योपनिषद्	21
ईश्वर	14, 42, 46

उ

उक्थ	127
उत्पत्ति	71, 80, 104
उपनिषद्	5
उपमान	6
उपयोग	25
उपलब्धि	23
उपसम श्रेणी	146

ऋ

ऋग्वेद	21
--------	----

क

करण	48, 106, 117, 166, 168
—पौद्गलिक है	168
कर्ता	97
कर्म	15, 29, 46, 95
—के अस्तित्व की चर्चा	29
—संशय	30
—पुण्य-पाप	30, 137, 138, 139
—प्रत्यक्ष है	30
—साधक अनुमान	31
—धर्म-अधर्म	40
—मूर्त होने पर भी अमूर्त आत्मा में अंतर करता है	41
—मूर्त है	37
—परिणामी है	37
—विचित्र है	38
—के हेतु	95, 143
—की विचित्रता	95
—पौद्गलिक	96
—के अभाव में संसार नहीं	97

—सन्तान अनादि	105
—सिद्धि	106, 138
—अमूर्त नहीं है	139
—अदृष्ट होने पर भी मूर्त	141
—का नाश	162
—आठ मूल प्रकृति	145
—उत्तर प्रकृति	145
—ध्रुवबन्धिनी	145
—अध्रुवबन्धिनी	145
—संक्रम का नियम	145
—ग्रहण की प्रक्रिया	146
—वर्गणा	146
—प्रकृति आदि	147
—सूक्तात्मा में अभाव	166
—जीव के साथ अनादि सम्बन्ध	160
—अनादि संयोग का नाश	161
—नाश से जीव का नाश नहीं	161
कर्मप्रकृति	147
कर्मप्रकृति चूरा	147
कषाय	143
कारण	94, 139, 140, 161
—समवायी उपादान	37
—निमित्त	37
—ईश्वरादि नहीं है	42
—सदृश कार्य की चर्चा	94
—से बिलक्षण कार्य	95
—वैचित्र्य से कार्यवैचित्र्य	95
—अनुमान	138
कार्मेण	31, 115
—सिद्धि	32
—स्थूल देह से भिन्न	40
कार्य	94, 138, 139, 161
—अनुमान	138
कार्य-कारण	
—सादृश्य की चर्चा	94

कार्य-कारण भाव	168	चेतना	50
काल	6, 42, 109	चैतन्य	50, 51
कुबेर	121	छान्दोग्य	6
कुमारिल	5		
कृतक	162, 174		
केवलज्ञान	131, 160		
केवलदर्शन	160		
केवली	12		
केशोण्डुक	83		
ऋतु	127		
क्षणिक	59, 60		
क्षयोपशम	63		

ख-ग-घ

खर-विषाण	17
गुण	10
—और गुणी का भेदाभेद	10
—गुणी बिना नहीं है	11
—गुणी भाव	9
गुणी	10
गुप्ति	92
गोत्रकर्म	102
ग्रह-विकार	125
ग्रिफिथ	121
घडा	
—नित्यानित्य	156

ख-ग-घ

चन्द्र	122, 128
—विमान	122
—अस्ति का गोला	123
—मायिक	123
चम्पा	123
चार्वाक	5
चेतन	114

		ज	
		जल	
		—सचेतन है	90
		जात	
		—आदि चार विकल्प	71, 80
		जाति	
		—परभव में वह नहीं है	101
		—स्मरण	125
		जिनभद्र	28
		जीव	
		—के अस्तित्व का सन्देह	3
		—प्रत्यक्षादि से सिद्ध नहीं है	3
		—सिद्धि	7
		—प्रत्यक्ष	10
		—अजीव का प्रतिपक्षी	16
		—निषेध्य होने से सिद्ध	16
		—आश्रय शरीर	18
		—पद सार्थक है	19
		—पर्यायें	19
		—लक्षण भिन्न	19
		—सर्वज्ञ-वचन से सिद्ध	20
		—एक है	20
		—अनेक हैं	21
		—व्यापक नहीं है	23
		—नित्यानित्य	25, 100
		—कर्म के साथ अनादि सम्बन्ध	41
		—और शरीर एक ही है	49
		—निराकरण	50
		—मृत शरीर में नहीं	52
		—समानता-असमानता	100
		—के बन्ध-मोक्ष	103, 163
		—सशरीर-अशरीर	103

—प्रथम कौन	104
—का गति-परिणाम	116
—का सिद्धत्व	116
—कर्म का सम्बन्ध	105
—अभव्य-भव्य	108
—भव्यजीव अनन्त	109
—कर्त्ता	106
—का मोक्ष होने पर भी संसार खाली नहीं होता	109
—निगोद	109
—सर्वथा विनाशी नहीं	161
—अनन्त ज्ञानमय	173
—अनन्त सुखमय	173
—शरीर का सम्बन्ध	177
जीवत्व	161, 167
जीवन्मुक्त	177
ज्ञान	11, 175
—देह गुण नहीं	11
—ज्ञानान्तर पूर्वक	55
—मति आदि पांच	63
—पर्यायें	63
—सब भ्रान्त नहीं	75
—अन्वय-व्यतिरेक	168
—आवरण	169
ज्ञेय	25, 73

दुःख	140
दृष्टान्त	110
देव	128, 150, 154
—विषयक संदेह	121
—संशय-निराकरण	122
—प्रत्यक्ष है	122
—व्यन्तरादि चार भेद	122
—कृत अनुग्रह-पीडा	122
—अनुमान से सिद्धि	122
—इस लोक में क्यों नहीं आते	124
—कैसे आवें ?	124
—साधक अन्य अनुमान	125
—पद की सार्थकता	125
—ऋद्धि-सम्पन्न मनुष्य देव है	126
देह	9
द्रव्य	11, 113
द्रव्यत्व	167
—नित्य है	175
द्वयशुक्	84

ध

धर्म	40, 138
धर्मास्तिकाय	117, 118

न

न-द्व	
तत्त्वार्थभाष्य-टीका	166
ताण्ड्य महाब्राह्मण	47
तीर्थंकर	124
तैत्तिरीय ब्राह्मण	47, 48, 67
त्रिपिटक	6
दिक्	6
दीर्घनिकाय	6
दीप	
—का सर्वथा नाश नहीं	164

नरक	135
नरसिंह	135
नारक	128, 150
—सन्देह	128
—संशय-निराकरण	129
—सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष है	129
—अनुमान से सिद्ध	132
—सर्वज्ञ-वचन से सिद्ध	132
नाम कर्म	102
निगोद	109

नियति	42	—देव-नारक	154
निर्वाण		—सिद्धि	153
—सम्बन्धी सन्देह	159	—अभाव	154
—सन्देह-निवारण	161	परोक्ष	131
—दीप-निर्वाण जैसा	160	—इन्द्रियजन्य ज्ञान	129
—दुःख-क्षय	160	पर्याय	12, 99, 113
—का अभाव	160	—दो भेद	28
—सिद्धि	161	—स्व-पर	82
—कृतक नहीं	162	पर्युदास	116, 176
—नित्यानित्य	163	पशु	94
—दीप-निर्वाण जैसा नहीं	163	पाटलिपुत्र	123
देखें, 'मोक्ष', 'सुक्ति'		पाप	48, 123, 170
निश्चय नय	79, 91, 92, 144	—प्रकृष्ट पाप से तरक	123
निषेध	17	—नाद	135, 143
—पर्युदास	116	पुण्य	48, 124
निष्कारण	97	—प्रकृष्ट पुण्य से देव	124
निष्कारणता	99, 137	—नाद	135, 142
सैय्याधिक	9, 25	—का फल सुख नहीं	171
व्यायप्रवेश	60	पुण्य-पाप चर्चा	134
व्यायावतारवातिक वृत्ति	6	—विषयक सन्देह	134
		—पांच पक्ष	134
		—संशय-निवारण	136
		—संकीर्ण	135
		—स्वतन्त्रवाद	136
पक्ष	9, 60	—लक्षण	146
पक्षाभास	9	—पुद्गलों का ग्रहण	146
पतन	118	—की गणना	148
पद	116	—सविपाक-अविपाक	149
—का अर्थ	28	—स्वातन्त्र्य-समर्थन	149
पदार्थ		पुद्गल	6
—नित्यानित्य	112	—स्वभाव	164
परमाणु	3, 30, 72	—अस्तिकाय	100
—सावयव-निरवयव	84	पुरुष	6, 21, 30, 46, 48, 94, 150
परमाणुशून्य	172	—अद्वैत	46
परलोक	5, 97, 128, 133	पूर्वजन्म	58
—विषयक सन्देह	152		
—संशय-निवारण	153		

८

पृथ्वी	
—सचेतन-सिद्धि	89
प्रकृति	46
प्रतीत्य समुत्पादवाद	62
प्रत्यक्ष	3, 30, 63, 122, 129, 164
—अनुमान-बाधित	12
—आंशिक	12
—सम्पूर्णा	12
—इन्द्रिय प्रत्यक्ष उषचार के	129
—चन्द्रादि का	128
—अतीन्द्रिय ज्ञान	129
—आत्म मात्र सापेक्ष	131
—भ्रान्ताभ्रान्त	171
प्रत्यय	71
प्रध्वंसाभाव	111, 162, 175
प्रभास	159
प्रमाण	4, 73
—अतीन्द्रिय साधक	55
प्रमाणवार्तिकालंकार	7
प्रमाद	143
प्रयत्न	115
प्रशमरति	173
प्रश्नोपनिषद्	47
प्राग्भाव	108

ख

बन्ध	
—सादि या अनादि	103
—अनादि-सान्त	107
—अनादि-अनन्त	107
बन्ध-मोक्ष	103, 120
—संशय	103
—संशय-निवारण	105
बन्धशतक	147
बद्ध	163

बाधक प्रमाण	7
बुद्ध	6
बृहदारण्यक	5, 21, 30
बौद्ध	6, 59, 60, 61, 113, 163
ब्रह्म	150
—पर-अपर	159
ब्रह्मविभूषणनिषत्	20, 153
ब्राह्मण	128

घ

भगवद्गोला	21
भजना	82
भट्ट	5
भव	97
—इस भव परभव का सादृश्य	94
भव्य	109
भूत	5, 15, 16, 25, 152
—विषयक संशय	67
—संशय-निराकरण	73
—पृथ्वी आदि प्रत्यक्ष	88
—सजीव	89
भ्रम-ज्ञान	15

च

चण्डिक	103, 121, 161
चण्डिमनिकाय	6
चदशक्ति	49
चमःप्रसाद	34
चतुष्टय	
—नारकादि रूप में जन्म	95
चहासेन वन	3
चहावीर	3
साध्यमिक कारिका	71
साद्योपम	68, 121

मीमांसक	9	यम	121, 126
मुक्त	104, 162, 163	यमराज	101
—का विषयभोग नहीं	165	याज्ञवल्क्य	5, 27
—इन्द्रिय बिना का ज्ञान	66	योग	143
—परमज्ञानी	166	—तीन भेद	144
—सुखी	165	—द्रव्य-भाव	144
—सर्वज्ञ	166	योगदृष्टिसमुच्चय	166
—अजीव नहीं	167	योगशिक्षोपनिषद्	21
—आवरणों का अभाव	170	योगिप्राभृत	95
—पुण्य नहीं होने पर भी सुखी	170	रसाविभाग	147
—नित्य	162	रूप	6
—अव्यापक	163	लिंग	4, 13
मुक्तात्मा	169, 170	लिगी	4, 13
मुक्तावस्था	168	लोक	116, 117
मुक्ति	46	लोकतत्त्वनिर्णय	5
मुण्डक	47, 66		
मोक्ष	35, 39, 103, 105, 135, 159, 161, 163, 173, 176, 179	वनस्पति	95
—का जीव पुनः संसारी नहीं बनता	111	—चेतन है	90
—कृतक होने पर भी नित्य	115	वरुण	121, 126
—में बन्ध नहीं	112	वरुन्तपुर	123
—का स्थान	113	वस्तु	98
मिथ्यात्वादि	112, 143	—पदार्थ-त्रि-स्वभाव	26, 155, 163, 175
मेचक मणि	135	—सर्वमय	28
मेतार्थ	152	—सिद्धि के स्वतः आदि विकल्प	68, 78
मेरु	133	—अन्य निरपेक्ष	78
मंत्रायणी	6	—दर्शन	79
मोहनीय	145	—अस्तित्व	69, 79
मोर्ध	154	—नित्यानित्य	157
मौर्यपुत्र	121	—समान-असमान	100
		वायु	
		—साधक अनुमान	88
		—सचेतन	90
		वायुभूति	49, 153
		वासना	61
य-र-ल			
यजमान	121		
यजुर्वेद	21		
यदृच्छा	42		

विक्रिया	123
विज्ञाता	12
विज्ञान	
—क्षणिक नहीं	59
—समर्थात्	59
—ग्रन्थि, उससे मात्र भी ग्रन्थि	154
—नित्यानित्य	157
विज्ञानधन	5, 24, 43, 46, 48, 152
विज्ञानवादी	7
विद्याधर	123
विनाश	104, 111
विपक्ष	87
विपर्यय	15, 73
विरुद्ध	166
विरुद्धाव्यभिचारी	156
विशेष	17
वीतराग	109, 169, 177
वृक्षायुर्वेद	95
वेद	6, 24, 30, 67, 73, 94, 103, 121, 126, 128, 151, 152, 159, 176
वेदनीय	166
वेदवचन	93
वेदवाक्य	23, 24, 25, 27, 46, 65, 67, 101, 119, 133, 150, 152, 158, 176
—संगति	42
—संगतार्थ सम्बन्ध	23, 46
—वेदवाक्य का अर्थ विधि आदि	47
वेदान्त	20
व्यक्त	67
व्यवहार नय	78, 144
व्यापक	161, 168

व्याप्ति	168
—नियामक सम्बन्ध	168
व्याप्य	161, 168
व्याप्य-व्यापकभाव	168

छ-ष

शब्द	10
—आकाश गुण्य	10
—पौद्गलिक	10
शरभ	129
शरीर	97
—औदारिक	32, 39
—कार्मण	32, 39
—कर्म का कार्य-कारण-भाव	57
—सजीव-निर्जीव	81
—सन्तान आदि	105
शतपथब्राह्मण	159
शुद्ध	128
शून्यता	72, 77
शून्यवाद	67, 76
शून्यवादी	7
शृगाल	94
श्रुति	122
शुद्धसंज्ञिसमुच्चय	5
शोडशी	127

स

संघात	58
सन्तान	63
संयुक्त निकाय	6
संयोग	17
संशय	15
सपक्ष	73, 87
संसार	39, 46
—पर्याय का ताश	161

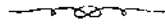
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

—अधावधि प्रकाशित ग्रन्थ—

1. कल्पसूत्र सचित्र	(मूल, हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद तथा 36 बहुरंगी चित्रों सहित)	200-00
	सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक: महोपाध्याय विनयसागर; अंग्रेजी अनुवादक: डा० मुकुन्द लाठ	
2. राजस्थान का जैन साहित्य	(राजस्थानी विद्वानों द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी भाषा के ग्रंथों पर विविध विद्वानों के वैशिष्ट्य पूर्ण एवं सारगर्भित 36 लेखों का संग्रह)	30-00
3. प्राकृत स्वयं शिक्षक	लेखक—डा० प्रेमसुमन जैन	15-00
4. आगम तीर्थ	(आगमिक प्राकृत गथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद) अनु० डा० हरिराम आचार्य	10-00
5. स्मरण कला	(अवधान कला सम्बन्धित पं० धीरज-लाल टो० शाह लिखित गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद) अनु० मोहन मुनि शार्दूल	15 00
6. जैनागम दिग्दर्शन	(45 जैनागमों का संक्षिप्त परिचय)	सजितद 20-00
	ले० डा० मुनि श्री नगराजजी सामान्य	16-00
7. जैन कहानियाँ	ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि	4-00
8. जाति स्मरण ज्ञान	ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि	3-00
9. हाफ ए टैल (अर्धकथानक)	(कवि बनारसीदास रचित स्वात्मकथा अर्धकथानक का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद, आलोचनात्मक अध्ययन एवं रेखा चित्रों सहित)	150-00
	सम्पादक एवं अनुवादक: डा० मुकुन्द लाठ	
10. गणधरवाद	(दलसुखभाई मालवणिया लिखित गुजराती गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद) अनु० प्रो० पृथ्वीराज जैन	50-00
	सम्पादक—महोपाध्याय विनयसागर	

— मुद्रणाधीन ग्रन्थ —

1. जैन इन्सक्रिप्सन आफ द राजस्थान (राजस्थान के प्राचीन, ऐतिहासिक एवं वैशिष्ट्य पूर्ण जैन शिलालेखों, मूर्तिलेखों का परिचयात्मक वर्णन)
ले० रामवल्लभ सोमानी
2. एग्जैक्ट सायन्स फ्रॉम जैन सोर्सोज पार्ट I, बेसिक मेथेमेटिक्स ले० लक्ष्मीचन्द जैन
3. उपमिति भव प्रपंचा कथा (महर्षि सिद्धिषि रचित ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद सं० एवं अनु० महोपाध्याय बिनयसागर तथा अनु० लालचन्द जैन)
4. अपभ्रंश और हिन्दी डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन
5. बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शन क संदर्भ में जैन आचार दर्शन का तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन डॉ० सागरमल जैन



सम्पादनाधीन ग्रन्थ

1. ऋषिभाषित सूत्र (हिन्दू, बौद्ध और जैन सर्वज्ञ ऋषियों के सारगर्भित उद्बोधन; मूल हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद)
अनु० महोपाध्याय बिनयसागर; कलानाथ शास्त्री
2. नीतिवाक्यामृत (आचार्य सोमदेव रचित राजनीति के सिद्धान्तों का हिन्दी व अंग्रेजी में अनुवाद)
अनु० डॉ० एस० के० गुप्ता;
डा० बी० आर० मेहता
4. गाथा सप्तशती (हाल कवि रचित सप्तशती का हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद)
अनु० डॉ० हरिराम आचार्य; डॉ० सी० शर्मा

- | | | |
|-----|--|--|
| 4. | एग्जैक्ट सायन्स फ्रीम जैन
पार्ट-II कोस्मोलोजी एण्ड
एस्टोनोमी सोर्सेज | ले० लक्ष्मीचन्द जैन
,, |
| 5. | पार्ट-III सिस्टमथियरी | ,, |
| 6. | पार्ट-IV सेट थियरी | ,, |
| 7. | पार्ट-V थियरी आफ अल्टीमेट
पार्टीकल्स | ,, |
| 8. | त्रिलोकसार | नेमिचन्द्राचार्य रचित ग्रन्थ का हिन्दी एवं अंग्रेजी
अनुवाद)
अनु० लक्ष्मीचन्द जैन |
| 9. | जैन साहित्य का संक्षिप्त
इतिहास | (स्व० मोहनलाल दलीचन्द देशाई लिखित 'जैन
साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' गुजराती का हिन्दी
अनुवाद)
अनु० कस्तूरचन्द बांठिया |
| 10. | एपीटोमी आफ जैनिज्म | स्व० पूरणचन्द्र नाहर |
| 11. | मथुरा के जैन शिलालेख | ,, ,, ,, |
| 12. | स्टडीज् आफ जैनिज्म | ड० टी० जी० कलधटगो |
| 13. | धातुपरीक्षा | (ठक्कुर केरु रचित ग्रन्थ का हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद)
अनु० डॉ० धर्मन्द्रकुमार |
| 14. | प्रतिष्ठा लेख संग्रह द्वितीय भाग | महोपाध्याय विनयसागर |
| 15. | श्रीवत्सभीय राजस्थानी संस्कृत
शब्दकोष | ,, ,, |
| 16. | प्राकृत काव्य मंजरी | |
| 17. | प्राकृत शब्द सोपान | |
| 18. | प्राकृत संज्ञा एवं सर्वनाम
प्रकरण | डॉ० उदयचन्द जैन |
| 19. | वज्जालम्भ में जीवन मूल्य | भाग-I डॉ० कमलचन्द सोमाणी |
| 20. | ,, ,, ,, | भाग- ,, ,, |
| 21. | वाक्पतिराज की लोकानुभूति | ,, ,, |
| 22. | भगवान महावीर: जीवन
और उपदेश | |

23. जैन दर्शन को रूपरेखा डा० कमलचन्द सोमानी
24. जैन संघ की परम्परा और विकास
25. जैन कला की भूमिका
26. प्राकृत साहित्य : एक परिचय
27. अपभ्रंश साहित्य : एक परिचय
28. संस्कृत का जैन साहित्य
29. राजस्थानी जैन साहित्य
30. राजस्थान के प्रमुख जैन ग्रन्थ भण्डार
31. जैन धर्म और समाज-

-
1. एक हजार रुपये से अधिक प्रकाशन खरीदने पर 40%कमीशन और संस्थान के प्रकाशनों का पूरा सेट खरीदने पर 30%दिया जाता है ।
 2. डाक-व्यय एवं पैकिंग व्यय पृथक् से होगा ।

प्राप्ति स्थान :

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान.

बति श्यामलालजी का उपासरा,

मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर-3

पिन कोड-302 003

જા



જા

જા

જા

જા

જા

